THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

62

A CRITICAL STUDY OF SIDDHA HEMA S'ABDĀNUS'ĀSANA

[A Socio-Cultural, Camparative and Philological Study of Haimi Grammar]

BY

Prof. Dr. N. C. Shastri,

M. A., Ph. D. (Gold Medalist)

Head of the Deptt. of Sanskrit & Prakrit,

H. D. Jain College, Arrah. (Magadh University.)

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1963

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

परिशिष्ट १

परिशिष्ट २

पुरोवाक्

"तीनों लोक घोर अन्धकार में डूब जायँ, यदि 'शब्द' कहलाने वाली ज्योति इस समस्त संसार को आलोकित न करे। बुद्धिमान् शुद्धवाणी को कामधेनु मानते हैं। वही वाणी जब अशुद्ध रूप से प्रयोग में लाई जाती है, तब वह बोलनेवाले का बैलपन प्रकट करती है।"

ये हैं भाषा के महत्त्व सम्बन्धी महाकवि दण्डी के उद्गार, जो उन्होंने अपने 'काव्यादर्श' के आदि में आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व घोषित किये हैं। किन्तु उनसे भी सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में वाणी की शुद्धता पर बहुत बल दिया जाने लगा था। वेद-मन्त्र तभी फलदायक माने जाते थे जब उनका पूर्ण शुद्ध उच्चारण किया जाता था। इसी प्रयोजन से मुनि शाकल्य ने वेदों का पद-पाठ तैयार किया, जिससे पाठक वेद-संहिता का एक-एक शब्द अलग-अलग जान जायँ। इतना ही नहीं, शीघ्र ही वेदों के क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठ आदि भी बन गये; जिनके द्वारा शब्दों को आगे से पीछे, पीछे से आगे, एक या दो शब्द मिलाकर आगे-पीछे आदि रूप से पढ़-पढ़ कर वेदों के न केवल एक-एक शब्द, किन्तु एक-एक वर्ण व स्वर की भले प्रकार रक्षा करने का प्रयत्न किया गया है।

जान पड़ता है वेद-पाठ की इन्हीं प्रणालियों ने 'शिक्षा' 'प्रातिशाख्य' और 'निरुक्त' को जन्म दिया, जिनके द्वारा व्याकरण शास्त्र की नींव पड़ी। 'व्याकरण' का शाब्दार्थ है शब्दों को उनके पृथक्-पृथक् रूप में समझना-समझाना। संस्कृत व्याकरणशास्त्र का सर्वोत्कृष्ट रूप पाणिनि मुनि कृत

'अष्टाध्यायी' में पाया जाता है। किन्तु उन्होंने अपने से पूर्व के अनेक वैयाकरणों, जैसे शाकटायन, शौनक, स्फोटायन, आपिशलि आदि का आदरपूर्वक उल्लेख किया है, जिससे व्याकरणशास्त्र की अतिप्राचीन अविच्छिन्न विकास-धारा का संकेत मिलता है। पाणिनि की रचना इतनी सर्वाङ्गपूर्ण व अपने से पूर्व की समस्त मान्यताओं का यथावश्यक यथा-विधि समावेश करने वाली सिद्ध हुई कि उससे पूर्व की उन समस्त रचनाओं का प्रचार रुक गया और वे लुप्त हो गईं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में यदि कुछ कमीवेशी थी तो उसका शोधन वार्तिककार कात्यायन व भाष्यकार पतञ्जलि ने कर दिया। इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण-सम्प्रदाय को जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई उसे शताब्दियों की परम्परा भी कोई क्षति नहीं पहुँचा सकी।

पाणिनीय परम्परा द्वारा संस्कृत भाषा का परिष्कृत रूप स्थिर हो गया। किन्तु व्याकरणशास्त्र की अन्यान्य पद्धतियाँ भी बराबर चलती ही रहीं। इन व्याकरण ग्रन्थों में विशेष उल्लेखनीय हैं शाकटायन, कातन्त्र, चान्द्र और जैनेन्द्र व्याकरण; जिनका अपना-अपना वैशिष्ट्य है और वे अपने-अपने काल में नाना क्षेत्रों में सुप्रचलित रहे तथा उन पर टीका-टिप्पणियाँ भी खूब लिखी गईं जो व्याकरणशास्त्र के विकास की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं।

संस्कृत के अन्तिम महावैयाकरण हैं आचार्य हेमचन्द्र, जिन्होंने अपने 'शब्दानुशासन' द्वारा संस्कृत भाषा का विश्लेषण पूर्ण रूप से किया और हैम सम्प्रदाय की नींव डाली। पाणिनि कृत अष्टाध्यायी के अनुसार इन्होंने भी अपने व्याकरण को आठ अध्यायों व प्रत्येक अध्याय को चार पादों में विभाजित किया। किन्तु उनकी एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि उन्होंने संस्कृत का सम्पूर्ण व्याकरण प्रथम सात अध्यायों में समाप्त करके अष्टम अध्याय में प्राकृत व्याकरण का भी प्ररूपण ऐसी सर्वाङ्गपूर्ण

रीति से किया कि वह अद्यावधि अपूर्व व अद्वितीय कहा जा सकता है। उनके पश्चात् जो प्राकृत व्याकरण बने, वे बहुधा उनका ही अनुसरण करते हुए पाये जाते हैं। विशेषतः शौरसेनी, मागधी और पैशाची प्राकृतों के स्वरूप तो कुछ-न-कुछ उनके पूर्ववर्ती चण्ड व वररुचि जैसे प्राकृत के वैयाकरणों ने भी उपस्थित किये हैं, किन्तु अपभ्रंश का व्याकरण तो हेमचन्द्र की अपूर्व देन है। उसमें भी जो उदाहरण पूरे व अधूरे पद्यों के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे तो अपभ्रंश साहित्य की प्राचीन समृद्धि के सम्बन्ध में विद्वानों की आँखें खुल गईं और वे उन पद्यों के स्रोतों की खोज में लग गये। यह कार्य आज तक भी सम्पन्न नहीं हो सका।

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के इस महान् व्याकरण को चार-पाँच हजार सूत्रों में पूरा करके भी कलिकाल-सर्वज्ञ हेमचन्द्र को ऊब नहीं आई। उन्होंने अठारह हजार श्लोक प्रमाण उसकी बृहद् वृत्ति भी लिखी, गणपाठ, धातुपाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन प्रकरण भी जोड़े तथा सामान्य अध्येताओं के लिये उपयोगी छह हजार श्लोक प्रमाण लघुवृत्ति भी तैयार की। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने समस्त व्याकरण को सूत्रानुक्रम से उदाहृत करते हुए अपने समकालीन नरेश कुमारपाल का चरित्र भी एक विशाल द्व्याश्रय काव्य के रूप में रचा। एक व्यक्ति द्वारा व्याकरणशास्त्र की इतनी उपासना इतिहास में बेजोड़ है। फिर जब उनकी पुराण, काव्य, दर्शन, कोष, छन्द आदि विषयों की अन्य कृतियों का भी लेखा-जोखा लगाया जाता है, तब तो मस्तक आश्चर्य से चकित होकर उनके चरणों में अवनत हुए बिना नहीं रहता।

भारतीय शास्त्रों का ऐतिहासिक व परिचयात्मक अध्ययन तो बहुत कुछ हुआ है, किन्तु एक-एक शास्त्र के अन्तर्गत कृतियों का परस्पर

तुलनात्मक मूल्याङ्कन संतोषजनक रीति से पूरा किया गया नहीं पाया जाता। इस दिशा में डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री का प्रस्तुत प्रबन्ध अभिनन्दनीय है। उन्होंने आचार्य हेमचन्द्र के जीवनवृत्त और उनकी रचनाओं का सुचारु रूप से परिचय देकर उनके उक्त व्याकरण-कार्य का आलोचनात्मक विश्लेषण भी किया है तथा पाणिनि व अन्य प्रधान वैयाकरणों की कृतियों के साथ तुलना करके हेमचन्द्र की विशेष उपलब्धियों का भलीभाँति निर्णय भी किया है। व्याकरण जैसे कर्कश शास्त्र का ऐसा गम्भीर आलोडन प्रत्येक साहित्यिक के वश की बात नहीं। उसके लिये जितने अध्यवसाय व ज्ञान की आवश्यकता है वह प्रस्तुत प्रबन्ध के अवलोकन से ही जाना जा सकता है। इस उत्तम शास्त्रीय विवेचना के लिये मैं डॉ० नेमिचन्द्रजी को हृदय से बधाई देता हूँ और ऐसा विश्वास करता हूँ कि उनकी इस कृति से इस पीढ़ी के नवयुवक शोधकर्ता दिङ्निर्देश, प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त करेंगे।

अगस्त १, १९६३

डॉ० हीरालाल जैन
एम० ए०, एल० एल० बी०, डी० लिट्
अध्यक्ष :-
संस्कृत, पालि एवं प्राकृत-विभाग
जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर

प्राच्य भारतीय भाषाओं एवं दर्शन शास्त्र

के

अगाध विद्वान्

समादरणीय

पं० सुखलाल जी संघवी

अहमदाबाद

को

सा

द

र

●

नेमिचन्द्र शास्त्री

२ इ० भू०

प्रस्तावना

भाषा के शुद्धज्ञान के लिये व्याकरणज्ञान परमावश्यक है। धातु और प्रत्यय के संश्लेषण एवं विश्लेषण द्वारा भाषा के आन्तरिक गठन का विचार व्याकरण साहित्य में ही किया जाता है। लक्ष्य और लक्षणों का सुव्यवस्थित वर्णन करना ही व्याकरण का उद्देश्य है। शब्दों की व्युत्पत्ति एवं उनके निर्माण की प्राणवन्त प्रक्रिया के रहस्य का उद्घाटन व्याकरण के द्वारा ही होता है। यह शब्दों के विभिन्न रूपों के भीतर जो एक मूल संज्ञा या धातु निहित रहती है, उसके स्वरूप का निश्चय और उसमें प्रत्यय जोड़कर विभिन्न शब्दों के निर्माण की महनीय प्रक्रिया उपस्थित करता है, साथ ही धातु और प्रत्ययों के अर्थों का निश्चय भी इसी के द्वारा होता है। संक्षेप में व्याकरण भाषा का अनुशासन कर उसके विस्तृत साम्राज्य में पहुँचाने के लिये राजपथ का निर्माण करता है।

संस्कृत भाषा में व्याकरण के रचयिता इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि, काशकृत्स्न, पाणिनि, अमर, जैनेन्द्र और चन्द्र ये आठ शाब्दिक प्रसिद्ध माने जाते हैं। जैन सम्प्रदाय में देवनन्दी, शाकटायन, हेमचन्द्र आदि कई वैयाकरण हुए हैं। देवनन्दी ने अपने शब्दानुशासन में अपने से पूर्ववर्ती छः जैनाचार्यों का उल्लेख किया है:—

(१) गुणे श्रीदत्तस्याऽस्त्रियाम् (१।४।३४)—हेताविति वर्तते। अस्त्रीलिङ्गे गुणे हेतौ श्रीदत्तस्याचार्यस्य मतेन का विभक्तिर्भवति। अन्येषां मतेन हेताविति मा। यथा—जाड्याद्बद्धः जाड्येन बद्धः।

(२) कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य (२।१।९९)—कृवृषिमृज् इत्येतेभ्यः क्यप् भवति यशोभद्रस्याचार्यस्य मतेन।

(३) राद्भूतबलेः (३।४।८३)—समाशब्दान्ताद् निर्वृत्तादिषु पञ्चस्वर्थेषु खो भवति भूतबलेराचार्यस्य मतेन।

(४) रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य (४।३।१८०)—रात्रिशब्दस्य कृति खौ मुमागमो भवति प्रभाचन्द्रस्याचार्यस्य मतेन।

(५) वेत्तेः सिद्धसेनस्य (५।१।७)—वेत्तेर्गोनिमित्तभूतस्य झस्य रुडागमो भवति सिद्धसेनस्याचार्यस्य मतेन।

(६) चतुष्टयं समन्तभद्रस्य (५।४।१४०)—झयो ह इत्यादि चतुष्टयं समन्तभद्राचार्यस्य मतेन भवति, नान्येषां मते।

उपर्युक्त सूत्रों में श्रीदत्त, यशोभद्र, भूतबलि, प्रभाचन्द्र, सिद्धसेन और समन्तभद्र इन छः वैयाकरणों के नाम आये हैं। स्पष्ट है कि इनके व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ थे, पर आज वे उपलब्ध नहीं हैं।

जैनेन्द्र के उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः (१।४।१६)—उदाहरण से स्पष्ट है कि ये सिद्धसेन को सबसे बड़ा वैयाकरण और उपसिंहनन्दिनं कवयः (१।४।१६) द्वारा सिंहनन्दी को बड़ा कवि मानते हैं। पर आचार्य हेम ने 'उत्कृष्टेऽनूदेन' (२।२।३९) सूत्र के उदाहरणों में 'अनुसिद्धसेनं कवयः' द्वारा सिद्धसेन को सबसे बड़ा कवि माना है। अतएव स्पष्ट है कि आचार्य हेम के पूर्व कई जैन वैयाकरण हो चुके हैं। हेम की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इन्होंने अपने पूर्ववर्ती समस्त व्याकरण ग्रन्थों का अध्ययन कर उनसे यथेष्ट सामग्री ग्रहण की है।

हेम के पूर्ववर्ती व्याकरणों में विस्तार, काठिन्य एवं क्रमभंग या अनुवृत्ति बाहुल्य ये तीन दोष पाये जाते हैं; किन्तु आचार्य हेम उक्त तीनों दोषों से मुक्त हैं। व्याकरण में विवक्षित विषय को कम सूत्रों में निबद्ध करना अच्छा समझा जाता है। अल्पवाक्यों वाले प्रकरण एवं अल्पाक्षरों वाले सूत्रों में प्रतिपाद्य विषय को प्रकट किया जाय तो रचना सुन्दर और विस्तार दोष से मुक्त समझी जाती है। हेम ने उक्त सिद्धान्त का पूर्णतः पालन किया है। जिस प्रकार की शब्दावली के अनुशासन के लिए जितने और जैसे सूत्रों की आवश्यकता थी, इन्होंने वैसे और उतने ही सूत्रों का प्रणयन किया है। एक भी सूत्र ऐसा नहीं है, जिसका कार्य किसी दूसरे सूत्र से चलाया जा सकता हो।

सूत्रों एवं उनकी वृत्ति की रचना ऐसी शब्दावली में नहीं होनी चाहिए, जिसकी व्याख्या की आवश्यकता हो अथवा व्याख्या होने पर भी अर्थ विषयक सन्देह बना रहे। अतः श्रेष्ठ ग्रन्थन-शैली वही मानी जाती है, जिसके पढ़ने के साथ ही विषय का सम्यक् ज्ञान हो जाय और पाठक को तद्विषयक तनिक भी सन्देह उत्पन्न न हो। सूत्रों की शब्दावली उलझी न हो और न जितने मस्तिष्क उतनी व्याख्याएँ ही संभव हों। आचार्य हेम सरल और स्पष्ट शैली की कला में अत्यन्त पटु हैं। व्याकरण की साधारण जानकारी रखनेवाला व्यक्ति भी इनके शब्दानुशासन को हृदयंगम कर सकता है तथा संस्कृत भाषा के समस्त प्रमुख शब्दों के अनुशासन से अवगत हो सकता है।

शब्दानुशासन की शैली का दूसरा गुण यह है कि विषय को स्पष्ट करने के साथ सूत्रों का सुव्यवस्थित एवं सुसम्बद्ध रहना भी आवश्यक है, जिससे

समन्वय करते समय अनुवृत्ति या अधिकार सूत्रों की आवश्यकता प्रतीत न हो। लक्षणों के साथ कथनों में भी ऐसा सामर्थ्य रहे जिससे वे गंगा के निरवच्छिन्न प्रवाह के समान उपस्थित होकर विषय को क्रमबद्ध रूप में स्पष्ट करा सकें। विषय व्यतिक्रम होने से पाठकों को समझने में बहुत कठिनाई होती है। अतः एक ही विषय के सूत्रों को एक ही साथ रहना आवश्यक है। ऐसा न हो कि सन्धि के प्रकरण में समास विधायक सूत्र, समास में कारक विषयक सूत्र और कृदन्त में तद्धित विधायक सूत्र आ जायँ। इस प्रकार के विषय व्यतिक्रम से अध्येताओं को कष्ट का अनुभव होता है तथा विषय की धारा के विच्छिन्न हो जाने से तथ्य ग्रहण के लिए अधिक आयास करना पड़ता है।

शैलीगत उपर्युक्त तीनों दोष न्यूनाधिक रूप में हेम के पूर्ववर्ती सभी वैयाकरणों में पाये जाते हैं। सभी की शैली में अस्पष्टता, क्रमभंग एवं दुरूहता पायी जाती है। कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति इस सत्य से इंकार नहीं कर सकता है कि हेम शब्दानुशासन संस्कृत भाषा के सर्वाधिक शब्दों का सुस्पष्ट अनुशासन आशुबोधक रूप में उपस्थित करता है। इस एक ही व्याकरण के अध्ययन से व्याकरण विषयक अच्छी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। सिद्ध हेमशब्दानुशासन की प्रशस्ति में प्रशंसा बोधक निम्न पद्य उपलब्ध होता है, जो यथार्थ है—

> तेनातिविस्तृतदुरागमविप्रकीर्ण-
> शब्दानुशासनसमूहकदर्थितेन ।
> अभ्यर्थितो निरुपमं विधिवद् व्यधत्त,
> शब्दानुशासनमिदं मुनिहेमचन्द्रः ॥ ३५ ॥

अर्थात्—अतिविस्तृत, कठिन एवं क्रमभंग आदि दोषों से युक्त व्याकरण ग्रन्थों के अध्ययन से कष्ट प्राप्त करते हुए जिज्ञासुओं के लिए इस शब्दानुशासन की रचना की गयी है।

यह गुजरात का व्याकरण कहलाता है। मालवराज भोज ने व्याकरण ग्रन्थ लिखा था और वहाँ उन्हीं का व्याकरण काम में लाया जाता था। विद्याभूमि गुजरात में कलाप के साथ भोज व्याकरण की भी प्रतिष्ठा थी। अतएव आचार्य हेम ने सिद्धराज के आदेश से गुर्जर देशवासियों के अध्ययन के हेतु उक्त शब्दानुशासन की रचना की है। अमरचन्द्र सूरि ने अपनी बृहत् अवचूर्णि में इस शब्दानुशासन की दोषमय विमुक्ति की चर्चा करते हुए लिखा है—

'शब्दानुशासनजातमस्ति, तस्मात् कथमिदं प्रशस्यतममिति ? उच्यते तद्धि अतिविस्तीर्णं प्रकीर्णञ्च। कातन्त्रं तर्हि साधु भविष्यतीति चेन्न तस्य सङ्कीर्णत्वात्। इदं तु सिद्धहेमचन्द्राभिधानं नातिविस्तीर्णं न च सङ्कीर्णमिति अनेनैव शब्द-व्युत्पत्तिर्भवति।'

अतएव स्पष्ट है कि सिद्ध हेमशब्दानुशासन सन्तुलित और पञ्चाङ्गपूर्ण[1] है। इसमें प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद, विभक्ति, समास, अर्थ, उदाहरण और सिद्धि ये छहों अंग पाये जाते हैं।

उपजीव्य—

यों तो आचार्य हेम ने अपने पूर्ववर्ती सभी व्याकरणों से कुछ न कुछ ग्रहण किया है; पर विशेषरूप से इसके व्याकरण के उपजीव्य काशिका, पातञ्जल महाभाष्य और शाकटायन व्याकरण हैं। इन्होंने उक्त ग्रन्थों के विस्तृत विषयों को थोड़े ही शब्दों में बड़ी निपुणता के साथ अपने सूत्रों एवं वृत्तियों में समाविष्ट किया है, जिससे उसे समझने में विशेष आयास नहीं करना पड़ता। हम यहाँ केवल शाकटायन के प्रभाव का ही विश्लेषण कर यह दिखलाने का प्रयास करेंगे कि हेम के ग्रहण में भी मौलिकता और नवीनता है। नदी के जल को सुन्दर कंचन के कलश में भरने के समान सूत्र और उदाहरणों को ग्रहण कर लेने पर भी उनके निबद्ध क्रम के वैशिष्ट्य ने एक नया ही चमत्कार उत्पन्न किया है।

सूत्र	शाकटायन सूत्राङ्क	सिद्धहेम० सूत्राङ्क
अप्रयोगीत्	१।१।५	१।१।३७
आसन्नः	१।१।७	७।४।१२०
सम्बन्धिनां सम्बन्धे	१।१।८	७।४।१२१
बहुगणं भेदे	१।१।१०	१।१।४०
क समासेऽध्यर्धः	१।१।११	१।१।४१
क्रियार्थो धातुः	१।१।२२	३।३।३
गत्यर्थवदोऽच्छः	१।१।३०	३।१।८
तिरोऽन्तर्धौ	१।१।१३१	३।१।९
स्वाम्योऽधिः	१।१।३४	३।१।१३
प्राध्वं बन्धे	१।१।३८	३।१।१६
परः	१।१।४४	७।४।११८

१. सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन ये पाँच व्याकरण के अंग हैं। इन पाँचों से समन्वित व्याकरण पञ्चाङ्ग कहलाता है।

सूत्र	शाकटायन सूत्राङ्क	सिद्धहेम० सूत्राङ्क
स्पर्धे	१।१।३६	७।४।११९
यं क्ये	१।१।४२	१।४।२१
मतुर्मयोऽक्षिरोकति	१।१।६०	४।१।२७
स्वैरस्वैर्यक्षौहिण्याम्	१।१।८५	१।२।१५
वौह्यौती समासे	१।१।८८	१।२।१०
इन्द्रे	१।१।९७	१।२।३०
सम्राट्	१।१।११२	१।३।१६
सुचो वा	१।१।१७३	२।३।१३

सूत्रों की समता, सूत्रों के भावों को पचाकर नये ढंग के सूत्र एवं अमोघवृत्ति के वाक्यों को ज्यों के त्यों रूप में अथवा कुछ परिवर्तन के साथ निबद्ध कर भी अपनी मौलिकता को अक्षुण्ण बनाये रखना हेम जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति का ही कार्य है। उदाहरण के लिए शाकटायन के 'नित्यं हस्ते पाणौ स्वीकृतौ' १।१।२६ सूत्र के स्थान पर हेम ने 'नित्यं हस्ते-पाणावुद्वाहे' ३।१।१५ सूत्र लिखकर स्पष्टता के प्रदर्शन के साथ उद्वाह—विवाह अर्थ में हस्ते और पाणौ को नित्य ही अव्यय माना है और कृञ् धातु के योग में गति संज्ञक कहकर हस्तेकृत्य, पाणौकृत्य रूप सिद्ध किये हैं। अतः स्पष्ट है कि शाकटायन के सूत्र में थोड़ा सा परिवर्तन कर देने से ही हेम ने शब्दशासन के क्षेत्र में चमत्कार उत्पन्न कर दिया है अर्थात् एक सामान्य स्वीकृति को विशेष स्वीकृति बना दिया है। इसी प्रकार 'कणे मनः श्रद्धोच्छेदे' १।१।२८ शाकटायन सूत्र के स्थान पर 'कणेमनस्तृप्तौ' ३।१।६ सूत्र लिखकर 'कणेहत्य पयः पिबति, मनोहत्य पयः पिबति' उदाहरणों के अर्थ में मौलिकता उत्पन्न कर दी है। तावत् पिबति यावत्तृप्तः—तब तक पीता है, जब तक तृप्त नहीं होता। यद्यपि तृप्ति शब्द का अर्थ भी श्रद्धोच्छेद है, पर तृप्ति कर देने से उदाहरणों में अर्थगत स्पष्टता आ गयी है।

वर्ण्य विषय—

हेम शब्दानुशासन के वर्ण्य विषय पर आगे विस्तार से विचार किया गया है। संस्कृत भाषा के शब्दानुशासन को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) चतुष्कवृत्ति (३) कृद्वृत्ति

(२) आख्यातवृत्ति (४) तद्धितवृत्ति

चतुष्कवृत्ति में सन्धि, शब्दरूप, कारक एवं समास इन चारों का अनुशासन आरम्भ से लेकर तृतीय अध्याय के द्वितीय पाद तक वर्णित है।

आख्यातवृत्ति में धातु रूपों और प्रक्रियाओं का अनुशासन तृतीय अध्याय के तृतीय पाद से चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद पर्यन्त और कृद्वृत्ति में कृत्प्रत्यय सम्बन्धी अनुशासन पञ्चम अध्याय में निरूपित है। तद्धितवृत्ति में तद्धित प्रत्यय, समासान्त प्रत्यय एवं न्याय सूत्रों का कथन छठे और सातवें दोनों अध्यायों में वर्तमान है। साहित्य और व्यवहार की भाषा में प्रयुक्त सभी प्रकार के शब्दों का अनुशासन इस व्याकरण में ग्रथित है।

सांस्कृतिक सामग्री—

शब्दानुशासन सम्बन्धी विशेषताओं का विवेचन इस समीक्षा ग्रन्थ के अगले प्रकरणों में विस्तारपूर्वक किया गया है। अतः यहाँ इसकी सांस्कृतिक सामग्री का विवेचन करना आवश्यक है। सिद्ध हैम शब्दानुशासन में भूगोल, इतिहास, समाज, शिक्षा, साहित्य एवं अर्थनीति सम्बन्धी सामग्री प्रचुर परिमाण में विद्यमान है। सर्वप्रथम भौगोलिक सामग्री का विश्लेषण किया जाता है। पाणिनि के समान हेम ने भी नगर और ग्रामों के बसनेवाले कारणों का विवेचन करते हुए लिखा है—

(१) तदत्रास्ति (६।२।७०)—जो वस्तु जिस स्थान में होती है, उस वस्तु के नाम से उस स्थान का नाम पड़ जाता है। जैसे—उदुम्बरा अस्मिन् देशे सन्ति औदुम्बरं नगरम्, औदुम्बरो जनपदः, औदुम्बरः पर्वतः अर्थात् उदुम्बर के वृक्ष जहाँ हों; उस नगर, जनपद और पर्वत को औदुम्बर कहा जायगा।

(२) तेन निर्वृत्ते च (६।२।७१)—जो व्यक्ति जिस गाँव या नगर को बसाता है, वह ग्राम या नगर उस बसानेवाले व्यक्ति के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। यथा—कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी, ककन्देन काकन्दी, मकन्देन माकन्दी अर्थात् कुशाम्ब, ककन्द और मकन्द की बसाई हुई नगरियाँ क्रमशः कौशाम्बी, काकन्दी और माकन्दी कहलायी हैं।

(३) निवासादूरभवे इति देशे नाम्नि (६।२।६९)—निवास—रहने वालों के नाम से तथा अदूरभव किसी दूसरे स्थान के निकट बसा होने से उस स्थान का नाम उन्हीं के नाम पर पुकारा जाने लगता है। यथा—ऋजुनावानां निवासः आर्जुनावः, शिवीनां शैवः, उपुष्टस्य औपुष्टः, शकलायाः शाकलः अर्थात्—गुणी नाविक जहाँ रहते हों उसे आर्जुनाव, शिविजाति के क्षत्रिय जहाँ निवास करते हों उसे शैव, उपुष्ट जाति के व्यक्ति जहाँ रहते हों उसे औपुष्ट और शकल जाति के ब्राह्मण जहाँ निवास करते हों उसे शाकल कहते हैं।

जो स्थान किसी दूसरे स्थान के निकट बसा हुआ होता है, वह भी उसी के नाम से व्यवहृत होने लगता है। जैसे विदिशाया अदूरभवं वैदिशं नगरम्, वैदिशो जनपदः, वरणानामदूरभवं वरणा नगरम् (६।२।६९) अर्थात् विदिशा नदी के समीप बसा हुआ नगर या जनपद वैदिश कहलाया और वरण वृक्ष के समीप बसा हुआ नगर वरणा। मद्र पर्वत के समीप बसे हुये ग्राम को मद्र, शाल्मली वृक्ष के समीप बसे हुये ग्राम को शाल्मली कहा है।

स्थान वाली संज्ञाओं और वस्तुओं के नामों में नाना प्रकार के सम्बन्ध थे। जो वस्तु जहाँ प्राप्त होती थी, उस वस्तु के नाम पर भी उस स्थान का नाम पड़ जाता था। हेम ने 'शर्कराया इकणीयाऽण् च' ६।२।७८ के उदाहरणों में बतलाया है—'शर्करा अस्मिन् देशे सन्ति—शार्करिकः, शार्करीयः' अर्थात् चीनी जिस देश में पायी जाय उस देश को शार्करिक या शार्करीय कहा जाता है। 'बल्गुर्दिपर्दिकापिश्याष्टायनण्' ६।३।१४ के उदाहरणों में कापिशायन मधु, कापिशायनी द्राक्षा उदाहरण आये हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कपिशा नगरी से आनेवाला मधु कापिशायन और द्राक्षा—दाख कापिशायनी कहलाती थी। रंकु जनपद में उत्पन्न और वहाँ से लाये जाने वाले प्रसिद्ध बैल और कम्बल राङ्कव एवं वहाँ के मनुष्य राङ्कवक (६।३।१५) कहलाते थे।

जनपद—

आचार्य हेम ने अपने सूत्र और उदाहरणों में अनेक जनपद, नगर, पर्वत, और नदियों के नामों का उल्लेख किया है। उत्तर-पश्चिम में कपिशा (६।३।१४) का उल्लेख किया है, यह नगरी काबुल से ५० मील उत्तर में वर्तमान थी। कपिशा से उत्तर में कम्बोज जनपद था, जहाँ इस समय मध्य एशिया का पामीर पठार है। तक्षशिला के दक्षिण पूर्व में मद्र जनपद (६।३।२४) था, जिसकी राजधानी शाकल (६।३।२७) थी। शाकल आजकल का स्यालकोट है। मद्र के दक्षिण में उशीनर (६।३।३६) जनपद था। वर्तमान पञ्जाब का उत्तर-पूर्वी भाग त्रिगर्त देश कहलाता था। सतलुज, व्यास और रावी इन तीन नदियों की घाटी के कारण इस प्रदेश का नाम त्रिगर्त (६।२।३०) पड़ा था। कुरु जनपद प्राचीनकाल से प्रसिद्ध रहा है, यद्यपि हेम के समय में इस जनपद का अस्तित्व समाप्त हो चुका था, फिर भी इन्होंने दिल्ली और मेरठ के आस-पास के प्रदेश को कुरु जनपद (६।३।५३) कहा है। इसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। महाभारत के समय में कुरु जनपद बहुत ही प्रसिद्ध था।

गंगा और रामगंगा के बीच का प्रदेश पंचाल जनपद (६।३।२४) कहलाता था। यह जनपद चारों दिशाओं के आधार पर पूर्व, अपर, दक्षिण और उत्तर इन चार भागों में (७।४।१६) विभक्त था। कोशल जनपद (७।३।११९) अपने समय में प्रसिद्ध रहा है। यहाँ का राजा प्रसेनजित् बुद्ध काल का ख्यातिप्राप्त नृपति है। प्रसेनजित् ने काशी और कोशल को एक ही शासन सूत्र में मिला दिया था। बुद्ध को कोशल देश के मानसाकट नामक ब्राह्मण ग्राम के उत्तर में अचिरवती नदी के किनारे एक आम्रवन में विचरण करते देखा जाता है।[1] काशी (७।३।११९) जनपद में वाराणसी, मिर्जापुर आदि प्रदेश शामिल थे। शूरसेन (७।३।११९) जनपद में मथुरा और आगरा का प्रदेश शामिल था। कान्यकुब्ज (७।४।१७) कन्नौज भी पृथक् जनपद कहा है। पूर्व में बंग (६।२।६५), अंग (६।२।६५) और मगध (६।३।११६) तथा पूर्वी समुद्रतट पर कलिङ्ग जनपद (६।३।११६) के नाम मिलते हैं। पश्चिमी समुद्रतट पर कच्छ जनपद (६।३।५५) और दक्षिण में गोदावरी तट पर अश्मक (६।२।३०) का उल्लेख है।

'राजन्यादिभ्योऽकञ्' (६।२।६६) में राजन्य, देवयात, आबृत, शालङ्क, बाभ्रु, जलन्धर, कुन्तल, अरकक, अम्बरीपुत्र, बिम्बवन, बैल्व, तैतल, ऊर्णनाभ, अर्जुन, विराट् और मालव का नामोल्लेख किया है। ६।२।६८ सूत्र में भौरिकि, भौलिकि, चौपयत, चैरयत, चैकयत, सैकयत, शैतयत, काणेय, वालिकाद्य और वाणिजक की गणना भौरिक्यादि में तथा इषुकारि, सारस, चन्द्र, तार्क्ष्य, हृयक्ष, श्यक्ष, उलय, सौवीर, दासमित्रि, शायण्ड, हवावक, विश्वधेनु, विश्वमाणव, विश्वदेव, तुण्ड, देव, आदि की गणना ऐषुकार्य में की है।

हेम ने कच्छादिगण में कच्छ, सिन्धु, वर्णु, मधुमत् , कम्बोज, साल्व, कुरु, अनुषण्ड, कश्मीर, बिजापक, द्वीप, अनूप, अजवाह, कुलूत, रङ्क, गन्धार, युध, सस्थाल और सिन्ध्यवन्त जनपदों की गणना की है। युगन्धर नामक जनपद का (६।३।५३) उल्लेख भी उपलब्ध होता है। इस जनपद में पैदा होनेवालों को यौगन्धरक कहा है। ६।३।५४ में साल्व जनपद के निर्देश में, यहाँ के बैल और मनुष्यों को साल्वक कहा जाता था। यहाँ यवागू—जौ की उत्पत्ति होती थी और यहाँ की जौ साल्विका कहलाती थी। श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने काशिका में उद्धृत एक श्लोक के आधार पर साल्व राजतन्त्र के अन्तर्गत उदुम्बर, तिलखल, मद्रकार, युगन्धर, भूलिङ्ग और शरदण्ड इन छः रजवाड़ों का उल्लेख किया है।[2] हेम ने भी अपने उदाहरणों में इन छहों राज्यों

१. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल पृ० ९। २. पाणिनिकालीन भारत पृ० ७२।

के नाम गिनाये हैं। कहा जाता है कि साल्वराज्य पंजाब के मध्यभाग और उत्तर पूर्व में बिखरे हुए थे। बहुत संभव है कि साल्व जनपद अलवर से उत्तर बीकानेर तक व्याप्त रहा होगा।

हेम ने 'बहुविषयेभ्यः' ६।३।४५ सूत्र में विभिन्न जनपदों में पैदा हुये व्यक्तियों के नामों का उल्लेख करते हुये दार्व, काम्बव, जिह्व, अजमीढ, अजुकुन्द, कालञ्जर और वैकुलि जनपदों का नामोल्लेख किया है। चिनाव और रावी के बीच का भाग दार्व (जम्मू) जनपद कहलाता था। ६।३।५० सूत्र में मरुकच्छ और पिप्पलीकच्छ का; ६।३।३८ में वृजि और मद्रक का; ७।१।११९ में निषध, निचक, निट, कुरु, अवन्ति, कुन्ति, वसति और चेदि का एवं ६।१।१२० में कम्बोज, चोल और केरल जनपदों का उल्लेख किया है। सौराष्ट्र का नामाङ्कन ५।२।८ में उपलब्ध होता है। इन जनपदों में हेम के समय में चेदि, अवन्ति—मालव और सौराष्ट्र का विशेष महत्त्व था। चेदि जनपद के नामान्तर त्रैपुर, डाहल और चैद्य हैं। यह जनपद अग्निकोण में शुक्तिमती नदी के किनारे विन्ध्य पृष्ठ पर अवस्थित था। वर्तमान बघेल-खण्ड और तेवार चेदि राज्य के अन्तर्गत थे। मालव—यह जनपद उज्जयिनी से लेकर माहिष्मती तक व्याप्त था और दक्षिण में यह नर्मदा नदी की घाटी तक फैला हुआ था। द्वितीय शताब्दी तक यह अवन्ति जनपद कहलाता था। आठवीं शताब्दी ईस्वी से हम इसे मालव के नाम से पाते हैं। हेमचन्द्र ने 'अरुणत् सिद्धराजोऽवन्तीन्' (५।२।८) उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस उदाहरण से इस ऐतिहासिक तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि राजा जयसिंह ने १२ वर्षों तक मालवा के परिमारों के साथ युद्ध करके विजय प्राप्त की और वह अवन्तिनाथ कहलाया था। उसने बर्बरों का दमन किया और महोबे के चन्देलों को सन्धि करने के लिए विवश किया। उसकी नीति प्रधानतया आक्रमणात्मक थी, यह भी इस उदाहरण से स्पष्ट अवगत होता है।

काठियावाड़ से युक्त पश्चिमी समुद्र तटवर्ती सम्पूर्ण देश का नाम सौराष्ट्र है, जिसके उत्तरी भाग की सीमा सिन्धु प्रान्त को, पूर्वी सीमा मेवाड़-राजस्थान और मालवा को तथा दक्षिणी महाराष्ट्र एवं कोंकण का स्पर्श करती थी। 'अजयत्सिद्धः सौराष्ट्रान्' (५।२।८) उदाहरण से स्पष्ट है कि सैन्धव, भड़ौच के गुर्जर को जीतकर जयसिंह सम्राट् बना था। इस उदाहरण में सोरठ के दुर्धर राजा खेंगार को पराजित करने का संकेत किया है। इस राज्य की विजय के अनन्तर ही सिद्धराज को चक्रवर्ती पद प्राप्त हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि चालुक्य चक्रवर्ती जयसिंह का शासनकाल सौराष्ट्र के

इतिहास का स्वर्णयुग है। इनके समय में इस जनपद में १८ देश सम्मिलित थे और इसकी सीमाएँ उत्तर में तुरुष्क, पूर्व में गंगातट, दक्षिण में विन्ध्याचल और पश्चिम में समुद्रतट पर्यन्त थीं। यह समस्त राष्ट्र स्वचक्र और परचक्र के उपद्रव से मुक्त था।

दक्षिण भारत के राज्यों में चोल, केरल (६।१।१२०) तमिल राज्य थे। काञ्ची (३।१।१४२)—काञ्चीवरम् दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश की राजधानी थी। यह प्रदेश बहुत दिनों तक तोण्डेयमण्डलम् या तोण्डेयनाड कहलाता था। कहा जाता है कि कीलिक वर्मन चोल के एक पुत्र के साथ मणिपल्लवम् द्वीप की भागी राजकन्या के विवाह सम्बन्ध से उत्पन्न चुटुपल्लव नामक व्यक्ति पल्लव वंश का संस्थापक था, जिसने चोल पर शासन किया था।

नगर—

जनपदों के अतिरिक्त हेम ने नगर और गाँवों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने कच्छान्त नामों में भरुकच्छ और पिप्पलीकच्छ (६।३।५०) निर्दिष्ट किये हैं। *भरुकच्छ वर्तमान भड़ौच है और पिप्पलीकच्छ खम्भात की खाड़ी* के बायीं ओर स्थित मही‌रेखा का कौठा था। नगरों में निम्नांकित नगर प्रधान हैं :—

(१) अवन्ती (७।१।११९)—इसका दूसरा नाम उज्जयिनी है। अवन्ती की गणना जनपदों में की गई है। यह राज्य नर्मदा की घाटी में मान्धाता नगर से लेकर इन्दौर तक फैला हुआ था। प्राचीन समय में अवन्ती का राजा चण्डप्रद्योत था, इनकी पुत्री वासवदत्ता का विवाह वत्सराज उदयन के साथ हुआ था। यह नगरी उत्तर और दक्षिण के प्रसिद्ध भारतीय नगरों तथा पश्चिमी किनारे के उस समय के प्रसिद्ध बन्दरगाहों से व्यापारिक मार्गों द्वारा जुड़ी हुई थी।

(२) आषाढजम्बु (६।३।४०)—शरावती नदी की पूर्व दिशा में *यह नगर स्थित था*। इसके पास नापितवस्तु नामक नगर भी था। नापितवस्तु को हेम ने ६।३।३६ सूत्र में वाहीक जनपद के अन्तर्गत परिगणित किया है।

(३) आह्वजाल (६।३।३७)—यह नगर उशीनर वाहीक जनपद के अन्तर्गत था। सुदर्शन नामक नगर भी उक्त जनपद में ही अवस्थित था।

(४) ऐषुकार भक्त (६।२।६८)—'ऐषुकारीणां राष्ट्रमैषुकारिभक्तम्' अर्थात् पञ्जाब में ऐषुकारिभक्त नामक राष्ट्र में उक्त नाम का नगर था। उत्तराध्ययन सूत्र के (१४।१) अनुसार, इसुकार—इषुकार नाम का समृद्ध एवं वैभव पूर्ण नगर था। सम्भवतः यह हिसार का प्राचीन नाम रहा होगा।

(५) काकन्दी (६।२।७१)—उत्तर भारत की यह प्रसिद्ध प्राचीन नगरी है। भगवान् महावीर के समय में काकन्दी में जितशत्रु राजा का राज्य वर्तमान था। काकन्दी नूनखार स्टेशन से दो मील और गोरखपुर से दक्षिण पूर्व तीस मील पर किष्किन्धा—खुखुन्द ही प्राचीन काकन्दी है।

(६) कांची (३।१।४२)—यह भारत की प्रसिद्ध और पुण्य नगरी है। आजकल इसे कांचीपुरम् या कांजीवरम् कहते हैं। इसे दक्षिण मथुरा भी कहा गया है। यह द्रविड या चोल देश की राजधानी पालार नदी के तट पर अवस्थित है जो मद्रास से ४३ मील पर अवस्थित है।

(७) कापिशी (६।३।१४)—यह काबुल से उत्तर पूर्व हिन्दूकुश के दक्षिण आधुनिक बेग्राम ही प्राचीन कापिशी है। यह नगरी घोरबन्द और पञ्जशीर नदियों के सङ्गम पर अवस्थित थी। बाह्लीक से बामियाँ होकर कपिश प्रान्त में घुसने वाले मार्ग पर कापिशी नगरी स्थित थी। यह व्यापार और संस्कृति का केन्द्र थी। यहाँ हरी दाख की उत्पत्ति होती थी और यहाँ की बनी हुई कापिशायनी सुरा भारतवर्ष में आती थी। पाणिनि ने भी (४।२।९९) इसका उल्लेख किया है।

(८) काम्पिल्य (६।२।८४)—इसका वर्तमान नाम कपिला है। यह फर्रुखाबाद से पचीस और कायमगंज से छः मील उत्तर पश्चिम की ओर बूढ़ी गंगा के किनारे अवस्थित है। प्राचीन समय में यह नगरी दक्षिण पाञ्चाल की राजधानी थी।

(९) कौशाम्बी (६।२।७१)—यह वत्स देश की राजधानी थी, जो यमुना के किनारे पर बसी थी। वत्साधिपति उदयन का उल्लेख समग्र संस्कृत साहित्य में आता है। यह गान विद्या में अत्यन्त प्रवीण था। कौशाम्बी के राजा शतानीक ने चम्पा के राजा दधिवाहन पर चढ़ाई की थी। यहाँ पर महावीर के पास उदयन की माँ रानी मृगावती ने दीक्षा धारण की थी। आजकल यह स्थान इलाहाबाद से ३० मील की दूरी पर अवस्थित कोसम नामक गाँव है। कनिंघम की इस पहचान को स्मिथ ने स्वीकार नहीं किया था और उनका विचार था कि कौशाम्बी को हमें कहीं दक्षिण में बघेलखण्ड के आस-पास खोजना चाहिए, पर कनिंघम और स्मिथ के बाद इस सम्बन्ध में जो खोजें हुई हैं और अभी हाल में प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के तत्त्वावधान में कोसम की खुदाई के परिणाम स्वरूप घोषिताराम के अवशेष के मिलने से वह सन्देह दूर हो गया है और कोसम को ही प्राचीन कौशाम्बी माना जाने लगा है। कोसम के चारों ओर दूर तक जो टीला सा दिखलाई देता है, उसे उदयन के किले का परकोटा बताया जाता है।

(१०) गिरिनगर (४।४।२६)—यह नगर गुजरात के प्रसिद्ध पर्वत गिरिनार के आस-पास स्थित था। आज के जूनागढ़ को प्राचीन गिरिनगर कहा जा सकता है। आपटे ने दक्षिणापथ के एक जिले का नाम गिरिनगर लिखा है। पर हेम का अभिप्राय गिरिनार के पार्श्ववर्ती गिरिनगर से ही है।

(११) गोनर्द (३।२।७५)—हेम ने 'पूर्व उज्जयिन्या गोनर्दः' उदाहरण द्वारा उज्जयिनी से पूर्व गोनर्द की स्थिति मानी है। पालि साहित्य में गोनद्ध या गोनद्धपुर कहा गया है। यह अवन्ती जनपद का प्रसिद्ध निगम था जो दक्षिणापथ मार्ग पर स्थित था। बावरी ब्राह्मण के सोलह शिष्य गोदावरी के तट के समीप स्थित अपने गुरु के आश्रम से चलकर प्रतिष्ठान और उज्जयिनी होते हुए गोनद्ध आये थे और फिर वहाँ से आगे चलकर उन्हें जो प्रसिद्ध नगर पड़ा था, वह विदिशा था। इस प्रकार गोनर्द नगर उज्जयिनी और विदिशा के बीच में स्थित था। सुत्तनिपात की अट्ठकथा के अनुसार गोनर्द का एक अन्य नाम गोधपुर भी था।[1]

(१२) नड्वल (३।२।७५)—पाणिनि ने भी इसका उल्लेख (४।२।८८) किया है। संभवतः यह मारवाड़ का नाडौल नगर है।

(१३) पावा (६।३।२)—प्राचीन समय में पावा नाम की तीन नगरियाँ थीं। जैन ग्रन्थों के अनुसार एक पावा मंगि देश की राजधानी थी। बौद्ध साहित्य में पावा को मल्ल देश की राजधानी बताया गया है। दूसरी पावा कोशल के उत्तर पूर्व में कुशीनारा की ओर मल्ल राज्य की राजधानी थी। आधुनिक पडराना को, जो कसिया से बारह मील और गोरखपुर से लगभग पचास मील है, पावा कहते हैं। तीसरी पावा मगध जनपद में थी। यह उक्त दोनों पावाओं के मध्य में अवस्थित थी, अतएव पावा-मध्यमा के नाम से अभिहित की गयी है। वर्तमान में विहार शरीफ से लगभग ८ मील की दूर पर दक्षिण में यह स्थित है।

(१४) पुण्ड्र (६।२।६९)—यह पुण्ड्रवर्धन के नाम से प्रसिद्ध है और पूर्व बंगाल के मालदा जिले में है। वर्तमान बोगरा जिले का महास्थान गढ़ नामक स्थान पुण्ड्र जनपद में था। इस ग्राम में अशोक का एक शिलालेख मिला है, उसमें पुण्ड्र नगर के महामात्र के लिए आज्ञा दी गयी है। कौटिल्य अर्थशास्त्र (अ० ३२) में लिखा है कि पुण्ड्र देश का वस्त्र श्याम और मणि के समान स्निग्ध वर्ण का होता है। महाभारत (सभा पर्व ७८, ९३) में पुण्ड्र राजाओं का दुकूलादि लेकर महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित

१. परमत्थजोतिका, जिल्द दूसरी, पृ० ५८३।

होने का उल्लेख है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में पुण्ड्र की गणना पूर्व देश में की है।

(१५) माहिष्मती (३।२।२०)—पुराण, महाभारत आदि ग्रन्थों में उल्लिखित यह एक अति प्राचीन नगरी थी। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि इस नगरी में हैहयराज कार्त्तवीर्यार्जुन राज्य करते थे[1]। स्कन्दपुराण के नागर खण्ड के मत से यह नगरी नर्मदा के तट पर अवस्थित थी। सहस्रार्जुन रेवा के जल में बहुत-सी स्त्रियों के साथ जलक्रीड़ा करता था। रावण उसके बल-वीर्य को जानता हुआ भी उसके साथ युद्ध करने आया और अन्त में सहस्रार्जुन के हाथ बन्दी बना।

महाभारत में लिखा है कि राजसूय के समय सहदेव यहाँ कर उगाहने आये थे। उस समय यहाँ नीलराज का राज्य था। स्वयं अग्निदेव इनके जामाता थे। अग्नि की सहायता से नीलराज ने उनको परास्त किया, पर अग्निदेव के कहने पर सहदेव की पूजा की और कर दिया। गरुड़ पुराण (८१।१९) में इस स्थान को महातीर्थ कहा है।

बौद्ध काल में भी माहिष्मती समृद्धिशाली नगरी थी। बहुत से पण्डितों का वास होने से इस नगरी का आदर था। ७वीं शती में चीनी यात्री यू एन च्वाँग यहाँ आया था। इसने मोहिशिफलोपुलो (महेश्वरपुर) के नाम से उल्लेख किया है। इस समय इस नगरी का परिमाण ५ मील था। इसकी गणना स्वतन्त्र राज्यों में की जाती थी। यहाँ के निवासी पाशुपतावलम्बी थे। राजा ब्राह्मण था। बताया जाता है कि जबलपुर से छः मील दूर त्रिपुरारि नामक नगरी का अभ्युदय होने से माहिष्मती की समृद्धि लुप्त हो गयी थी। महाभारत के समय में माहिष्मती और त्रिपुर स्वतन्त्र राज्य थे।

हेम ने माहिष्मती का उल्लेख दो बार किया है। प्रथम बार उज्जयिनी के साथ (३।४।२०) और द्वितीय बार (६।२।७४)—'महिष्मान् देशे भवा माहिष्मती' लिखा है। पालि साहित्य से अवगत होता है कि यह नगरी दक्षिणापथ मार्ग पर पड़ती थी और प्रतिष्ठान एवं उज्जयिनी के बीच अवस्थित थी। माहिष्मती को कुछ लोगों ने महेश्वर से मिलाया है और कुछ ने मान्धाता नगर से। माहिष्मती की पूर्वोक्त स्थिति के अवलोकन से स्पष्ट है कि उसे मान्धाता से मिलाना ही उचित है।

(१६) माकन्दी (६।२।७१)—दक्षिण पाञ्चाल के मुख्य नगरों में इसकी गणना थी। दुर्योधन से पाण्डवों के लिए कृष्ण द्वारा जिन पाँच नगरों

१. श्रीमद्भागवत ९।१५।२२०

की माँग की गयी थी, उनमें माकन्दी का नाम भी शामिल था। बताया गया है कि एक माकन्दी गंगा के किनारे थी और दूसरी यमुना के।

(१७) वरणा (६।२।६९)—वरण वृक्ष के समीप बसी होने के कारण इस नगरी का नाम वरणा पड़ा था। वरणा उस दुर्ग का नाम था, जो आश्वकायनों के राज्य में सिन्धु और स्वात नदियों के मध्य में सबसे सुदृढ़ रक्षा स्थान था। पाणिनि व्याकरण में भी (४।२।८२) इसका उल्लेख आया है।

(१८) विराट नगर (७।४।२४)—यह नगर मत्स्य देश की राजधानी था। यहाँ पर पाण्डवों ने वर्ष भर गुप्तावास किया था। जयपुर से उत्तर पूर्व ४२ मील पर यह प्राचीन स्थान आज भी वर्तमान है।

(१९) वैदिशं नगरम् (६।२।६९)—पालि साहित्य में इसे 'वेदिस नगर' कहा है। वस्तुतः वैदिश नगर दक्षिणापथ मार्ग पर गोनर्द और कौशाम्बी के बीच अवस्थित था। बावरि ब्राह्मण के सोलह शिष्य यहाँ ठहरे थे। भोपाल के निकट वेत्रवती या बेतवा नदी के तट पर भिलसा नाम की नगरी ही प्राचीन वैदिश नगर है। यह कभी दशार्ण की राजधानी रही है। सम्राट् पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र अपने पिता के समय इस नगरी में राज्यपाल के रूप में निवास करता था। कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक में इसकी चर्चा है। बाणभट्ट की कादम्बरी का प्रधान नायक शूद्रक वैदिश नगर का राजा था। स्थविर महेन्द्र ने लंका जाने के पूर्व कुछ समय इस नगर में निवास किया था। उनकी माता देवी ने इस नगर में 'वेदिसगिरि महाविहार' की स्थापना की थी।[1]

(२०) शाद्वलम् (६।१।७५)—यह भी एक नगर है।

(२१) शिखावल (६।२।७६)—हेम ने 'शिखायाः' सूत्र की व्याख्या करते हुए शिखावल को समृद्ध नगर कहा है। संभवतः यह सोन नदी पर स्थित सिहावल नगर रहा होगा।

(२२) संकास्य (७।३।६)—फर्रुखाबाद जिले में इक्षुमती नदी के किनारे वर्तमान संकिसा है। हेम ने (२।२।१०७) में गवीधुमतः सांकाश्यं चत्वारि योजनानि' उदाहरण द्वारा गवीधुमत से संकाश्य को चार योजन दूर बतलाया है। ७।३।६ सूत्र के उदाहरण में 'संकाश्यकानां पाटलिपुत्रकाणां च पाटलिपुत्रका आढ्यतमाः'—अर्थात् सांकाश्य और पाटलिपुत्र के निवासियों में पाटलिपुत्र वाले सम्पन्न हैं। इससे स्पष्ट है कि हेम के समय में सांकाश्य का वैभव क्षीण हो गया था। यह पञ्चाल देश का मुख्य नगर था।

---

१. समन्तपासादिका, जिल्द पहली, पृ० ७० ।

वाल्मीकि रामायण के आदिकाण्ड (अध्याय ७०) में भी संकाश्य नगर का उल्लेख है। पाणिनि ने (४।२।८०) संकाश्य नगर का उल्लेख किया है। सरभमिग जातक में संकाश्य नगर की दूरी श्रावस्ती से तीस योजन बतायी गयी है। जनरल कनिंघम ने संकिसा—वसन्तपुर की पहचान सर्वप्रथम की है। संकिसा गाँव ४१ फुट ऊँचे टीले पर बसा हुआ है। चारों ओर दूसरे भी टीले हैं, जिनका घेरा मिलाकर करीब दो मील है।[1] स्मिथ ने इस पहचान को स्वीकार नहीं किया था। उनका कहना था कि यूआन् चुआङ्ग ने जिस संकाश्य नगर को देखा था, उसे एटा जिले के उत्तर-पूर्व में होना चाहिए।[2] फाह्यान ने संकाश्य नगर को मथुरा से १८ मील दक्षिण-पूर्व में देखा था।[3] संकाश्य नगर उत्तरापथ मार्ग पर अवस्थित था, जिसके एक ओर सोरों और दूसरी ओर कन्नौज नगर स्थित थे। इन दोनों के बीच में संकाश्य नगर था।

(२३) सौवास्तव (६।२।७२)—यह सुवास्तु या स्वात नदी की घाटी का प्रधान नगर था। पाणिनि की अष्टाध्यायी (४।२।७७) में इसका उल्लेख मिलता है।

(२४) तक्षशिला (६।२।६९)—यह नगर पूर्वी गन्धार की प्रसिद्ध राजधानी था। सिन्धु एवं विपाशा के बीच सब नगरों में बड़ा और समृद्ध-शाली था। उत्तरापथ राजमार्ग का मुख्य व्यापारिक नगर था। जैन ग्रन्थों में इसका दूसरा नाम धर्मचक्र भूमि भी पाया जाता है। बौद्धकाल में यह नगर विद्या का बड़ा केन्द्र था।

(२५) विष्णुपुर (२।४।४९)—बाँकुड़ा जिले का प्राचीन नगर है। यह अक्षांश २३°।२४′ उ० तथा देशान्तर ७७°-५७′ पू० के मध्य द्वारिकेश्वर नदी से कुछ मील दक्षिण में अवस्थित है। यह प्राचीन समृद्धिशाली नगर है। प्राचीन समय में ७ मील लम्बा था। दुर्ग प्राकार के मध्य में राजप्रासाद वर्तमान था। यहाँ आज भी भग्नावशेष उपलब्ध हैं। नगर के दक्षिणी दरवाजे के समीप विशाल शस्त्रागार का ध्वंसावशेष उपलब्ध है। किंवदन्ती प्रचलित है कि रघुनाथ इस नगर का प्रथम मल्ल राजा हुआ। इस वंश ने ११०० वर्ष शासन किया। राजा रघुनाथ ने बड़े यत्न से इस नगर को बसाया था। बहुत समय तक यह मल्लभूमि के नाम से प्रसिद्ध रहा। विष्णुपुर में ५९ राजाओं ने राज्य किया है।

इन नगरों के अतिरिक्त गया (६।२।६९), उरशा (६।२।६९), यावा

---

१. एन्शियन्ट ज्योग्रेफी ऑव इण्डिया पृ० ४२३-४२७।
२. वार्टर्स : ऑन् यूआन् चुआङ्स् ट्रैविल्स इन इण्डिया, जिल्द दूसरी, पृ० ३३८।
३. गाइल्स : ट्रैविल्स ऑव फाह्यान, पृ० २४।

(६।३।२), दार्व (६।३।२), राजगृह (६।३।४६), पाटलिपुत्र (७।३।६), वस्तु-ग्रांज (७।४।२६), आस्कर्थ (३।२।४८), श्रीपुर (२।४।४९), कोविदार (६।२।८४), कश्मीर (६।२।८४), वाराणसी (६।२।६९), माढनगर (६।३।५८) प्रभृति नगरों के नाम उपलब्ध होते हैं। हेम ने मथुरा और पाटलिपुत्र की समृद्धि की तुलना करते हुये लिखा है—'मथुरा पाटलिपुत्रेभ्यः आढ्यतरा' (२।२।२९) अर्थात् मथुरा पाटलिपुत्र की अपेक्षा अधिक समृद्धि-शाली है। सम्भवतः हेम के समय में मथुरा की समृद्धि अधिक बढ़ गयी थी। पर संकाश्य की अपेक्षा पाटलिपुत्र की समृद्धि अधिक थी। हेम ने 'संकाश्य-कानां पाटलिपुत्रकाणां च पाटलिपुत्रका आढ्यतमा' (७।३।६) उदाहरण द्वारा अपने समय की स्थिति पर प्रकाश डाला है। २।४।१११ सूत्र के उदाहरणों में 'बहुपरिव्राजका मथुरा' उदाहरण प्रस्तुत कर मथुरा में बहुत से संन्यासियों के रहने की सूचना दी है। अनुमान है कि आज के समान ही हेम के समय में भी मथुरा में संन्यासियों की भीड़ एकत्र रहती थी। इसी कारण हेम ने उक्त उदाहरण द्वारा मथुरा में संन्यासियों की बहुलता की सूचना दी है।

हेम ने राजन्यादि गण, ईषुकार्यादि गण, मध्वादि गण, नडादि गण, वरणादि गण, नद्यादि गण, धूमादि गण, वाहीक गण आदि में तीन-चार सौ नगरों से कम का उल्लेख नहीं किया है। इन गणों में पाणिनि के नामों की अपेक्षा अनेक नाम नवीन आये हैं।

गाँवों के नामों में जाम्ब, शाल्कूकिनी, केतवता (३।१।१४२), नपर्णा (६।२।९), पूर्वेषुकामशमी (६।३।२३), शाकली, नन्दीपुर, सिंपुरी, वाता-नुप्रस्थ, कुक्कुटरीवह (६।३।२६), वर्तीपुर, पीलुवह, मालाप्रस्थ, शोणप्रस्थ (६।३।४३) आदि सैकड़ों नाम आये हैं। हेम ने मौञ्ज नामक ग्राम के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करते हुये लिखा है—"मौञ्जं नाम वाहीकावधिरन्य-पदीयो ग्रामो न वाहीक ग्राम इत्येके। अन्ये तु दश द्वादश वा ग्रामा विशिष्टसन्निवेशावस्थाना मौञ्जं नामेति ग्रामसमूह एवायं न ग्रामः, नापि राष्ट्रं येन राष्ट्रलक्षणोऽकञ् स्यात् इति मन्यन्ते" (६।३।२६)। अर्थात् मौञ्ज ग्राम वाहीक की सीमा के बाहर नहीं है। अतः इसे वाहीक ग्राम में ही शामिल करना चाहिये, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। अन्य कुछ मनीषी दस या बारह ग्रामों के विशिष्ट समूह को मौञ्ज ग्राम मानते हैं, किसी एक ग्राम को नहीं। यह राष्ट्र तो है नहीं, जिससे राष्ट्रलक्षण सूचक अकञ् प्रत्यय किया जाय। इस प्रकार हेम ने ग्राम सम्बन्धी सामग्री पर पर्याप्त विचार किया है।

पर्वत—

राष्ट्र, नगर और ग्रामों के अतिरिक्त पर्वत, नदी और वनों की विवेचना भी हैम व्याकरण में उपलब्ध होती है। हेम के उल्लेखों से अवगत होता है कि उनके समय में भी पर्वतीय लोग आयुधजीवी थे। इन्होंने—'पर्वतात् ६।३।६०—पर्वतशब्दाद्देशवाचिनः शेषेऽर्थे ईयः प्रत्ययो भवति।' यथा—पर्वतीयो राजा, पर्वतीयः पुमान्। अर्थात् पहाड़ी प्रदेश में रहने वालों को बतलाने के लिये पर्वत् शब्द से ईय प्रत्यय होता है। यथा—पहाड़ी इलाके का राजा और पहाड़ी पुरुष दोनों ही पर्वतीय कहलाते हैं। मनुष्य अर्थ से भिन्न अर्थ बतलाने के लिये यह ईय प्रत्यय विकल्प से होता है। बताया है—'अनरेवा' ६।३।६१—पर्वताद्देशवाचिनो नरवर्जितशेषेऽर्थे ईयः प्रत्ययो भवति वा। यथा—पर्वतीयानि पर्वतानि फलानि, पार्वतमुदकम्। मार्कण्डेय पुराण में त्रिगर्त, डुग्गर, हुंजा (हंसमार्ग), जलालाबाद (नीहार) के अर्थात् कांगड़ा से अफगानिस्तान के पहाड़ी लोगों को पर्वतीय या पर्वताश्रयी कहा जाता था। महाभारत उद्योग पर्व (३०।२७) में गान्धारराजः शकुनिः पर्वतीयः—गन्धार देश का राजा शकुनि पहाड़ी कबीलों का अधिपति था। हेम ने सानु शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुये लिखा है—'सनति सनोति वा मृगादीनीति सानु—पार्वतैकदेशः (उण० १) अर्थात् मृग आदि पशुओं के रहने से सानु कहलाता था।

पौराणिक पर्वतों में विजयार्ध, पुष्करार्ध (६।३।७०), निषध और नील (२।२।३३) का निर्देश आया है। विजयार्ध को कुछ विद्वान् हिमालय का ही एक अंग मानते हैं। 'अञ्जनादीनां गिरौ' (३।२।७७) में परम्परा से चले आने वाले पर्वतों के निर्देश के साथ कुछ नाम नये पर्वतों के भी आये हैं। इस सूत्र में अञ्जनादि गण के अन्तर्गत अञ्जनागिरिः, आञ्जनागिरिः, किंशुकागिरि, किंशुलकागिरि, साल्वगिरि, लोहितागिरि, कुक्कुटागिरि, खदनागिरि, नलागिरि एवं पिंगलागिरि इस प्रकार दस पहाड़ों के नामों का उल्लेख किया है। पाणिनि ने किंशुलकादि गण में किंशुकागिरि, शाल्कागिरि, अंजनागिरि, भंजनागिरि, लोहितागिरि एवं कुक्कुटागिरि इन छः पहाड़ों का उल्लेख किया है। श्री डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अनुमान किया है कि उत्तर-पश्चिमी छोर पर अफगानिस्तान से बलूचिस्तान तक उत्तर दक्खिन दौड़ती हुई पहाड़ों की जो ऊँची दीवार है, उसकी बड़ी चोटियों के ये नाम जान पड़ते हैं[1]। कुछ विद्वान् हिन्दूकुश का पुराना नाम लोहितगिरि मानते हैं। महाभारत

---

१. पाणिनिकालीन भारत पृ० ४५

(सभापर्व० २७।१७) में अर्जुन की दिग्विजय के मार्ग में काश्मीर के बाद लोहित को जीतने का उल्लेख है।

हेम ने ३।१।१४२ में हिमालय पर्वत की एक चोटी गौरी का उल्लेख किया है। इसका वर्णन महाकवि कालिदास के कुमारसंभव में पार्वती-तपश्चरण के प्रसंग में (५।७) उपलब्ध होता है। इस चोटी पर मयूर रहा करते थे। हेम ने इसी प्रसंग में कैलास पर्वत का उल्लेख किया है। जिनसेन के महापुराण में (३३ पर्व, श्लो० १२-२०) कैलास का बहुत विस्तृत वर्णन मिलता है। इस कैलास पर्वत से बहुत से झरने निकलते थे, इसकी चोटी बहुत ही उन्नत थी, इसमें नाना प्रकार की मणि जटित थीं। गुफाओं में सिंहादि हिंसक जन्तु निवास करते थे। यह कैलास भी हिमालय की एक चोटी है। हेम ने ३।२।७५ में इसका अन्य नाम अष्टापद भी कहा है। यथा—अष्टौ पदान्यत्र अर्थात आठ पद—उपत्यकाएँ जिसकी हों, वह अष्टापद है। कुछ विद्वान् कैलास को मानसरोवर से २५ मील उत्तर में मानते हैं तथा यह स्थान मनुष्यों के लिए अगम्य माना जाता है। अन्य पर्वतों में गन्धमादन (२।२।३३) के नामों के साथ निम्नाङ्कित पर्वतों का उल्लेख मिलता है।

रैवतगिरि (३।४।२०)—यह गुजरात का प्रसिद्ध पर्वत है। आजकल इसका नाम गिरनार है। पुराणों में इसे रैवतक पर्वत कहा गया है। यह काठियावाड़ प्रान्त के जूनागढ़ नगर के समीप है। महाकवि माघ ने अपने माघ काव्य में श्रीकृष्ण की सेना के द्वारिका से चलकर रैवतक पर्वत पर शिविर डालने के अतिरिक्त विविध क्रीड़ाओं का वर्णन किया है। जैन साहित्य में यह पर्वत बहुत प्रसिद्ध और पवित्र माना गया है।

माल्यवान् (२।२।३३)—यह दक्षिणापथ का पर्वत है। रामायण में इसका वर्णन आया है। यहाँ सुग्रीव की प्रार्थना पर श्रीरामचन्द्र जी ने वर्षाकाल व्यतीत किया था।

परियात्र (२।२।७५)—यह भारत वर्ष का एक कुल पर्वत है। संभवतः यह विन्ध्य पर्वत माला का एक भाग है, जो कच्छ की खाड़ी की ओर है। कुछ ऐतिहासिक विद्वानों के मत से यह हिमालय की शिवालक पर्वत माला का नाम है। कुछ विद्वान् जयपुर और मरुस्थल के मध्य में विस्तृत पर्वत माला के दक्षिण भाग को परियात्र मानते हैं, जो आजकल पत्थर कहलाती है। चीनी यात्री यूएन च्वाँग ने इसी पर्वत माला को परियात्र कहा है। हेम ने 'उत्तरो विन्ध्यात् परियात्रः' (२।२।७५)—अर्थात् विन्ध्य से उत्तर परियात्र

को कहा है। मध्य भारत में पश्चिमोत्तर में विस्तृत पर्वत श्रेणी विन्ध्य है, इसी के कारण भारत उत्तर और दक्षिण भागों में बँटा है।

वर्दावान्नामगिरि (३।२।७८)—वार्दा—'मेघा सन्त्यत्र वार्दावान्नाम गिरिः' अर्थात् यह भी हिमालय की कोई चोटी ही प्रतीत होती है।

वेटावान्नामगिरि (३।२।७८)—वेटन्ति पक्षिभिरत्र वेटा वृक्षास्ते सन्त्यत्र अर्थात्—इस पर्वत पर घने वृक्ष थे। संभवतः यह विन्ध्यगिरि की कोई चोटी है।

शत्रुञ्जय (३।४।२०)—काठियावाड़ में एक छोटा सा पर्वत है। इस पर्वत पर लगभग ६०० जैन मन्दिर हैं। आचार्य हेम ने गिरनार से शत्रुञ्जय की दूरी बतलाते हुए लिखा है—'रैवतकात् प्रस्थितः, शत्रुञ्जये सूर्यं पातयति'—अर्थात् रैवत से प्रातःकाल रवाना होने पर सूर्यास्त होते-होते शत्रुञ्जय पर पहुँच जाते हैं। कहा जाता है कि जयसिंह सिद्धराज ने शत्रुञ्जय की तीर्थ यात्रा करके वहाँ के आदिनाथ को १२ ग्राम भेंट किये थे। सम्राट् कुमारपाल ने भी शत्रुञ्जय और गिरनार की यात्रा की थी तथा शत्रुञ्जय पर जिनमन्दिर भी बनवाये थे।

नदियाँ—

'गिरिनद्यादीनाम्' २।३।६८ में दो प्रकार की नदियों का उल्लेख किया है—गिरिनदी और वक्रनदी। गिरिनदी उस पहाड़ी नदी को कहा है, जो झरने के रूप में प्रवाहित होती है, जिसमें अधिक गहरा पानी नहीं रहता। वक्र नदी इस प्रकार की नदी है, जिसकी धारा बहुत लम्बी और दूर तक प्रवाहित होती है, जिसका जल भी गहरा रहता है। दूर तक प्रवाहित रहने के कारण वक्र नदी के तट पर आबादी रहती है, बड़े-बड़े गाँव या शहर बस जाते हैं। निम्न नदियाँ उल्लिखित हैं।

(१) गंगा (३।१।३४), यमुना (३।१।३४), शोण (३।१।४२), गोदावरी (३।२।५, ७।३।९१), देविका (उणा० २७), चर्मण्वती (२।४।३०), कुहा (५।३।१०८), उदुम्बरावती, मशकावती, वीरणावती, पुष्करावती, इक्षुमती, द्रुमती, शरावती, इरावती, भागीरथी, भीमरथी, जाह्नवी, सौवास्तवी (६।२।७२), चन्द्रभागा (२।४।३०), अहिवती, कपिवती, मणिवती, मुनिवती, ऋषिवती (२।१।९५), सरयू (९०४ उ०) शर्करी (९०४ उ०)।

गंगा—यह भारत की प्रसिद्ध पुण्यनदी है। यह गढ़वाल जिले के गंगोत्री नामक स्थान से दो मील ऊपर विन्दुसर से निकलती है। हेम ने 'अनुगङ्गं वाराणसी' (३।१।३४)—उदाहरण द्वारा वाराणसी के समीप गंगा की सूचना

दी है। ३।२।५ सूक्त में उन्मत्तगङ्गं, लोहितगङ्गं, शनैर्गङ्गम् और तूष्णीगङ्गं उदाहरणों द्वारा गंगा की विभिन्न स्थितियों का निरूपण किया है। वर्षा ऋतु में बाढ़ आने से गंगा उन्मत्त और लोहित हो जाती है। शरद् ऋतु में गंगा के प्रवाह की तीक्ष्णता घट जाने से शनैर्गङ्गम्—धीरे-धीरे प्रवाहित होने वाली गंगा कही जाती है। ग्रीष्म ऋतु में गंगा की धारा के क्षीण हो जाने से कलकल ध्वनि भी कम सुनाई पड़ती है और गंगा शान्त रूप में प्रवाहित होने लगती है। अतः इन दिनों में तूष्णीगंगा कहलाती है।

यमुना—आगरा, मथुरा और प्रयाग के निकट प्रवाहित होनेवाली प्रसिद्ध नदी है। यह कलिन्द नामक स्थान से निकलती है, जिसे यमुनोत्तरी कहा जाता है। कलिन्द पर्वत से निकलने के कारण ही यह कालिन्दी कहलाती है। हेम ने 'अनुयमुनं' मथुरा (३।१।३४) उदाहरण से मथुरा की समीपता यमुना से बतलायी है।

शोण—यह पूर्व देश की प्रसिद्ध नदी है। हेम ने 'गङ्गा च शोणश्च गङ्गाशोणम् (३।११४२) द्वारा गंगा और सोन की समीपता बतलायी है। यह नदी गोंडवाने से निकलकर पटना के समीप गंगा से मिलती है।

गोदावरी—दक्षिण भारत की प्रसिद्ध नदी है। यह सह्य पर्वत—पश्चिमी घाट के पूर्व शिखर त्र्यम्बकेश्वर नामक स्थान के पास ब्रह्मगिरि पर्वत से निकलती है। यह स्थान वर्तमान नाशिक नगर से १२ मील की दूरी पर है। यह नदी राज महेन्द्री के पास पूर्व समुद्र (बंगाल की खाड़ी) में गिरती है और ९०० मील लम्बी है।

देविका—यह मद्रदेश में प्रवाहित होने वाली प्रसिद्ध नदी है। वामन पुराण अध्याय ८४ के अनुसार रावी की सहायक नदी थी, इसकी पहचान देग नदी के साथ की जा सकती है, जो जम्मू की पहाड़ियों से मिलकर स्यालकोट, शेखूपुरा जिलों में होती हुई रावी में मिल जाती है।

चर्मण्वती—इसका वर्तमान नाम चम्बल है विन्ध्याचल की नदियों में यह प्रसिद्ध है। इसका जल बहुत ही पतला और साफ होता है।

कुहा—यह उत्तरापथ की प्रसिद्ध नदी है। इसे काबुल नदी भी कहते हैं। वेदों में इसे कुभा कहा गया है। ग्रीक लोग इसे काफस कहते हैं। यह सिन्धु की सहायक नदी है और कोही बाबा पहाड़ के नीचे से निकलती है।

उदुम्बरावती—उदुम्बर देश की किसी नदी का नाम है। यह देश व्यास और रावी के बीच में कांगड़ा के आस-पास अवस्थित था।

मशकावती—स्वात नदी का निचला भाग मशकावती नदी है। इसके

तट पर मशकावती नगरी थी। यूनानियों के अनुसार मस्सग का किला पहाड़ी था, जिसके नीचे प्रवाहित होने वाली नदी मशकावती कहलाती थी। काशिका (४।२।८५) में इस नदी का उल्लेख है।

वीरणावती—यह नदी प्राचीन वारणावती ज्ञात होती है। राजशेखर ने काव्य मीमांसा में दक्षिण भारत की नदियों में वरणा का नाम गिनाया है। यह सह्य पर्वत से निकलती है।

पुष्करावती—स्वात नदी के एक हिस्से का नाम पुष्करावती है। सुवास्तु नदी के दक्षिण का प्रदेश, जहाँ वह कुभा में मिलती है, किसी समय पुष्कल जनपद कहलाता था। श्री डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने गौरी-सुवास्तु संगम तक की सम्मिलित धारा को पुष्करावती माना है[1]।

ईक्षुमती—यह फर्रुखाबाद जिले की ईखन नदी है। गंगा की सहायक नदियों में इसकी गणना की गयी है।

द्रुमती—संभवतः यह काश्मीर की द्रास नदी है।

शरावती—कुरुक्षेत्र की घग्घर नदी है। यह प्राच्य और उदीच्य देशों की सीमा पर प्रवाहित होती थी।

इरावती—यह पंजाब की प्रसिद्ध इरावती या रावी नदी है। लाहौर नगर इसी के तट पर बसा था। कुछ विद्वान् अवध प्रदेश की राप्ती नदी को इरावती मानते हैं, पर अधिकांश विचारक इसी पक्ष में हैं कि यह पंजाब की प्रसिद्ध रावी नदी ही है।

भैमरथी—दक्षिण भारत की प्रसिद्ध नदी है। इसका वर्तमान नाम भीमा है। कृष्णा के साथ जहाँ इसका संगम होता है, वहाँ इसका नाम भैमरथी हो गया है।

सौवास्तवी—आजकल इसे स्वात नदी कहा जाता है। इसकी पश्चिमी शाखा गौरी नदी है। इन दोनों के बीच में उड्डियान था, जो गन्धार देश का एक भाग माना जाता था।

चन्द्रभागा—पंजाब की पाँच प्रसिद्ध नदियों में से एक नदी चिनाव ही चन्द्रभागा नदी है। यह सिन्धु की सहायक नदियों में है। इस नदी के दोनों तटों पर चन्द्रावती नगरी का ध्वंसावशेष पड़ा हुआ है। कहा जाता है कि राजा चन्द्रसेन ने यह चन्द्रावती नगरी बसाई थी; किन्तु यहाँ से प्राप्त प्राचीन सिक्कों को देखने से यही अनुमान किया जाता है कि इस नगरी का अस्तित्व चन्द्रसेन से बहुत पहले भी वर्तमान था। अतः चन्द्रसेन ने इसका पुनः संस्कार किया होगा।

---

१. पाणिनिकालीन भारत पृ० ५५

वन—

भौगोलिक दृष्टि से वनों का महत्व सार्वजनीन है। आचार्य हेम ने अपने शब्दानुशासन में शताधिक वनों का उल्लेख किया है। प्राचीन भारत में वन अधिक थे और उनकी उपयोगिता से सभी लोग अवगत थे। इन्होंने 'निष्प्राग्रेऽन्तः खदिरकार्श्याम्रशरेक्षुप्लक्षपीयूक्षाभ्यो वनस्य' (२।३।६६) में निर्वणम्, प्रवणम्, अग्रेवणम्, आम्रवणम्, शरवणम्, इक्षुवणम्, प्लक्षवणम्, पीयुक्षावणम् तथा २।३।६५ सूत्र में मनोहरवनम्, प्रभाकरवनम् के नाम भी गिनाये हैं। 'द्वित्रिस्वरौषधिवृक्षेभ्योनवाऽनिरिकादिभ्यः' २।३।६७ में देवदारुवन, भद्रदारुवन, विदारीवन, शिरीषवन, इरिकावन, मिरिकावन, तिमिरवन, चिरिकावन, कमरिवन, खीरवन, हरिवन, द्रुमवन, वृक्षवन, दुर्वावण, मूर्वावण, व्रीहिवण, माषवण, नीवारवण, कोद्रवण, प्रियंगुवण, शिग्रुवण, दारुवण और करीरवण का उल्लेख आया है।

इन वनों में अग्रेवण प्राचीन अग्रजनपद में स्थित था। आम्रवन राजगृह के समीप आम का घना जंगल था। कहा जाता है कि इसे जीवक ने बुद्ध को दान में दिया था। प्राकृत साहित्य में कई उद्यानों का उल्लेख आया है। कंपिल्ल नगर में सहस्संबवण नाम का उद्यान था। आसमिया नगरी के बाहर सांववण नाम के उद्यान का उल्लेख है। महाकवि अर्हद्दास ने अपने मुनिसुव्रत काव्य में मगध के घनीभूत वनों का वर्णन करते हुए लिखा है—

तमोनिवासेषु वनेषु यस्य मरन्दसार्द्रास्तरणेर्मयूखाः।
स्फुरन्ति शाखान्तरलब्धमार्गाः कुन्ताः प्रयुक्ता इव शोणितार्द्राः ॥१।२७॥

जिस मगध देश के निविड अन्धकार मय वनों में मकरन्द विन्दु से भींगी हुई तथा पत्तों की ओट से छन-छन कर आती हुई सूर्य की किरणें लक्ष्य को वेध कर आती हुई रुधिराक्त बर्छियों सी प्रतीत होतीं हैं।

कवि ने 'बहिर्वनो यत्र विधाय' तथा 'आरामरामाशिरसीव' (१।३८–३९) पद्यों द्वारा राजगृह के बाहर रहने वाले वनों की सूचना दी है। हेम ने (२।३।६५) मनोहर वन को रम्य उद्यान बताया है। शरवणम् नामक सन्निवेश श्रावस्ती नगरी से सटा हुआ था, जहाँ आजीवक आचार्य गोशाल मंखलि पुत्त का जन्म हुआ था। इक्षुवण—फर्रुखाबाद जिले की ईक्षुमती–ईखन नदी के तट पर अवस्थित था। प्रभाकर वन का दूसरा नाम महावन भी बताया गया है। यह उद्यान वाराणसी के समीप था। गोशालक ने महावीर से कहा था कि उसने काम महावन में माल्यमंडित का शरीर छोड़कर रोह के शरीर में प्रवेश किया है। प्रभाकर वन के वैशाली के आस-पास रहने के भी प्रमाण मिलते हैं। व्रीहिवण और मूर्वावण

ऋजुपालिका नदी के दोनों तटों पर अवस्थित थे। भगवान् महावीर ने इसी ऋजुपालिका नदी के तट पर केवलज्ञान प्राप्त किया था। बदरीवन मिर्जापुर और वाराणसी के बीच पड़ता था। आज भी इस स्थान पर बदरी—बैर के पेड़ उपलब्ध हैं। यह बदरीवन राजस्थान में धौलपुर से २१-२२ मील पर बाड़ी नामक कस्बे के आस-पास स्थित था। ईरिका वन और मिरिका वन विन्ध्य की तलहटी में स्थित थे। करीरवण—मथुरा और वृन्दावन के बीच आठ मील लम्बा वन था। आचार्य हेम के समय में भी यह वन किसी न किसी रूप में स्थित रहा होगा।

सामाजिक जीवन—

आचार्य हेम ने अपने व्याकरण में जिस समाज का निरूपण किया है, वह समाज पाणिनि या अन्य वैयाकरणों के समाज की अपेक्षा बहुत विकसित और भिन्न है। हेम द्वारा प्रदत्त उदाहरणों से भी वर्ण एवं जाति व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है, पर हेम ने जातिवाद की कट्टरता स्वीकार नहीं की है। उनकी जाति व्यवस्था श्रम-विभाजन पर तो आश्रित है ही, साथ ही परम्परा से प्राप्त जन्मना जाति-व्यवस्था के उदाहरण भी आचार्य हेम ने उपस्थित किये हैं। सामाजिक रहन-सहन और आचार-व्यवहार में हेम ने जाति को कारण नहीं माना। समाज की उन्नति और अवनति का हेतु वैयक्तिक विकास ही है, चाहे यह विकास आर्थिक हो अथवा आध्यात्मिक।

जाति व्यवस्था—

आचार्य हेम ने जातिव्यवस्था के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है—'जातेरयान्तनित्यस्त्रीशूद्रात्' २।४।५४—'तत्र जातिः कचित्संस्थानव्यङ्ग्या, यथा गोत्वादिः। सकृदुपदेशव्यङ्ग्यत्वे सत्यत्रिलिङ्ग्या यथा ब्राह्मणादिः। अत्रिलिङ्गत्वं देवदत्तादेरप्यस्तीति सकृदुपदेशव्यङ्ग्यत्वे सतीत्युक्तम्। गोत्रचरणलक्षणा च तृतीया।' यदाहुः—

आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥

अर्थात्—जाति के अन्तर्गत गोत्र—पितृ-वंश परम्परा और चरणों—गुरुवंश-परम्परा को भी सम्मिलित कर लिया गया है। गोत्र और चरणों के विभिन्न भेदों के आधार पर सहस्रों प्रकार की नाना जाति-उपजातियाँ संगठित हो गयी हैं। ऐसा लगता है कि हेम के मत में एक गोत्र के भीतर भी कई उपजातियाँ हुई हैं। इन उपजातियों के बनने का आधार मात्र श्रमविभाजन है। यतः एक प्रकार से आजीविका अर्जन करने वालों का एक वर्ण माना है।

७।३।६० सूत्र की व्याख्या करते हुये लिखा है—"नानाजातीया अनियत-वृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः संघपूगाः (७।३।६४)। नानाजातीया अनियत-वृत्तयः शरीरायासजीविनः संघव्राताः (७।३।६१)। यथा कापोतपाक्यः व्रैहिमत्यः" (७।३।६१)। उक्त दोनों उदाहरणों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि कापोतपाक जाति और व्रीहिमत जाति—आजीविका अर्जन करने के ढंग पर अवलम्बित हैं। कापोतपाक वह जाति है, जिसके पेशे में कबूतर पकड़ने या कबूतर का मांस पकाकर आजीविका चलाने की प्रथा वर्तमान हो। इसी प्रकार व्रीहिमत जाति धान एकत्र कर आजीविका चलाने वाली थी। आज भी बिहार में इस प्रकार की जाति है, जो जंगली धान के कणों को एकत्र करती है। अतः आचार्य हेम का 'अनियतवृत्तयः' पद इस बात का सूचक है कि भिन्न-भिन्न जाति वालों की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ होती हैं, इसी कारण नाना जाति वाले अनियत वृत्ति कहलाते हैं। जो लोग अर्थ और काम साधनों का प्राधान्य रखते थे, उनको पूग कहा गया है। यह पूग गोत्र या संघ कई जातियों में विभक्त था। कुछ लोग लौह ध्वज का निर्माण कर आजीविका चलाते थे और कुछ लौह गलाकर अन्य वस्तुओंके निर्माण का कार्य करते थे। इसी प्रकार शारीरिक श्रम करने वालों का संघ व्रात कहलाता था। इन व्रातों की कापोतपाक और व्रीहिमत जातियाँ थीं। कुछ विद्वानों का मत है कि आर्यावर्त की सीमाओं पर बसने वाले और अस्त्र-शस्त्र के बल से लूटमार करने वाले व्रात कहे जाते थे। इस जाति को उत्तर पश्चिमी कबाइली इलाकों का निवासी माना है।

७।३।६२-६७ सूत्रों की वृत्तियों में शस्त्रजीविसंघों और उनके भीतर रहने वाली जातियों का उल्लेख किया है। 'शस्त्रजीविनां यः संघस्तद्वाचिनः स्वार्थेञ्यट् प्रत्ययो वा भवति। शबराः शस्त्रजीविसंघः। पुलिन्दाः. कुन्तेरपत्यं बहवो माणवकाः कुन्तयः ते शास्त्रजीविसंघः कौन्त्यः'—७।३।६२ शस्त्र से आजीविका चलाने वालों का संघ शस्त्रजीवि संघ कहा गया है। यह संघ अनेक जातियों में विभक्त था—शबर, पुलिन्द आदि। इसी प्रसंग में इन्होंने कुन्ति नाम की एक शस्त्रजीवि जाति का उल्लेख किया है। उक्त सूत्र की टिप्पणी में इस शब्द को स्त्रीत्वविशिष्ट माना है, जिससे ऐसा ध्वनित होता है कि यह स्त्री संघ था, किन्तु मूल सन्दर्भ में इस प्रकार की कोई सूचना अंकित नहीं है। कुन्ति के बहुत से पुत्रों को, जिनकी आजीविका का साधन शस्त्र था, कौन्त्य कहा है।

वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्येभ्यः ७।३।६३ सूत्र में वाहीकदेश की ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति के अतिरिक्त अन्य जातियों का उल्लेख करते हुए हेम ने

कुण्डविश, क्षुद्रक, मालव, शमण्ड और वागुर जातियों का निर्देश किया है। ये सभी जातियाँ शस्त्रजीवि थीं। वागुर जाति की पहचान पक्षियों को पकड़ने-वाली व्याध जाति से की जा सकती है। इस जाति का पेशा गुलेर द्वारा पक्षियों को मारने या जाल फैलाकर पकड़ने का था। युधाया अपत्यं बहवः कुमारास्ते शस्त्रजीविसंघः यौधेयः, शौकेयः, धार्तेयः, ज्यावनेयः, धार्तेयः (७।३।६५); शस्त्रजीविसंघः पर्शोरपत्यं बहवो माणवकाः पार्शवः, राक्षसः (७।३।६६); दमनस्यापत्यं बहवः कुमारास्ते शस्त्रजीविसंघ दमनीयः। औलपीयः, औपलीयः, वैजवयिः, औरकिः, आच्युतन्तिः, काथन्दिः, शाक्रन्तपिः, सार्वसेनिः, तुलभा, मौञ्जायनः, औदमेघिः, औपविन्दिः, सावित्रीपुत्रः, कौण्ठारथः, दाण्डकिः, क्रौष्टकिः, जालमानिः, जारमाणिः, ब्रह्मगुप्तः, ब्राह्मगुप्तः, जानकिः (७।३।६७) आदि अनेक जाति एवं जातियों के वाचक शब्दों का निर्देश उपलब्ध होता है। उल्लिखित सभी जातियाँ शस्त्रजीवी थीं। उलप एक प्रकार की घास है, इसे काटकर आजीविका चलाने वाले औलप कहलाये और उनकी सन्तान औलपीय नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी प्रकार उपल-पत्थर काटने का कार्य कर आजीविका निर्वाह करनेवाले औपलि हुए और उनकी सन्तान औपलीय कहलायी। आचार्य हेम के इस वर्णन से स्पष्ट अवगत होता है कि इनकी दृष्टि में जाति या वर्ण का प्रधान आधार आजीविका है। एक ही प्रकार की आजीविका करनेवाले वर्गविशेष की सन्तान भी आगे चलकर उसी जाति के नाम से अभिहित की जाने लगी। आशय यह है कि एक ही प्रकार की आजीविका करनेवाले जब फल-फूल कर अधिक पुत्र-पौत्रों में विकसित हो पृथक् पृथक् ख्यात, गुट्ट या अङ्ग के अन्तर्गत बढ़ जाते थे तो वे समाज में अपने पृथक् अस्तित्व का भान और स्मृति बनाये रखने के हेतु एक छोटी उपजाति या गोत्रावयव का रूप ग्रहण कर लेते थे। स्पष्ट है कि जाति, उपजातियों, कौटुम्बिक नामों, पैतृकनामों, व्यापारिकनामों, शहरों के नामों, पेशे के नामों एवं पदों के नामों के आधार पर संघटित हुई हैं। हेम ने पाणिनीय तन्त्र के आचार्यों से ही वाहीक एवं उत्तर-पश्चिम प्रदेश की समाज व्यवस्था को स्पष्ट करने वाले उदाहरणों को एकत्र कर अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। शकस्यापत्यं शकः, यवनस्यापत्यं यवनः, जर्तः, कम्बोजः, चोलः, केरलः (६।१।१२०) आदि प्रयोगों से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

यह सत्य है कि आचार्य हेम के समय में वर्णव्यवस्था वैदिक काल की अपेक्षा बहुत शिथिल हो गयी थी, फिर भी उसकी जड़ें पाताल तक रहने के कारण वह अभ्मसा अपना अस्तित्व बनाये हुए थी। प्राचीन परम्परा की

पुष्टि के लिए इन्होंने 'चत्वार एव वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम्' (७।२।१६४) उदाहरण द्वारा चारों वर्णों का अस्तित्व निरूपित किया है। चारों वर्णों के भाव या कर्म को चातुर्वर्ण्य कहा गया है।

ब्राह्मणजाति—

इन्होंने ब्राह्मण शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए लिखा है—"ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणाः" (७।४।५८) अर्थात् ब्रह्मन्—ब्रह्मा की सन्तान ब्राह्मण है। पर इस ब्रह्मा का अर्थ इन्होंने पौराणिक ब्रह्मा नहीं लिया है, बल्कि आध्यात्मिक गुण, सम्पत्ति और सदाचार से युक्त व्यक्ति को ब्रह्मा कहा है। ब्राह्मण के आदर्श और आचार के लिए ब्राह्मण्य पद का प्रयोग पाया जाता है। "ब्राह्मणाभ्नि" (७।१।१८४) सूत्र की व्याख्या में बतलाया गया है कि 'यत्रायुधजीविनः काण्डस्पष्टा नाम ब्राह्मणाः भवन्ति। आयुधजीवी ब्राह्मण एव ब्राह्मणक इत्यन्ये'। अर्थात् जिसमें सदाचार, साधना एवं आत्मबोध नहीं है, ऐसा व्यक्ति यदि अपने आचार को छोड़ अस्त्र-शस्त्र से आजीविका अर्जन करने लगे तो वह नाम ब्राह्मण कहलायगा। मतान्तर से आयुधजीवी ब्राह्मण को ब्राह्मणक कहा गया है। अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह के अतिरिक्त क्रूर भाव का त्याग कर अहिंसा, सत्य प्रभृति व्रतों का पालन करना भी ब्राह्मण का कर्म है। आचारहीन ब्राह्मण कुब्राह्मण कहा गया है। ब्रह्मवर्चसम् (७।३।८३) उदाहरण द्वारा ब्रह्मतेज उन्हीं ब्राह्मणों में बताया है, जिनमें आध्यात्मिक शक्ति का प्राबल्य है। देश विशेष में ब्राह्मणों की गिरती हुई अवस्था का चित्रण करते हुए 'न कलिङ्गेषु ब्राह्मण-महत्तमम्' (५।२।११) उदाहरण द्वारा कलिङ्ग में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा कम होने का उल्लेख किया है। हेम के समय में जाति व्यवस्था के शिथिल हो जाने से निरक्षर भट्टाचार्य ब्राह्मणों की अवहेलना होने लगी थी। जिनमें ज्ञान, त्याग और आत्मबल नहीं था, ऐसे ब्राह्मण समाज में तिरस्कार प्राप्त करते थे तथा इस तिरस्कार का कारण श्रमणों द्वारा सदाचार और आत्मशुद्धि के हेतु चलाया हुआ आन्दोलन था। फलतः 'नित्यवैरस्य' ३।१।१४१ में नित्य वैर का उदाहरण 'ब्राह्मणश्रमणम्' दिया है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि श्रमण और ब्राह्मणों के बीच होने वाले झगड़ों में जातिव्यवस्था भी झगड़े का एक कारण थी। ब्राह्मण एवं श्रमण में आचार और श्रद्धागत भेद रहने से नित्य वैर रहता था। श्रमणों के आन्दोलनों ने ब्राह्मणों के प्रभुत्व को क्षीण कर दिया था। जनता में व्याप्त अन्धविश्वासों को श्रमणों ने उखाड़ फेंका था, फलतः सामान्य जनता में भी ज्ञान और चरित्र का विकास आरंभ हो गया था।

व्यापार करनेवाला ब्राह्मण भी निन्दा का पात्र बनता था। हेम ने सोम विक्रयी, घृतविक्रयी और तैलविक्रयी (५।१।५९) उदाहरणों द्वारा उक्त व्यापार करने वाले को निन्दित माना है। व्याकरण के नियम से निन्दा अर्थ में विक्राय के स्थान पर विक्रयी आदेश होता है। अतः वैश्य को घृतविक्राय और ब्राह्मण को घृतविक्रयी कहा गया है। यतः व्यापार करना वैश्य का पेशा और धर्म है, पर ब्राह्मण का नहीं।

भिन्न-भिन्न देशों में बसे हुए ब्राह्मण भिन्न-भिन्न नामों से पुकारे जाते थे। हेम ने 'सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः। यः सुराष्ट्रेषु वसति स सौराष्ट्रिको ब्राह्मण इत्यर्थः। एवमवन्तिब्राह्मणः, काशिब्राह्मणः' (७।३।१०७) अर्थात् सौराष्ट्र में निवास करनेवाले ब्राह्मण सौराष्ट्रिक या सुराष्ट्र ब्राह्मण, अवन्ती में निवास करनेवाले अवन्तिब्राह्मण एवं काशी देश में निवास करने वाले काशिब्राह्मण कहलाते हैं। श्री डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि अवन्तिब्राह्मण मालव ब्राह्मणों के पूर्ववर्ती थे; क्योंकि उज्जयिनी के साथ मालव का सम्बन्ध गुप्तकाल से चला आ रहा है। इसी प्रकार गुजराती और कच्छी ब्राह्मणों के पूर्ववर्ती सुराष्ट्र ब्राह्मण रहे होंगे। हेम के 'पञ्चालस्य ब्राह्मणस्य राजा पाञ्चालः, पञ्चालस्य ब्राह्मणस्यापत्यं वा पाञ्चालः' (६।१। ११४)—प्रयोग भी पञ्चाल ब्राह्मण जाति को सूचित करते हैं।

क्षत्रिय जाति—

आचार्य हेम ने 'क्षत्रादियः' ६।१।९२—क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः जातिश्चेत् अर्थात् क्षत्र शब्द से जाति अर्थ में इय प्रत्यय कर क्षत्रिय शब्द निष्पन्न होता है। हेम ने 'जातौ राज्ञः' ६।१।९२—राजन् शब्दादपत्ये जातौ गम्यमानायां यः प्रत्ययो भवति, यथा—राज्ञोऽपत्यं राजन्यः क्षत्रियजातिश्चेत्। राजनोऽन्यः। अर्थात् क्षत्रिय जाति के अभिषिक्त व्यक्ति राजन्य कहलाते थे और क्षत्रियेतर जाति के प्रशासक व्यक्ति राजन कहलाते थे। 'राजन्यादिभ्योऽकञ्' ६।२।६६ में संघरूप शासन में भाग लेने के अधिकारी क्षत्रिय कुल के व्यक्तियों को भी राजन्य कहा है। अनेक जनपदों के नाम भी वे ही थे, जो वहाँ के क्षत्रियों के थे। हेम ने 'मगधानां राजा, मगधस्यापत्यं वा मागधः' (६।१।११६) द्वारा मगध में मागध जाति के क्षत्रियों के निवास की सूचना दी है। इसी प्रकार यौधेय, मालव और पाञ्चाल जाति के क्षत्रिय भी तत्तद् जनपद में निवास करने वाले थे। 'क्षत्रियः पुरुषाणां पुरुषेषु वा शूरतमः' (२।२।१०९) प्रयोग द्वारा क्षत्रिय जाति की वीरता पर प्रकाश डाला है। इक्ष्वाकु वंश के क्षत्रियों को आदि क्षत्रिय बतलाते हुये 'इक्ष्वाकुः आदि

क्षत्रियः' (उण० ७५६) उदाहरण प्रस्तुत किया है। भोज्या-भोजवंशजाः क्षत्रियाः (२।४।८१) द्वारा भोजवंशीय-परिमारवंशीय क्षत्रियों का परिचय दिया है। इस वंश के राजा मालवा में निवास करते थे।

वैश्यजाति—

आचार्य हेम ने 'स्वामिवैश्येऽर्यः' ५।१।३२ सूत्र में वैश्य के लिये अर्य शब्द का प्रयोग किया है। कृषि और व्यापार आदि के द्वारा निष्कपट भाव से आजीविका अर्जन करना वैश्य का कार्य है। जिन व्यापारिक कार्यों के करने से ब्राह्मण की निन्दा होती है, वे ही कार्य वैश्य के लिये विधेय माने गये हैं। प्राकृत साहित्य में 'गहवइ', 'कुटुम्बिक', 'कोडम्बिय', 'इब्भ', सेट्ठि आदि संज्ञाओं का प्रयोग वैश्य के लिये मिलता है।[1] हेम की दृष्टि में वैश्य के लिये कृषि की अपेक्षा व्यापार प्रधान व्यवसाय बन गया था। वैश्य की स्त्री वैश्या कहलाती थी।

शूद्रजाति—

आचार्य हेम ने 'पाऽयशूद्रस्य' ३।१।४३ में दो प्रकार के शूद्र बतलाये हैं—आर्यावर्त के भीतर रहने वाले और आर्यावर्त की सीमा के बाहर रहने वाले। आर्यावर्त की सीमा से बाहर निवास करने वाले शूद्रों में शक और यवन हैं। आर्यावर्तवासी शूद्रों के भी दो भेद हैं—पाऽया और अपाऽया। पाऽया की परिभाषा करते हुये लिखा है—'यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुद्ध्यति ते पात्रमर्हन्तीति पाऽयाः' (३।१।१४३)—अर्थात् अभिजात्य वर्ग के व्यक्तियों के बर्तनों में जो खा-पी सकते थे तथा मांजने से बर्तन शुद्ध माने जाते थे, वे शूद्र पाऽया कहलाते थे। पर जिन्हें समाज में निम्न समझा जाता था और भोजन के हेतु अभिजात्य वर्ग के पात्र नहीं दिये जाते थे, वे अपाऽया कहलाते थे। समाज में सबसे निम्न श्रेणी के शूद्र श्व, चाण्डाल (३।१।१४३) प्रभृति थे। ये नगर या गाँव से बाहर अपने घर बनाकर रहते थे। हेम ने 'अन्तरायै पुरे क्रुध्यति—चाण्डालादिपुर्यै इत्यर्थः। नगरबाह्याय चाण्डालादिगृहायेत्यर्थः' (१।४।७) द्वारा पुरानी परम्परा का निर्देश किया है। इनसे ऊपर कुम्हार, नापित, बढ़ई, लोहार, तन्तुवाय-बुनकर, रजक-धोबी, तक्ष, अयस्कार (६।१।१०२) आदि जाति के व्यक्ति शूद्र माने गये हैं। इन शूद्रों का समाज के साथ सम्पर्क रहता था, इनसे भोजन-पान वाले बर्तनों की छुआछूत मानी जाती थी। हेम ने आर्य शूद्रों की समस्या को सुलझाने का प्रयास किया है। अतः इन्होंने 'शीलमस्माकं स्वम्' (२।१।२१) द्वारा

१. ओवाइय सूत्र २७, उत्तराध्ययन सूत्र २५-३१, विवागसुय ५, ३३

शील को जीवन का सर्वस्व बतलाते हुये शीलवान् व्यक्ति को आर्य कहा है। आर्य की व्युत्पत्ति 'अर्यति गुणान् आप्नोतीति आर्यः' जो ज्ञान, दर्शन और चरित्र को प्राप्त करे, वह आर्य है। अतएव शूद्र भी चरित्रबल से आर्यत्व को प्राप्त हो सकता है। फलतः शक, यवन, पुलिन्द, हूण आदि जातियाँ आर्यों में मिश्रित हो जाने से ये जातियाँ भी आर्य मानी जाने लगी थीं।

पुरानी परम्परा के अनुसार हेमचन्द्र ने आभीर जाति को महाशूद्र कहा है। इनका कथन है—"कथं महाशूद्री—आभीरजातिः, नात्र शूद्रशब्दो जातिवाची किं तर्हि महाशूद्रशब्दः। यत्र तु शूद्र एव जातिवाची तत्र भवत्येव ङीनिषेधः। महती चासौ शूद्रा च महाशूद्रेति' (२।४।५४)। कात्यायन ने भी ४।१।४ में महाशूद्र का उल्लेख किया है। काशिका में आभीर जाति को महाशूद्र कहा गया है। इसका कारण यही मालूम पड़ता है कि शक, यवन और हूणों के समान आभीर जाति भी विदेश से आने वाली जाति थी। अतः इस जाति की भी गणना शूद्रों में की गयी है, पर इतना सत्य है कि सामाजिक व्यवहार और छुआछूत की दृष्टि से इसका स्थान ऊँचा माना गया था। महाशूद्र शब्द का अर्थ ऊँचे शूद्र लेना चाहिये। अन्य जातियों में निषाद, वरुट, सुधातु और कर्मार (६।१।३८) का उल्लेख किया है।

सामाजिक संस्थायें—

समाज के विकास के लिये कुछ सामाजिक संस्थान रहते हैं, जिनके माध्यम से समाज विकसित होता है। मूलतः ये संस्थान परिवार के बीच रहते हैं, पर इनका सम्बन्ध समाज के साथ रहता है। आचार्य हेम ने अपने व्याकरण में जिन सामाजिक संस्थाओं का उल्लेख किया है, वे पाणिनिकालीन हैं, पर उनकी व्यवस्था और व्याख्या में पर्याप्त अन्तर है। हेम के द्वारा उल्लिखित संस्थायें निम्न प्रकार हैं।

१ गोत्र	६ वंश
२ वर्ण	७ विभिन्न सम्बन्ध
३ सपिण्ड	८ विवाह
४ ज्ञाति	९ अन्य संस्कार
५ कुल	१० आश्रम

गोत्र—

पाणिनि ने जिस प्रकार गोत्र को वंश परम्परा के आधार पर वर्ण व्यवस्था का सूचक माना है, हेम ने भी गोत्र को उसी रूप में स्वीकार किया है। पर

इतना सत्य है कि हेम मात्र ऋषियों की परम्परा को ही गोत्र में कारण नहीं मानते, बल्कि ऋषियों से भिन्न व्यक्तियों को भी गोत्र व्यवस्थापक मानते हैं। इनके अनुसार जब मानव समुदाय अनेक भागों में विभक्त होने लगा तो अपने पूर्वजों और सम्बन्धियों का स्मरण रखने के हेतु संकेतों की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार के संकेत वंश चलाने वाले व्यक्ति ही हो सकते थे, अतः वंश संस्थापक व्यक्ति का नाम गोत्र कहलाया। आचार्य हेम ने 'बह्वादिभ्यो-गोत्रे' ६।१।३२ में बताया है कि 'स्वापत्यसन्तानस्य स्वव्यपदेशकारणमृषिरनृषिर्वा यः प्रथमः पुरुषस्तदपत्यं गोत्रम। वाहोरपत्यं वाहविः, औपवाकविः'। अर्थात् एक पुरखा की पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र आदि के रूप में जितनी सन्तानें होंगी, वे गोत्र कही जायँगी। गोत्र प्रवर्तक ऋषि और अनृषि-ऋषि-इतर दोनों ही हो सकते हैं। गोत्र प्रवर्तक मूल पुरुष को वृद्ध या वंश्य कहा है। वृद्ध की व्याख्या में बताया है—"पौत्रादि वृद्धम् ६।१।२-परमप्रकृतेः अपत्यवतो यत्पौत्राद्यपत्यं तद्वृद्धसंज्ञं भवति। गर्गस्यापत्यं पौत्रादि गार्ग्यः। परमा प्रकृष्टा प्रकृतिः परमप्रकृतिर्यस्मात् परोऽन्यो न जायते। यद्यपि पितामहप्रपितामहादिनीत्या वृद्धसन्तानस्यानन्त्यं तथापि यन्नाम्ना कुलं व्यपदिश्यते स परमप्रकृतिरित्युच्यते।" अर्थात् जिस सन्तान वाली परम प्रकृति से पौत्रादि उत्पन्न होते हैं, उसकी वृद्ध संज्ञा होती है। परम प्रकृति उसीको कहा जायगा, जिससे पूर्व अन्य कोई मूल पुरुष उत्पन्न न हुआ हो। किन्तु इस प्रसंग में यह आशंका उत्पन्न होती है कि पितामह, प्रपितामह आदि की परम्परा अनन्त है, अतः इस अनन्त सातत्य में किस व्यक्ति को मूल पुरुष माना जाय। इस शंका का समाधान करते हुये आचार्य हेम ने उक्त सन्दर्भ में बतलाया है कि जिसके नाम से कुल की प्रसिद्धि हो, उसी को परम प्रकृति-मूल पुरुष मान लेना चाहिये। तात्पर्य यह है कि समाज में जितने कुल हैं, उन सबके नामों का संग्रह किया जाय तो परिवार के नामों की संख्या सहस्रों, लाखों और अरबों तक पहुँच जायगी। यतः प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना वंश चलाता है, पर वास्तविक वंश प्रवर्तक या गोत्रकर्त्ता वे ही होते हैं, जिनके नाम से कुल प्रसिद्धि पाता है।

पुरानी वैदिक परम्परा की मान्यता के अनुसार मूल पुरुष ब्रह्मा के चार पुत्र हुए—भृगु, अंगिरा, मरीचि और अत्रि। ये चारों गोत्र प्रवर्तक थे। पश्चात् भृगु के कुल में जमदग्नि; अंगिरा के गौतम और भरद्वाज; मरीचि के कश्यप, वसिष्ठ और अगस्त्य एवं अत्रि के विश्वामित्र हुए। इस प्रकार जमदग्नि, गौतम, भरद्वाज, कश्यप, वसिष्ठ, अगस्त्य और विश्वामित्र ये सात ऋषि गोत्र या वंश प्रवर्तक कहलाये। अत्रि का विश्वामित्र के अलावा भी वंश चला। इन

आठ मूल ऋषियों के अतिरिक्त इनके वंश में भी जो प्रसिद्ध व्यक्ति हुए, जिनकी विशिष्ट ख्याति के कारण उनके नाम से भी वंश प्रसिद्ध हुआ। फलतः अनेक स्वतन्त्र गोत्रों का विस्तार होता चला गया।

जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रात्रिगौतमाः।
वशिष्ठः कश्यपोऽगस्त्यो मुनयो गोत्रकारिणः॥
—गोत्रप्रवर

ये ब्राह्मणगोत्र ऋषिकृत कहलाये। इनके अतिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य और इतर जातियों में भी सहस्रों गोत्रों की परम्परा प्रचलित रही। आचार्य हेम ने अनृषि शब्द द्वारा ब्राह्मणेतर गोत्रों की ओर संकेत किया है। 'गोत्रादङ्कवत्' ६।२।१३४ सूत्र से यह भी ध्वनित होता है कि सभी जातियों के गोत्रों की परम्परा उनके मूल पुरुष से आरम्भ हुई है।

हेम ने परिवार के मुखिया पद या गोत्रपदवी को प्राप्त करने की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"वंश्यज्यायोभ्रात्रोर्जीवति प्रपौत्राद्यस्त्री युवा" ६।१।३ 'वंशे भवो वंश्य–पित्रादिरात्मनः कारणम्। ज्यायान् भ्राता-वयोऽधिक एकपितृक, एकमातृको वा। प्रपौत्रं—पौत्रापत्यम् परम-प्रकृतेश्चतुर्थः। स्त्रीवर्जित प्रपौत्राद्यपत्यं जीवति वंश्ये ज्यायो भ्रातरि वा युवसंज्ञं भवति।' अर्थात् सबसे वृद्ध या ज्येष्ठ व्यक्ति गोत्र का उत्तराधिकारी होता है, यही गृहपति कहलाता है और यही परिवार का प्रतिनिधि बनकर जाति-बिरादरी की पंचायतों में भाग लेता है। वंश्य—वृद्ध के जीवित रहने पर ज्येष्ठ, भ्राता या पुत्र-पौत्रादि युव कहलाते हैं। श्रेणी या निगमों में प्रतिनिधित्व करने का अधिकार घर के वृद्ध पुरुष को ही प्राप्त है।

आचार्य हेम ने गोत्र परम्परा का सम्बन्ध वर्ण एवं रक्तपरम्परा के साथ वहीं तक जोड़ा है, जहाँ तक लोकमर्यादा का प्रश्न है। लौकिक समस्याओं को सुलझाने की आवश्यकता है। जब ये प्राणी की आभ्यन्तर वृत्ति की व्याख्या करने लगते हैं तो गोत्रव्यवस्था से ऊपर उठकर श्रमणाचरण को ही सर्वस्व मानते हैं। 'श्रमणा युष्माकं शीलम्, एवं श्रमणा अस्माकं शीलम्' (२।१।२५) द्वारा श्रमण होने पर उच्च गोत्र का आ जाना स्वभाव सिद्ध है। यतः हीन कुल या जातिवाला व्यक्ति भी श्रमणाचरण से श्रेष्ठ हो जाता है। अतः गोत्र लोकमर्यादा के पालन के लिए स्वीकार किया गया है। हेम के मत से वंश का प्रतिनिधित्व एवं उत्तराधिकार का निर्वाह गोत्र द्वारा ही संभव है।

वर्ण—

'वर्णाद्ब्रह्मचारिणि' ७।२।६९ की व्याख्या में बताया गया है कि 'वर्ण-शब्दो ब्रह्मचर्यपर्यायः, वर्णं ब्रह्मचर्यमस्तीति वर्णी—ब्रह्मचारी—इत्यर्थः।

अन्ये तु वर्णशब्दो ब्राह्मणादिवर्णवचनः। तत्र ब्रह्मचारीत्यनेन शूद्रव्यवच्छेदः क्रियते इति मन्यन्ते, तेन त्रैवर्णिको वर्णीत्युच्यते। स हि विद्याग्रहणार्थमुपनीतो ब्रह्म चरति न शूद्रः'। अर्थात् वर्ण शब्द ब्रह्मचर्य का पर्याय है, जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह वर्णी—ब्रह्मचारी कहलाता है। अन्य कतिपय आचार्य वर्ण शब्द को ब्राह्मणादि वर्ण का वाचक मानते हैं। अतः ब्रह्मचारी शब्द द्वारा शूद्र का पृथक्करण किया गया है। और तीन वर्णवालों को वर्णी शब्द द्वारा अभिहित किया है। यतः शूद्र विद्या ग्रहण करने के लिए उपनीत—ब्रह्म को धारण नहीं कर सकता है, अतएव उसे ब्रह्मचारी नहीं माना है। आचार्य हेम ने इस स्थल पर परम्परा से प्राप्त वर्ण शब्द की व्याख्या करके शूद्र को ज्ञान से वंचित बतलाया है। पर इनके निजी मतानुसार शूद्र भी उपस्कराचार की शुद्धि होने से व्रत ग्रहण करने का अधिकारी है।

जातिवाची शब्द से ईय प्रत्यय जोड़कर हेम ने उस जाति के व्यक्ति का बोध कराया है। 'जातेरीयः सामान्यवति' ७।३।१३९ में 'ब्राह्मणजातीयः, क्षत्रियजातीयः, वैश्यजातीयः एवं शूद्रजातीयः' उदाहरणों द्वारा तत्तद् जाति वाचक व्यक्तियों के लिए तत्तद् प्रत्यय जोड़कर साधनिका सम्पन्न की जाती है। जिन व्यक्तियों द्वारा वर्ण या जाति पहचानी जाती है, वे बन्धु कहलाते हैं। किसी सम्प्रदाय या जाति के व्यक्ति एक ही पूर्व पुरुष से सम्बन्ध रखने के कारण सम्प्रदाय या जाति की दृष्टि से बन्धु कहे जाते हैं। आचार्य हेम ने वर्णशंकर (५३४उ०) के अन्तर्गत कीमाश और कर्प की गणना की है।

सपिण्ड—

आचार्य हेम ने सामाजिक अस्तित्व के लिये सपिण्ड व्यवस्था को स्थान दिया है। इनका मत है—"सपिण्डे वयःस्थानाधिके जीवद्वा" ६।१।४ 'ययोरेकः पूर्वः सप्तमः पुरुषस्तावन्योन्यस्य सपिण्डौ वयो यौवनादिः। स्थानं पितापुत्र इत्यादि। परमप्रकृतेः स्त्रीवर्जितं प्रपौत्राद्यपत्यं वयःस्थानाभ्यां द्वाभ्यामधिके सपिण्डे जीवति—जीवद्वेयुवसंज्ञं भवति'। अर्थात् पिता की सातवीं पीढ़ी तक सपिण्ड कहलाते हैं। मनुस्मृति में भी सपिण्ड की यही व्याख्या उपलब्ध होती है।

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने॥ ५।६०

अर्थात्—सपिण्डता सातवीं पीढ़ी में निवृत्त होती है और समानोदकता जन्म

तथा नाम के जानने पर निवृत्त हो जाती है। सपिण्डता में निम्न सात पीढ़ियाँ शामिल हैं।

(१) पिता	(५) पितामह
(२) पितामह	(६) प्रपितामह
(३) प्रपितामह तथा प्रपितामह के-	(७) स्वयं
(४) पिता	

इस प्रकार सात पीढ़ियों तक सपिण्डता रहती है। मनुस्मृति के मत में उक्त सातों में से प्रथम तीन पिण्डभागी और अवशेष तीन पिण्डलेपभागी हैं। सातवाँ स्वयं पिण्डदाता है। सपिण्डता से सामाजिक संघगठन को दृढ़ता प्राप्त होती है।

आचार्य हेम पिण्डदान के पक्ष में नहीं हैं, यतः इन्होंने पिण्ड का अर्थ शरीर किया है और इनके मतानुसार सात पीढ़ियों तक सपिण्डता रहने का अर्थ है परम्परा से प्राप्त रक्त सम्बन्ध के कारण पारिवारिक महत्ता। लोकमर्यादा एवं समाज संगठन को बनाये रखने के लिए परिवार के बड़े व्यक्तियों का सम्मान एवं प्रभुत्व स्वीकार करना अत्यावश्यक है। यही कारण है कि हेम जैसे सुधारक और क्रान्तिकारी व्यक्ति ने पुरखाओं के जीवित रहने पर प्रपौत्रादि उम्र और पद में बड़े होने पर भी युवसंज्ञक कहे हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि समाज के संगठन और अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए सपिण्डों को महत्ता प्रदान की गयी है। व्यवहार में भी देखा जाता है कि परिवार के चचा, ताऊ आदि बड़े सम्बन्धियों के जीवित रहने पर भतीजा प्रभृति व्यक्तियों को प्रतिनिधित्व करने का अधिकार नहीं दिया जाता है। यद्यपि आज ये सभी व्यवस्थाएँ ढह रही हैं और उक्त व्यवस्थाओं को सामन्तवादी कहकर ठुकराया जा रहा है। जनतन्त्र की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति का समान महत्व है, अतः जहाँ भी प्रतिनिधित्व का प्रश्न उपस्थित होता है, वहाँ योग्य कोई भी व्यक्ति प्रतिनिधित्व कर सकता है। पर हमारे गाँवों में आज भी सपिण्डवाली व्यवस्था प्रचलित है। घर का बड़ा व्यक्ति— गोत्र परम्परा से बड़ा व्यक्ति ही किसी भी सामाजिक मामले में भाग लेता है और उसी को परिवार का प्रतिनिधि बनकर अपना मन्तव्य देना होता है। यह मन्तव्य उस मुखिया का न होकर समस्त परिवार का मान लिया जाता है। अतः आचार्य हेम ने पुरातन समाज व्यवस्था को दृढ़ बनाने के लिए सपिण्ड संस्था को स्थान दिया है।

ज्ञाति—

अपने निकट सम्बन्धियों को ज्ञाति कहा है। आचार्य हेम ने 'अन्तर्गत-स्वाभिधेयापेक्षे चावधिनियमे व्यवस्थापरपर्याये गम्यमाने···'.(१।४।७) में स्वशब्द की व्याख्या करते हुए बताया है—'आत्मात्मीयज्ञातिधनार्थ-वृत्तिः स्वशब्दः' अर्थात् अपने और पिता आदि के सम्बन्धी ज्ञाति शब्द द्वारा अभिहित किये गये हैं। हेम की दृष्टि में परिवार समस्त मानवीय संगठनों की मूल इकाई है और यही सामाजिक विकास की प्रथम सीढ़ी है। सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए परिवार के सभी सम्बन्धियों को उचित स्थान देना आवश्यक है। यतः राग-द्वेष, हर्ष-शोक, ममता-मोह, लोभ-त्याग आदि विषयक घटनाओं का क्रीडास्थल परिवार ही है। अतः सपिण्ड में परिवार की जो सीमा निर्धारित की गयी थी, वह ज्ञाति व्यवस्था में और अधिक विस्तृत हो गयी है। समाज विकास की प्रक्रिया में बताया जाता है कि जब पारिवारिक सम्बन्धों का विस्तार होने लगता है, तो समाज विकसित होता है। ज्ञाति व्यवस्था में पिता के तथा अपने सभी सम्बन्धी परिवार की सीमा में आबद्ध हो जाते हैं, जिससे सुदृढ़ समाज के गठन का श्रीगणेश होता है। इस व्यवस्था से व्यक्ति अपने सीमित परिवार से आगे बढ़ जाता है और सम्बन्धियों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझने लगता है। हेम की ज्ञाति संस्था समाज की एक उपादेय संस्था है।

कुल—

कुल की प्राचीन समय में अत्यधिक प्रतिष्ठा थी। प्रतिष्ठित एवं यशस्वी कुल महाकुल कहलाते थे। समाज में इस प्रकार के कुलों का स्थान बहुत ऊंचा माना जाता था। हेम ने महाकुल में उत्पन्न हुए व्यक्तियों को महाकुल और महाकुलीन (६।१।९९) कहा है। ये दोनों शब्द विद्या-बुद्धि से सम्पन्न सेवाभावी प्रतिष्ठित कुल के लिए ही व्यवहृत होते थे। कुल प्रतिष्ठा का मानदण्ड सदाचार, ज्ञान और सम्पत्ति के अतिरिक्त सेवा एवं त्याग भी था। जिस कुल के व्यक्ति अन्य लोगों के कल्याण हेतु अपना सर्वस्व त्याग करते थे, वे श्रेष्ठ कुलवाले समझे जाते थे। सदाचार का रहना कुल प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक था। हेम के दुष्कुलीन और दौष्कुलेय (६।१।९८) उदाहरण इस बात के साक्षी हैं कि श्रेष्ठ समाज के निर्माण के लिए उत्तम, सदाचारी और प्रतिष्ठित कुलों का अस्तित्व आवश्यक है। जिन कुलों में कदाचार का प्रचार था, जो स्वार्थ के वशीभूत थे और जिनमें असत्प्रवृत्तियों का बाहुल्य पाया जाता था, वे दुष्कुल कहलाते थे तथा उनमें उत्पन्न हुए व्यक्ति

दुष्कुलीन या दौष्कुलेय कहे जाते थे। कुल की मर्यादा प्राचीन काल से प्रिय चली आ रही है।

हेम ने भी पाणिनि के समान परिवार को ही कुल कहा है। कुल की सीमा ज्ञाति से बड़ी है। ज्ञाति में सम्बन्धी अपेक्षित थे, पर कुल में जितनी पीढ़ियों तक का स्मरण रहता है, उतनी पीढ़ियाँ शामिल हैं। कुल में कितनी पीढ़ियाँ शामिल थीं, इसका हेम ने कोई निर्देश नहीं किया है।

वंश—

हेम ने 'वंशे भवो वंश्यपित्रादिरात्मनः कारणम्' (३।१।३) अर्थात् वंश में उत्पन्न हुए व्यक्ति को वंश्य कहा है। वंश को हेम ने दो प्रकार का बताया है—विद्या और योनि सम्बन्ध से उत्पन्न (विद्यायोनिसम्बन्धादकञ् ६।३।१५०)। विद्यावंश गुरु-शिष्य परम्परा के रूप में चलता था, यह भी योनि सम्बन्ध के समान ही वास्तविक माना जाता था। आचार्य हेम ने उस प्राचीन गुरु-शिष्य परम्परा का उल्लेख किया है, जिसमें शिष्य वेदाध्ययन या अपनी शिक्षा की समाप्ति किया करता था। शिक्षा के सम्बन्ध में हेम के विचार पाणिनि की अपेक्षा बहुत विस्तृत हैं। इन्होंने वेद को ज्ञान की अन्तिम सीमा नहीं माना है, बल्कि विभिन्न विद्याओं, कलाओं, साहित्य एवं दार्शनिक सम्प्रदायों के अध्ययन को आवश्यक माना है।

योनि सम्बन्ध से निष्पन्न पिता-पुत्र आदि वंश कहा जाता है। मूल संस्थापक पुरुष के नाम के साथ पीढ़ियों की संख्या निकाल कर वंश के दीर्घकालीन अस्तित्व की सूचना दी जाती है। आचार्य हेम ने वंश के सम्बन्ध में जितने विचार अंकित किये हैं, वे सभी परम्परा से संगृहीत हैं।

विभिन्न सम्बन्ध—

परिवार में विभिन्न प्रकार के व्यक्ति निवास करते हैं, इन व्यक्तियों के आपस में नाना प्रकार के सम्बन्ध रहते हैं। आचार्य हेम ने माता, पिता, पितामह, पितृव्य, भ्राता, सोदर्य, ज्येष्ठ, स्वसा, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, पितृष्वसा, मातृष्वसा, स्वस्रीय, भ्रातृव्य, मातामह, मातुल, मातुलानी, श्वश्रू (२।३।१४, ३।१।१२१, ३।२।४७, २।४।६, २।४।८५) आदि का निर्देश किया है। पुत्र को परिवार की सुख-शान्ति का हेतु बतलाते हुए उसकी महत्ता प्रदर्शित की है। 'पुत्रस्य परिष्वञ्जनं सुखम्। पुत्रस्य स्पर्शोऽपि शरीरस्य सुखं किं तर्हि मानसी प्रीतिः' (५।३।१२५)। अर्थात् पुत्र का स्पर्श केवल शारीरिक आनन्द का ही हेतु नहीं है, अपितु मानसिक आनन्द का हेतु है। पुत्र को समस्त सम्बन्धों का आधार होने से हेम ने पुत्र को ही उत्तराधिकारी माना

है। जामाता, दौहित्र प्रभृति (६।१।५२) सम्बन्धों के निर्वाह की भी चर्चा की गयी है। तथ्य यह है कि परिवार ही एक ऐसा शिक्षणालय है, जिसमें व्यक्ति स्नेह और सौहार्द का, गुरुजनों के प्रति आदर और भक्तिभाव का एवं सामूहिक कल्याण के लिए वैयक्तिक प्रवृत्तियों और महत्वाकांक्षाओं को दबाने का पाठ सीखता है। सत्य, दान, त्याग, वात्सल्य, मित्रता, सेवा आदि सद्गुणों का विकास इन विभिन्न सम्बन्धों से ही होता है। अतः हेम की दृष्टि में विभिन्न पारिवारिक सम्बन्ध भी एक स्वतन्त्र संस्था है। समाज संगठन की दिशा में इस संस्था का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

विवाह—

प्राचीन काल से ही विवाह एक प्रमुख सामाजिक संस्था है। हेम ने 'नित्यं हस्ते पाणावुद्वाहे' (३।१।१५)—हस्तेकृत्य, पाणौकृत्य अर्थात् पाणिग्रहण को विवाह कहा है। 'उढायाम्' (२।४।५१) सूत्र द्वारा भी वरण एवं पाणिग्रहण को विवाह संस्कार माना है। उपर्युक्त सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए 'पाणिगृहीति' (२।४।५२)—'पाणिगृहीति प्रकाराः शब्दा उढायां स्त्रियां ङ्यन्ता निपात्यन्ते'। यथा—पाणिगृहीतोऽस्याः पाणौ वा गृहीता पाणिगृहीति एवं करगृहीति। अर्थात् पाणिग्रहण के द्वारा पुरुष स्त्री का वरण करता है और विवाह हो जाने पर पत्नी को पाणिगृहीती कहा जाता था। पाणिगृहीता शब्द संस्कार की विधि से बाह्य परिणीता स्त्री के लिए व्यवहार में आता था।

हेम ने कन्या की योग्यता कुमारी होना माना है। कुमारी कन्या विवाह के बाद कुमारी भार्या और उसका पति कौमार पति इन विशेषणों से सम्बोधित किये जाते थे। हेम ने लिखा है—कुमार्यां भवो भर्ता कौमारः, तस्य भार्या कौमारी–कुमारी एव प्रतीयते (२।४।५९)। पत्नी अपने पति की प्रतिष्ठा स्वयं प्राप्त कर लेती थी। गणक—अर्थ विभाग के अधिकारी की स्त्री गणकी और आचार्य की स्त्री आचार्यानी कही जाती थी। विवाह गोत्र के बाहर होता था। हेम ने इसके लिए निम्न सात उदाहरण उपस्थित किये हैं।

१ अत्रिभरद्वाजानां विवाहोऽत्रिभरद्वाजिका
२ वशिष्ठकश्यपानां विवाहोऽत्र वशिष्ठकश्यपिका
३ भृगुअङ्गिरसानां विवाहोऽत्र भृग्वङ्गिरसिका
४ कुत्सकुशिकानां विवाहोऽत्र कुत्सकुशिकिका
५ गर्गभार्गवानां विवाहोऽत्र गर्गभार्गविका

६ कुरु-वृष्णीनां विवाहोऽत्र कुरुवृष्णिका

७ कुरु-काशानां विवाहोऽत्र कुरुकाशिका

हेम के उक्त उदाहरणों में से पूर्व के पाँच उदाहरण तो पतञ्जलि के महाभाष्य में (४।१।१२५) आये हुए हैं। शेष दो इन्होंने नये प्रस्तुत किये हैं। अतएव स्पष्ट है कि विवाह गोत्र के बाहर होता था, सगोत्रीय विवाह ग्राह्य नहीं था।

विवाह योग्य कन्या को वर्या कहा है। इनका मत है—वर्यादयः शब्दा उपेयादिष्वर्थेषु यथासंख्यं निपात्यन्ते। वृणातेर्ये वर्या उपेया चेद्भवति। शतेन वर्या, सहस्रेण वर्या कन्या संभक्तव्या (५।१।३२)। अर्थात् वर्या आदि शब्दों का विवाह के अर्थ में क्रमशः निपातन होता है। जिस वरण योग्य कन्या का विवाह सम्बन्ध किया जाता था—जो सर्वसाधारण के लिए वरण की वस्तु थी, उस कन्या का सौ या हजार कार्षापण मूल्य चुकाया जाता था। वरपक्ष विवाह के समय कन्यापक्ष को धन देता था, इसका समर्थन हेम के निम्न सन्दर्भ से भी होता है—

"विवाहे बहून् कार्षापणान् ददाति, बहुशः कार्षापणान् ददाति" (७।२।१५०)। अर्थात् वर्या का विवाह कन्या के पिता को धन देने पर बिना किसी रोक-टोक के धन देनेवालों के साथ सम्पन्न हो जाता था। इस प्रकार की कन्याओं की प्राप्ति के लिए वरपक्ष की ओर से मगनी की जाती थी। कन्या के माता-पिता जिसका सम्बन्ध अपनी ओर से निश्चित करते थे, उसे वृत्या कहा है। विवाह योग्य कन्या को हेम ने पतिंवरा कन्या (५।१।११२) कहा है।

हेम के उल्लेखों से यह भी विदित होता है कि कन्या के विवाह की समस्या उस समय भी विषम हो गयी थी। इनका 'शोकंकरी कन्या' (५।१।१०३) उदाहरण इस बात का साक्षी है कि कन्या के विवाह करने में कष्ट होने के कारण ही उसे शोक कारक माना गया है। पुत्र जन्म का उत्सव मनाया जाता था, पर कन्या के जन्म लेते ही घर में शोक छा जाता था। हेम के समय में स्वयंवरण की प्रथा समाप्त हो गयी थी और कन्या के विवाह का पूर्ण दायित्व माता-पिता पर ही आ गया था।

हेम ने पाणिनि के समान ही विवाहिता स्त्री के लिए जाया, पत्नी और जानि (७।३।१६४) शब्दों का प्रयोग किया है। जिस वृद्ध की स्त्री युवती होती थी, उसे युवजानि; जिसको स्त्री प्रिय होती थी, उस पति को प्रियजानि; जिस युवक की वृद्धा स्त्री होती थी, उसको वृद्धजानि; जिसकी स्त्री शोभना-

सुन्दरी होती थी, उसको शोभनजानि; जिसकी स्त्री बधू होती थी, उसको बधूजानि एवं जिसके दूसरी स्त्री नहीं होती थी, उसे अनन्यजानि कहा (७।३।७४) है।

हेम ने देशविशेष के अनुसार स्त्रियों के सौन्दर्य का भी निरूपण किया है। २।२।१२१ सूत्र में 'मगधेषु स्तनौ पीनौ, कलिङ्गेष्वक्षिणी शुभे' अर्थात् मगध की स्त्रियों के स्थूल स्तन और कलिङ्ग की स्त्रियों के सुन्दर नेत्र होते थे। वृद्धपत्नी, वृद्धपति, स्थूलपति, स्थूलपत्नी, बहुपति, बहुपत्नी (२।४।४८) आदि उदाहरणों द्वारा दम्पतियों की शारीरिक स्थिति का बोध कराया है। शोभनाः सुजाता समस्ता वा दन्ता अस्या इति सुदती कुमारी (७।३।१५१), समदन्ती, स्निग्धदती, अय इव दन्ता अस्याँ अयोदती, फालदती (७।३।१५२) आदि उदाहरणों द्वारा स्त्रियों के दाँतों के सौन्दर्य पर प्रकाश डाला है। फालदती को बदसूरत और सुदती को सुन्दरी माना है। इसी प्रकार जानु (७।३।१५५), नाक (७।३।१६०-१६३) एवं कान की सुन्दरता को भी विवाह कार्य सम्पन्न करने के हेतु योग्यता माना गया है।

आचार्य हेम ने सवर्ण और असवर्ण दोनों ही प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है। इन्होंने बतलाया है—'पुरुषेण सह समानो वर्णो ब्राह्मणत्वादिस्तस्या भवति। परा पुरुषाद्भिन्नवर्णा स्त्री परस्त्री। तस्या अन्तरापत्यं पराशवः' (६।१।४०)। अर्थात् विजातीय विवाह होने पर जो सन्तान उत्पन्न होती थी वह पराशव कहलाती थी।

विवाह के समय प्रीतिभोज देने की प्रथा भी हेम के समय में प्रचलित थी। हेम के 'विवाहे बहुभिर्भुक्तमतिथिभिः, बहुशो भुक्तमतिथिभिः (७।२।१५०), उदाहरण से विवाह में प्रीतिभोज के अवसर पर बहुत से अतिथियों के सम्मिलित होने एवं उनके भोजन करने का संकेत मिलता है। बारात का स्वागत एवं अन्य क्रियाएँ आज के समान ही प्रचलित थीं।

अन्य संस्कार—

पारिवारिक जीवन-विकास के लिए मध्यकाल में भी संस्कारों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। परिवार की अनेक प्रवृत्तियाँ इन्हीं संस्कारों द्वारा संचालित होती थीं। सन्तान का शिक्षण, सामाजिक परम्पराओं का संरक्षण और व्यक्तित्व का निर्माण भी अच्छे संस्कारों के द्वारा ही होता है। परिवार के श्रेष्ठ वातावरण का निर्माण भी अच्छे संस्कारों के फलस्वरूप ही होता है। आचार्य हेम ने निम्नांकित संस्कारों का उल्लेख किया है।

१ नामकरण—जन्म से ग्यारहवें दिन या दूसरे वर्ष के आरम्भ में बह

संस्कार सम्पन्न किया जाता है। नाम सुन्दर और शोभन अक्षरों में होना चाहिए। इन्द्रशर्म, सुशर्म, सुवर्म, सुदामा, अश्वत्थामा (५।१।१४७) आदि नाम अच्छे माने जाते हैं। उत्तर या पूर्वपद का लोप कर नाम छोटे ही रखे जाते हैं। यथा—शर्म, वर्म, हेम, दामा, थामा (५।१।१४७) पद पूर्व और उत्तर दोनों के लिए ग्रहण किये जाते थे। उत्तर पद के लिए प्रायः दत्त, श्रुत, गुप्त, मित्र, सेन, आदि पद ग्राह्य माने हैं। नक्षत्र के नामों पर भी जातक के नाम रखे जाते थे।

२ अन्नप्राशन—हेम ने प्राशित्रम् (६।४।२५) को अन्नप्राशन कहा है। इस पद की व्याख्या करते हुए बतलाया है—'बालस्य यत्प्रथम भोजनं तदुच्यते प्राशित्रम्'—अर्थात् बच्चे को दाँत निकलने पर प्रथम बार अन्न खिलाने को प्राशित्र कहा है। यह संस्कार धर्मविधि पूर्वक सम्पन्न होता था।

३ चूडाकर्म—इसका दूसरा नाम मुण्डन-संस्कार भी है। यह पहले या तीसरे वर्ष में सम्पन्न किया जाता है। आचार्य हेम ने 'चूडादिभ्योऽण्' ६।४।११९ सूत्र में 'चूडा प्रयोजनमस्य चौडम्, चौलम्' उदाहरणों द्वारा इस संस्कार का उल्लेख किया है। ७।२।१४४ में मद्राकरोति, भद्राकरोति नापितः-शिशोर्माङ्गल्यकेशच्छेदनं करोति' सन्दर्भ द्वारा शिशु के केशच्छेदन का संकेत किया है। यह संस्कार भी विधि पूर्वक सम्पन्न किया जाता था।

४ कर्णवेध—तीसरे या पाँचवें वर्ष में कर्णवेध नामक संस्कार सम्पन्न किया जाता था। हेम ने 'अविद्धकर्णः शिशुः' (३।२।८४) उदाहरण द्वारा इस संस्कार की ओर संकेत किया है।

५ उपनयन—हेम ने 'यज्ञोपवीतं पवित्रम्' (५।२।८६) तथा उपनयनम् (६।४।११९) उदाहरणों द्वारा इस संस्कार का समर्थन किया है। इस संस्कार से उनका अभिप्राय विद्यारम्भ करने से है। यज्ञोपवीत को पवित्र माना है और उसे आर्यत्व का द्योतक कहा है। आदिपुराण में आचार्य जिनसेन ने इसे व्रतसूत्र, रत्नत्रयसूत्र और यज्ञोपवीत नामों से अभिहित किया है। जिनसेन ने बताया है कि यज्ञोपवीत तीन लर का द्रव्यसूत्र है और हृदय में उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र गुणों रूप भावसूत्र का प्रत्यक्ष सूचक है।[१] हमारा अपना अनुमान है कि आचार्य हेम ने शब्दानुशासन की परम्परा का अनुसरण करने के लिए ही 'यज्ञोपवीतं पवित्रम्' उदाहरण प्रस्तुत किया है। वास्तव में जैनधर्मानुमोदित व्रतों के साथ यज्ञोपवीत का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः इसे रत्नत्रय या व्रतों का चिह्न मानना बुद्धि का व्यायाम ही है।

---

१. आदि० पु० पर्व ३९ श्लो० ९४–९५

६ समापन—

विद्यार्जन की समाप्ति भी विद्यारम्भ के समान महत्त्व रखती है। हेम ने अङ्गसमापनीयम्, श्रुतस्कन्धसमापनीयम् (६।४।१२२) द्वारा इस संस्कार का समर्थन किया है और इस अवसर पर स्वस्तिवाचन, शान्तिवाचन और पुण्याहवाचन (६।४।१२३) करने का भी नियमन किया है। यह संस्कार समावर्तन संस्कार का ही रूपान्तर है।

आश्रम—

आश्रम व्यवस्था धार्मिक संगठन के अन्तर्गत ली जा सकती है। कहा जाता है कि वर्ण व्यवस्था के द्वारा समाज में कार्य विभाजन होता है और आश्रम व्यवस्था के द्वारा पद्धति निरूपण। आश्रम व्यवस्था मनुष्य के जीवन का पूरा समय-चक्र थी। इसके द्वारा समाज के प्रति मनुष्य के कर्त्तव्यों एवं उनके कालों का विवेचन किया गया था। समष्टि के उन्नयन के लिए व्यक्ति की समस्त शक्तियों का अधिकाधिक उपयोग करना इस व्यवस्था का उद्देश्य है। आचार्य हेम ने अन्य वैयाकरणों के समान इस व्यवस्था को सामाजिक संस्था ही माना है। वस्तुतः आश्रम वह संस्था है, जिसके द्वारा व्यक्ति समाज-हित के लिए अपना अधिक से अधिक उपयोग करता था। 'चतुराश्रम्यम्' (७।२।१६४) द्वारा हेम ने प्राचीन परम्परा के आधार पर चारों आश्रमों का अस्तित्व बतलाया है। पर यह सत्य है कि वर्ण व्यवस्था के समान आश्रम व्यवस्था भी ढह चुकी थी। 'आश्रमात् आश्रमं गच्छेत्' वाला सिद्धान्त मान्य नहीं था। हेम के मत से गृहस्थ और श्रमण ये दो ही आश्रम थे। इनके दीक्षातपस्वी, श्रद्धातपस्वी, श्रुततपस्वी, मेधातपस्वी और अध्ययनतपस्वी (५।१।१६०) उदाहरणों द्वारा इस बात का संकेत मिलता है कि कोई भी व्यक्ति दीक्षा किसी भी समय धारण कर सकता था। श्रमणा युष्मभ्यं दीयते, श्रमणा अस्मभ्यं दीयते (२।१।२५) उदाहरणों से स्पष्ट है कि श्रमण दीक्षा ही सर्वोपरि महत्त्व रखती थी। गृहस्थाश्रम श्रमणदीक्षा को प्राप्त करने का एक माध्यम था, अतः किसी भी वर्ण का कोई भी व्यक्ति किसी भी अवस्था में श्रमण हो सकता था। निवृत्तमार्ग को प्रमुखता प्रदान की गयी है। श्रमणा अस्माकं शीलम् (२।१।२५) से सूचित होता है कि जीवन का आदर्श श्रमण धर्म ही था।

खान-पान

किसी भी राष्ट्र की सभ्यता पर खान-पान एवं पाकविधि से यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। यह सत्य है कि सभ्यता का विकास होने पर मनुष्य अन्नपान की

विभिन्न विधियों का आविष्कार करता है। हेमचन्द्र की दृष्टि में शाकाहार ही आध्यात्मिक उत्थान एवं सांस्कृतिक उत्कर्ष का परिचायक है। यद्यपि शब्द-साधुत्व के लिए इन्होंने उदाहरणों में मांसाहार (६।२।१४१) को भी निर्दिष्ट किया है, पर ये सिद्धान्ततः शाकाहार के ही पक्ष में हैं। इन्होंने 'भुजो भक्ष्ये' ४।१।११७ में पाणिनि के समान भोज्य को भक्ष्य अर्थ में ग्रहण किया है। आचार्य हेम ने इस सूत्र की व्याख्या में कात्यायन और पतञ्जलि के शंका-समाधान को समाविष्ट कर लिया है—'भक्ष्यमभ्यवहार्यमात्रम्—न खर-विशदमेव। यथा अब्भक्ष्यो, वायुभक्ष्य इति'। इस पर टिप्पणी में लिखा है—'न खरविशदमेवेति' कठोरप्रत्यक्षमित्यर्थः। अखरविशदमपि भक्ष्यं दृष्टमिति दृष्टान्तमाह—अब्भक्ष्येति। अपो द्रवं रूपं न कठिनं प्रत्यक्षं त्वस्ति वायुस्तु कठिनो न प्रत्यक्षस्तस्यानुमानेन गम्यत्वात् तेन भोज्यं पय इत्यादि सिद्धम्'। अर्थात् भोज्य में ठोस और तरल दोनों प्रकार के पदार्थ आ जाते हैं, पर भक्ष्य दाँत से चबाये जाने वाले भोजन के लिए ही व्यवहृत होता है, अतः समस्त भोज्य पदार्थों को भक्ष्य नहीं कहा जा सकता। इस शंका का समाधान करते हुए कहा है कि अभ्यवहार्य मात्र भक्ष्य है—केवल खरविशद—कठोर प्रत्यक्ष नहीं। अतः अप भक्ष्य और वायु भक्ष्य प्रयोगों में द्रव—तरल और अप्रत्यक्ष गम्य को भी ग्रहण किया गया है। तात्पर्य यह है कि भक्ष्य के अन्तर्गत हेम के मतानुसार खाद्य, लेह्य और पेय ये तीनों प्रकार के पदार्थ संगृहीत हैं। भक्ष्य पदार्थों के अन्तर्गत निम्न प्रकार के भोज्य आते हैं :—

१ संस्कृत—

'संस्कृत भक्ष्ये' ६।२।१४०—'सत उत्कर्षाधानं संस्कारः' अर्थात् जिससे पदार्थों में विशेष स्वाद की उत्पत्ति हो, उस प्रकार की पाकक्रिया को संस्कार कहा जायगा। यथा—भ्राष्ट्रे संस्कृता, भ्राष्ट्रा अपूपाः (६।२।१४०)-आटे की बड़ी लोयी बनाकर खाँचे में रखकर भाड़ के भीतर सेक लेना, भ्राष्ट्रा अपूपा—नानखटाई है। हेम ने इस सिद्धान्त द्वारा उस समय के समाज में नाना प्रकार के सुस्वादु पदार्थों के बनाने की विधि का निरूपण किया है। 'क्षीरादेयण्' ६।२।१४२ सूत्र में—'क्षीरे संस्कृतं भक्ष्यं क्षैरेयम्, क्षैरेयी यवागूः'। अर्थात् दूध के द्वारा बनायी गयी वस्तुओं को क्षैरेय कहा गया है। जौ की दूध में बनायी गयी खीर को क्षैरेयी यवागू कहा जाता था। दूध और दही प्राचीन काल से ही भारतीयों के लिए प्रिय रहे हैं। इन दोनों से नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ तैयार किये जाते थे। दूध के समान हेम ने

दही से भी संस्कृत पदार्थ तैयार करने का उल्लेख किया है। 'दध्न इकण्' ६।२।१४३—'दध्नि संस्कृतं भक्ष्यं दाधिकम्' द्वारा दही के विशेष संस्कार द्वारा निष्पन्न भक्ष्य पदार्थों की ओर संकेत किया है। भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिए इमली की खटाई का उपयोग भी मध्य में किया जाता था। हेम ने—"तित्तिडीकेन तित्तिडीकाभिर्वा संस्कृतं तैत्तिडीकम्" (६।४।४) द्वारा इमली की सोंठ या चटनी का उल्लेख किया है।

हेम ने 'उदकेन श्वयति औदश्वित्, उदश्वित् (६।२।१४४) उदाहरणों द्वारा मट्ठे से तैयार की गयी महेरी की ओर संकेत किया है।

मांस बनाने की विधियों का निर्देश करते हुए—'शूले संस्कृतं शूल्यं मांसम्, उखायाम् उख्यम् (६।२।१४१) अर्थात् सलाख पर भूना हुआ मांस शूल्य मांस और तवे पर भूना हुआ मांस उख्य मांस कहलाता है। इन उदाहरणों को हेम ने शब्दों का साधुत्व बतलाने के लिए ही लिखा है।

२ संसृष्ट—

हेम ने 'संसृष्टे' ६।४।५ सूत्र में भोजन में किसी दूसरी वस्तु के अप्रधान रूप से मिलने को संसृष्ट कहा है। जैसे किसी वस्तु में दही डाल दिया जाय तो वह दाधिक कहलायेगी और नमक डाल दिया जाय तो लावणक कही जायगी। इसी प्रकार मिर्च, अदरक, पीपल आदि मसाला जिस अचार में मिला हो, वह मारीचिक, शार्ङ्गवेरिक और पैप्पलिक कहा जायगा। संसृष्ट से संस्कृत का भेद बतलाते हुए कहा है—"मिश्रणमात्र संसर्ग इति पूर्वोक्तात्संस्कृताद्भेदः"। अर्थात् मिश्रण क्रिया की दृष्टि से संस्कृत और संसृष्ट दोनों समान हैं, पर संसृष्ट में मात्र मिश्रण रहता है, पर मिलाये गये पदार्थ की प्रधानता नहीं रहती, जब कि संस्कृत में दोनों मिलाये गये पदार्थ अपना समान महत्त्व रखते हैं तथा संस्कृत में मिश्रण करने से स्वाद में वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि संस्कृत भोज्य पदार्थ निर्माण की विशेष पद्धति है, जिसमें दो या दो से अधिक पदार्थ मिश्रित कर कोई विशेष खाद्य-पदार्थ तैयार किया जाय। पर संसृष्ट में एक वस्तु प्रधान रहती है, उसे स्वादिष्ट करने के लिए अन्य पदार्थ का मिश्रण कर दिया जाता है। जैसे अचार में मसाले मिलाने पर भी अचार की प्रधानता है, किन्तु अचार को स्वादिष्ट बनाने के लिए मसालों का संयोग अपेक्षित है। परन्तु संस्कृत के उदाहरण खीर में खीर बनाने की विशेष पद्धति तो अपेक्षित है ही, साथ ही दूध और चावल इन दोनों का समान महत्त्व है, इनके समानुपातिक सम्यक् मिश्रण के बिना खीर तैयार नहीं हो सकती है। हेम ने संसृष्ट के निम्न उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

१ लवणेन संसृष्टो लवणः सूपः (६।४।५)
२ चूर्णैः संसृष्टाश्चूर्णिनोऽपूपाः (६।४।५)
३ चूर्णिनो धानाः (६।४।५)
४ मुद्गैः संसृष्टो मौद्गः ओदनः (६।४।५)

प्रथम उदाहरण नमकीन दाल में नमक गौण है और दाल प्रधान है। यतः नमक के अभाव में भी दाल काम में लायी जा सकती है। नमक दाल को स्वादिष्ट मात्र बनाता है, प्रधान भोज्य नहीं है। इस प्रकार चून—कसार से भरे हुए गूझे—चूर्णिनः अपूपाः कहलाते हैं। यहाँ गूझे के भीतर भरे हुए चून या कसार की अपेक्षा अपूप की प्रधानता है। इसी प्रकार चूर्णिनो धानाः में धान की प्रधानता और चून—कसार की गौणता है। मौद्गः ओदन में भात मुख्य खाद्य है और मूंग इच्छानुसार मिलाने की वस्तु है।

व्यञ्जन—

आचार्य हेम ने व्यञ्जन की परिभाषा बतलाते हुए लिखा है—"व्यञ्जनं येनान्नं रुचिमापद्यते तद्दधिघृतशाकसूपादि" (३।१।१३२) अर्थात् जिन पदार्थों के मिलाने से या साथ खाने से खाद्य पदार्थ में रुचि अथवा स्वाद उत्पन्न होता है, वे दही, घी, शाक और दाल आदि पदार्थ व्यञ्जन कहलाते हैं। 'व्यञ्जनेभ्यः उपसिक्ते' ६।४।८ में निम्न उदाहरण आये हैं :—

१ सूपेन उपसिक्तः सौपिक ओदनः—भात को स्वादिष्ट या रुचिवर्धक बनाने के लिए उसमें दाल का मिलाना। यहाँ दाल व्यञ्जन है।

२ दाधिक ओदनः—ओदन को रुचिपूर्ण बनाने के लिए दही का मिलाना। यहाँ पर दही व्यञ्जन है।

३ घार्तिकः सूपः—दाल को स्वादिष्ट बनाने के लिए घी मिलाना। यहाँ पर घी व्यञ्जन है।

४ तैलिकं शाकं—शाक को रुचिवर्धक बनाने के लिए तैल का छौंक देना। यहाँ पर तैल व्यञ्जन है।

व्यञ्जन नाना प्रकार के बनाये जाते थे। व्यञ्जनों से भोजन स्वादिष्ट और रुचिवर्धक बनता था।

आचार्य हेम के उदाहरणों में आये हुए भोज्य पदार्थों को निम्न तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) सिद्ध अन्न या कृतान्न
(२) मधुरान्न—मिठाइयाँ
(३) गव्य एवं फल

सिद्ध-अन्न—अन्न को पकाकर या सिझा कर तैयार किये गये पदार्थ—ओदन (७।१।२१)—यह सदा से भारत का प्रधान भोजन रहा है। इसका दूसरा नाम भक्त भी आया है। आचार्य हेम ने भिस्सा और ओदन (१।४। २९) ये दो भात के भेद बतलाये हैं। भिस्सा भूने हुए भात को कहा जाता था। यह हल्दी, नमक, जीरा आदि मसाला देकर तैयार किया जाता था। ओदन—सादा भात है, यह अर्वा और भुंजिया दोनों प्रकार के चावलों से तैयार किया जाता था। कुछ विद्वान् भुंजिया चावल के भात को भिस्सा मानते हैं। पर हेम ने अपनी 'अभिधान चिन्तामणि' (३।६०) में भिस्सा का अर्थ भुंजा हुआ नमकीन भात किया है।

चावल अनेक प्रकार के थे। चावलों के गुणों की भिन्नता से भात के प्रकारों में भी अन्तर हो जाता था। आचार्य हेम ने चावलों के भेदों का उल्लेख (७।२।९) सूत्र के उदाहरणों में किया है।

यवागू—

जौ के द्वारा कई प्रकार के खाद्य पदार्थ तैयार किये जाते थे, जो साधारणतः यवागू कहलाते थे। जौ का दलिया दूध में पका कर क्षैरेयी यवागू (६।२।१४२) बनायी जाती थी। जौ की नमकीन लपसी बनाने को लवणा यवागू (६।४।५) कहा है। जौ को भूनकर भी खाया जाता था। भ्राष्ट्रा यवागूः (६।२।४०) भाड़ पर भुनाकर तैयार की जाती थी और इनका उपयोग भूँजे के रूप में किया जाता था। यावक (६।२।५२) यवानां विकारो यावः स एव यावकः—अर्थात् जौ को ओखल-मूसल से कूट कर भूसी अलग कर पहले पानी में उबालते थे, फिर दूध, चीनी मिलाकर खीर के रूप में इसका उपयोग किया जाता था। यह आजकल की वारली का रूप है। पिष्टक (६।२।५३)—पीठा। इसके बनाने की कई विधियाँ प्रचलित थीं। सर्वप्रथम यह चने की दाल को पानी में भिगोकर, भींग जाने पर पीस लेते थे और इसमें यथेष्ट मसाला मिलाकर रख लेते थे। अनन्तर चावल के आटे की छोटी-छोटी लोयी बनाकर बेल लेते थे और उसमें उक्त मसाले वाली पीठी भर कर पानी में सिझा लेते थे। कुछ लोग गेहूँ के आटे से भी बनाते थे। चावल के आटे की बनायी गयी लोइयों को बेलकर दूध मीठा देकर सिझा लेना भी पीठा कहा जाता था। नमकीन पीठा बेसन को पानी में खौलाकर पका लेने पर तैयार किया जाता था। बिहार में आज भी आठ-दस प्रकार का पीठा तैयार किया जाता है।

पुरोडाश (६।२।५१)—हेम ने 'व्रीहिमयः पुरोडाशः' अर्थात् चावल के आटे में घी, चीनी, मेवा मिलाकर पुरोडाश बनाने की विधि बतलायी है।

पुरोडाश आटे की मोटी रोटी बनाकर उसमें घी, चीनी, मेवा मिलाने से बनता था। इसका आधुनिक रूप पँजीरी है। सत्यनारायण की कथा में आटे को भूनकर घी, चीनी और किसमिस आदि मिलाकर यह पँडीरी–पँजीरी आज भी तैयार की जाती है। पुरोडाश यज्ञीय द्रव्य था, पर कालान्तर में त्यौहारों के अवसर पर इसका प्रयोग सामान्य रूप से भी होता था।

मूँग की दाल—मूँग की दाल का प्रयोग बहुलता से होता था। हेम ने 'कथं रोचते मम घृतं सह मुद्गैः' (२।२।५६) अर्थात् मूँग की दाल में घी डालकर खाना रुचिकर माना जाता था। घार्तिकः सूपः (६।४।४८)—घी डालकर दाल खाने की प्रथा अच्छी मानी जाती थी। मूँग की दाल के अतिरिक्त अरहर, उड़द आदि की दालें भी व्यवहार में लायी जाती थीं।

कुल्माष (७।१।२१)—आचार्य हेम ने—'कुल्माषाः प्रायेण प्रायो वान्नमस्यां पौर्णमास्यां कौल्माषी' (७।१।१९५)—अर्थात् उस पौर्णमासी को कौल्माषी कहा जाता था, जिसमें वर्ष में एक बार कुल्माष नामक अन्न नियमतः खाने की प्रथा प्रचलित थी। प्राकृत साहित्य में कुल्माष निकृष्ट अन्न को कहा गया है। संभवतः यह बाजरा या ज्वार के आटे में नमक और तेल डालकर बनाया जाता था। इसके बनाने की विधि यह थी कि सर्व-प्रथम थोड़े से पानी में उक्त आटे को उबाल लेते थे, पश्चात् उसमें नमक, तेल डालकर खाते थे। हेम ने 'कुल्माषखादाश्चोला' (५।१।१५७) द्वारा चोल देश में कुल्माष खाने के प्रचार की ओर संकेत किया है। वटक (७।१।१९६)—'वटकानि प्रायेण प्रायो वान्नमस्यां वटकिनी' अर्थात् जिस पूर्णमासी को वटक—बड़े नियमतः खाये जाते थे, उसे वटकिनी पूर्णिमा कहा जाता था। प्राचीन भारत में यह प्रथा थी कि जिस दिन जो अन्न खाया जाता था, वह दिन उस अन्न के नाम पर प्रसिद्ध हो जाता था। बड़ा खाने की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है। बड़ा बनाने के अनेक प्रकार प्रचलित थे। कुछ लोगों का मत है कि मगौड़ी को वटक कहा गया है।

शाक (७।२।३०)—शाक को व्यञ्जन कहा है। यह खाद्य पदार्थों के साथ मिलकर भोजन को रुचिकर बनाता है। हेम ने तैलिकं शाकं (६।४।८) द्वारा शाक को तैल में तलने की प्रथा का निर्देश किया है। 'यदृच्छाकं शाक-समूहो वा शाकी' (७।२।३०) द्वारा शाक समूह या बहुत बड़े शाक के ढेर को शाकी कहा है।

सक्तु (७।१।२१)—सक्तु का उपयोग प्राचीन काल से चला आ रहा है। सक्तू को पानी में घोलकर नमक या मीठा डालकर खाया जाता था। कहीं-कहीं दूध और चीनी के साथ भी सक्तू को खाने की प्रथा थी। सक्तव्या

धाना: (७।२।९) उदाहरण द्वारा भुने हुए धान—चावल से भी सक्तू बनाने की प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। इदं सक्तूनां पीतं (२।२।९१) द्वारा पतले सक्तू का भी उल्लेख मिलता है।

मिष्टान्नों और पक्वान्नों में निम्नलिखित मिठाइयों का उल्लेख उपलब्ध होता है।

(१) गुडापूप: (७।१।९४)	(७) गुडधाना: (६।४।८; ६।४।६९)
(२) तिलापूप: (७।१।९४)	(८) हविरन्न (७।१।२९)
(३) भ्रष्टा अपूपा: (६।२।१४१)	(९) पायस (२।२।४८)
(४) चूर्णिनो अपूपा: (६।४।५)	(१०) मधु (५।१।८३)
(५) शष्कुली (७।३।११)	(११) पलाल (७।२।३०)
(६) मोदक: (७।३।२)	(१२) शर्करा (२।२।५५)

अपूप—

पुये भारत का बहुत पुराना भोजन है। गेहूँ के आटे को चीनी और पानी में मिलाकर घी में मन्द-मन्दी आँच से उतारे हुए मालपुये अपूप कहलाते थे। हेम का गुडापूप से अभिप्राय गुड़ डालकर बनाये हुए पुओं से है। तिलापूप आजकल के अँदरसे हैं। ये चावल के आटे में तिल डालकर बनाये जाते थे। भ्रष्टा अपूप आजकल की नानखटाई या खौरी है। भाड़ में रखकर इनको सेका जाता था। चीनी मिलाकर बनाये हुए भ्रष्टा अपूप-वर्तमान बिस्कुट के पूर्वज हैं। चूर्णिन अपूप—गूझे या गुझिया हैं। ये कसार या आटा भीतर भरकर बनाये जाते थे।

शष्कुली—आजकल की विशिष्ट पूरी है। इसे खजुला कहा जासकता है। आटे में घी का मोइन देकर यह पक्वान्न बनाया जाता था।

मोदक—मिष्टान्नों में सदा से प्रिय रहा है। यह चावल, गेहूँ या अन्य दानों के आटे से बनाया जाता था। पूजा में भी मोदकों का उपयोग किया जाता था, यह बात हेम द्वारा उल्लिखित 'मोदकमयी पूजा' (७।३।२) से स्पष्ट है।

गुडधाना—गुड़ में पगी हुई लायी को कहा गया है। दूसरे शब्दों में इसे गुड़धानी भी कहा जा सकता है। प्राचीन समय की यह प्रधान मिठाई थी। सभी वैयाकरणों ने गुडधाना का प्रयोग किया है।

हविरन्न—चावलों के आटे को घी में भूनकर शर्करा के साथ एक विशेष प्रकार का खाद्य तैयार किया जाता था। कुछ लोगों का मत है कि यह दूध, चावल और मेवा-चीनी से विशेष प्रकार की खीर के रूप में तैयार किया जाता

था। हवन के अतिरिक्त साधारण उपयोग के लिए भी इसका व्यवहार होता था। मेरा अपना अनुमान है कि यह मीठा भात है।

पायसान्न—दूध में चीनी के साथ उबाला हुआ चावल पायसान्न है। इसे खीर कहा जा सकता है। प्राचीन और मध्यकालीन मिष्टान्नों में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य हेम के समय में पायसान्न बनाने की अनेक विधियाँ प्रचलित थीं।

पलल—तिल और गुड़ को कूटकर तिलकुट के रूप में यह तैयार किया जाता था। कहीं-कहीं तिल को गुड़ की चासनी में मिलाकर गजक के रूप भी यह तैयार किया जाता था। हेम के मत से कणरहित चावल पलाल है। इन्होंने लिखा है—"पलालम्—अकणो व्रीह्यादिः" (४७५ उ०)।

दाधिक—दही और दूध के संयोग में विभिन्न प्रकार के सुस्वादु खाद्य तैयार किये जाते थे। दूध, घी, दधि और नवनीत का अगणित तरह से उपयोग किया जाता था। सशर्करं पयः (२।२।५५) से स्पष्ट है कि चीनी मिलाकर दूध पीने की प्रथा भी प्रचलित थी। हैयङ्गवीन (६।२।५५)—नवनीत विशेष हितकर बताया गया है।

मधु—इसका दूसरा नाम क्षौद्र भी मिलता है। छोटी मक्खी का बनाया मधु क्षौद्र और बड़ी मक्खी के द्वारा निर्मित मधु भ्रामर कहा जाता था। मधु के अनेक प्रयोग प्रचलित थे। श्लेष्मघ्नं मधु (५।१।८३) कहकर इसे श्लेष्मा—स्थौल्य को दूर करने वाला कहा है।

गुड—गन्ने के रस को औटाकर गुड, राब और चीनी बनायी जाती थी। गुड से पूये तथा और भी अनेक प्रकार की मिठाइयाँ तैयार होती थीं।

पेय-पदार्थ—पेय पदार्थों में दूध, मठ्ठा, कषाय, सौवीर—काँजी, और सुरा का उल्लेख मिलता है। आचार्य हेम ने देशविशेष के अनुसार पेय पदार्थों की प्रथा का उल्लेख किया है। पुनः पुनः क्षीरं पिबन्ति क्षीरपायिणः उशीनराः (५।१।१५७; २।३।७०); तक्रपायिणः सौराष्ट्राः, कषायपायिणो गान्धाराः, सौवीरपायिणो वाह्लीकाः (५।१।१५७; २।३।७०) तथा सुरापाणाः प्राच्याः (२।३।७०) से स्पष्ट है कि उशीनर—चिनाव के निचले कांठे के निवासी दूध पीने के शौकीन, सौराष्ट्र निवासी मट्ठा पीने के शौकीन, और गान्धार—आधुनिक अफगानिस्तान के पूर्वी भाग के निवासी कषाय रस के शौकीन थे, कोषकारों ने कषाय रस की परिभाषा करते हुए बतलाया है—"यो वक्त्रं परिशोषयति जिह्वां स्तम्भयति कण्ठं बध्नाति हृदयं कषति पीडयति च स कषायः"। अर्थात् यह आज की चाय के समान कोई

कषयले रस का पेय पदार्थ था, जिसके पीने की प्रथा प्राचीन समय में गान्धार देश में थी। वाहीक—मद्र देशवासियों में सौवीर—काँजी पीने की प्रथा एवं प्राच्य देशों में सुरा पीने की प्रथा प्रचलित थी। सुरा जौ और पिट्ठी से बनायी जाती थी। आचार्य हेम ने चावलों द्वारा बनायी जानेवाली सुरा का निर्देश करते हुए लिखा है—सुरायै सुर्याः सुरीयास्तण्डुलाः (७।१।२९) इसी प्रकार यवसुरीयम्, पिष्टसुरीयम् (७।१।२९) उदाहरण सुराओं के विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश डालते हैं।

आचार्य हेम ने ताम्बूल का भी निर्देश किया है। ताम्बूल सेवन करने वाले को ताम्बूलिक (६।४।५९) कहा है।

धान्य—

धान्यों में व्रीहि, यव, मुद्ग, माष, गोधूम, तिल, कुलत्थ (६।२।५८) की गणना की गयी है। नीवार, कोद्रव, प्रियंगु (२।३।६७) भी अच्छे धान्यों में परिगणित हैं। शरदि पच्यन्ते शारदाः शालयः—शरद ऋतु में उत्पन्न होनेवाले धान को शालि; शिशिर में उत्पन्न होनेवाली मूँग को शैशिरा मुद्गाः (६।३। ११७), शरदुप्ताः शारदा यवाः (६।३।११८) शरद ऋतु में उत्पन्न होनेवाले यव को शारद यव कहा है। ग्रैष्मं सस्यं, वासन्तं सस्यं ६।३।१२० में ग्रीष्म और वसन्तकालीन सस्य का उल्लेख किया है। चणः (चना) का निर्देश (९५७ उ०) भी पाया जाता है।

भोजन बनाने में प्रयुक्त होनेवाले बर्तन

१ अयस्कुण्ड (२।३।१४)—लोहे का खरल

२ अयस्कुम्भ (२।३।६)—ताम्बे या लोहे का घड़ा

३ कुटिलिका (६।४।२६)—चिमटा, सड़सी

४ गर्गरी (उणा० ९)—महाकुम्भ—बड़ा घड़ा। यह मिट्टी का बनता था।

५ कुंडा (७।३।१६९)—पत्थर का कठौता

६ घट (६।३।१९४)—मिट्टी का जल भरने का घड़ा

७ कलश (५२१ उ०)— ,, ,, ,,

८ शूर्प (६।३।१९४)—अनाज फटकने का सूप

९ पिटक (६।३।१९४)—फल-फूल रखने की बाँस की पिटारी

१० पिठरी (२।४।१९)—कड़ाई

११ द्रोणी (२।४।१९)—जलक्षेपणी कुण्डिका—कठौती

१२ उख (६।२।१४१)—तवा

१३ पात्रम् (७।१।९४, ६।४।१६३) । (५२५ उ०)—लोटा, गिलास

१४ भाण्ड (६।४।७५)—हाँडी, बटुआ, बटलोई ।

१५ स्थाली (६।२।७२)—थाली

१६ सूर्मी (३४६ उणा०)—चूल्हा

१७ पिठरं (३९९ उणा०)—भाण्डम्—बड़े कढाये के लिए प्रयुक्त है

१८ पात्री (४४५ उ०)—भाजनम्—अन्न संग्रह करने के बड़े भाँडे

१९ दात्रम् (२।२।२४)—हसुआ

२० अमत्रम् (४५६ उ०)—भाजनविशेषं—

२१ मूसलम् (४६८ उ०)—इसका दूसरा नाम स्रोता (८५७ उ०) में आया है—मूसल

२२ स्थालं (४७३ उ०)—भाजनम्—थाल

२३ कलशी (५३१ उ०)—दधिमन्थनभाजनम् (दधिमन्थनभाजनम् ५३२ उ०) दही मथने का वर्तन, इसका दूसरा नाम करभी है ।

२४ चमसः (५६९ उ०)—चम्मच

२५ कालायस (५८९ उ०)—लोहे के बने बड़े वर्तन । मतान्तर मे यह लोहे की सन्दूक के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है ।

२६ प्रघाणः (२४६ उ०)—ताँबे का वर्तन ।

२७ कटाह (६।४।१६२)—कड़ाहा

स्वास्थ्य एवं रोग—

आचार्य हेम ने 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' में अनेक रोग और उनकी चिकित्सा के सम्बन्ध में निर्देश किया है । इनकी दृष्टि में वात, पित्त और कफ ही रोग का कारण है । इनके कुपित होने को रोग कहा जाता है और उपशम को स्वास्थ्य । इन्होंने बताया है—"वात-पित्तश्लेष्मसन्निपाताच्छमनकोपने ६।४।१५२—शम्यति येन तच्छमनम् । 'कुप्यति येन तत्कोपनम्' । वातस्य शमनं कोपनं वा वातिकम्, पैत्तिकम्, श्लैष्मिकम्, सान्निपातिकम्" । अर्थात्—वात के निमित्त या प्रकोप से उत्पन्न होनेवाले रोग वातिक; पित्त के निमित्त या प्रकोप से उत्पन्न होनेवाले रोग पैत्तिक; श्लेष्म के निमित्त या प्रकोप से उत्पन्न होनेवाले रोग श्लैष्मिक कहलाते हैं । जब वात, पित्त और कफ ये तीनों प्रकुपित होते हैं, तब सन्निपात रोग उत्पन्न होता है ।

वात को शान्त रखने के लिए तैल मालिश का प्रयोग करना हितकर होता है । पित्त को शान्त रखने के लिए घी और श्लेष्मा को—कफ को

शान्त रखने के लिए मधु का प्रयोग ग्राह्य बताया है। इनका कथन है—
वातं हन्ति वातघ्नम् तैलम्; पित्तघ्नं घृतम्, श्लेष्मघ्नं मधु (५।१।८४)।

मध्यकाल में अनेक रोग तो बढ़े हुए थे ही, पर ज्वर का प्रकोप अधिक पाया जाता था। आचार्य हेम ने दो दिन पर आने वाले ज्वर को द्वितीयक, तीन दिन पर आने वाले ज्वर को तृतीयक, चार दिन पर आनेवाले ज्वर को चतुर्थक, एवं बहुत दिनों तक लगातार आनेवाले ज्वर को सततक (७।१।१९३) कहा है।

'कालहेतुफलाद्रोगे' (७।१।१९३) सूत्र में काल, प्रयोजन और फल को रोगों के नामकरण का कारण कहा है। सर्दी देकर चढ़नेवाला बुखार शीतक (शीतः हेतुः प्रयोजनमस्य) और गर्मी से आनेवाला उष्णक कहा है। ज्वर के अतिरिक्त निम्न विशेष रोगों के नाम उपलब्ध होते हैं।

१ वैपादिकम् (७।२।३४)—कुष्ठविशेष—यह प्रायः हाथ और पैरों में उत्पन्न होनेवाला गलित कुष्ठ है।

२ अर्शः (९६७ उ०) बवासीर—यह प्राचीन काल से भयानक रोग माना गया है।

३ अर्मः (३३८ उ०)—अक्षिरोगः—नेत्रों में होनेवाला मोतियाबिन्दु के समान।

४ न्युब्ज (४।१।१२०)—रोगविशेषः—

५ मृदरः (३९९ उ०)—अतिकायः—स्थूलता का रोग। मोटापा आज भी एक प्रकार का रोग माना जाता है।

६ श्मेत्रं (४५१ उ०)—संभवतः शोथ रोग है।

७ श्वेत्रं (४५१ उ०)—संभवतः कुष्ठविशेष—श्वेत कुष्ठ के लिए आया है।

८ पाटलं (४६५ उ०) मोतियाबिन्दु—नेत्रों में पटल आ जाने को पाटल कहा है।

९ कामलो (४६५ उ०)—काच-कामलादि रोग प्राचीन काल से प्रसिद्ध चले आ रहे हैं। इस रोग से नेत्रों की ज्योति मन्द हो जाती है। कुछ लोगों ने इसे पाण्डु रोग भी कहा है।

१० हृद्रोगः (३।२।९४)—हृदय रोग।

११ यक्ष्मः (३३८ उ०) क्षय जैसा असाध्य रोग।

१२ सन्निपात (६।४।१५२)—त्रिदोष के बिगड़ जाने पर उत्पन्न होनेवाला असाध्य या कष्टसाध्य रोग।

१३ शिरोर्तिः (५।३।१२१)—सिरदर्द।

१४ हृद्यशल्यम् (३।२।९४)—हृदय में होनेवाला दर्द।

१५ हृद्यदाहः (३।२।९४)—हृदय में जलन उत्पन्न करनेवाला रोग।

१६ भगंदर (५।१।११४)—भगं दारयति भगंदरो व्याधिः।

१७ वातातीसार (७।२।६१)

आचार्य हेम ने औषधि के कर्चूर, जायु और भेषज ये तीन नामान्तर बतलाये हैं। जायु की व्युत्पत्ति बतलाते हुए लिखा है—'जयत्यनेन रोगान् श्लेष्माणं वा जायुः' औषधं (१ उ०)—अर्थात् जिससे रोग दूर हो औषधि है। 'भेषजादिभ्यष्ट्यण्' ७।२।१६४ में भेषजमेव भैषज्यम् अर्थात् भेषज को ही भैषज्य कहा है। इससे ध्वनित होता है कि विभिन्न औषधियों के संयोग से भी औषधि-निर्माण की प्रथा वर्त्तमान थी। कर्चूर का नाम (४२९ उ०) में रोगशमनक औषधि के लिए आया है। काष्ठादि औषधियों के अतिरिक्त धातुज औषधियों के व्यवहार का संकेत—कासीसं धातुजमौषधम् (५७६ उ०) द्वारा प्राप्त होता है।

रोगों के पचाये जाने तथा शीघ्र निकालने की प्रक्रिया से भी अवगत थे। अवश्यपाच्य, अवश्यरेच्यम् (४।१।११५) उदाहरण उपर्युक्त कथन की पूर्णतया पुष्टि करते हैं।

वस्त्र, अलंकार एवं मनोविनोद—

वस्त्रों का व्यवहार आर्थिक समृद्धि एवं रुचि परिष्कार का सूचक तो है ही साथ देश की औद्योगिक उन्नत अवस्था का भी परिचायक है। आचार्य हेम शब्दानुशासन के रचयिता हैं, अतः उदाहरणों में नाना प्रकार के वस्त्रों का निरूपण किया है। हेम ने 'उपाद्भूपासमवायः' ४।४।९२ में शरीर की वेषभूषा को सजाने पर जोर दिया है। इन्होंने वस्त्र के लिए चेल, चीवर, वस्त्र, वसन, आच्छादन एवं परिधान का प्रयोग किया है। 'चीवरं परिधत्ते परिचीवरयते' (३।४।४१) अर्थात् चीवर धारण करने का विधान आरम्भिक श्रमणों और ब्रह्मचारियों के लिए है। बौद्ध भिक्षु भी चीवर धारण करते थे। चीवरों को स्वयं स्वच्छ भी करते थे यह बात 'चीवरं संमार्जयति संचीवरयते' (३।४।४१) से सिद्ध होती है।

परिधान की व्याख्या करते हुए लिखा है—"समाच्छादनम् परिधानम्" (३।४।४१)—शरीर को आच्छादन करनेवाले वस्त्र को परिधान कहा है। हेम का यह संकेत भी है कि गुह्य अंग का समाच्छादन ही परिधान है अर्थात् धोती के अर्थ में परिधान का प्रयोग आया है। हेम ने जीर्ण वस्त्र को चीर

कहा है (३९२ उ०) तथा 'चीरं जीर्णं वस्त्रं वल्कलं च' (३९२ उ०) द्वारा वल्कल को भी चीर बताया है।

वस्त्र बुनने की प्रथा का निरूपण करते हुए "प्रोयतेऽस्यामिति प्रवाणी- तन्तुवायशलाका सा निर्गतास्मादिति निष्प्रवाणिः पटः" (७।३।१८१) अर्थात्, तुरीय, तन्तु, वेम और शलाका द्वारा वस्त्र बुने जाते थे तथा सीकर नाना तरह के वस्त्र बनाये जाते थे। 'कौशेयम्' ६।२।३९ से स्पष्ट है कि रेशमी वस्त्रों को कौशेय, अलसी के तन्तुओं से बने ('उमा अतसी तस्या विकारोऽवयवः औमकम् , औमम्' ६।२।३७) वस्त्रों को औम—औमक एवं ऊनी वस्त्रों को (ऊर्णाया विकारः और्णकम् , और्णः,) ६।२।३७ और्ण—और्णक कहते थे। सूत से बने वस्त्र कार्पास कहलाते थे। इन तीनों प्रकार के वस्त्रों का उपयोग हेम के समय में होता था। कार्पास का व्यवहार सर्वसाधारण में प्रचलित था। वस्त्रों को नाना प्रकार के रङ्गों से रंगने की प्रथा भी प्रचलित थी। 'रागाट्टो रक्ते' ६।२।१ सूत्र से स्पष्ट है कि कुसुम्भ रङ्ग से रङ्गा गया वस्त्र कौसुम्भ, कषाय से रङ्गा काषाय, मंजिष्ठ से रङ्गा गया मांजिष्ठ, हरिद्रा के रङ्ग से रङ्गा हारिद्र, नील से रङ्गा नील एवं पीत से पीत कहलाता था। रंगे वस्त्र धारण करने की प्रथा स्त्रियों में विशेष रूप से वर्तमान थी।

स्त्रियाँ महावर, मेंहदी और गोरोचन का भी व्यवहार करती थीं। लाक्षया रक्तं लाक्षिकम् , रोचनया रक्तं रौचनिकम् (६।२।२) अर्थात् पाँवों को लाक्षा से रङ्गने की प्रथा और हाथों को रोचन—कुंकुम या मेंहदी से रङ्गने की प्रथा प्रचलित थी। आजकल के समान अधरोष्ठों को भी रोचन से रंजित किया जाता था। दासियाँ युवतियों का नाना प्रकार से श्रृंगार करती थीं। संस्करोति कन्याम् भूषयति (३।४।४१) से अवगत होता है कि विवाह के अवसर के अतिरिक्त अन्य उत्सव या त्यौहारों के समय कन्याओं का विशेष श्रृंगार किया जाता था। श्रृङ्गार में सुगन्धित चन्दन, उद्गन्धित कमल, पूतगन्धित करञ्ज (७।३।१४४) का उपयोग विशेष रूप से किया जाता था। सुगन्धित मालाओं का धारण करना एवं सुगन्धित चतुर्जातिक चूर्ण का लेप लगाना अच्छा समझा जाता था।

कंठ, बाहु, भुज, कर, ग्रीवा आदि स्थानों पर अलंकार (६।३।१२) धारण किये जाते थे। वस्त्रों में निम्नलिखित वस्त्रों का प्रधान रूप से व्यवहार पाया जाता है।

१ उष्णीषः (५५६ उ०)—शिरोवेष्टनम्—पगड़ी या साफा। प्राचीन और मध्यकाल में पगड़ी या साफा बांधने की प्रथा प्रचलित थी।

२ अधोवस्त्रम्—धोती, इसका दूसरा नाम परिधान भी आया है।

३ प्रावाराः—दुशाला। राजाच्छादनाः प्रावाराः (३।४।४१) से ज्ञात होता है कि यह राजा-महाराजाओं के ओढ़ने योग्य ऊनी या रेशमी चादर थी। कौटिल्य के अनुसार जंगली जानवरों के रोएँ से प्रावार नामक दुशाला बनता था, यह पण्यकम्बल की अपेक्षा मृदु और सुन्दर होता था।

कम्बल—'कम्बलान्नाम्नि' ७।१।३४ में कम्बल के लिए लायी गयी ऊन को कम्बलीया ऊर्णा कहा है। कम्बल कई प्रकार के होते थे। पाण्डु देश से भी कम्बल आते थे। इन कम्बलों से रथों के पर्दे बनते थे, ये रथ 'पाण्डुकम्बलेन छन्नः पाण्डुकम्बली रथः' (६।२।१३२) कहलाते थे।

कौपीन—(६।४।१८५) 'कौपीनशब्दः पापकर्मणि गोपनीयपायूपस्थे तदावरणे च चीवरखण्डे वर्तते' (६।४।१८५)—कौपीन शब्द लंगोटी के अर्थ में आया है। उस समय भी लंगोटी लगाने वाले भिक्षु विचरण करते थे।

वासस् (५।३।१२५)—'राजपरिधानानि वासांसि' उदाहरण द्वारा राजकीय वस्त्रों को वासस् कहा है। ये वस्त्र भड़कीले और चमकीले होते थे।

क्रीडा-विनोद—

आमोद-प्रमोद में सभी लोगों की अभिरुचि रहती है। क्रीडा करने के लिए उद्यानों में भ्रमण, नगरों की रथयात्रा, हाथी-घोड़ों की सवारी प्रभृति कार्य आचार्य हेम के समय में होते थे। आचार्य हेम ने निम्न सूत्रों में क्रीडा का निर्देश किया है:—

१ अकेन क्रीडा जीवे ३।१।८१

२ क्रीडोऽकूजने ३।३।३३

अभ्योषखादिका—

अभ्योषाः खाद्यन्तेऽस्यामिति अभ्योषखादिका (५।३।१२१)—जौ, गेहूँ की बालों को अग्नि में भून कर, कूटकर, गुड़ मिलाकर अभ्युष तैयार किये जाते थे। इस क्रीडा में अभ्युषों का सेवन किया जाता था। कामसूत्र में भी इस क्रीडा का (४।१।१) नाम आया है।

उद्दालपुष्पभंजिका—

'उद्दालकपुष्पाणि भज्यन्ते यस्यां सोद्दालपुष्पभञ्जिका' (५।३।१२१)—उद्दालक पुष्पों का भंजन जिस क्रीडा में सम्पन्न किया जाय वह उद्दालपुष्पभंजिका है। आप्टे ने अपने कोष में लिखा है—"A sort of game played

by the people in the eastern districts (in which Uddalaka flowers are broken or crushed") उद्दालक जातक में आया है कि वाराणसी के राजा का पुरोहित उद्दालक वृक्षों के बगीचे में अपनी गणिका को उद्यानक्रीडा के लिए ले जाता था। यह क्रीडा वह उद्यानक्रीडा है, जिसमें उद्दालकपुष्पों का चयन और भंजन किया जाता था।

वारणपुष्पप्रचायिका (५।३।१२१)—यह बेना या खस के पुष्पों को एकत्र करने की क्रीड़ा है। वारण की डालों को झुका कर पुष्पों का चयन हाथ की पहुँच के भीतर आई हुई शाखा से अपने ही हाथ से करना होता था। इस प्रकार की क्रीडा का उत्सव वैशाखी पूर्णिमा को सम्पन्न किया जाता था।

सालभञ्जिका—साला भज्यन्ते यस्यां सा सालभञ्जिका (५।३।१२१) शाल वृक्ष की डालियों को झुकाकर स्त्रियाँ पुष्पों का चयन करती थीं, यह क्रीडा सालभंजिका कहलाती थी। भरहुत, साँची की शुङ्गकला एवं मथुरा की कुषाणकला में उक्त क्रीडाओं में संलग्न स्त्रियों की मूर्त्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। यह पूर्व भारत की क्रीडा थी।

चन्दनतक्षा—चन्दनास्तक्ष्यन्ते यस्यां—चन्दनतक्षा क्रीडा (५।३।१२१) चन्दन के वृक्षच्छेदन द्वारा क्रीडा सम्पन्न की जाती थी।

प्रहरण क्रीडा—

'प्रहरणात् क्रीडायां णः' ६।२।११६—इस क्रीडा का नाम उस प्रहरण या आयुध के नाम अभिहित किया जाता था, जिसे लेकर यह क्रीडा सम्पन्न की जाती थी। इस क्रीडा का मुख्य उद्देश्य अपनी कला के कौशल का प्रदर्शन करना था। इसी कारण आचार्य हेम ने लिखा है—"यत्राद्रोहेण घातप्रतिघातौ स्यातां सा क्रीडा" (६।२।११६)—अर्थात् शत्रुता के बिना प्रेमपूर्वक शस्त्रों के घात-प्रतिघात करने की क्रिया क्रीडा है। उदाहरणों में—'दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायां दाण्डा' (६।२।११६)—लाठी भाजने का खेल दिखलाना दाण्डा किया है। आज कल भी लाठी चलाने की प्रवीणता दिखलाने के लिए इस प्रकार की क्रीडा की जाती है। मौष्टा—मुक्केबाजी का खेल, पादा—लतियाने का खेल आदि। मालाक्रीडा का नाम भी हेम ने गिनाया है तथा उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है—माला भूषणमस्यां क्रीडायाम्—जिस क्रीडा में माला आभूषण को अनेक प्रकार से धारण कर मनोरंजन किया जाय, वह मालाक्रीडा है।

मल्लयुद्ध (२।२।६८)—मल्लयुद्ध के लिए अखाड़े का निरूपण करते हुए हेम ने—'तिलपातोऽस्यां वर्तते तैलंपाता क्रियाभूमिः क्रीडा'

(६।२।११५)—अर्थात् जिस क्रीडा में तिल गिराया जाता था, वह क्रीडा तैलंपाता कहलाती थी। अखाड़े को चिकना और अच्छा करने के लिए तैल देकर मिट्टी को मृदुल भी करने की ओर उक्त उदाहरण में संकेत वर्तमान है। अखाड़े में दो पहलवान आपस में ललकारपूर्वक युद्ध करते थे। आज भी मल्लयुद्ध की क्रीडा प्रसिद्ध है। दर्शक लोग मल्लयुद्ध देखकर आनन्दित होते थे।

मृगया—मृगयेच्छा याच्ञा तृष्णा कृपायां श्रद्धान्तर्धा (५।३।१०१) शिकार खेलकर पक्षी, हिरण एवं हिंसक जीवों के घात द्वारा मनोरंजन किया जाता था।

अक्षद्यूत—द्यूतं दीव्यति, अक्षान् दीव्यति (२।२।१८); अक्षैर्द्यूतं चैत्रेण (२।२।१९) उदाहरणों से स्पष्ट है कि द्यूतक्रीडा पासों के द्वारा खेली जाती थी। तथा खेल और पासा दोनों ही अक्ष कहलाते थे। पासों का खिलाड़ी आक्षिक कहलाता था। खेल अक्ष—चौकोर पासे और शलाका—लम्बे पासों से खेला जाता था। इन पासों पर अंक रहते थे। आचार्य हेम ने पाँच पासे के खेल का उल्लेख किया है। इन्होंने 'संख्याक्षशलाकं परिणा द्यूतेऽन्यथावृत्तौ' (३।१।३८) में लिखा है—"पंचिका नाम द्यूतं पञ्चभिरक्षैः शलाकाभिर्वा भवति। तत्र यदा सर्वे उत्ताना अवाञ्चो वा पतन्ति तदा-पातयितुर्जयः। अन्यथापाते पराजयः। एकेनाक्षेण शलाकया वा न तथावृत्तम् यथा पूर्वं जये एकपरि, द्विपरि, त्रिपरि, परमेणचतुष्परि। पञ्चसु त्वेकरूपेषु जय एव भवति। अक्षेणेदं न तथा वृत्तम् यथापूर्वं जये अक्षपरि। शलाकापरि, पाशकेन न तथावृत्तम् (३।१।३८)। अर्थात् पंचिका नाम जुआ पाँच अक्ष या पाँच शलाकाओं से खेला जाता है। जब वे सब पासे सीधे या औंधे एक से गिरते हैं, तब पासा फेंकने वाला जीतता है, किन्तु यदि कोई पासा उलटा गिरता है, तो खेलने वाला उतने अंश में हारता है। उदाहरण के लिए जब चार पासे एक से पड़ते हैं और एक उलटा गिरता है, तो खिलाड़ी कहता है अक्षपरि, शलाकापरि—एकपरि। इन कोड शब्दों का अर्थ है—एक पासे से हारना। यदि दो पासे उलटे पड़ते हैं, तो द्विपरि, तीन पासे उलटे पड़ते हैं तो त्रिपरि और चार पासे उलटे पड़ते हैं तो चतुष्परि कहा जाता है।

इस सन्दर्भ में आचार्य हेम ने विविध मान्यताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

केचित् समविषमद्यूते सममित्युक्ते यदा विषमं भवति तदा अक्ष-

परिशलाकापरीति प्रयुज्यत इत्याहुः। अन्ये पूर्वं पदमाहूतं तच्च पतितमिष्टं सिद्धं पुनस्तदाहूतं यदा न पतति तदायं प्रयोगोऽक्षपरि शलाकापरीत्याहुः (२।१।३८)। कुछ लोगों का मत है कि सम-विषय जुए में सम ऐसा कहने पर विषम पासा आ जाय तो अक्षपरि, शलाकापरि का प्रयोग किया जाता है। खेल अक्षों से खेला जाय तो अक्षपरि और शलाकाओं से खेला जाय तो शलाकापरि कहलाता है। अन्य विचारकों का यह मत है कि पहले जो कहा गया है, यदि वही पासा आ जाय तो खिलाड़ी की विजय होती है, और प्रतिद्वन्द्वी खिलाड़ी की पराजय; और कहा गया पासा न आवे तो अक्षपरि या शलाकापरि कहलायेगा। वस्तुतः यह जुआरियों की हार-जीत की भाषा है, किस प्रकार उनको विजय प्राप्त होती है, यही यहाँ निर्देश किया गया है।

मनोविनोद के साधनों में उत्सव विशेष भी सम्मिलित थे। आचार्य हेम ने 'मासं भावी मासिकः उत्सवः' (६।४।१०६) अर्थात् महीने पर चलने वाले उत्सव का निर्देश किया है।

आचार-विचार—

जनसाधारण में प्रचलित आचार-व्यवहार किसी भी समाज की संस्कृति का परिचायक होता है। आचार्य हेम ने अपने समय तथा उसके पूर्ववर्ती समाज के आचार-विचारों का सम्यक् निरूपण किया है। समाज के आदर्श का निरूपण करते हुए लिखा है—"इमाः परस्परां परस्परस्य वा स्मरन्ति, इमाः परस्परां परस्परस्मिन् वा स्निह्यन्ति, इमे कुले परस्परां भोजयन्तः, सखीभिः कुलैर्वा इतरेतरामितरेतरेण वा भोज्यते" (३।२।१) इस सन्दर्भ से अवगत होता है कि जनसाधारण में स्नेह और प्रेम रहना चाहिए, जिससे वे परस्पर में स्नेह करें और आवश्यकता पड़ने पर स्मरण कर सकें। भोजन सम्बन्धी आदान-प्रदान भी अपेक्षित है। परस्पर में भोजन करने-कराने से समाज की भित्ति दृढ़ होती है और सामाजिकता का विकास होता है। अतिथि-सत्कार का महत्त्व तो सभी आचार्य मानते हैं। आचार्य हेम ने समाज-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए परस्पर उपकार और सहयोग करना नितान्त आवश्यक माना है। "अनुकम्पा कारुण्येन परस्यानुग्रहः तया अनुकम्पया युक्ता नीतिस्तद्युक्तनीतिः" (७।३।३४)। अर्थात् दया या करुणापूर्वक अन्य व्यक्तियों की सहायता करना, उनके कार्यों में सहयोग प्रदान करना मनुष्य के लिए आवश्यक है। जो व्यक्ति अपने जीवन में अहिंसा या दया की नीति को अपना लेता है, वह व्यक्ति समाज का बड़ा उपकार करता है।

'शीलं युष्माकं स्वम्, शीलमस्माकं स्वम्, शीले वयं स्थास्यामः, शीलेऽस्माभिः स्थितम्' (२।१।२१) से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मानवमात्र का आदर्श आचार है। आचार या शील के बिना व्यक्ति अपने जीवन में कोई भी सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है। जीवन की वास्तविक उन्नति शील—सदाचार द्वारा ही होती है। जिस प्रकार तैल के बिना तिल का अस्तित्व नहीं, उसी प्रकार शील के अभाव में जीवन का कोई भी मूल्य नहीं है। दान के महत्त्व का वर्णन करते हुए कहा है—'दानेन भोगानाप्नोति' (२।२।२४)—दान देने से ही भोगों की प्राप्ति होती है। दान देने का सिद्धान्त समाज में सहयोग का सिद्धान्त है। संचय से समाज में व्यतिक्रम आता है और दान देने से समाज में अद्भुत संगठन एवं समता उत्पन्न होती है। अतः धार्मिक दृष्टि से दान का जितना मूल्य है, उससे कहीं अधिक सामाजिक दृष्टि से। समाजविज्ञान दान को समाज के परिष्कार और गठन में एक हेतु मानता है।

जीवं न मारयति, मांसं न भक्षयति (५।२।१९) द्वारा अहिंसा सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है और जीवन को सुखी, सम्पन्न और शान्त बनाने के लिए मांसभोजन का त्याग एवं सभी प्रकार की जीव-हिंसा का त्याग आवश्यक माना है। मन, वचन और क्रिया में अहिंसा का रहना अनिवार्य माना है। उनके मुनिधूर्त और आरक्षितस्करः (३।१।१००) उदाहरण स्पष्ट घोषणा करते हैं कि आचारहीन मुनि भी धूर्त कोटि में परिगणित हो जाता है। जिस मुनि के जीवन में अहिंसा आदि महाव्रत, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का अस्तित्व नहीं है, ऐसा मुनि बाहर से मुनिव्रत धारण करने पर भी अन्तरंग शुद्धि के अभाव में धूर्त है। छल-कपट, प्रपंच आदि में आसक्त होने से अहिंसा का पालन संभव नहीं है। इसी प्रकार जो आरक्षि—दरोगा जनता के जानमाल की रक्षा न करके, चोरी करता हो, वह भी अतिनिन्दनीय है। आचार्य हेम जीवनोन्नति के लिए आचार को सर्वोपरि स्थान देते हैं।

जीवन का आदर्श ज्ञान और शील दोनों ही हैं। इसी कारण आचार्य हेम ने बतलाया है—"ज्ञानं च शीलं च वां दीयते। ज्ञानं च शीलं च ते स्वम्, मे स्वम्" (२।१।२९) अर्थात् ज्ञान और आचार दोनों ही जीवन के लिए सर्वस्व हैं। ये दोनों वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक माने गये थे।

नम्रता को समाज में ग्राह्य माना जाता था। विनीत विद्यार्थी का गुरु

भी सम्मान करते थे और समाज भी उन्हें आदर की दृष्टि से देखता था। 'वयं विनीतास्तन्नो गुरवो मानयन्ति' (२।१।३२) उदाहरण से स्पष्ट है श्रद्धालु और विनीत शिष्य गुरु के लिए प्रियपात्र बनता था। 'विहरति देशमाचार्यः' (२।२।७) से अवगत होता है कि आचार्य लोग स्वकल्याण के अतिरिक्त समाजसुधार और समाज-परिष्कार के हेतु देश में विचरण करते थे।

गर्वोक्तियाँ समाज में प्रचलित अवश्य थीं, पर समाज-कल्याण की दृष्टि से गर्वोक्तियों को महत्त्व नहीं दिया जाता था। 'स मे मुष्टिमध्ये तिष्ठति' (२।२।२९)—वह मेरी मुट्ठी में है, आदि गर्वोक्तियाँ औपचारिक मानी गयी हैं। इसी प्रकार 'यो यस्य द्वेष्यः स तस्याक्ष्णोः प्रतिवसति। यो यस्य प्रियः स तस्य हृदये वसति' (२।२।२९) अर्थात् जो जिसका प्रिय है, वह उसके हृदय में बसता है और जो जिसका द्वेष्य—द्वेष की वस्तु है, वह उसकी आँखों में निवास करता है। ये दोनों उदाहरण भी हृदय की भावनाओं पर प्रकाश डालते हैं। समाज में राग-द्वेष के परिष्कार को ग्राह्य माना जाता था।

किसी बात का विश्वास दिलाने के लिए शपथ लेने की प्रथा भी प्रचलित थी। जब लोग कही हुई बात की सचाई पर विश्वास नहीं करते थे, तो प्रत्यय उत्पन्न करने के लिए शपथ ली जाती थी। इस शपथ के सम्बन्ध में बताया है—'यदीदमेव न स्यात् इदं मे इष्टं माभूत् अनिष्टं वा भवत्विति शपथं करोति' (७।२।१४३) अर्थात् यदि मेरा यह कथन यथार्थ न हो तो मेरा इष्ट—कल्याण न हो और अनिष्ट—अमङ्गल हो जाय। इससे ध्वनित होता है कि हृदयशुद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया है। जिसके हृदय में छल-छद्म नहीं है, वही व्यक्ति इस प्रकार की शपथ ले सकता है।

आचार-विचार के अन्तर्गत व्रत-नियम भी परिगणित किये जाते हैं आचार्य हेम ने 'व्रतं शास्त्रविहितो नियमः' (३।४।४३) अर्थात् शास्त्रविहित नियमों का पालन करना व्रत है। शास्त्रविहित नियमों में 'देवव्रतादीन् डिन्' (६।४।८३) सूत्र में महाव्रतों को शास्त्रविहित व्रत बताया है। सामान्य भाषा में प्रतिज्ञा करने के नियम को व्रत कहा जाता है। 'व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः, इदं कर्त्तव्यमिदं न कर्त्तव्यमिति वा'। (७।१ सर्वार्थ०)—अर्थात् कर्त्तव्य के करने का और अकर्त्तव्य के त्याग का जो नियम लिया जाता है, वह व्रत है। पापों से निवृत्त होने रूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह रूप पाँच महाव्रत हैं। आचार्य हेम ने लौकिक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा

है—'पय एव मया भोक्तव्यमिति व्रतं करोति गृह्णाति वा पयोव्रतयति। सावद्यान्नं मया न भोक्तव्यमिति व्रतं करोति गृह्णाति वा सावद्यान्नं व्रतयति' (३।४।४३)—अर्थात् दूध का मुझे सेवन करना चाहिए, इस प्रकार का नियम लेकर जो दूध को ही ग्रहण करता है, वह पयोव्रती कहलाता है। पापान्न को मैं नहीं ग्रहण करूँगा इस प्रकार का नियम लेकर जो पापान्न सेवन का त्याग करता है, वह सावद्यान्न व्रती कहलाता है।

हेम ने 'चान्द्रायणं च चरति' ६।४।८२ में चान्द्रायण व्रत का निर्देश किया है। देवव्रती, तिलव्रती (६।४।८३) आदि व्रत भी प्राचीन भारत की एक नयी व्रत-परम्परा पर प्रकाश डालते हैं।

'गोदानादीनां ब्रह्मचर्ये' ६।४।८१ सूत्र में 'गोदानस्य ब्रह्मचर्यं—गौदानिकम्—यावत् गोदानं न करोति तावत् ब्रह्मचर्यम्—अर्थात् गोदान काल पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना—गौदानिक है। इसी प्रकार—आदित्यव्रतानामादित्यव्रतिकम् (६।४।८१)—आदित्यव्रत का पालन करने वाला आदित्यव्रतिक कहा जाता है।

'धर्माधर्माच्चरति' ६।४।४९ में धर्मानुष्ठान और अधर्म से विरक्ति रखना भी जीवन का लक्ष्य बताया गया है। 'यावज्जीवं भृशमन्नं दत्तवान्' (५।४।५) द्वारा अन्नदान को जीवन पर्यन्त विधेय बताया है। स्थलिः (६०७ उ०) शब्द दानशाला के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रह्वि (६१६ उ०) शब्द पियाऊ के अर्थ में आया है। अतः स्पष्ट है कि दानशालाएँ और पियाऊशालाएँ समाज के सहयोग के लिए आवश्यक मानी जाती थीं। अतिथि की महत्ता अत्यधिक थी। हेम ने लिखा है—अतिथिवेदं भोजयति यं यमतिथिं जानाति लभते विचारयति वा तं तं सर्वं भोजयतीत्यर्थः (५।४।५४)

जीवन के लिए शुचित्व को आवश्यक मानते हुए लिखा है—शुचेर्भावः कर्म वा शौचम्, शुचित्वं (७।१।६९) अर्थात् शौच को जीवन में अपने कार्य या भाव द्वारा उतारना आवश्यक है।

विशेष आचार-विचारों पर भी 'अक्षिणी निमील्य हसति, मुखं व्यापाद्य स्वपिति, पादौ प्रसार्य पतति, दन्तान् प्रकाश्य जल्पति' (५।४।४६) अर्थात् आँख बन्द कर हँसता है, मुख खोलकर सोता है, पैर फैलाकर कूदता है, बत्तीसी झलकाकर बोलता है, द्वारा प्रकाश पड़ता है। यद्यपि उक्त कार्य व्यक्ति विशेष के रहन-सहन के अन्तर्गत आयेंगे, तो भी इनका सामाजिक आचार-विचार के साथ सम्बन्ध है, यतः उक्त क्रियाएँ अच्छी नहीं समझी जाती थीं, इसीलिए इनका व्यंग्य रूप में उल्लेख किया है।

लोकमान्यताएँ—

दैनिक जीवन में ज्योतिष अथवा मुहूर्त शास्त्र को बड़ा महत्व प्राप्त है। प्रत्येक नवीन कार्य को शुभ मुहूर्त में आरम्भ करने का विशेष ध्यान सदा से रखा जाता रहा है। राज्याभिषेक, युद्ध के लिए प्रस्थान, गृहप्रवेश, पूजा-समारम्भ, विवाह संस्कार, यात्रारम्भ आदि कार्य ज्योतिष शास्त्र-सम्मत शुभ घड़ियों में सम्पन्न किये जाते रहे हैं।

'ज्योतिषम्' ६।३।१९९ द्वारा ज्योतिष शास्त्र के अध्ययन पर जोर दिया गया है। आचार्य हेम ने 'हेतौ संयोगोत्पाते' ६।४।१५३ सूत्र में उत्पात को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'प्राणिनां शुभाशुभसूचको महाभूतपरिणाम उत्पातः' (६।४।१५३)—अर्थात् प्राणियों के शुभाशुभ-सूचक प्रकृति के विकार को उत्पात कहा है। यथा—भूकम्प चन्द्र ग्रह के कारण उत्पन्न होता है (सोमग्रहस्य हेतुरुत्पातः—सोमग्रहणिको भूमिकम्पः) (६।४।१५३)। इसी प्रकार संग्राम के कारण इन्द्र धनुष, सुभिक्ष के कारण परिवेष एवं पुत्र-प्राप्तिसूचक सम्बन्धी निमित्तों का वर्णन किया है। शरीर में रहने वाले शुभाशुभ चिह्नों का भी वर्णन किया है। 'चिह्नं शरीरस्थं शुभाशुभसूचकं तिलकालकादिः' । यथा जायाघ्नो ब्राह्मणः, पतिघ्नी कन्या' (५।१।८४)—स्पष्ट है कि शरीर में रहनेवाले तिल, मस्सा आदि चिह्न भविष्य के शुभाशुभ की सूचना देते हैं। भार्याघातक ब्राह्मणकुमार के शारीरिक चिह्न स्वयमेव प्रकट होकर उसके अनिष्ट की सूचना देते हैं। इसी प्रकार पतिघातक कन्या की हस्तरेखा स्वयं ही उसके वैधव्य की सूचक होती है।

आचार्य हेम ने नक्षत्रों में सम्पन्न किये जानेवाले कार्यों का भी उल्लेख किया है। श्रविष्ठा—धनिष्ठा नक्षत्र में सम्पन्न होनेवाले कार्य श्राविष्ठीय (६।३।१०५), फाल्गुनी में सम्पन्न किये जानेवाले कार्य फाल्गुनीय (६।३।१०६), इसी प्रकार अन्य नक्षत्रों में सम्पन्न किये जानेवाले कार्यों का भी निर्देश किया है। इन नक्षत्रों में उत्पन्न हुए व्यक्तियों के नाम भी नक्षत्रों के नामों पर रखे जाने की प्रथा का निर्देश किया है। दिन, अहोरात्र, मास, पौर्णमासी, अयन, ऋतु के नामों के साथ वत्सरः, संवत्सरः, परिवत्सरः, अनुवत्सरः, अनुसंवत्सरः, विवत्सरः और उद्वत्सरः (४३९ उ०) ये नाम भी उल्लिखित हैं। 'पुष्येण पायसमश्नीयात्' (२।२।४८) से स्पष्ट है पुष्य नक्षत्र में खीर के भोजन का विधान ज्योतिष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस दिन पायसान्न के भक्षण से बुद्धि की वृद्धि होती है। ज्योतिष में पुष्य नक्षत्र का बड़ा महत्व माना गया है, इसमें विधिवत् खीर या ब्राह्मी का सेवन करने से बुद्धि की वृद्धि होती है।

कला-कौशल—

सभ्यता और संस्कृति के परिचायक कला-कौशल से भी हेम परिचित थे। सौन्दर्य चेतना उनके रग-रग में व्याप्त है। सौन्दर्य प्रसाधन के रूप में विविध पुष्पों का प्रयोग, केशों का आकर्षक शृङ्गार, अङ्गरागलेपन हेम के युग की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

चित्रकला, सङ्गीत, वास्तु, नृत्य एवं स्थापत्य के सम्बन्ध में आचार्य हेम ने प्रचुर सामग्री उपस्थित की है। आचार्य हेम ने 'शिल्पं कौशलम् विज्ञान-प्रकर्षः' (६।४।५७) द्वारा दो बातों पर प्रकाश डाला है।

(१) कौशल—कुशलता या चतुराई। जिस कला का अभ्यास करना हो, उसकी चतुराई—प्रवीणता होनी चाहिए। इसे एक प्रकार से Practical knowledge कह सकते हैं।

(२) विज्ञान प्रकर्ष—विषय का पूर्ण पाण्डित्य—विषय की अन्तिम सीमा तक जानकारी। इसे Theoretical knowledge कहा जा सकता है। अभिप्राय यह है कि शिल्प में प्रयोगात्मक और सिद्धान्तात्मक दोनों ही प्रकार का ज्ञान अपेक्षित है। इन दोनों के सन्तुलन को ही शिल्प कहते हैं। शिल्प कला का स्थान तभी ग्रहण करता है, जब उसमें हृदय का संयोग रहता है। आचार्य हेम के उक्त विवेचन से यह स्पष्टतया जाना जा सकता है।

पाणिनि के समान हेम ने भी नृत्य, सङ्गीत और वाद्य को शिल्प के अन्तर्गत ही माना है। इनका कथन है कि नृत्य शिल्प जिनका पेशा है वे नार्तिक, गीत शिल्प जिनका पेशा है वे गैतिक, वाद्य शिल्प जिनका पेशा है, वे वादनिक, मृदङ्ग शिल्प जिनका पेशा है वे मार्दङ्गिक कहलाते हैं। नृत्तं शिल्पमस्य नार्तिकः, गीतं गैतिकः, वादनं वादनिकः मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः, पाणविकः मौरजिकः, वैणिकः (६।४।५७)। इसमें सन्देह नहीं कि हेम ने नृत्य, गीत, वादित्र और नाट्य या अभिनय का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध बताया है। हेम ने गीति, गेय, गाथिक और गायन शब्द का साधुत्व भी प्रदर्शित किया है।

वाद्यों में मृदङ्ग, मुरज, पाणु, वीणा, मड्डुक, झर्झर और दुन्दुभि का उल्लेख मिलता है। हेम ने 'दक्षिणाय गाथकाय देहि प्रवीणायेत्यर्थः, दक्षिणायै द्विजाः स्पृहयन्ति (१।४।७) उदाहरणों से स्पष्ट किया है कि वीणा पर गानेवाले को दक्षिणा दो, दक्षिणा के लिए द्विज लोग आपस में ईर्ष्या करते हैं। अवस्वनति मृदङ्गः विविधशब्दं करोतीत्यर्थः (२।३।४३)—मृदङ्गवादन से नाना

तरह की ध्वनि निकाली जा रही है। मड्डुकवादनं शिल्पमस्य माड्डुकः, झार्झरिकः (६।४।५८) प्रयोगों से स्पष्ट है कि मड्डु और झर्झर वाद्य बजाने का भी पेशा करने वाले विद्यमान थे। शङ्ख, दुन्दुभि, वीणा, मृदङ्ग (३।१।१६०) वाद्य भी अत्यन्त लोकप्रिय थे।

'केनेदं चित्रं लिखितमिह नगरे मनुष्येण संभाव्यते' (६।३।४९) अर्थात् इस चित्र को इस नगर में किस मनुष्य ने बनाया है, से स्पष्ट है कि चित्र बनाने की कला का भी यथेष्ट प्रचार था। शिक्षासम्बन्धी जो सामग्री उपलब्ध होती है, उससे भी स्पष्ट है कि वास्तुकला (६।२।१४८) और चित्रकला (६।२।११८) भी अध्ययनीय विषय माने जाते थे।

शिक्षा और साहित्य—

आचार्य हेम ने शिक्षा के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री प्रदान की है। इन्होंने बतलाया है कि शिक्षा प्राप्त करता हुआ विद्यार्थी उस प्रकार विद्या-लक्ष्मी, से युक्त हो जाता है, जिस प्रकार कार्षापण से कोई अभीष्ट वस्तु खरीदी जा सकती है। तात्पर्य यह है कि निष्कपट भाव से विद्या प्राप्त करने वाले छात्र को सभी विद्याएँ देना उसी प्रकार सुलभ है, जिस प्रकार सीधी-सादी लकड़ी को छीलने या खरादने में कोई कष्ट नहीं होता है। लिखा है—"द्रुतुल्यः द्रव्यमयं माणवकः। द्रव्यं कार्षापणं। यथा अग्रन्थि अजिह्मं दारु उपकल्प्यमानविशिष्टरूपं भवति तथा माणवकोऽपि विनीयमानो विद्यालक्ष्म्यादिभाजनं भवतीति द्रव्यमुच्यते। कार्षापणमपि विनियुज्य-मानं विशिष्टेष्टमाल्याद्युपभोगफलं भवतीति द्रव्यमुच्यते" (७।१।११५)।

शिक्षार्थी की योग्यता का निरूपण करते हुए हेम ने निम्न गुणों का आवश्यक माना है—

(१) नम्रता—विनय

(२) शील—सदाचार

(३) मेधा—प्रतिभा

(४) श्रम—परिश्रम करने की क्षमता, विद्यार्जन में परिश्रम करनेवाला।

आचार्य हेम ने शिष्य के लिए विनय गुण को आवश्यक माना है। इनके 'वयं विनीतास्तन्नो गुरवो मानयन्ति' (२।१।३१), यूयं विनीता-स्तद्गुरवो वो मानयन्ति' (२।१।३२) उदाहरणों से स्पष्ट है कि विनयी शिष्य को ही गुरु मानते थे। जो अविनीत या उद्दण्ड होता था, उसकी गुरु लोग उपेक्षा करते थे।

'युवां शीलवन्तौ तद्वां गुरवो मानयन्ति, आवां शीलवन्तौ तन्नौ गुरवो मानयन्ति' (२।१।३१) अर्थात् कुछ छात्र आपस में वार्तालाप करते हुए कहते हैं कि आप लोग शीलवान्-सदाचारी हैं, इसलिए गुरु आपको मानते हैं, हम लोग शीलवान् हैं, इसलिए हमें गुरु लोग मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि छात्र के लिए शीलवान् होना नितान्त आवश्यक था।

'एते मेधाविनो विनीता अथो एते शास्त्रस्य पात्रम्, एतस्मै सूत्रं देहि एतस्मै अनुयोगमपि देहि' (२।१।३३)। अर्थात् ये विनीत और प्रतिभाशाली हैं, अतः ये शास्त्र ग्रहण करने के पात्र हैं। इनको सूत्र और अनुयोग की शिक्षा देनी चाहिए। उपर्युक्त उदाहरण से यह सूचित होता है कि छात्र के लिए प्रतिभाशाली होना आवश्यक था। प्रतिभा के अभाव में विद्यार्जन संभव नहीं होता था। 'अधीत्य गुरुभिरनुज्ञातेन हि खट्वारोढव्या' (३।१।५९) गुरु से पढ़कर उनकी आज्ञा मिलने पर ही खाट पर शयन या आसन ग्रहण करना चाहिए। गुरु की आज्ञा के बिना खाट पर बैठने वाला छात्र जाल्म कहलाता था। गुरु की सेवा करने से शास्त्र का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। गुरु की कृपा शास्त्रपारगामी होने के लिए आवश्यक मानी गयी है। 'यदि गुरूनुपासीत शास्त्रान्तं गच्छेत्' 'यदि गुरूनुपासिष्यते शास्त्रान्तं गमिष्यति' (५।४।२५) उदाहरणों से उक्त तथ्य की सिद्धि होती है। जो छात्र श्रम करने में कमी करता था, उसे गुरु दण्ड भी देते थे, यह बात 'छात्राय चपेटां प्रयच्छति' (२।२।२९) से सिद्ध होती है। आचार्य हेम ने प्रधानतः चार प्रकार के छात्रों का उल्लेख किया है। दाम्भिक, शूलिक, राभसिक और पार्श्वक। यो मिथ्याव्रती परप्रसादार्थं दण्डाजिनमुपादायार्थानन्विच्छति स दाम्भिक उच्यते—जो दूसरों को प्रसन्न करने के लिए झूठा ब्रह्मचारी बन विद्या ग्रहण करता है, वह दाम्भिक है। यो मृदुनोपायेनान्वेष्टव्यानर्थान्तीक्ष्णोपायेनान्विच्छति राभसिकः स एव उच्यते—जो सरलता से सीखे जाने वाले विषयों को कठोरता से पढ़ना चाहता है, वह राभसिक कहलाता है। ऋजुनोपायेनान्वेष्टव्यानर्थाननृजुनोपायेन योऽन्विच्छति स पार्श्वक उच्यते—जो ऋजु उपाय से सीखने योग्य विषयों को कठिन उपाय से पढ़ना चाहता है, वह पार्श्वक है (७।१।१७१)। शूलिक छात्र कठिनाई से शिक्षित किये जाते हैं। नियमित रूप से अध्ययन करने वाले छात्र को आख्यात कहा है।

काकाद्यैः क्षेपे (३।१।९०)—नियमों का उल्लंघन करने वाले छात्रों की निन्दा की जाती थी। ऐसे छात्र तीर्थध्वांक्ष, तीर्थकाक, तीर्थबक, तीर्थश्वा, तीर्थसारमेय एवं तीर्थकुक्कुट (३।१।९०) कहलाते थे। जो गुरु के निकट स्थिरता और विनयपूर्वक अध्ययन नहीं करते थे, उन्हीं छात्रों के लिए

उपर्युक्त शब्द व्यवहार में लाये जाते थे। आक्रीडी–आक्रीडत इत्येवंशील (५।२।५१) छात्र को विद्यार्जन का अधिकारी नहीं माना गया है। परिश्रम के बिना विद्या की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

आचार्य हेम ने शिक्षा के अन्तर्गत न्याय, न्यास, लोकायत, पुनरुक्त, संहिता, पद, क्रम, संघट, वृत्ति, संग्रह, आयुर्वेद, गण, गुण, स्वागम, इतिहास, पुराण, भारत, ब्रह्माण्ड, आख्यान, द्विपदा, ज्योतिष, गणित, अनस्त, लक्ष्य, लक्षण, अनुलक्ष्य, सुलक्ष्य, अथर्वन् (६।२।११८), गोलक्षण, अश्वलक्षण, हस्तिलक्षण (६।२।११९), वार्तिक, सूत्र (६।२।१२०), वायसविद्या, सर्पविद्या, धर्मविद्या, संसर्गविद्या, अंगविद्या (६।२।१२१), यज्ञ (६।२।१२२), मीमांसा, उपनिषद् (६।२।१२६), शतपथ ब्राह्मण (६।२।१२४), अन्य ब्राह्मण (६।२।१२३) निरुक्त, व्याकरण, निगम, वास्तुविद्या, क्षत्रविद्या, त्रिविद्या, उत्पात, मुहूर्त्त, निमित्त एवं छन्द (६।३।१४८) की गणना की है। 'षड्जीवनिकामन्तमवसानं कृत्वाधीते सषड्जीवनिकमधीते श्रावकः। एवं सलोकबिन्दुसारमधीते पूर्वधरः' (३।२।१४६) से स्पष्ट है कि श्रावक षड्जीवनिकायपर्यन्त आगम का अध्ययन करता था और पूर्वधर लोकबिन्दुसार नामक चौदहवें पूर्व तक अध्ययन करता था। अभिप्राय यह है कि मूलतः श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगबाह्य के दशवैकालिक और उत्तराध्ययन आदि अनेक भेद हैं। अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं—यथा— आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। दृष्टिवाद के पाँच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिक। इनमें से पूर्वगत के चौदह भेद हैं—उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननामधेय, विद्यानुवाद, कल्याणनामधेय, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार। हेम के अनुसार अध्ययन की अन्तिम सीमा लोकबिन्दुसार नाम का पूर्व है।

इनके अङ्गसमापनीयम्, श्रुतस्कन्धसमापनीयम् (६।४।१२२) से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

आर्थिक जीवन

अर्थ जीवन का मूल है। धनवांस्त्वमथो त्वा लोको मानयति (२।१।३१) प्रयोग भी सम्मान का कारण धन को सिद्ध करता है। आचार्य हेम ने आर्थिक जीवन के अन्तर्गत निम्न तीन बातों को सम्मिलित किया है—

(१) कृषिव्यवस्था
(२) पशुपालन
(३) व्यापार और अन्य पेशा

कृषि—

पाणिनि के समान आचार्य हेम ने कृषि की उन्नति पर पूर्ण प्रकाश डाला है। भारत प्राचीन काल से ही कृषि प्रधान देश रहा है, अतः व्याकरण ग्रन्थों में कृषि एवं उसके अंग सम्बन्धी प्रचुर नाम आये हैं।

खेत—आचार्य हेम ने 'क्षेत्रं धान्यादीनामुत्पत्याधारभूमिः' (७।१।७८) अर्थात् जिसमें धान्य या फसलें उत्पन्न हों, उसे क्षेत्र–खेत कहा है। कृषि योग्य भूमि अलग-अलग खेतों में बँटी रहती थी और मूंग, प्रियंगु, व्रीहि, कोदों आदि के खेत पृथक्-पृथक् नामों से अभिहित किये जाते थे। इक्षूणां क्षेत्रम् इक्षुशाकटम् , मूलशाकटकम् , शाकशाकिनम् (७।१।७८) कुलत्थानां क्षेत्रं कौलत्थीनं, मौद्गीनम् , प्रैयङ्गवीणम् , नैवारीणम् , कौद्रवीणम् (७।१।७९) व्रीहेः क्षेत्रं व्रैहेयम् , शालेयम् (७।१।८०), यवानां क्षेत्रं यव्यं (७।१।८१), अणूनां क्षेत्रमणव्यम् , माष्यम् (७।१।८२), उमानां क्षेत्रम् उम्यम् , भङ्ग्यम् तिल्यम् (७।१।८३) के उल्लेखों से स्पष्ट है कि धान्य के नाम पर खेतों का नामकरण किया जाता था।

'केदाराण्ण्यश्च' (६।२।१३) में केदार उस खेत को कहा गया है, जहाँ हरी फसल बोयी गयी हो और जिसमें पानी की सिंचाई होती हो। अर्थशास्त्र में केदार शब्द आर्द्र खेतों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिस खेत में हरी फसल खड़ी रहती थी, उसे केदार कहा जाता था। हेम ने हरे वन को भी केदारवन कहा है। हरी फसल से लहलहाते खेतों का समूह कैदार्य या कैदारक कहा जाता था। खेती योग्य भूमि को कर्ष कहा है। जिस भूमि में खेती संभव नहीं थी, उस भूमि को (ऊषरं क्षेत्रम् ७।२।२६) कहा है। ऊषर रेहाड़ या नोनी धरती को कहा गया है। जिस भूमि में खेती होती थी या जो खेती के योग्य बनायी जा सकती थी, उसे 'कृषिमत्क्षेत्रम्' (७।२।२७) के नाम से अभिहित किया गया है।

खेतों की नाप-जोख—खेत नाप-जोख के आधार पर एक दूसरे से बँटे हुए थे। 'काण्डात्प्रमा-ये' (२।४।२४)—द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः द्विकाण्डा त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्तिः। इसकी टिप्पणी में लिखा है—'यकाभ्यां काण्डाभ्यां क्षेत्रपरिच्छिन्नं ते काण्डेऽपि क्षेत्रसंज्ञिते' (२।४।२४) अर्थात् द्विकाण्ड और त्रिकाण्ड खेतों के क्षेत्रफल को सूचित करते हैं। एक

काण्ड की लम्बाई सोलह हाथ प्रमाण होती है तथा एक काण्ड खेत २४ × २४ फुट होता है और द्विकाण्ड ४८ × २४ वर्ग फुट, त्रिकाण्ड ७२ × २४ वर्ग फुट प्रमाण होता है।

जोतना या कर्ष—जुताई के लिए कृष धातु थी। जुताई करने या भूमि कमाने में बहुत श्रम करना पड़ता था। दो बार की जोत के लिए द्वितीयाकरोति (द्वितीयं वारं करोति क्षेत्रं द्वितीयाकरोति-द्वितीयं वारं कृषतीत्यर्थः ७।२।१३५) और तीन बार जोत के लिए तृतीया करोति (तृतीयं वारं कृषतीत्यर्थः (७।२।१३५) शब्द प्रचलित थे। आजकल भी दूसरी जोत, तीसरी जोत शब्द प्रचलित हैं। खेत की गहरी जुताई के लिए शम्बाकरोति क्षेत्रं आया है। इसका अर्थ बतलाते हुए लिखा है—अनु-लोमकृष्टं पुनस्तिर्यक् कृषतीत्यर्थः। अन्ये त्वाहुः शम्बसाधनं कृषिरिति शम्बेन कृषतीत्यर्थः। एके तु शम्बाकरोति कुलिवमित्युदाहरन्ति। लोहकं वा वर्धकुण्डलिका वा शंबम् तत् कुलिवस्य करोतीत्यर्थः (७।२।१३५) अर्थात् हल को उल्टा-तिरछा चलाकर खेत को गहराई के साथ जोता जाता था। जिस हल में लोहे का बड़ा फाल लगा रहता था, उस हल को शम्ब कहा जाता था। इस हल के द्वारा गहरी जुताई किये जाने को शम्बा-करोति कहा गया है। आचार्य ने इस सूत्र की टिप्पणी में शम्ब एक प्रकार के हल को माना है, इस हल की तीन विशेषताएँ होती थीं—

(१) लम्बा फाल लगा रहता था।

(२) फाल की बनावट इस प्रकार की होती थी, जिससे खूड चौड़ा और गहरा होता था।

(३) यह हल साधारण परिमाण से बड़ा होता था।

हल—हल का उल्लेख आचार्य हेम ने कई सूत्रों और उदाहरणों में किया है। 'हलस्य कर्षे' ७।१।२६, हलसीरादिकण ७।१।६, ६।३।१६१ सूत्रों में हल्य, हल, हालिकः, सीरिकः आदि शब्दों का प्रयोग आया है। हलस्य कर्षो हल्या हल्यो वा, द्वयोर्द्विहल्या, त्रिहल्या, परमहल्या, उत्तमहल्या, बहुहल्यः। यत्र हलं कृष्टं स मार्गः कर्षः, कृष्यते इति कर्षः क्षेत्रमित्यन्ये (७।१।२६)—अर्थात् एक हल की जोत के लिए पर्याप्त भूमि हल्य कहलाती थी, इसका प्रमाण १$\frac{3}{5}$ एकड़ भूमि है। द्विहल्य का २$\frac{3}{5}$ एकड़ और त्रिहल्य का प्रमाण चार एकड़ भूमि है। एक परिवार के लिए द्विहल्या भूमि पर्याप्त समझी जाती थी। बड़े परिवार परमहल्या भूमि रखते थे। अच्छी भूमि को उत्तमहल्या कहा जाता था।

हल दो प्रकार के थे—बड़ा और छोटा। बड़ा हल गन्ना बोने और खेत को गहरा जोतने के काम में लाया जाता था। लम्बी लगी रहनेवाली लकड़ी को जिसमें जुँआ लगाया जाता था, उसे हलीषा, बीच के भाग को योत्र (५।२।८७) और अग्रभाग को हाल, सैर (हलस्य हालः, सीरस्य सैरः ६।२।३०) कहा है। हाल लोहे का बना फाल है, इसे अयोविकार कहा है।

हल में जोते जानेवाले बैलों को हालिक या सैरिक (हलं वहतीति हालिकः सैरिकः ७।१।६) कहा गया है। इन्हें योत्र—जोत से जुए में कसा जाता था (५।२।८७)।

किसान या कृषक—कृषक तीन प्रकार के होते थे—

(१) अहलिः या अहलः (७।३।३६)

(२) सुहलिः या सुहलः ,,

(३) दुर्हलः या दुर्हलिः ,,

जिन कृषकों के पास अच्छा हल होता था, वे सुहल-सुहलि कहलाते थे, जिनके पास निजी हल नहीं होता था, वे अहल-अहलि अथवा अपहल कहलाते थे और जिनका हल पुराना, घिसा तथा कम चौड़ाई वाले पचौथे का होता था, उन्हें दुर्हल-दुर्हलि कहा जाता था।

कृषि के विभिन्न अवयवों के लिए निम्नाङ्कित शब्दों का प्रयोग हुआ है।

बोना—करहः धान्यवापनम् (५८९ उ०), वपन तथा वप् धातु से ण्यत् प्रत्यय करके वाप्य—बोने योग्य खेत के लिए आया है। आचार्य हेम ने—बीजाकरोति क्षेत्रम्। उप्ते पश्चात् बीजैः सह कृषतीत्यर्थः। अर्थात्—खेत में बीज छींट कर हल चलाने को बीजाकरोति क्षेत्रं कहा (७।२।१३६) है।

लवनी—जो खेत कटाई के लिए तैयार रहता था, वह लाव्य कहलाता था। कटनी को लून और काटनेवाले को लूनक कहा है (७।३।२१)। लवनी दात्र या लावित्र से की जाती (५।२।८७) थी।

मणनी (निष्पावः ६।२।५८)—फसल काटकर खलिहान में ले जाते थे, खलिहान के लिए चुना हुआ खेत खल्य (६।२।२५) कहा जाता था। खलिहानों के समूह को खल्या या खलिनी (६।२।३७) कहा गया है। खलिहानों को ऐसे स्थान पर रखा जाता था, जहाँ अग्नि का उपद्रव न हो और अग्नि से अन्न की रक्षा की जा सके (७।१।३७)।

निकार—मणनी के पश्चात् निकार बरसाई की जाती थी (५।२।८७)।

खलेबुस—खलिहान में भूसे के ढेर को खलेबुस कहा है।

यवबुसम्—खलिहान में जौ के भूसे का ढेर (६।३।११४)।

फसलें—

मुख्यतः फसलें दो प्रकार की थीं—कृष्टपच्या खेती से उत्पन्न और अकृष्टपच्या—जो स्वयं ही उत्पन्न हो, जैसे नीवार आदि जंगली धान्य। बोने और पकने के समय के अनुसार फसलों का नाम पड़ता था। बोने के अनुसार चार प्रकार की फसलों का आचार्य हेम ने उल्लेख किया है। (१) शरद्युप्ता शारदा (६।३।११८)—शरद् ऋतु में बोयी गयी शारदा, (२) हेमन्ते हेमन्तः (६।३।११८)—हेमन्त में बोयी गयी हेमन्त, (३) ग्रीष्म में बोयी गयी ग्रैष्म या ग्रैष्मक और (४) आश्वयुज्यां कौमुद्यामुप्ता आश्वयुजकः (६।३।११८) अर्थात् आश्विन में बोयी गयी आश्वयुजक कहलाती थी। इसी प्रकार अगहन में पकनेवाली आग्रहायणिक (६।३।११६) वसन्त में पकनेवाली वासन्त्य, शरदि पच्यन्ते शारदा (६।३।११७) शरद में पकनेवाली शारदा और शिशिर में पकनेवाली शैशिरा (६।३।११७) कहलाती थी।

वृक्ष और औषधियाँ—

इस सन्दर्भ में प्लक्ष, न्यग्रोध, अश्वत्थ, इंगुदी, वेणु, बृहती, सगु, सकु, ककनु (६।२।५९); जम्बु (६।२।६०); धव, खदिर, पलाश (७।४।८०), हरीतकी, पिप्पली, कोशातकी, श्वेतपाकी, अर्जुनपाकी, कर्कटी, नखरजनी, शष्कण्डी, दण्डी, दोर्डी, दाडी, पथ्या, अम्लिका, चिञ्चा, भ्रुआ, ध्वांक्षा, एला, शाल, कण्टकारिक, शेफालिक (६।२।५७), नारी, भूलाटी, कण्टार्शा, तर्करी, गुडुची, बाकुची, नाची, माची, कुसुम्भी, मेषी, मालकी, भृङ्गी, बर्बरी, पाण्डी, लोहाण्डी, मकरी, मण्डली, यूपी, सूपी, सूर्पी, सूर्छी, अरीहर्णा, ओकर्णी, अलन्दी, सलन्दी, देही, अलजी, गंडजी, शाल्की, उपरनसी, सच्छेदी (२।४।१९); देवदारु, भद्रदारु, विदारी, शिरीष, दूरिका, मिरिका, करीर, चीरिका, कमरि, खीर (२।३।६७); खदिर, आम्र, पीयुक्ष एवं दारु (२।३।६६) के नाम आये हैं। औषधियों में कुछ औषधियों के गुणों का भी उल्लेख किया है। अलन्दी को सन्निपातहन्त्री कहा गया है।

पुष्पों में मल्लिका, यूथिका, नवमल्लिका, मालती, पाटल, कुन्द, सिन्दुवार, कदम्ब, करवीर, अशोकपुष्प, चम्पक, कर्णिकार एवं कोविदार (६।२।५७) के नाम आये हैं। औषधियाँ, पुष्प और वृक्ष भी आय के साधन थे, अतः इनका भी आर्थिक जीवन के साथ सम्बन्ध है।

व्यापार-वाणिज्य—

हेम के समय में वाणिज्य-व्यापार बहुत ही विकसित और उन्नतिशील

था। अतः इन्होंने व्यापार-वाणिज्य विषयक पुराने और नये शब्दों का साधुत्व प्रदर्शित किया है। 'मूल्यैः क्रीते' ६।४।१५० और 'सुवर्णकार्षापणात्' ६।४।१४३ सूत्रों से अवगत होता है कि सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के व्यवहार में लाये जाते थे। बाजार में माल खरीदने और बेचने का कार्य सिक्कों के द्वारा ही होता था। "द्वाभ्यां क्रीतं द्विकम्, त्रिकम्, पञ्चकम्, यावत्कम्, तावत्कम्, कतिभिः क्रीतम् कतिकम्, त्रिंशत्कम्, विंशतिकम्, चत्वारिंशत्कम्, पञ्चाशत्कम्, साप्ततिकम्, आशीतिकम् नावतिकम्, षाष्टिकम्, (६।४।१३०), शतेन क्रीतम् शत्यम्, शतिकम् (६।४।१३१); सहस्रेण क्रीतः साहस्रः (६।४।१३४); द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं द्विसुवर्णम्, अध्यर्धसुवर्णम्" (६।४।१४३) से स्पष्ट है कि वस्तुओं की कीमत दो-तीन कार्षापण से लेकर सहस्र कार्षापण तक थी। आधा कार्षापण और डेढ़ कार्षापण का भी व्यवहार होता था। हेम ने निम्न-लिखित सिक्कों का उल्लेख किया है।

सुवर्ण (६।४।१४३)—प्राचीन भारत में सुवर्ण नाम का एक सिक्का प्रचलित था। हेम ने 'द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं द्विसुवर्णम्, अध्यर्धसुवर्णम्' (६।४।१४३) में दो सुवर्णों से खरीदी हुई वस्तु को द्विसुवर्ण कहा है। डा० भाण्डारकर का मत है[1] कि अनगढ़ हिरण्य की हुण्ड संज्ञा थी और उसी के जब सिक्के ढल जाते थे, तब वे सुवर्ण कहलाते थे। कौटिल्य के अनुसार सुवर्ण सिक्के का वजन १५० ग्रेन होता था।

कार्षापण (६।४।१३३)—यह भारतवर्ष का सबसे प्रसिद्ध चाँदी का सिक्का है। इसका वजन ३२ रत्ती होता था। आहतं रूपमस्यास्ति रूप्यः कार्षापणः। निघातिकाताडनादीनारादिषु यद्रूपमुत्पद्यते तदाहतं रूप्यम् (७।२।५४)। सोने और ताँबे के भी कार्षापण होते थे, इनकी तोल एक कर्ष—८० रत्ती रहती थी। आचार्य हेम का मत है कि कार्षापण से प्रत्येक उपयोग योग्य वस्तु खरीदी जा सकती है। यथा—कार्षापणमपि विनियुज्यमानं विशिष्टेष्टमाल्याद्युपभोगफलं भवति (७।१।११५)। सौ कार्षापणों से खरीदी हुई वस्तु को शत्य और शतिक (६।४।१३१) और हजार की कीमत वाली वस्तु को साहस्र कहा है। 'हाटकं कार्षापणम्' (६।२।४२) से सिद्ध है कि यह सोने का भी होता था।

निष्क (६।४।१४४)—यह वैदिक काल से चला आया हुआ सोने का सिक्का है। आचार्य हेम ने मोल लिया अर्थ में द्वाभ्यां निष्काभ्यां क्रीतम्

---

१ देखें—प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र पृ० ५१

वस्तु—द्विनिष्कम्, त्रिनिष्कम्, बहुनिष्कम् (६।४।१४४) रूप सिद्ध किये हैं। अर्थात् दो निष्क में मोल ली हुई वस्तु को द्विनिष्क, तीन निष्क से मोल ली हुई वस्तु को त्रिनिष्क और बहुत निष्कों से मोल ली हुई वस्तु को बहु-निष्क कहा है। हेम ने 'हाटकस्य विकारः, हाटको निष्कः' (६।२।४२) द्वारा निष्क सोने का सिक्का होता था, इस बात की सूचना दी है।

पण—यह कार्षापण का छोटा नाम है। यह ३२ रत्ती चाँदी के वजन का होता था। हेम ने 'द्वाभ्यां पणाभ्यां क्रीतं' द्विपण्यम्, त्रिपण्यम्—अर्थात् दो पण से मोल ली हुई वस्तु द्विपण्य और तीन पण से मोल ली हुई वस्तु त्रिपण्य कही जाती थी।

पाद—यह कार्षापण के चौथाई मान का होता था। इसका वजन भी आठ रत्ती बताया गया है। दो पाद से मोल ली हुई वस्तु द्विपाद्यम् और तीन पाद से मोल ली हुई वस्तु त्रिपाद्यम् कहलाती थी। हेम ने लिखा है—माषपणसाहचर्यात् पादः परिमाणं गृह्यते, न प्राण्यङ्गम् (६।४।१४८) अर्थात् माष और पण के बीच में पाद शब्द के आने से यह परिमाण सूचक है, प्राणि-अङ्ग सूचक नहीं।

माष (६।४।१४८)—यह चाँदी और ताँबे का सिक्का था। चाँदी का रौप्य माष दो रत्ती का और ताँबे का पाँच रत्ती का होता था। द्विमाष्यम्, त्रिमाष्यम्, अध्यर्धमाषम् से स्पष्ट है कि वस्तुओं का मोल दो माष, तीन माष और डेढ़ माष भी होता था।

काकणी (६।४।१४९)—यह माष का चौथाई होता था। अर्थशास्त्र में ताँबे के सिक्कों में इसका उल्लेख (२।१९) मिलता है। द्विकाकणीकम्, त्रिकाकणीकम्, अध्यर्धकाकणीकम् से स्पष्ट है कि ये नाम दो, तीन और डेढ़ काकणी से खरीदी गयी वस्तु के हैं। हेम ने काकणी के व्यवहार की चर्चा की है।

शाण—यह भी एक सिक्का है। आचार्य हेम ने ६।४।१४६ और ६।४।१४७ इन दोनों सूत्रों में इस सिक्के का उल्लेख किया है। द्विशाणम्—द्वाभ्यां शाणाभ्यां क्रीतं द्विशाणम्, त्रिशाणम्, पञ्चशाणम्, पञ्चशाण्यम् आदि प्रयोग इस सिक्के के प्रचलन पर प्रकाश डालते हैं। यह निश्चित परिमाण और मूल्यवाला सिक्का था। महाभारत में बताया है—अष्टौ शाणाः शतमानं वहन्ति (आरण्यक पर्व १३४।१४)—सौ रत्तीवाले शतमान में आठ शाण होते थे। अतएव एक शाण की तोल १२½ रत्ती होती थी। चरक में शाण को २० रत्ती प्रमाण कहा है। आचार्य हेम ने शाण का वजन कर्ष का चतुर्थ भाग 'शाणः कर्षचतुर्भागः' (३।२।१९) माना है।

कंस—यह भी सिक्का है। द्वाभ्यां कंसाभ्यां द्विकंस्या वा क्रीतम् द्विकंसम्, त्रिकंसम् (६।४।१४१) से स्पष्ट है कि यह कोई ताँबे का सिक्का था। हमारा अनुमान है कि यह दो पैसे के बराबर का सिक्का था।

विंशतिक—हेम ने बताया है कि 'विंशतिर्मानमस्य विंशतिकम् तेन क्रीतम्–वैंशतिकम्—अर्थात् जिस सिक्के का मान बीस हो उसको विंशतिकम् तथा उस विंशतिक से खरीदी वस्तु वैंशतिक कही जायगी। यह ऐसा कार्षापण है, जिसमें २० माष होते थे, इसलिए यह सिक्का विंशतिक कहलाता था।'[1]

वसन—वसनेन क्रीतम्–वासनम्—वसन से खरीदी हुई वस्तु वासन कहलाती थी। आचार्य हेम ने राजसी वस्त्र को वसन कहा है (५।३।१२५)। दूसरी परिभाषा में कुसुमयोगाद्गन्धो वस्त्र-(२।४।३५)—पुष्पों से सुवासित वस्त्र को वसन कहा गया है। इस प्रकार के वस्त्र से खरीदी हुई वस्तु वासन कही जाती थी। अथवा वसन नाम का कोई सिक्का भी हो सकता है, जिसका प्रयोग प्राचीन समय में होता था।

व्यवहार और क्रय-विक्रय—

क्रय-विक्रय के लिए व्यवहार शब्द का प्रयोग हुआ (६।४।१५८) है। यह यात-आयात सम्बन्धी व्यापक व्यापार के लिए प्रयुक्त होता था (क्रय-विक्रयेण जीवति क्रय-विक्रयिकः ६।४।१६)। और स्थानीय क्रय-विक्रय के लिए पण शब्द का व्यवहार होता था। आपण-दूकान या बाजार में क्रय-विक्रय के लिए प्रदर्शित वस्तुएँ पण्य कहलाती थीं। आचार्य हेम ने पण्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—पण्यं विक्रेयं भवति। आपूपाः पण्यमस्य आपूपिकः (६।४।५४), जो क्रय-विक्रय से अपनी आजीविका चलाता था, वह व्यापारी कहलाता था। छोटे व्यापारी किशर, तगर, उशीर, हरिद्रा, हरिद्रपर्णी, गुग्गुल, नलद (६।४।५५) शलालु (६।४।५६) को बाजार में बेचते थे और बड़े व्यापारी इन पदार्थों को बाहर से मंगाकर थोक रूप में बेचते और खरीदते थे। थोक व्यापारी सामान को एक जगह से दूसरी जगह ले जाकर बेचते थे।

आचार्य हेम ने बड़े व्यापारी के लिए द्रव्यक शब्द का प्रयोग किया है और इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—द्रव्यं हरति, वहति, आवहति द्रव्यकः (६।४।१६७)—जो पूंजी लगाकर सामान ले जाता हो, लाता हो और अपने माल की स्वयं देखभाल करता हो उसे द्रव्यक कहा है। दूसरे व्यापारी वस्निक थे। वस्न की व्याख्या में बताया है—'वस्नो नियतकालक्रय-मूल्यम्' (६।४।१६८) अर्थात् निश्चित समय के क्रय मूल्य को वस्न कहते हैं,

१. देखें—पाणिनिकालीन भारत पृ० २६३।

जो इस प्रकार का व्यापारी हो, उसे वणिक कहा जायगा। तात्पर्य यह है कि इस कोटि के व्यापारी वायदा—सट्टा का कार्य करते थे। ये रोकड़-पूंजी व्यापार में नहीं लगाते थे, बल्कि जबान से ही इनका कारोबार चलता था।

प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन की तीन मुख्य संस्थाएँ थीं। शिल्पियों के संगठन को श्रेणी, व्यापारियों के संगठन को निगम और माल लादकर वाणिज्य करनेवाले व्यापारियों को सार्थवाह कहा जाता था।

व्यापारियों के भेद--

हेम के 'प्रस्तारसंस्थानतदन्तकठिनान्तेभ्यो व्यवहरति' ६।४।७९ "प्रस्तारं व्यवहरतीति प्रास्तारिकः, सांस्थानिकः, कांस्यप्रस्तारिकः, लौहप्रस्तारिकः गौसंस्थानिकः आश्वसंस्थानिकः, कठिनान्त—वांशकठिनिकः वार्धकठिनिकः" अर्थात् वस्तुओं का व्यापार करनेवाले व्यापारी तीन प्रकार के थे। जो व्यापारी खनिज पदार्थ—लोहा, कांसा, चाँदी, सोना आदि का व्यापार करते थे, वे प्रास्तारिक कहलाते थे, और जो पशुओं के व्यापारी थे, वे सांस्थानिक कहे जाते थे। इस प्रकार के व्यापारी गाय, घोड़ा, हाथी, ऊँट, गधा आदि पशुओं के यातायात का व्यापार करते थे। तीसरे प्रकार के व्यापारी बांस, चमड़ा, लाख आदि का व्यापार करते थे। माल के खरीदने बेचने का माध्यम सिक्के थे।

साई—

बाजार में किसी चीज की बिक्री पक्की करने के हेतु साई दी जाती थी, जिसे सत्याकरोति कहा है। 'सत्याकरोति वणिग् भाण्डम्। कार्षापणादिदानेन मयावश्यमेवैतत् क्रेतव्यमिति विक्रेतारं प्रत्याययति' (७।२।१४३) साई का उद्देश्य ग्राहक की ओर से सौदा पक्का करना था और बेचनेवाले को पूरा विश्वास दिला देना था कि ग्राहक माल अवश्य खरीद लेगा।

लाभ—

लाभ और मूल की व्याख्या करते हुए बताया है—'पटादीनामुदानां मूल्यातिरिक्तं प्राप्तं द्रव्यं लाभः' (६।४।१५८)—वस्त्रादि पदार्थों के निर्माण में जो लागत लगती है, वह उनका मूल्य कहलाती है। इस मूल्य से जो अतिरिक्त द्रव्य प्राप्त होता है, उसे लाभ कहते हैं।

शुल्क—

व्यापारियों के माल पर चुंगी लगती थी, जिसे चुंगी कहते थे। जितना शुल्क माल पर लगता था, उसीके आधार पर व्यवहार में माल का नाम पड़

जाता था (६।४।१५८)। चुंगीघर को शुल्कशाला और वहाँ से प्राप्त होनेवाली आय को शौल्कशालिक कहा है (शुल्कशालाया अवक्रयः-शौल्कशालिकः ६।४।५३)। शुल्कशाला राज्य की आमदनी का प्रमुख साधन थी। शुल्कशाला—चुंगी घर में नियुक्त अधिकारी को भी शौल्कशालिक (६।४।७४) कहा है। हेम की 'वणिजां रक्षानिर्वेशो राजभागः शुल्कम्' (६।४।१५८) परिभाषा से इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि यह शुल्क रक्षा के लिए सरकार को दिया जाता था और सरकार व्यापारियों की रक्षा का प्रबन्ध करती थी।

चुङ्गी सामान की तायदाद के अनुसार लगती थी और यह कई बार दी जाती थी। हेम के 'द्वितीयमस्मिन्नस्मै वा वृद्धिरायो लाभ उपदा शुल्कं वा देयं द्वितीयकः, तृतीयिकः, पञ्चमिकः, षष्ठिकः' (६।४।१५९) प्रयोग इस बात के समर्थक हैं कि प्रत्येक नगर में चुङ्गी लगती थी। इसी प्रकार लाभ भी एकाधिक बार लिया जाता था। जिस थोड़े माल पर आधा रुपया चुङ्गी लगती थी उसे चुङ्गी की भाषा में आर्धिक या भागिक (भागशब्दोऽपि रूपकार्धस्य वाचकः—६।४।१६०) कहा है।

वाणिज्य पथ—

एक नगर से दूसरे नगर के जाने-आने के लिए पथ—सड़कें थीं, जिनसे व्यापारियों को आना जाना पड़ता था। आचार्य हेम ने "शङ्कूत्तरकान्तार-राजवारिस्थलजङ्गलादेस्तेनाहृते च" ६।४।९०—शङ्कुपथेनाहृतो याति वा शाङ्कुपथिकः, औत्तरपथिकः, कान्तारपथिकः, राजपथिकः, वारिपथिकः, स्थालपथिकः, जाङ्गलपथिकः।

शङ्कुपथ—पहाड़ी मार्ग है। जहाँ बीच में चट्टानें आ जाती थीं, वहाँ शङ्कु या लोहे की कीलें चट्टानों में ठोककर चढ़ना पड़ता था। इस प्रकार कठिन पथ को शङ्कुपथ कहा है।

उत्तरपथ—यह बहुत ही प्रसिद्ध व्यापार का मार्ग रहा है। यह राजगृह से गान्धार जनपद तक जाता था। दक्षिणापथ श्रावस्ती से प्रतिष्ठान तक जाता था। उत्तरापथ से यात्रा करनेवालों को औत्तरपथिक-उत्तरपथेनाहृतो याति वा (६।४।९०) कहा है। इस मार्ग के दो खण्ड थे। एक तो वंक्षु से काश्यपीय सागर तक, जो ब्लैकसी होकर यूरोप तक चला जाता था। दूसरा गन्धार की राजधानी पुष्कलावती से चलकर तक्षशिला होता हुआ सिन्धु, शुतद्रि और यमुना पार करके हस्तिनापुर और कान्यकुब्ज प्रयाग को मिलाता हुआ पाटलिपुत्र एवं ताम्रलिप्ति तक चला जाता था। इस मार्ग पर

यात्रियों के ठहरने के लिए निषद्याएँ, कुएँ और छायादार वृक्ष लगे हुए थे। सर्वत्र एक-एक कोस पर सूचना देने वाले चिह्न बने थे। इसी मार्ग का बीच का टुकड़ा तक्षशिला, पुष्कलावती से कापिशी होता हुआ बाह्लीक तक जाता था और वहाँ पूर्व में कम्बोज की ओर से आते हुए चीन के कौशेय पथों से मिलता था।

कान्तारपथ और जांगलपथ—कौशाम्बी से अवन्ति होकर दक्षिण में प्रतिष्ठान और पश्चिम में भरुकच्छ को मिलानेवाला विन्ध्याटवी या विन्ध्य के बड़े जङ्गल का मार्ग कान्तार पथ या जांगलपथ के नाम से प्रसिद्ध था।

स्थलपथ—

यह मार्ग दक्षिण भारत के पाण्ड्य देश से पूर्वीघाट और दक्षिणकोशल होकर आनेवाला मार्ग है। भारत से ईरान की ओर जानेवाले खुश्की रास्ते को भी स्थलपथ कहा है। आचार्य हेम ने 'स्थलादेर्मधुकमरिचेऽण्' ६।४।९१—'स्थलपथेनाहृतं मधुकं मरिचं वा' अर्थात् स्थल पथ से मधूक—मुलहठी और मिर्च लायी जाती थी।

अजपथ—

जिस मार्ग में केवल एक बकरी चलने की गुञ्जाइश हो तो उसे अजपथ कहते हैं। सम्भवतः यह पहाड़ी मार्ग है, जिस पर बकरी और भेड़ों के ऊपर थैलों में माल लादकर ले जाते थे।

वारिपथ—

वंक्षु से काश्यपीय सागर तक का मार्ग वारिपथ कहलाता था। इसी रास्ते भारतीय माल नदियों के जल द्वारा पश्चिमी देशों में पहुँचाया जाता था।

ऋणदान—

धनिक के लिए आचार्य हेम ने द्रव्यवान्, माल्यवान्, धनवान् (७।२।६), आढ्य (३६४ उ०); स्वापतेय (१।४।२८), हिरण्यवान् (७।१।१७९) शब्दों का उल्लेख किया है। आढ्य के अन्तर्गत इभ्य—धनिक थे, जिन्हें सरकार द्वारा हाथी पर सवारी करने का अधिकार प्राप्त था। (६।४।१७८) ये नैगम या महाजन कहे जाते थे। ये धनिक लखपति, करोड़पति होते थे। ये लोग ऋण देते थे, इसलिए ऋणदाता को उत्तमर्ण और ऋण लेनेवाले को अधमर्ण कहा जाता था। ब्याज को वृद्धि कहा है। 'अधमर्णेनोत्तमर्णाय गृहीतधनातिरिक्तं वृद्धिः' (६।४।१५८) अर्थात् कर्ज लेनेवाला महाजन को जो मूलधन के अतिरिक्त ब्याज देता है, उसे वृद्धि कहते हैं। कड़े ब्याज को कुसीद

(कुसीदं वृद्धिस्तदर्थं द्रव्यमपि कुसीदम्, तद्गृह्णाति कुसीदिकः ६।४।३५) कहा है। अवृद्धेर्गृह्णाति गर्ह्ये ६।४।३४ सूत्र में अन्याय से ग्रहण करने को गर्ह्य कहा है। अल्पं दत्त्वा प्रभूतं गृह्णन्नपन्यायकारी निन्द्यते (६।४।३४) अर्थात् थोड़ा धन देकर जो अधिक वसूल करता था, वह निन्दा का पात्र होता था। 'दशैकादशादिकश्च' ६।४।३६—दशभिरेकादश दशैकादशाः। तान् गृह्णाति दशैकादशिकः। अर्थात् दस रुपये देकर ग्यारह रुपये वसूल किये जाने को दशैकादशिक ब्याज कहा है। इस दस प्रतिशत ब्याज को गर्हित माना गया है। आचार्य हेम ने 'द्विगुणं गृह्णाति—द्वैगुणिकः, त्रैगुणिकः, वृधुषीं वृद्धिं गृह्णाति वार्धुषिकः' (६।४।३४) अर्थात् दुगुना, तिगुना ब्याज कमाने वालों को निन्दा का पात्र कहा है।

ब्याज की उचित दर आधा कार्षापण प्रतिमास की वृद्धि समझी जाती थी, यह दर छः प्रतिशत होती थी। ऐसे ऋण को अर्धिक, भागिक (६।४।१६०) कहते थे। हेम ने सात, आठ, नौ और दस ब्याजवाले ऋणों का भी उल्लेख किया है। यह ऋण किस्तों में चुकाया जाता था। सात किस्तों में चुकाया जानेवाला सप्तक, आठ किस्तों का अष्टक और नौ किस्तों का नवम कहलाता था (६।४।१५८, ६।४।३५, ६।४।३७)। जितने समय में ऋण चुकाया जाता था, उसके अनुसार ऋण का नाम पड़ता था। 'कालाद्देय ऋणे' ६।३।११३ सूत्र में समय विशेष पर चुकाये जानेवाले ऋण का कथन है। महीने में चुकाये जानेवाले ऋण को मासिक, वर्ष में चुकाये जानेवाले को वार्षिक और छः महीने में चुकाये जानेवाले को आवरसमक या षाण्मासिक कहते थे (६।४।११५)।

विशेषरूप से चुकाये जानेवाले ऋण—

यवबुसकम्—यस्मिन् काले यवानां बुसं भवति स कालो यवबुसम् तत्र देयमृणं यवबुसकम् (६।३।११४)—जब जौ की फसल पककर काट ली जाती थी और खलिहान में जौ निकालकर भूसा का ढेर कर देते थे, उस समय पर चुकाये जानेवाले ऋण को यवबुसकम् कहा गया है। यह ऋण जौ और भूसा बेचकर चुकाया जाता था। यह वसन्त ऋतु का समय है और इस समय में होनेवाली फसलें वासन्तिक कहलाती हैं।

कलापकम्—यस्मिन् काले मयूराः केदाराः इक्षवः कलापिनो भवन्ति स कालस्तत्साहचर्यात्कलापी तत्र देयमृणं कलापकम् (६।३।११४)—मोरों के कूकने, केदार वृक्षों के फलने और गन्ने के बड़े होने के काल को कलापी कहा गया है। यह समय आश्विन-कार्तिक का है। इस समय गन्ना या अन्य उत्पन्न होनेवाली फसलों को बेचकर यह ऋण चुकाया जाता था।

अश्वत्थकम्—'यस्मिन् काले अश्वत्थाः फलन्ति स कालोऽश्वत्थ-फलसहचरितोऽश्वत्थः तत्र देयमृणमश्वत्थकम्' (६।३।११४)—जिस महीने में पीपल के पेड़ों पर पीपल-फल लगें, उस महीने को अश्वत्थ कहते हैं और इस महीने में चुकाये जानेवाले ऋण को अश्वत्थक ऋण कहा जाता है। यह ऋण श्रावण-भादो में तरकारियाँ या मूँग आदि धान्य बेचकर चुकाया जाता था। श्रावण-भादो में मूँग और उड़द की फसल प्रायः आ जाती है। बाजरा की फसल भी भादो में पक जाती है, यह ऋण इसी फसल से चुकाया जाता है।

उमाव्यासकम्—'उमा व्यस्यन्ते विक्षिप्यन्ते यस्मिन् स काल उमा-व्यासस्तत्र देयमृणमुमाव्यासकम्' (६।३।११४)—तीसी जिस महीने में छींटी जाय, तीसी का बीज जिस महीने में बोया जाय, वह महीना उमाव्यास कहलाता है और इस महीने में चुकाया जानेवाला ऋण उमाव्यासक कहा जाता है। यह कार्त्तिक-अगहन के महीने हैं, इस महीने में खरीफ की फसल घर में आ जाती है और उससे ऋण अदा किया जाता है।

ऐषमकम्—ऐषमेऽस्मिन् संवत्सरे देयमृणमैषमकम् (६।३।११४)—इस वर्तमान वर्ष में चुकाया जानेवाला ऋण ऐषमकम् कहा जाता है। इसी वर्ष में ऋण अदा कर दिया जायगा, इस शर्त पर लिया गया ऋण ऐषमक कहलायगा।

ग्रैष्मकम्—ग्रीष्मे देयमृणं ग्रैष्मकम् (६।३।११५)—ग्रीष्म ऋतु—वैशाख-ज्येष्ठ में रबी की फसल से चुकाया जानेवाला ऋण ग्रैष्मकम् कहा गया है। प्रायः आजकल भी किसान इसी समय पर ऋण चुकाते हैं।

आग्रहायणिकम् (६।३।११६)—अगहन के महीने में चावल, ज्वार, बाजरा, मक्का, मूँग, उड़द आदि अनेक धान्यों की फसल आती है। अतः इस महीने में ऋण का भुगतान करना सरल होता है। इस महीने में चुकाया जानेवाला ऋण आग्रहायणिक कहलाता था।

हेम ने कात्यायन के समान 'ऋणे प्रदशार्णवसनकम्बलवत्सरवत्स-तरस्यार्' (१।२।७) यथा—प्रगतमृणं प्रार्णम्, दशानामृणं दशार्णम्, ऋणस्यावयवतया सम्बन्धि ऋणमृणार्णम्, वसनानामृणं वसनार्णम्। एवं कम्बलार्णम्, वत्सरार्णम्, वत्सतरार्णम् सन्दर्भ लिखा है। इससे अवगत होता है कि दशैकादश पद्धति पर लिया गया ऋण दशार्ण, वसन—एक कार्षापण लिया गया ऋण वसनार्ण, कम्बल के लिये लिया जानेवाला कम्बलार्ण कहलाता था। यह कम्बल पाँच सेर ऊन का बना हुआ निश्चित माप और

तोल का होता था। नये बछड़े के लिए लिया गया ऋण वत्सतरार्ण कहलाता था।

उपर्युक्त ऋण सम्बन्धी विवेचन से स्पष्ट है कि कृषि, व्यापार, पशुपालन के समान ऋण देकर ब्याज से रुपये कमाना भी आर्थिक साधन के अन्तर्गत था।

निमान-मान प्रमाण—

व्यापार तथा उद्योग धन्धों के प्रकर्ष के लिए नाप, तोल का प्रचार होना आवश्यक है। आचार्य हेम ने मान की व्याख्या करते हुए बताया है—

मानमियत्ता सा च द्वेधा संख्या परिमाणं च (५।३।८१)—वजन और संख्या निश्चित करने का नाम मान है और यह मान दो प्रकार का होता है—संख्या और परिमाण—नाप।

कुछ वस्तुएँ दूसरी वस्तुओं के बदले में भी खरीदी जाती थीं, इस प्रकार के व्यवहार को निमान कहते हैं। इस प्रकार की अदला-बदली का आधार वस्तुओं का आन्तरिक मूल्य ही होता था। हेम के—'द्वौ गुणावेषां मूल्यभूतानां यवानामुदश्वितः द्वियवा, उदश्वितः मूल्यम्' (७।१।१५३)—अर्थात् जौ की अपेक्षा मट्ठे का मूल्य आधा था। एक सेर जौ देने पर दो सेर मट्ठा प्राप्त होता था, यही मट्ठे के परिवर्तन का आधार मूल्य कहलाता था। हेम ने गायों के बदले में भी वस्तुओं के खरीदे जाने का निर्देश किया है। इनके 'पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा, दशाश्वा' (२।४।२३) उदाहरणों से स्पष्ट है कि पञ्च घोड़ों के बदले में खरीदी हुई वस्तु पञ्चाश्वा और दस घोड़ों के बदले में खरीदी वस्तु दशाश्वा कहलाती थी।

हेम ने 'द्वाभ्यां काण्डाभ्यां क्रीता द्विकाण्डा, त्रिकाण्डा शाटी' (२।४।२४) उदाहरण लिखे हैं। दो या तीन काण्ड से खरीदी गयी साड़ी। शूर्प प्रमाण से क्रीत वस्तु को शौर्पम् कहा है 'द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पम्, त्रिशूर्पम्, अध्यर्धशूर्पम्' (६।१।१४१) अर्थात् दो द्रोण प्रमाण का शूर्प एवं दो शूर्प प्रमाण एक गोणी (लगभग ढाई मन वजन) होती है। दो शूर्प से खरीदी वस्तु द्विशूर्प, तीन शूर्प से खरीदी वस्तु त्रिशूर्प और डेढ़ शूर्प से खरीदी वस्तु अध्यर्धशूर्प कहलाती थी। इस प्रकार पञ्चगोणि और दशगोणि प्रयोग भी प्रचलित थे।

प्रमाण—

'आयाममानं प्रमाणं तद् द्विविधम्। ऊर्ध्वमानं तिर्यग्मानञ्च। तत्रोर्ध्वमानात्—जानुनीप्रमाणमस्य जानुमात्रमुदकम्, ऊरुमात्रमुदकम्।

तिर्यग्मानात्—रज्जुमात्रं भूमिः, तन्मात्री, तावन्मात्री' (७।१।१४०) अर्थात् लम्बाई के मान को प्रमाण कहते हैं और इसके दो भेद हैं—ऊर्ध्वमान तथा तिर्यग्मान। ऊर्ध्वमान द्वारा वस्तु की ऊँचाई नापी जाती है, जैसे घुटने भर पानी, एक पुरुष पानी, हाथी डूबा पानी (७।१।१४१) आदि उदाहरण गहराई या ऊँचाई को प्रकट करते हैं। तिर्यग्मान द्वारा लम्बाई-चौड़ाई नापी जाती है—जैसे एक रज्जु भूमि। तिर्यग्मान सूचक निम्न शब्द है—हस्त (७।१।१४२)—हाथ—दो हाथ का एक गज होता है।

दिष्टि, वितस्ति (७।१।१४२)—१२ अंगुल प्रमाण

शम (७।१।१४३)—शमः चतुर्विंशति अंगुलानि—२४ अंगुल प्रमाण

पुरुष (७।१।१४१)—३½ हाथ प्रमाण

हस्ति (७।१।१४१)—७ हाथ ऊँचा, ९ हाथ लम्बा। साधारणतः १३½ फुट माप है

काण्ड (२।४।२४)—१६ हाथ या २७ फुट लम्बा मान। मतान्तर से ४ गज।

दण्ड (७।१।१५४)—४ गज

रज्जु (७।१।१५१)—४० गज

मान (६।४।२६६)

तराजू से तोल कर जिनका परिमाण जाना जाता था, वे वस्तुएँ मान कहलाती थीं। आचार्य हेम ने निम्न तोलों का उल्लेख किया है—

१ माष (६।४।१४८)—पाँच रत्ती प्रमाण।

२ काकणी (६।४।१४९)—सवा रत्ती प्रमाण।

३ शाण (६।४।१४६)—२० रत्ती प्रमाण।

४ विस्त (६।४।१४४)—विस्त को कर्ष या अक्ष का पर्याय माना जाता है। इसकी तोल अस्सी रत्ती होती है।

५ कुडव (७।१।१४५)—एक प्रस्थ—१२½ तोले के बराबर।

६ कर्ष (७।१।१४५)—दस सेर प्रमाण।

७ पल (७।१।१४३)—४ तोला, पलमात्रं सुवर्णम्।

८ प्रस्थ (७।१।१४३)—५० तोला प्रस्थमात्रो व्रीहिः।

९ कंस (६।४।१४१)—५ सेर प्रमाण।

१० शूर्प (६।४।१३७)—१ मन ११ सेर १६ तोला।

११ द्रोण (६।४।१५१)—१० सेर—द्रौणिकम्।

१२ खारी (६।४।१५१)—४ मन, खारीकम्।

१३ गोणी (२।४।१०३, ७।१।१२१)—गोण्यमेये, गोण्यास्तुल्यम्–गौणिकम्—२½ मन प्रमाण की गोणी होती थी।

आजीविका के साधन पेशे—

हाथ से कार्य कर आजीविका चलानेवाले व्यक्ति विभिन्न प्रकार के पेशे करते थे। आचार्य हेम ने 'हस्तेन कार्यं हस्त्यम्' (६।४।१०१) द्वारा इस प्रकार की आजीविका करने वालों की ओर संकेत किया है। हेम ने कारिः, शिल्पी (६१९ उ०) और कारुः (५।१।१५) द्वारा हाथ से काम करनेवालों को कारि और कारु कहा है। कुछ पेशेवरों के नाम नीचे दिये जाते हैं—

१ रजकः (५।१।६५)—वस्त्र प्रक्षालन द्वारा आजीविका सम्पन्न करनेवाला।

२ नापितः (७।२।१४४)—हजामत काट कर आजीविका सम्पन्न करनेवाला।

३ कुम्भकारः (७।१।५५)—मिट्टी के बर्तन बनाकर आजीविका करनेवाला।

४ तन्तुवायः (७।१।५५)—जुलाहा—वस्त्र बुनकर आजीविका करनेवाला।

आखनिकः (५।३।१३७) खनकः (५।१।६५)—खान खोदकर आजीविका सम्पन्न करनेवाला।

आनायी (५।३।१३५)—जाल बिछाकर मत्स्यबन्धन या हरिणबन्धन द्वारा आजीविका सम्पन्न करनेवाला।

घातनः (२७२ उ०)—रंगोपजीवी—रंगरेज का कार्य कर आजीविका सम्पन्न करनेवाला।

गन्धिकः या गन्धी (७।२।६)—इत्र या पुष्पों की गन्ध का कार्य करनेवाला।

पाक्षिकः (६।४।३१)—पक्षी पकड़ने अर्थात् व्याध का कार्य करनेवाला।

मायूरिकः (६।४।३१)—मयूर पकड़नेवाला।

तैत्तिरिकः (६।४।३१)—तित्तिर पकड़कर बेचनेवाला।

बादरिकः (६।४।३०)—बदराण्युञ्छति उच्चिनोति—बैर आदि फल एकत्र कर बेचनेवाला।

नैवारिकः (६।४।३०)—निवार–जंगली धान को एकत्र कर आजीविका सम्पादन करनेवाला।

श्यामाकिकः (६।४।३०)—श्यामा नामक धान को एकत्र करनेवाला

कम्बलकारकः (७।३।१८१)—ऊनी वस्त्र बुनकर आजीविका सम्पन्न करनेवाले।

चर्मकारः (७।१।४५) चमार—चमड़े की वस्तुएँ बनाकर आजीविका सम्पन्न करनेवाला।

कर्मारः—(६।२।१९४)—लोहार, औजार बनानेवाला।

नर्तकः (५।१।६५)—नाचने का पेशा करनेवाले।

गाथकः (५।१।६६)—गाने का पेशा करनेवाले।

भारवाहः (५।१।७२)—बोझा ढोने का कार्य करनेवाले।

चित्रकरः (५।१।१०२)—चित्रकारी का पेशा करनेवाले।

धनुष्करः (५।१।१०२)—धनुष बनाने का कार्य करनेवाले।

ऋत्विजः (५।१।२२)—यज्ञ आदि का पेशा या पौरोहित्य कार्य करनेवाले।

स्वर्णकारः (३।२।३२)—सुनार, इन्हें पश्यतोहरः कहा है।

वैद्यः (६।२।१२१)—आयुर्वेद-चिकित्सा का पेशा करनेवाला।

ज्योतिषी (६।२।१५९)—ज्योतिष विद्या का पेशा करनेवाले।

कर्मकरः (५।१।१०४)—मजदूर—शारीरिक श्रम करनेवाले। दासी को कर्मकरी कहा गया है।

तक्षायस्कारः (३।१।१४३)—बढ़ई, यह रथों के पहियों पर लोहा चढ़ाने का कार्य करता था।

वेतनजीवी—

नियत काल के लिये नियत वेतन पर किसी व्यक्ति को काम के लिये स्वीकृत करना परिक्रयण कहलाता था। 'परिक्रियते नियतकालं स्वीक्रियते येन तत् परिक्रयणं वेतनादिः' (२।२।६७) जो व्यक्ति इस प्रकार परिक्रीत होता था, वह अपने परिक्रेता—मालिक से वेतन जान लेने पर स्वीकृति देता था। इसी कारण भाषा में 'शताय परिक्रीतः, शतादिना नियतकालं स्वीकृतम्' (२।२।६७) प्रयोगों से स्पष्ट है कि एक शत या एक सहस्र कार्षापण मुद्रा पर तुम्हें काम पर नियत कर लिया गया, स्वीकार करो। भृति या मजदूरी पर लगाये गये मजदूर का नाम उसकी मजदूरी या उसके कार्यकाल से रखा जाता था। मजदूर मासिक और दैनिक दोनों ही प्रकार की मजदूरी पानेवाले होते थे।

भाक्त (६।४।७२)—भक्तमस्मै नियुक्तं दीयते भाक्तम्—रोजाना भोजन पर रहने वाला मजदूर।

औदनिक (६।४।७२)—ओदनमस्मै नियुक्तं दीयते औदनिकः—भात के भोजन पर रहनेवाला मजदूर।

आग्रभोजनिक (६।४।७०)—अग्रभोजनं अस्मै नियुक्तं दीयते आग्रभोजनिक—सबसे पहले भोजन जिसको कराया जाय, इसी भोजन पर जो कार्य करे, वह श्रमिक आग्रभोजनिक कहलाता था। तथ्य यह है कि इस प्रकार

के व्यक्ति मजदूर नहीं होते थे, बल्कि सम्मानित सहयोगी रहते थे। इन्हें सहयोग और सहकारित के आधार पर श्रम में सहयोग देना पड़ता था।

आपूपिक (६।४।७०)—पुओं के भोजन पर काम करनेवाला सहयोगीश्रमिक।

शाष्कुलिक—(६।४।७०)—शष्कुली के भोजन पर काम करनेवाला मजदूर।

श्राणिक (६।४।७१)—श्राणा नियुक्तमस्मै दीयते—माँड जिस मजदूर को दिया जाता हो, वह श्राणिक कहलाता था।

इन मजदूरों के अतिरिक्त बड़े-बड़े वेतन पाने वाले कर्मचारियों के नाम भी उपलब्ध होते हैं—

१ शौल्कशालिकः (६।४।७४)—शुल्कशालायां नियुक्तः—चुंगी घर का अधिकारी।

२ आपणिकः (६।४।७४)—दुकान पर माल बेचनेवाला या हिसाब-किताब के लिये नियुक्त मुनीम।

३ दौवारिकः (६।४।७४)—द्वारपाल।

४ आक्षपटलिकः (६।४।७४)—द्यूतगृह का अधिकारी।

५ देवागारिकः (६।४।७५)—देव मन्दिर का अधिकारी।

६ भाण्डागारिकः (६।४।७५)—भाण्डार का अधिकारी—खजाञ्ची।

७ आयुधागारिकः (६।४।७५)—अस्त्रशाला का अधिकारी।

८ कोष्ठागारिकः (६।४।७५)—कोठारी।

९ आतरिकः (६।४।७४)—यात्राकर वसूल करने का अधिकारी।

परिपार्श्विकः (६।४।२९)—परिपार्श्वे वर्तते परिपार्श्विकः—अङ्गरक्षक।

पारिमुखिकः (६।४।२९)—सेवक।

लालाटिक (६।४।४५)—यः सेवको दृष्ट्वं स्वामिनो ललाटमिति दूरतो याति न स्वामिकार्येपूपतिष्ठते स एवमुच्यते। ललाटमेव वा कोपप्रसादलक्षणाय यः पश्यति स लालाटिकः। अर्थात् जो सेवक स्वामी के कार्य में तत्पर नहीं रहता है, स्वामी को आते हुये देखकर उपस्थित हो जाता है अथवा जो स्वामी की प्रसन्नता और क्रोध को अवगत करने के लिये उसके ललाट की ओर देखता रहता है, वह लालाटिक कहलाता है। यह सेवक का एक भेद है, कोई स्वतन्त्र प्रकार नहीं है।

भाटक—

उक्त साधनों के अतिरिक्त आमदनी का एक साधन भाड़ा भी था। भाड़े पर घोड़ा, गाड़ी, रथ आदि सवारियों के अतिरिक्त दुकान और मकान भी दिये जाते थे। आचार्य हेम ने बताया है—भोगनिर्वेशो भाटकमिति यावत् (६।४।५३)। नौका के भाड़े को आतरिक और दुकान के भाड़े को आपणिक कहा है।

प्रशासन—

आचार्य हेम ने दो प्रकार के शासन तन्त्रों का उल्लेख किया—राजतन्त्र और संघशासन। 'पृथिव्या ईशः पार्थिवः' (६।४।१५६)—एक जनपद की भूमि पृथिवी कहलाती थी और वहाँ का राजा पार्थिव कहलाता था। इसके विपरीत उससे विस्तृत भूप्रदेश या समस्त देश के लिये सर्वभूमि शब्द था, जहाँ का अधिपति (सर्वभूमेः सार्वभौमः ६।४।१५६) सार्वभौम कहलाता था। राजा के लिये अधिपति (७।१।६०) शब्द आया है, जो विशेष अर्थ का वाचक है। पड़ोसी जनपदों पर उस प्रकार का अधिकार हो, जिससे वे कर देना स्वीकार करें, आधिपत्य (अधिपतेर्भावः कर्म वा आधिपत्यम् ७।१।६०) कहलाता था। सम्राट् (समाट् १।३।१६) विशिष्ट शासक का सूचक है, हेम ने ('सम्राट् भारतः' ७।३।१६) उदाहरण से इस बात को स्पष्ट किया है कि यह उस प्रकार के शासन तन्त्र के लिये प्रयुक्त होता था, जिसमें अन्य राजाओं को करदाता बना लिया जाता था। उदाहरण में चक्रवर्ती भरत को विशेष्य के रूप में प्रयुक्त किया है, इससे ज्ञात होता है कि हेम सम्राट् को चक्रवर्ती मानते थे।

इनके अतिरिक्त महाराज और अतिराज शब्द भी आये हैं। महांश्चासौ राजा महाराजः (७।३।१०६) अर्थात् यह शब्द बड़े राजा के अर्थ में प्रयुक्त है। महान् विशेषण के साथ राजा विशेष्य का कर्मधारय समास किया है, अतः स्पष्ट है कि यह शब्द अधिपति और सम्राट् का मध्यवर्ती था। अतिराज शब्द का प्रयोग 'अतिक्रान्तो राजानमतिराजः' (७।३।१०६)—छोटे-छोटे राजाओं को अपने प्रभाव और प्रताप से तिरस्कृत करनेवाला तथा उन्हें करद बनानेवाला अतिराज कहलाता था। 'पञ्चानां राज्ञां समाहारः पञ्चराजी, दशानां राज्ञां समाहारः दशराजी' (७।३।१०६) शब्द भी इस बात के समर्थक हैं कि छोटे-छोटे राजा अपना संघ बनाकर रहते थे, पाँच राजाओं के संघ को पञ्चराजी और दस राजाओं के संघ को दशराजी कहा है। राज्य का संचालन मन्त्रिपरिषद् नाम की संस्था द्वारा होता था, राजा इस परिषद् का सर्वशक्तिशाली एवं सार्वभौम रहता था। जो प्रजा की रक्षा नहीं करता था, उस राजा को किंराजा कहा (३।१।११०) है।

संघशासन के उदाहरण भी हेम ने प्रस्तुत किये हैं। 'नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः संघपूगाः' (७।३।६०) तथा 'नानाजातीया अनियतवृत्तयः शरीरायासजीविनः संघव्राताः' (७।३।६१) अर्थात् प्राचीन समय में वाहीक एवं उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में नाना प्रकार के

संघ राज्य थे, जिनमें शासन की अनेक कोटियाँ प्रचलित थीं। कुछ उन्नत श्रेणी के संघ थे, जिनमें सभा, परिषद्, संघमुख्य, वर्ग, अंक, लक्षण आदि संघशासन की प्रमुख विशेषताएँ वर्तमान थीं। ऊपर के दोनों संघ इस प्रकार के हैं जो आयुधों द्वारा लूट-मार करके आत्मनिर्वाह करनेवाले कबीलों के रूप में थे। ये अपना एक मुखिया चुनकर किसी प्रकार संघ शासन चलाते थे। व्रात और पूग इसी प्रकार के संघ थे। पूग संघ की आजीविका निश्चित नहीं थी, पर इतना सत्य है कि ये लूटमार की अवस्था से ऊपर उठकर अर्थोपार्जन के लिये अन्य साधनों को काम में लाते थे। इनका संघ शस्त्रोपजीवी तो था ही, पर इनका शासन कुछ व्यवस्थित था। ७।३।६० सूत्र में 'लोहध्वजाः पूगाः' में लोहध्वज पूगों का निर्देश किया है।

व्रात उन लड़ाकू जातियों की संस्था थी, जिनका आर्यों के साथ संघर्ष हुआ था और जो शारीरिक श्रम द्वारा शस्त्र से अपनी आजीविका का उपार्जन करते थे। ये वर्णाश्रम धर्म बाह्य जातियाँ थीं। पूग ग्रामणी—ग्राम मुखिया कहलाते थे उसी प्रकार व्रातों में भी ग्रामणी थे। शस्त्रजीवी संघों में पर्शव, दामन, यौधेय आदि भी परिगणित थे। हेम ने 'पर्शोरपत्यं बहवो माणवकाः पर्शवः शस्त्रजीविसंघः (७।३।६६); दामनस्यापत्यं बहवः कुमारास्ते शस्त्रजीविसंघः दामनीयः (७।३।६७); युधाया अपत्यं बहवः कुमारास्ते शस्त्रजीविसंघः यौधेयः (७।३।६५); शवराः शस्त्रजीविसंघः, कुन्तेरपत्यं बहवो माणवकाः कुन्तयः शस्त्रजीविसंघ कौन्त्यः (७।२।६१); मल्लाः संघः मल्लः (७।२।६२); कुण्डीविशाः शस्त्रजीविसंघ कौण्डीविश्यः (७।२।६३); आदि संघों का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि संघशासन जहाँ-तहाँ प्रचलित था।

दामन्यादि गणों में निम्न प्रकार आयुधजीवी संघों का निर्देश हेम ने किया है।

(१) दामन्यादि (७।३।६७)—दामनि, औलपि, काकदन्ति, अच्युतन्ति, शत्रुन्तपि, सार्वसेनि, वैद्रवि, मौञ्जायन, तुलभ, सावित्रीपुत्र, बैजवापि, औदकि।

(२) पार्श्वादि (७।३।६६)—पर्शु, असुर, बाह्लीक, वयस्, मरुत्, दशार्ह, पिशाच, अशनि, कार्पापण, सत्वत्, वसु।

(३) यौधेयादि (७।३।६५)—यौधेय, शौभ्रेय, शाक्रेय, ज्यावाणेय, वार्तेय, धार्तेय, त्रिगर्त, भरत, उशीनर।

इस प्रकार इन तीनों गणों में कुल ३३ संघों का उल्लेख है।

संघ के प्रत्येक राजा या कुल के प्रतिनिधि क्षत्रिय को गण के ऐश्वर्य या

प्रभुसत्ता में समान अधिकार प्राप्त था। गण के अन्तर्गत राजाओं के जितने कुल या परिवार होते थे, उनके क्षत्रिय अपत्यों के लिए राजन्य यह पारिभाषिक संज्ञा (राज्ञोऽपत्यं राजन्यः क्षत्रियः जातिश्चेत् राजनोऽन्यः—६।१।९८२) प्रचलित थी। हेम ने उक्त शब्द की साधनिका के लिए 'जातौ राज्ञः' ६।१।९२ यह सूत्र पृथक् लिखा है। वस्तुतः यह शब्द अभिषिक्त क्षत्रिय के लिए ही प्रयुक्त होता था।

शासन तन्त्र का सञ्चालन युक्त या आयुक्त, नियुक्त और परिवार आदि के द्वारा होता था। राजकीय कार्य का निर्वाह करनेवाले आयुक्त कहलाते थे। दायित्वपूर्ण कार्य के लिए नियुक्त किये गये व्यक्ति नियुक्त कहे जाते थे (६।४।७४)। आचार्य हेम ने—'नियुक्तोऽधिकृतो व्यापारित' ६।४।७४ द्वारा नियुक्त अधिकारियों के स्वत्व की ओर सङ्केत किया है। इन्होंने शुल्कशालायां नियुक्तः शौल्कशालिकः, आक्षपटलिकः एवं आयुधागारिक जैसे उच्चकोटि के अधिकारियों का निर्देश किया है।

राजा के निजी कर्मचारी या परिपार्श्वक भी नियुक्त कोटि के अधिकारियों में गिने जाते थे (६।४।२९)।

राजशासन में दूत का महत्त्वपूर्ण स्थान था। जिस देश या जनपद में दूत नियुक्त होता था, उसी के नाम से उसकी संज्ञा प्रसिद्ध होती थी (७।१।६३)। समाचार ले जानेवालों का भी निर्देश है (७।२।१६८)। हेम ने आक्रन्द नाम के दूत का (६।४।४०) भी उल्लेख किया है। कौटिल्य के अनुसार पृष्ठभाग में बसनेवाला मित्र राजा आक्रन्द कहलाता था और इस राजा के पास दूत भेजने को आक्रन्दिक कहते थे।

राज्य की आमदनी के साधन—

१ आय—ग्रामादिषु स्वामिग्राह्यो भागः आयः। भूमिकर (६।४।१५८)

२ शुल्क—वणिजां रक्षानिर्वेशो राजभागः शुल्कम् (६।४।१५८)—चुङ्गी से आमदनी—शुल्क।

३ आतर (६।४।७४)—यात्राकर।

४ आपण (६।४।७४)—दुकानों से वसूल किया जानेवाला कर।

५ आक्षपटल (६।४।७४)—द्यूत स्थानों से वसूल किया जानेवाला कर।

इसके अतिरिक्त उत्कोच और लञ्च का भी उल्लेख पाया जाता है। उपदा उत्कोचः। लञ्च उत्कोट इति यावत् (६।४।१५८)। घूँस लेने को उपदा कहा है और भेंट में प्राप्त होनेवाली वस्तुओं को लञ्च कहा है। राजकर्मचारी घूँस लेते थे तथा राजा को अनेक प्रकार की वस्तुएँ नजराने में प्राप्त होती थीं।

अन्य विशेषताएँ—

सांस्कृतिक विशेषताओं के अतिरिक्त हैम व्याकरण में भाषा वैज्ञानिक विशेषताएँ भी विद्यमान हैं। इन विशेषताओं के सम्बन्ध में दसवें अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। यहाँ व्युत्पत्ति और अर्थ सम्बन्धी दो-एक विशेषता पर विचार कर ही इस प्रकरण को समाप्त किया जायगा।

१ इन्द्रियम् (७।१।१७४)—"इन्द्र आत्मा इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम् चक्षुरादुच्यते। इन्द्रेण दृष्टमिन्द्रियम्। आत्मा हि चक्षुरादीनि दृष्ट्वा स्वविषये नियुङ्क्ते। इन्द्रेण सृष्टमिन्द्रियम्। आत्मकृतेन हि शुभाशुभेन कर्मणा तथाविधविषयोपभोगायास्य चक्षुरादीनि भवन्ति। इन्द्रेण जुष्टमिन्द्रियम्, तद्द्वारेणास्य विज्ञानोत्पादात्। इन्द्रेण दत्तमिन्द्रियम्—विषयग्रहणाय विषयेभ्यः समर्पणात्। इन्द्रस्यावरणक्षयोपशमसाधनमिन्द्रियम्"। अर्थात्—इन्द्र शब्द का अर्थ आत्मा है। आत्मा यद्यपि ज्ञानस्वभाव है तो भी मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के रहने से स्वयं पदार्थों को जानने में असमर्थ है, अतः पदार्थों को जानने में जो लिङ्ग—निमित्त चक्षुरादि हैं, उनको इन्द्रिय कहते हैं। आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा विषय को जानकर पदार्थों के ग्रहण या त्याग में प्रवृत्त होती है। इन्द्र—नाम कर्म के द्वारा निर्मित होने से इन्द्रियों को इन्द्र के नाम पर इन्द्रिय कहा जाता है। आत्मा के द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्म से विषय ग्रहण करने में समर्थ चक्षुरादि इन्द्रियाँ होती हैं। आत्मा के द्वारा सेवित इन्द्रियाँ हैं, क्योंकि आत्मा को इन्द्रियों के द्वारा ही विषयों का ज्ञान होता है। विषय ग्रहण करने के लिए नामकर्म द्वारा इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। इन्द्र शब्द का अर्थ आवरण—कर्मावरण का क्षयोपशम, इस क्षयोपशम जन्य ज्ञान को ग्रहण करनेवाले साधन इन्द्रियाँ कहलाती हैं।

२ काकतालीयम् (७।१।११७)—'यथा कथंचिद् व्रजतः काकस्य निपतता तालेनातर्कितोपनतश्चित्रीयमाणः संयोगो लक्षणयोच्यते तत्तुल्यं काकतालीयम्।' अर्थात् कौआ किसी प्रकार उड़ता हुआ चला जा रहा है, इसी समय अकस्मात् ताल फल ताड़-वृक्ष से गिरता है, संयोगवश उस फल का कौए से संयोग हो जाता है। इसी अकस्मात् सम्पन्न हुए संयोग का नाम 'काकतालीय' न्याय है।

३ अन्धकवर्तिकम् (७।१।११७)—'अन्धकस्य वर्तिकाया उपरि अतर्कितः पादन्यास उच्यते। अन्धकस्य बाहूत्क्षेपे वर्तिकायाः करे निलयनं वा तत्तुल्यमन्धकवर्तिकीयम्' अर्थात्—अन्धे व्यक्ति का बटेर के ऊपर अचानक पैर पड़ जाने को अन्धकवर्तिकम् कहा जाता है। अथवा अन्धे व्यक्ति के हाथ में टटोलते समय अचानक बटेर आ जाय तो यह भी अन्धकवर्तिक कहलाता है। तात्पर्य यह है कि हेम ने अन्धकवर्तिक न्याय की

व्युत्पत्ति दो प्रकार से प्रस्तुत की है। प्रथम—अन्धे के पैर के नीचे बटेर का आना और दूसरी व्युत्पत्ति में अन्धे के हाथ में बटेर का आना। दोनों ही व्युत्पत्तियों के अनुसार अचानक किसी वस्तु की प्राप्ति होने को अन्धकवर्तिक-न्याय कहा जायगा।

४ अजाकृपाणीयम् (७।१।११७) 'अजया पादेनावकिरत्यात्मवधाय कृपाणस्य दर्शनमजाकृपाणम्—तत्तुल्यमजाकृपाणीयम्' अर्थात् बकरी आनन्द-विभोर होकर पैरों से मिट्टी खुरचती है, इस मिट्टी खुरचने के समय उसे मारने के लिए उठा खड्ग दिखलायी पड़े, तो उस समय उस बेचारी बकरी का खून जम जाता है, इसी प्रकार आनन्द के समय कोई अनिष्टपूर्ण घटना दिखलायी दे तो इसे अजाकृपाणीय न्याय कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि रंग में भंग होना ही अजाकृपाणीय है।

५ असूया—परगुणासहनमसूया (७।४।८९)—दूसरे के गुणों को सहन न करना—दूसरे के गुणों में दोष निकालना असूया—ईर्ष्या है।

६ सम्मतिः—कार्येष्वाभिमत्यं सम्मतिः पूजनं वा (७।४।८९)—कार्यों में अपना अभिप्राय करना सम्मति है। अथवा कार्यों का आदर करना सम्मति है। आचार्य हेम के मत से किसी के कार्यों पर अपना भला या बुरा विचार प्रकट करना अथवा किसी के कार्यों का समर्थन करना या आदर देना सम्मति है।

७ प्रत्यासत्ति (७।४।७९)—'सामीप्यं देशकृता कालकृता वा प्रत्यासत्तिः' अर्थात् देशापेक्षया या कालापेक्षया समीपता को प्रत्यासत्ति कहते हैं। किसी वस्तु की निकटता दो प्रकार से होती है—(१) देश की अपेक्षा और (२) काल की अपेक्षा।

८ अस्तिमान् (७।२।१)—अस्ति धनमस्य अस्तिमान्—जिसको धन हो—धनिक को अस्तिमान् कहते हैं। इस व्युत्पत्ति से यह स्पष्ट है कि धन अस्तित्व का कारण होने से धनिक को अस्तिमान् कहा है।

९ स्वस्तिमान् (७।२।१)—स्वस्ति आरोग्यमस्यास्ति स्वस्तिमान्। अत्रास्तिस्वस्ती अव्ययौ धनारोग्यवचनौ। जिसे आरोग्य—स्वास्थ्य हो, उसे स्वस्तिमान् कहते हैं। अस्ति और स्वस्ति अव्यय को धन और आरोग्य का वाचक माना गया है।

१० अविच्छेद (७।४।७३)—सातत्यं क्रियान्तरैरव्यवधानमविच्छेदः। किसी कार्य के निरन्तर होने में बीच में किसी रुकावट का न आना। अर्थात् निरन्तर का नाम अविच्छेद है।

११ आशंसा (५।३।२)—'आशंस्यस्य अनागतस्य प्रियस्यार्थस्याशंसनं प्राप्तुमिच्छा आशंसा'। अर्थात् अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा आशंसा है।

१२ साधु (१ उ०)—सम्यग्दर्शनादिभिः परमपदं साधयतीति साधुः, उत्तमक्षमादिभिः तपोविशेषैर्भावितात्मा साध्नोति साधुः, उभयलोकफलं साधयतीति साधुः। अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के द्वारा जो परमपद की साधना करता है, वह साधु है। उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि दस धर्म एवं अनशन, ऊनोदर आदि तपों के द्वारा आत्मा की भावना की साधना करता है, वह साधु है। दोनों लोकों के फल की साधना करनेवाला साधु है।

१३ कौपीन (६।४।१८५)—कूपप्रवेशनमर्हतीति कौपीनः—जिसको पहनकर कुँए आदि में सरलतापूर्वक प्रवेश किया जाय, वह कौपीन है। वस्तुतः इसे संन्यासी धारण करते थे और वे इसे पहनकर जलाशय में स्नान किया करते थे, इसी कारण अर्थविस्तार बतलाने के लिए कौपीन की उक्त व्युत्पत्ति प्रस्तुत की गयी है।

१४ छत्री (४४५ उ०)—छादयतीति छत्रम् छत्री वा घर्मवारणम्—जो आच्छादित करे और धूप से रक्षा करे, उसे छत्र या छत्री कहते हैं।

१५ धेनुष्या (७।१।११)—धेनुष्या या गोमता गोपालायाधमर्णेन चोत्तमर्णाय आ ऋणप्रदानाद्दोहनार्थं धेनुर्दीयते सा धेनुरेव धेनुष्या। अर्थात् कर्जदार महाजन को इस शर्त पर कि जब तक कर्ज चुक नहीं जाता, तब तक इस गाय का दूध दुहो अर्थात् दूध दुहकर ऋण वसूल करो और जब ऋण चुक जाय तो गाय वापस कर देना, धेनुष्या है। यह एक कर्ज चुकाने का पारिभाषिक शब्द है।

'स ये मुष्टिमध्ये तिष्ठति' मुहावरा—वह मेरी मुट्ठी में है, 'यो यस्य द्वेष्यः स तस्याक्ष्णोः प्रतिवसति'—जो जिसका शत्रु होता है वह उसकी आँखों में निवास करता है। यो यस्य प्रियः स तस्य हृदये वसति, जो जिसका प्रिय होता है, वह उसके हृदय में निवास करता है।

इस प्रकार हेम ने शब्द व्युत्पत्तियाँ, मुहावरे तथा अनेक ऐसी परिभाषाएँ (सातवें अध्याय के चतुर्थपाद के अन्त में) निर्दिष्ट की हैं, जिनसे भाषा और साहित्य के अतिरिक्त संस्कृति पर भी प्रकाश पड़ता है।

आभार—

इस प्रबन्ध के लिखने में आदरणीय डॉ० हीरालालजी जैन, अध्यक्ष प्राकृत, पालि एवं संस्कृत विभाग जबलपुर से सहयोग प्राप्त हुआ है। अतः उनके प्रति अपनी पूर्ण श्रद्धा-भक्ति प्रकट करता हूँ। आदरणीय पूज्य पं० सुखलालजी संघवी ने इसे आद्योपान्त पढ़ने की कृपा की, इसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। श्रद्धेय भाई लक्ष्मीचन्द्रजी जैन, मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, काशी को भी नहीं भूल सकता हूँ। अन्त में चौखम्बा संस्कृत सीरीज एवं चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी के व्यवस्थापक बन्धुद्वय मोहनदासजी गुप्त एवं विठ्ठलदासजी गुप्त के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ, जिनके अमूल्य सहयोग से यह रचना पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हो रही है। सहयोगियों में प्रिय भाई प्रो० राजारामजी जैन का भी इस सन्दर्भ में स्मरण कर लेना आवश्यक है। उनसे प्रूफ संशोधन में सहयोग मिलता रहा है। पूज्य मुनिश्री कृष्णचन्द्राचार्य वाराणसी का अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने बृहद्सिद्धहेमशब्दानुशासन की निजी प्रति को उपयोग करने का अवसर प्रदान किया। श्री पं० लक्ष्मणजी त्रिपाठी, व्याकरणाचार्य व्याकरणाध्यापक राजकीय संस्कृत विद्यालय आरा का भी हार्दिक आभारी हूँ, जिनसे पाणिनितन्त्र के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातों की जानकारी उपलब्ध हुई।

प्रस्तावना अंश कुछ बढ़ गया है। इसका कारण यह है कि हैम व्याकरण के सामाजिक और सांस्कृतिक विश्लेषण पर एक अध्याय पृथक् लिखना था, किन्तु समयाभाव से वह अध्याय मूल प्रति लिखने के समय लिखा नहीं जा सका। अतः उक्त विषय का समावेश प्रस्तावना में करना पड़ा है।

ह० दा० जैन कालेज, आरा
(मगध विश्वविद्यालय)
२५-८-६३

नेमिचन्द्र शास्त्री

आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन : एक अध्ययन

(हैमप्रकाश में व्याकरणशास्त्र का तुलनात्मक विवेचन)

आमुख

आचार्य हेम का व्यक्तित्व जितना गौरवास्पद है उतना ही प्रेरक भी। इनमें एक साथ ही वैयाकरण, आलंकारिक, दार्शनिक, साहित्यकार, इतिहासकार, पुराणकार, कोषकार, छन्दोनुशासक और महान् युगकवि का अन्यतम समवाय हुआ है। इनके उक्त रूपों में कौन रूप अधिक सशक्त है, यह विवाद का विषय है। हमने इस प्रबन्ध में शब्दानुशासक हेम पर ही विचार किया है।

हेम के पूर्व पाणिनि, चन्द्र, पूज्यपाद, शाकटायन, भोजदेव आदि कितने ही वैयाकरण हो चुके हैं। अपने समय में उपलब्ध समस्त शब्दशास्त्र का अध्ययन कर आचार्य हेम ने एक सर्वाङ्गपूर्ण, उपयोगी एवं सरल व्याकरण की रचना कर संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं को पूर्णतया अनुशासित किया है। तत्कालीन प्रचलित अपभ्रंश भाषा का अनुशासन लिखकर हेम ने इस भाषा को अमर तो बना ही दिया; किन्तु अपभ्रंश के प्राचीन दोहों को उदाहरण के रूप में उपस्थित कर लुप्त होते हुए महत्त्वपूर्ण साहित्य के नमूनों की रक्षा भी की है। वास्तविकता यह है कि शब्दानुशासक हेम का व्यक्तित्व अद्भुत है। इन्होंने धातु और प्रातिपदिक, प्रकृति और प्रत्यय, समास और वाक्य, कृत् और तद्धित, अव्यय और उपसर्ग प्रभृति का निरूपण, विवेचन एवं विश्लेषण किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में हमने आलोचनात्मक पद्धति पर शब्दानुशासन-सम्बन्धी हेम की विशेषताओं, उपलब्धियों और अभावों पर प्रकाश डाला है।

प्रथम अध्याय जीवन-परिचय सम्बन्धी है। द्वितीय अध्याय में इनके संस्कृत शब्दानुशासन का आलोचनात्मक और विवेचनात्मक अध्ययन उपस्थित किया है। इस अध्ययन में निम्न मौलिकताएँ दृष्टिगोचर होंगी—

१—सातों अध्याय सम्बन्धी अट्ठाईस पादों के वर्ण्य विषय का संक्षिप्त और सर्वाङ्गीण विवेचन।

२—वर्णित विषय के क्रम विवेचन की मौलिकता पर प्रकाश।

३—विकारों के उत्सर्ग और अपवाद मार्गों का निरूपण।

४—शब्दशास्त्र के ज्ञाता की दृष्टि से विषय-विवेचन की वैज्ञानिकता और सरलता पर प्रकाश।

५—प्रत्येक पाद में निरूपित विषय की विशिष्टताओं का सहेतुक विवेचन।

तृतीय अध्याय में हेम के खिलपाठों की विवेचना की है। हेम के धातु-पारायण और लिङ्गानुशासन ये दो ग्रन्थ खिलपाठों में इतने अधिक आकर्षक और उपयोगी हैं कि हैम शब्दानुशासन का अध्ययन इनके अभाव में अधूरा

गया है, परन्तु श्रेय संस्कृत का सुबोध अनुशासन हेम के द्वारा ही हुआ है। अतएव दोनों की उक्त प्रक्रिया पद्धति के अनुसार तुलना।

६—हेम के पहले काल-विवेचन सम्बन्धी विभिन्न व्यवस्थाएँ विद्यमान थीं; कुछ नयी और कुछ पुरानी भी, जिनमें बहुतों का हेम ने अनुकरण तथा अनुसरण किया है, किन्तु इन्होंने यह सदा ध्यान रखा है कि सरल एवं समयानुसारिणी व्यवस्था ही लाभप्रद हो सकती है, अतः यह इसीका परिणाम है कि हेम ने अति प्रचलित लकारीय व्यवस्था को त्याग कर वर्तमाना, अद्यतनी, श्वस्तनी, आदि संज्ञाओं द्वारा ही समुचित व्यवस्था कर ली है। अतएव पाणिनि और हेम के धातुरूप, धातु प्रक्रिया और कालव्यवस्था पर तुलनात्मक चिन्तन।

७—हेम ने पाणिनि का सर्वथा अनुकरण न कर सूत्रों के नये-नये उदाहरण दिये हैं, जो भाषा के व्यावहारिक क्षेत्र में इनकी मौलिक देन कहे जायेंगे। अतः सूत्रों और लक्ष्यों की दृष्टि से दोनों की तुलना।

८—सरलता, संक्षिप्तता और वैज्ञानिकता की दृष्टि से दोनों का तुलनात्मक विवेचन।

पञ्चम अध्याय में पाणिनीतर प्रमुख वैयाकरणों के साथ और षष्ठ अध्याय में जैन वैयाकरणों के साथ हेम की तुलना की गयी है। इस तुलना में साम्य और वैषम्य दोनों पर प्रकाश डाला है। संज्ञा, सन्धि, नाम, आख्यात, स्त्री-प्रत्यय, कृत्प्रत्यय और तद्धित प्रत्ययों को लेकर तुलनात्मक विवेचन करने का आयास किया गया है। एक प्रकार से यह संस्कृत व्याकरण शास्त्र का तुलनात्मक इतिहास है। हेम के साथ-साथ अन्य शब्दानुशासनों का विवेचन भी यथास्थान होता चला है।

हम यह जोरदार शब्दों में कह सकते हैं कि हैम शब्दानुशासन की तो बात ही क्या, समस्त व्याकरण शास्त्र में अद्यावधि तुलनात्मक विवेचन, परीक्षण और अध्ययन नहीं के बराबर हुआ है। इस दिशा में हमारा यह प्रथम प्रयास है और बहुत कुछ अंशों में नवीन और मौलिक सामग्री से समलंकृत है।

सप्तम अध्याय में प्राकृत शब्दानुशासन का एक अध्ययन लिखा है। हेम का आठवाँ अध्याय प्राकृत शब्दानुशासन करने वाला है। इस अध्याय के चार पाद हैं। प्रथम पाद में स्वर और असंयुक्त व्यंजनों का विकार; द्वितीय में संयुक्त व्यंजनों का विस्तार, कारक प्रकरण, तद्धित-प्रत्यय; तृतीय पाद में शब्दरूप, धातुरूप, कृत प्रत्यय और चतुर्थ पाद में धात्वादेश, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची, एवं अपभ्रंश भाषा का अनुशासन वर्णित है। हमने अपने अध्ययन में विकार विधायक सिद्धान्तों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। दो-चार स्थलों पर आलोचना और तुलना भी की गयी है।

ही रहेगा। अतः हमने धातुपारायण की विशेषताओं को बतलाकर लिङ्गानुशासन का सर्वाङ्गीण अध्ययन उपस्थित किया है। शब्दों के संकलन क्रम की हमारी विवेचना बिलकुल नयी है। यह सत्य है कि हेम के खिलपाठ पाणिनि की अपेक्षा मौलिक हैं। गणपाठ, धातुपाठ एवं लिङ्गानुशासन आकृति और प्रकृति दोनों ही दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।

चतुर्थ अध्याय में पाणिनीय तथा हैम शब्दानुशासन का तुलनात्मक और आलोचनात्मक संक्षिप्त और सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन किया है। यह समस्त अध्याय बिल्कुल मौलिक और नवीन गवेषणाओं से युक्त है। आज तक हैम पर इस प्रकार का अध्ययन किसी ने भी उपस्थित नहीं किया है। हमने अपने अध्ययन के आधार पर हेम और पाणिनि को निम्न दृष्टिकोणों से तोलने की चेष्टा की है।

१—पाणिनि और हेम की ग्रन्थन-शैली में मौलिक अन्तर है। पाणिनीय व्याकरण में एक विषयक सूत्र भी कहीं-कहीं अत्यन्त व्यवहित हो गये हैं, पर हेम में ऐसी बात नहीं है। अतः ग्रन्थन शैली के आधार पर दोनों शब्दानुशासकों की प्रकरण क्रमानुसार तुलना।

२—पाणिनि ने अनेक संज्ञाओं की चर्चा की है, पर हेम ने संज्ञाओं की क्लिष्टता और गुरुता के बिना ही प्रक्रिया निर्वाह कर लिया है। अतएव संज्ञाओं की दृष्टि से दोनों वैयाकरणों की तुलना।

३—हेम का आविर्भाव उस समय हुआ, जब पाणिनीय व्याकरण का साङ्गोपाङ्ग विवेचन हो चुका था; इतना ही नहीं, बल्कि उसके आधार पर कात्यायन तथा पतञ्जलि जैसे विशिष्ट वैयाकरणों ने सैद्धान्तिक गवेषणाएँ प्रस्तुत कर दी थीं। इस प्रकार हेम के सामने पाणिनि की अनुपलब्धियाँ और अभावपूर्त्तियाँ भी वर्तमान थीं। फलतः हेम ने उन सारी सामग्रियों का उपयोग कर अपने शब्दानुशासन को सर्वाङ्गीण एवं समयानुकूल बनाया। अतः पाणिनि और हेम की अनुशासन सम्बन्धी उपलब्धियों, अनुपलब्धियों और अभावों के आधार पर तुलना।

४—हेम ने पाणिनि की प्रत्याहार पद्धति को स्थान न देकर, वर्णमाला क्रम से ही प्रक्रिया का निर्वाह किया है। अतः उक्त दोनों आचार्यों की प्रक्रिया पद्धति में तुलना।

५—पाणिनि ने लौकिक शब्दों का अनुशासन करते समय प्रत्ययों, आदेशों तथा आगम आदि में जो अनुबन्ध लगाये हैं, उनका सम्बन्ध वैदिक स्वर प्रक्रिया के साथ भी जुटाये रखा है, जिसके कारण श्रेण्य संस्कृत भाषा सम्बन्धी अनुशासन को समझने में कुछ क्लेश आ जाता है, किन्तु हेम ने उन्हीं अनुबन्धों को गृहीत किया है, जिनका प्रयोजन तत्काल सिद्ध होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाणिनीय तन्त्र में भले ही साथ ही साथ वैदिक भाषा का भी अनुशासन होता

आठवें अध्याय में प्राकृत वैयाकरणों के साथ हेम की तुलनात्मक समीक्षा उपस्थित की गयी है। प्राकृत वैयाकरणों में सबसे पुराने वैयाकरण वररुचि हैं; इनका हेम के ऊपर कितना और कैसा प्रभाव है, इसकी सम्यक् विवेचना की है। हमारा जहाँ तक ख्याल है, हेम प्राकृत वैयाकरण में निम्न बातों में विशिष्ट हैं।

१—आर्ष और प्राकृत अर्थात् पुरानी और नयी दोनों ही प्राकृत भाषाओं का एक ही साथ अनुशासन लिखा है। इस क्षेत्र में हेम अद्वितीय हैं।

२—वर्ण विकारों के सिद्धान्त निरूपण में सरलता, वैज्ञानिकता और लाघव का पूरा ध्यान रखा गया है; संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि हेम की ग्रन्थन शैली समस्त प्राकृत वैयाकरणों मे श्रेष्ठ है।

३—एक ही व्याकरण में हेम जैसा पूर्ण अनुशासन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होगा। इन्होंने जिस विषय को उठाया है, उसका अनुशासन सभी दृष्टिकोणों से पूर्णरूपेण उपस्थित किया है। इस एक व्याकरण के अध्ययन के उपरान्त अन्य व्याकरणों की जानकारी की अपेक्षा नहीं रहती है। अतः सार रूप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि हैम प्राकृत शब्दानुशासन के सम्यक् अध्ययन से समस्त प्राकृत भाषाओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इतना विस्तृत और गम्भीर ज्ञान अन्य किसी एक व्याकरण से नहीं हो सकता है।

४—धात्वादेश और अपभ्रंश भाषा का सर्वाङ्गपूर्ण अनुशासन हैम व्याकरण के अतिरिक्त अन्य किसी प्राकृत व्याकरण में नहीं है।

५—हेम ने सिद्धान्तों का प्रतिपादन व्यवस्थित और वैज्ञानिक पद्धति में उपस्थित किया है।

६—विषय-विवेचन के क्षेत्र में हेम सभी पूर्वकालीन और उत्तरकालीन वैयाकरणों से आगे हैं।

नवम अध्याय में आधुनिक भाषा विज्ञान के क्षेत्र में हैम सिद्धान्त कितने उपयोगी हैं और भाषा विज्ञान के कितने सिद्धान्त हैम में कहाँ-कहाँ पर उपलब्ध हैं; इस पर विचार किया गया है। यह सत्य है कि हेम ऐसे शब्दशास्त्रज्ञ हैं, जिनमें आधुनिक भाषाविज्ञान के अधिकांश सिद्धान्त उपलब्ध हैं।

वाक्य-विचार, रूपविचार, सम्बन्धतत्त्व और अर्थतत्त्व का विश्लेषण, ध्वनि अवयव, ध्वनि परिवर्तन के कतिपय कारण और उसकी दिशाएँ—आदिस्वरलोप, मध्यस्वरलोप, अन्तस्वरलोप, आदिव्यंजनलोप, मध्यव्यंजनलोप, अन्तव्यंजन-लोप, आदिस्वरागम, मध्यस्वरागम, अन्तस्वरागम, समस्वरागम, आदि-व्यञ्जनागम, मध्यव्यंजनागम, अन्तव्यंजनागम, स्वर और व्यंजन विपर्यय,

विषमीकरण, सन्धि, गुण, वृद्धि, उष्मीकरण, अनुनासिकता, घोषीकरण, अघोषीकरण' महाप्राणीकरण, अल्पप्राणीकरण, अभिश्रुति और अपिश्रुति; आदि सम्यक् प्रकार से निरूपित हैं।

यों तो सभी व्याकरणों में भाषाविज्ञान के कुछ न कुछ सिद्धान्त अवश्य मिलते हैं, पर हैम में उक्त विज्ञान के सिद्धान्त प्रचुरता और स्पष्टता के साथ उपलब्ध हैं। संस्कृत और प्राकृत वैयाकरणों में स्वरभक्ति, समीकरण और विषमीकरण का मौलिकता, स्पष्टता और दृढ़ता के साथ विवेचन करनेवाले हेम ही हैं।

आधुनिक आर्यभाषाओं की प्रमुख प्रवृत्तियों का अस्तित्व भी हेम में वर्तमान है। अतः संक्षेप में हम इतना ही कह सकते हैं कि संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के वैयाकरणों में सर्वाङ्गपूर्णता, वैज्ञानिकता और सरलता की दृष्टि से आचार्य हेम का अद्वितीय स्थान है। इनकी उद्भावनाएँ नवीन और तर्कसंगत हैं।

प्रथम अध्याय

जीवन परिचय

बारहवीं शताब्दी में गुजरात के सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक इतिहास की विधायक कड़ी आचार्य हेमचन्द्र युगान्तरकारी और युगसंस्थापक व्यक्तित्व को लेकर अवतीर्ण हुए थे। इनकी अप्रतिम प्रतिभा का स्पर्श पा गुजरात की उर्वर धरती में उत्पन्न साहित्य और कला की नव मल्लिकाएँ अपने फुल्ल सुमनों के मधुर सौरभ से समस्त दिग्दिगन्त को मत्त बनाने का उपक्रम करने लगीं। पाटलिपुत्र, कान्यकुब्ज, वल्भी, उज्जयिनी, काशी प्रभृति समृद्धिशाली नगरों की उदात्त स्वर्णिम परम्परा में अणहिल्पुर ने भी गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करने का आयास किया। शासकों की कलाप्रियता ने सोमनाथ, माउण्ट-आबू, पाटण, टेकरी, अचलेश्वर, सिद्धपुर, शत्रुञ्जय प्रभृति स्थानों में नयनाभिराम स्थापत्यों का निर्माण कराया। ये देवमंदिर केवल धर्मायतन ही नहीं थे अपितु कलाकेन्द्र भी थे। अभिनय, संगीत, चित्र आदि ललित कलाओं की उपलब्धि इन स्थानों पर होती थी। यहाँ केवल संगमर्मर पर अंकित चित्रकारी ही पुष्पोपहार लेकर प्रणामाञ्जलि अर्पित करने को प्रस्तुत नहीं थी, किन्तु साहित्य की अमर कृतियाँ भी मानव मस्तिष्क की ज्ञानतन्त्रियों को झंकृत कर अमृतरस के आस्वाद द्वारा मदमत्त करने के सुलभ और सुकुमार व्यापार में संलग्न थीं। ये रचनाएँ जितनी ही मादक हैं उतनी ही मनोहर। सँवारे हुए देवमंदिरों की भाँति, वेदिका पर स्थित प्रतिमा की भाँति, उद्यान में लहलहाती माल्ती लता की भाँति, एवं मदन-चन्दन-द्रुम की सुकुमार लताओं के विलुलित किसलय की भाँति गुजरात आह्लाद सौन्दर्य का विजयोल्लास, धर्म का यौवन-काल, सर्वविद्याओं का स्वयंवृतपति एवं समस्त ज्ञान का मिलनतीर्थ बन गया। जिस प्रकार प्रदीप के प्रकाश से तिमिराच्छन्न भिन्न हो भासुर प्रकाश का वितान तन जाता है, उसी प्रकार हेमचन्द्र को पाकर गुजरात अज्ञान, धार्मिक रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों से मुक्त हो, शोभा का समुद्र, गुणों का आकर, कीर्ति का कैलास एवं धर्म का त्रिवेणी संगम बन गया। शत शत मुखों से मुखरित हो एक साथ यह ध्वनि कर्णकुहरों में प्रविष्ट होने लगी, कि साहित्य और संस्कृति के लिए अब गुजरात शरत्कालीन मेघ खण्डों में अन्तरित खरसूर्य की प्रभा के समान अधिकतर रमणीय रूप प्राप्त करेगा।

जन्मतिथि और जन्मस्थान—

संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य के मूर्धन्य प्रणेता, कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र का जन्म गुजरात के प्रधान नगर अहमदाबाद से ६० मील दक्षिण-पश्चिम कोण में स्थित 'धुंधुका' नगर में विक्रम संवत् ११४५ में कार्तिकी पूर्णिमा की रात्रि में हुआ था। संस्कृत ग्रन्थों में इसे 'धुंधुक्क नगर' या 'धुन्धुकपुर' भी कहा गया है। यह प्राचीनकाल में ख्यातिपूर्ण एवं समृद्धिशाली नगर था।

माता-पिता और इनका धर्म—

हमारे चरितनायक के पिता मोढवंशोत्पन्न 'चाचिग'[१] नाम के व्यवहारी (सेठ) और माता पाहिणी देवी थी। इनके वंशजों का निकास मोढेरा ग्राम से हुआ था, अतः ये मोढवंशी कहलाते थे। आज भी इस वंश के वैश्य 'श्रीमोढ-वणिये' कहे जाते हैं। इनकी कुलदेवी 'चामुण्डा' और कुलयक्ष 'गोनस' था, अतः माता-पिता ने देवता-प्रीत्यर्थ उक्त दोनों देवताओं के आद्यन्त अक्षर लेकर बालक का नाम 'चाङ्गदेव' रखा। यही चाङ्गदेव आगे चलकर सूरिपद प्राप्त होने पर हेमचन्द्र कहलाया।

इनकी माता पाहिणी और मामा नेमिनाग जैन धर्मावलम्बी[२] थे; किन्तु इनके पिता को मिथ्यात्वी कहा गया है। प्रबन्धचिन्तामणि के अनुसार ये शैव प्रतीत होते हैं यतः उदयन मंत्री द्वारा रुपये दिये जाने पर इन्होंने 'शिवनिर्माल्य' शब्द का व्यवहार किया है और उन रुपयों को शिवनिर्माल्य के समान त्याज्य कहा है। कुलदेवी चामुण्डा का होना भी यह संकेत करता है कि वंशपरम्परा से इनका परिवार शिव-पार्वती का उपासक था। गुजरात में ग्यारहवीं शती में शैव मत का प्राबल्य भी रहा, क्योंकि चालुक्यों के समय में गुजरात में गाँव गाँव में सुन्दर शिवालय सुशोभित थे। सन्ध्या समय उन शिवालयों में होने वाली शंखध्वनि और घण्टानाद से गुजरात का वायुमण्डल शब्दायमान हो जाता था।

पाहिणी का जैन धर्मावलम्बी और चाचिग का शैवधर्मावलम्बी होकर एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं आता है। प्राचीन काल में दक्षिण और गुजरात में ऐसे अनेक परिवार थे, जिनमें पत्नी और पति का धर्म भिन्न-भिन्न था।

---

१. देखें प्रभावक चरित का हेमचन्द्रसूरि प्रबन्ध श्लो० ११–१२.

२. एकदा नेमिनागनामा श्रावकः समुत्थाय श्रीदेवचन्द्रसूरीन् जगौ''''दीक्षां याच्यते। —प्रबन्धकोश पृ० ४७.

शैशव काल—

शिशु चाङ्गदेव बहुत होनहार था। पालने में ही उसकी भवितव्यता के शुभ लक्षण प्रकट होने लगे थे। एक समय श्रीदेवचन्द्राचार्य अणहिलपत्तन से प्रस्थान कर तीर्थयात्रा के प्रसंग में धुंधुका पहुँचे और वहाँ मोढवंशियों की वसही—जैनमन्दिर में देवदर्शन के लिए पधारे। उस समय शिशु चाङ्गदेव, जिसकी आयु आठ वर्ष की थी, खेलते-खेलते अपने समवयस्क बालकों के साथ वहाँ आगया और अपने बाल-चापल्य स्वभाव से देवचन्द्राचार्य की गद्दी पर बड़ी कुशलता से जा बैठा। उसके अलौकिक शुभ लक्षणों को देखकर आचार्य कहने लगे, यदि यह बालक क्षत्रियोत्पन्न है तो अवश्य सार्वभौम राजा बनेगा। यदि यह वैश्य अथवा विप्रकुलोत्पन्न है, तो महामात्य बनेगा और यदि कहीं इसने दीक्षा ग्रहण कर ली, तो युगप्रधान के समान अवश्य इस युग में कृतयुग की स्थापना करने वाला होगा। चाङ्गदेव के सहज साहस, शरीर सौष्ठव, चेष्टा, प्रतिभा एवं भव्यता ने आचार्य के मन पर गहरा प्रभाव डाला और वे सानुराग उस बालक को प्राप्त करने की अभिलाषा से उस नगर के व्यवहारियों को साथ ले स्वयं चाचिग के निवासस्थान पर पधारे। उस समय चाचिग यात्रार्थ बाहर गया हुआ था। अतः उसकी अनुपस्थिति में उसकी विवेकवती पत्नी ने समुचित स्वागत-सत्कार द्वारा अतिथियों को सन्तुष्ट किया।

आचार्य देवचन्द्र ने बातचीत के प्रसङ्ग में चाङ्गदेव को प्राप्त करने की अभिलाषा प्रकट की। आचार्य द्वारा पुत्र-याचना की बात अवगत कर पुत्रगौरव से अपनी आत्मा को गौरवान्वित समझ वह प्रज्ञावती हर्षविभोर हो अश्रुपात करने लगी। पाहिणी देवी ने आचार्य के प्रस्ताव का हृदय से स्वागत किया और वह अपने अधिकार की सीमा का अवलोकन कर लाचारी प्रकट करती हुई बोली—"प्रभो! सन्तान पर माता-पिता दोनों का अधिकार होता है। गृहपति बाहर गये हुए हैं, वह मिथ्यादृष्टि भी हैं, अतः मैं अकेली इस पुत्र को कैसे आपको दे सकूंगी।

पाहिणी के इस कथन को सुनकर प्रतिष्ठित सेठ-साहूकारों ने कहा—'तुम इसे अपने अधिकार से गुरुजी को दे दो। गृहपति के आने पर उनसे भी स्वीकृति ले ली जायगी।'

पाहिणी ने उपस्थित जनसमुदाय का अनुरोध स्वीकार कर लिया और अपने पुत्ररत्न को आचार्य को सौंप दिया। आचार्य इस योग्य भविष्णु पुत्र को प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने बालक से पूछा—'वत्स! तू हमारा शिष्य बनेगा?' चाङ्गदेव—'जी हाँ, अवश्य बनूंगा' इस उत्तर से आचार्य

अत्यधिक प्रसन्न हुए। उनके मनमें यह आशंका बनी हुई थी कि चाचिग यात्रा से वापस लौटने पर कहीं इसे छीन न ले। अतः वे उसे अपने साथ ले जाकर कर्णावती पहुँचे और वहाँ उदयन मन्त्री के यहाँ उसे रख दिया। उदयन उस समय जैनसंघ का सबसे बड़ा प्रभावशाली व्यक्ति था। अतः संरक्षण में चाङ्ग-देव को रखकर आचार्य देवचन्द्र निश्चिन्त होना चाहते थे।

चाचिग जब ग्रामान्तर से लौटा तो वह अपने पुत्र सम्बन्धी घटना को सुनकर बहुत दुःखी हुआ और तत्काल ही कर्णावती की ओर चल दिया। पुत्र के अपहार से वह दुःखी था अतः गुरु देवचन्द्राचार्य की भी पूरी भक्ति न कर सका। ज्ञानराशि आचार्य तत्काल उसके मन की बात समझ गये, अतः उसका मोह दूर करने के लिए अमृतमयी वाणी में उपदेश देने लगे। इसी बीच आचार्य ने उदयन मंत्री को भी अपने पास बुला लिया। मन्त्रिवर ने बड़ी चतुराई के साथ चाचिग से वार्त्तालाप किया और धर्म के बड़े भाई होने के नाते श्रद्धापूर्वक अपने घर ले गया और बड़े सत्कार से उसे भोजन कराया। तदनन्तर उसकी गोद में चाङ्गदेव को विराजमान कर पंचांङ्ग सहित तीन दुशाले और तीन लाख रुपये भेंट किए। कुछ तो गुरु की धर्मदेशना से चाचिग का चित्त द्रवीभूत हो गया था और अब इस सम्मान को पाकर वह स्नेह-विह्वल हो गया और बोला—"आप तो तीन लाख रुपये देते हुए उदारता के छल में कृपणता प्रकट कर रहे हैं। मेरा पुत्र अमूल्य है; परन्तु साथ ही मैं देखता हूं कि आपकी भक्ति उसकी अपेक्षा कहीं अधिक अमूल्य है, अतः इस बालक के मूल्य में अपनी भक्ति ही रहने दीजिए। आपके द्रव्य का तो मैं शिवनिर्माल्य के समान स्पर्श भी नहीं कर सकता।"

चाचिग के इस कथन को सुनकर उदयन मंत्री बोला—'आप अपने पुत्र को मुझे सौंपेंगे, तो उसका कुछ भी अभ्युदय नहीं हो सकेगा। परन्तु यदि इसे आप पूज्यपाद गुरुवर्य महाराज के चरणारविन्द में समर्पण करेंगे, तो वह गुरुपद प्राप्त कर बालेन्दु के समान त्रिभुवन का पूज्य होगा। अतः आप सोचविचार कर उत्तर दीजिए। आप पुत्रहितैषी हैं, साथ ही आप में साहित्य और संस्कृति के संरक्षण की भी ममता है। मंत्री के इन वचनों को सुनकर चाचिग ने कहा—'आपका वचन ही प्रमाण है, मैंने अपने पुत्ररत्न को गुरुजी को ही भेंट किया'। देवचन्द्राचार्य इन वचनों को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और धर्मप्रचार की महत्वाकांक्षा से कमलदल में अवरुद्ध पद्म की पँखुड़ियों की तरह उनका मुखकमल विकसित हो गया।

इसके पश्चात् उदयन मंत्री के सहयोग से चाचिग ने चाङ्गदेव का दीक्षा महोत्सव सम्पन्न किया। चतुर्विध संघ के समक्ष देवचन्द्राचार्य ने स्तम्भतीर्थ

के पार्श्वनाथ चैत्यालय में विक्रम सं० ११५४ माघ शुक्ला १४ शनिवार को धूमधामपूर्वक दीक्षा संस्कार सम्पादित किया और चाङ्गदेव का दीक्षा नाम सोमचन्द्र रखा।

हेमचन्द्र का शैशवकालीन उक्त इतिवृत्त प्रबन्धचिन्तामणि के आधार पर लिखा गया है। ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य कुमारपालप्रबन्ध, चन्द्रप्रभसूरि विरचित प्रभावकचरित एवं राजशेखरसूरि विरचित प्रबन्धकोश में यह इतिवृत्त कुछ रूपान्तरित मिलता है। प्रभावकचरित में बताया गया है कि पाहिणी ने स्वप्न देखा[1], कि उसने चिन्तामणि रत्न अपने आध्यात्मिक परामर्शदाता को सौंप दिया हैं। उसने यह स्वप्न साधु देवचन्द्राचार्य के सम्मुख कह सुनाया। देवचन्द्र ने इस स्वप्न का विश्लेषण करते हुए कहा कि उसे एक ऐसा पुत्र रत्न प्राप्त होगा, जो जैन सिद्धान्त का सर्वत्र प्रचार और प्रसार करेगा।

जब चाङ्गदेव पाँच वर्ष का हुआ, तब वह अपनी माता के साथ देवमन्दिर में गया और जब माता पूजा करने लगी तो आचार्य देवचन्द्र की गद्दी पर जाकर बैठ गया। आचार्य ने पाहिणी को स्वप्न की याद दिलायी और उसे आदेश दिया कि वह अपने पुत्र को शिष्य के रूप में उन्हें समर्पित कर दे। पाहिणी ने अपने पति की ओर से कठिनाई उपस्थित होने की बात कही, इस पर देवचन्द्राचार्य मौन हो गए। इस पर पाहिणी ने अनिच्छापूर्वक अपने पुत्र को आचार्य को भेंट कर दिया। तत्पश्चात् देवचन्द्र अपने साथ लड़के को स्तम्भतीर्थ ले गए जो आधुनिक समय में काम्बे कहलाता है। यह दीक्षा संस्कार विक्रम सं० ११५० में माघशुक्ला १४ शनिवार को हुआ।

ज्योतिष की दृष्टि से कालगणना करने पर माघ शुक्ला १४ को शनिवार विक्रम सं० ११५४ में पड़ता है, वि० सं० ११५० में नहीं। अतः प्रभावक चरित का उक्त संवत् अशुद्ध मालूम पड़ता है।

शैशव काल के संबंध में एक तीसरी कथा ऐसी उपलब्ध है, जो न तो प्रभावक चरित में मिलती है और न मेरुतुंग की प्रबन्धचिन्तामणि में। इस कथा के लेखक राजशेखर सूरि हैं। इन्होंने अपने प्रबन्धकोश में बताया है कि देवचन्द्र की धर्मोपदेश-सभा में नेमिनाग नामक श्रावक ने उठकर कहा कि 'भगवन्'! यह मेरा भानजा आपकी देशना सुनकर प्रबुद्ध हो दीक्षा माँगता है। जब यह गर्भ में था तब मेरी बहन ने स्वप्न में एक आमका सुन्दर वृक्ष देखा था, जो स्थानान्तर में बहुत फलवान् होता हुआ दिखलायी पड़ा।' गुरुजी ने कहा 'इसके पिता की अनुमति आवश्यक है।' इसके पश्चात् मामा नेमिनाग ने अपनी बहन

१. प्रभावकचरित पृष्ठ २९८ श्लो० २७–४५।

के घर पहुँच कर मामले की [illegible] की चर्चा की। माता-पिता के निषेध करने पर भी चाङ्गदेव ने दीक्षा धारण कर ली।

कुमारपाल प्रबन्ध ने लिखा है, कि एक बार पाहिणी ने देवचन्द्र से कहा, कि मैंने स्वप्न में ऐसा देखा है कि मुझे चिन्तामणि रत्न प्राप्त हुआ है जो मैंने आपको दे दिया। गुरु जी ने कहा कि इस स्वप्न का यह फल है कि—तेरे एक चिन्तामणि तुल्य पुत्र उत्पन्न होगा, परन्तु गुरु को सौंप देने से वह सूरिराज होगा, गृहस्थ नहीं। कालान्तर में जब चाङ्गदेव गुरु के आसन पर जा बैठा, तब उन्होंने कहा देख पाहिणी सुश्राविके! तूने एक बार जो अपने स्वप्न की चर्चा की थी उसका फल आँख के सामने आ गया है। अनन्तर देवचन्द्र संघ के साथ चाङ्गदेव की याचना करने पाहिणी के घर पहुँचे। पाहिणी ने घरवालों का विरोध सहकर भी अपना पुत्र देवचन्द्र को सौंप दिया।

शिक्षा और सूरिपद—

दीक्षित होने के उपरान्त सोमचन्द्र का विद्याध्ययन प्रारम्भ हुआ। तर्क, लक्षण एवं साहित्य विद्या का बहुत थोड़े ही समय में पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। देवचन्द्र सूरि ने सात वर्ष, आठ महीने एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिभ्रमण करते हुए और चार महीने किसी सद्गृहस्थ के यहाँ निवास करते हुए व्यतीत किए। सोमचन्द्र भी उनके साथ बराबर थे, अतः अल्पायु में ही इन्होंने देश—देशान्तरों के परिभ्रमण से अपने शास्त्रीय और व्यावहारिक ज्ञान की वृद्धि की। हमें इनका नागपुर में धनद नामक सेठ के यहाँ तथा देवेन्द्रसूरि और मलयगिरि के साथ गौड़देश के खिल्लर ग्राम एवं स्वतः काश्मीर में जाना मिलता है। इक्कीस वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने समस्त शास्त्रों का आलोडन-विलोडन कर अपने ज्ञान को वृद्धिंगत किया था।

ज्ञान के साथ—साथ चरित्र भी अपूर्व कोटि का था। चतुर्विध संघ इनके गुणों से अत्यधिक प्रभावित था। आचार्य के ३६ गुण इनमें आत्मसात् हो चुके थे, अतः नागपुर के धनद नामक व्यवहारी ने विक्रम सं० ११६६ में सूरि पद प्रदान महोत्सव सम्पन्न किया। सोमचन्द्र की हेम के समान कान्ति और चन्द्र के समान आह्लादकता होने के कारण—तदनुकूल 'हेमचन्द्राचार्य' यह संज्ञा रखी गयी। इक्कीस वर्ष की अवस्था में सूरि पद को प्राप्त कर हेमचन्द्र ने साहित्य और समाज की सेवा करने का आयास आरंभ किया। इस नवीन आचार्य की विद्वत्ता, तेज, प्रभाव और स्पृहणीय गुण, दर्शकों को सहज ही में अपनी ओर आकृष्ट करने लगे।

हेमचन्द्र ने अपने गुरु का नामोल्लेख किसी भी कृति में नहीं किया है।

प्रभावक चरित और कुमारपाल प्रबन्ध के उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है, कि हेमचन्द्र के गुरु देवचन्द्र ही रहे होंगे। देवचन्द्राचार्य को हम एक सुयोग्य विद्वान् के रूप में पाते हैं। अतः इसमें आशंका की गुंजायश नहीं कि हेमचन्द्र को किसी अन्य विद्वान् आचार्य ने शिक्षा प्रदान की होगी। हाँ, यह सत्य प्रतीत होता है, कि हेमचन्द्र का कुछ काल के उपरान्त अपने गुरु से अच्छा संबंध नहीं रहा। इसी कारण उन्होंने अपनी कृतियों में गुरु का उल्लेख नहीं किया है। मेरुतुंग ने एक उपाख्यान लिखा है जिससे उनके गुरु-शिष्य संबंध पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। बताया गया है कि देवचन्द्र ने अपने शिष्य को स्वर्ण बनाने की कला बताने से इन्कार कर दिया, यतः शिष्य ने अन्य सरल विज्ञानों की सुचारु रूप से शिक्षा प्राप्त नहीं की थी। अतएव स्वर्ण गुटिका की शिक्षा देना उन्होंने अनुचित समझा। हो सकता है उक्त घटना ही गुरु-शिष्य के मनमुटाव का कारण बन गयी हो।

प्रभावकचरित से ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र ने ब्राह्मीदेवी—जो विद्या की अधिष्ठात्री मानी गयी हैं—की साधना के निमित्त काश्मीर की एक यात्रा आरम्भ की। वे इस साधना द्वारा अपने समस्त प्रतिद्वंद्वियों को पराजित करना चाहते थे। मार्ग में जब ताम्रलिप्ति होते हुए रैवन्तगिरि पहुँचे, तो नेमिनाथ स्वामी की इस पुण्यभूमि में इन्होंने योगविद्या की साधना आरम्भ की। इस साधना के अवसर पर ही सरस्वती उनके सम्मुख प्रकट हुई और कहने लगी—'वत्स ! तुम्हारी समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण होंगी। समस्त वादियों को पराजित करने की क्षमता तुम्हें प्राप्त होगी। इस वाणी को सुनकर हेमचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपनी आगे की यात्रा स्थगित कर दी और वापस लौट आये।[१]

उपर्युक्त घटना असंभव नहीं मालूम होती है। इसका समर्थन 'अभिधान चिन्तामणि, से भी होता है। भारत में कई मनीषी विद्वानों ने मन्त्रों की साधना द्वारा ज्ञान प्राप्त किया है। हम नैषधकार श्रीहर्ष तथा कालिदास के संबंध में भी ऐसी बातें सुनते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज जयसिंह—

हेमचन्द्र का गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह के साथ सर्वप्रथम कब और कैसे मिलन हुआ इसका संतोषजनक इतिवृत्त उपलब्ध नहीं होता है। कहा जाता है कि एक दिन सिद्धराज जयसिंह हाथी पर सवार होकर पाटण के राजमार्ग से जा रहे थे। उनकी दृष्टि मार्ग में ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक जाते हुए हेमचन्द्र पर

---

१. विशेष के लिए, देखें—लाइफ आव् हेमचन्द्र द्वितीय अध्याय।
तथा काव्यानुशासन की अंग्रेजी प्रस्तावना पृ. cclxvi–cclxix.

पड़ी। मुनीन्द्र की शान्त मुद्रा ने राजा को प्रभावित किया और अभिवादन के पश्चात् उन्होंने कहा, प्रभो ! आप महल में पधारकर दर्शन देने की कृपा करें। तदनन्तर हेमचन्द्र ने यथावसर राजसभा में प्रवेश किया, और अपनी विद्वत्ता तथा चारित्रबल से राजा को प्रसन्न किया। इस प्रकार राजदरबार में इनका प्रवेश आरंभ हुआ और इनके पाण्डित्य, दूरदर्शिता और सर्वधर्म स्नेह के कारण इनका प्रभाव राजसभा में उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

सिद्धराज को धर्म-चर्चा सुनने की बड़ी अभिरुचि थी। एक बार उन्होंने हेमचन्द्र से कहा कि हम दर्शन ग्रन्थों में अपने मत की स्तुति और दूसरों के मत की निन्दा सुनते हैं। प्रभो ! बतलाइये कि संसार-सागर से पार करने वाला कौनसा धर्म है? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने पुराणोक्त शाम्ब का निम्नलिखित आख्यान कहा :—

"शंखपुर में शाम्ब नामक एक सेठ और यशोमति नाम की उसकी स्त्री रहती थी। पति ने अपनी पत्नी से अप्रसन्न होकर एक दूसरी स्त्री से विवाह कर लिया। अब वह नवोढा के वश होकर बेचारी यशोमति को फूटी आँखों से देखना भी बुरा समझने लगा। यशोमति को अपने पति के इस व्यवहार से बड़ा कष्ट हुआ और वह प्रतिकार का उपाय सोचने लगी।

एक बार कोई कलाकार गौड देश से आया। यशोमति ने उसकी पूर्ण श्रद्धा-भक्ति से सेवा की और उससे एक ऐसी औषधि ले ली, जिसके द्वारा पुरुष पशु बन सकता था। यशोमति ने आवेशवश एक दिन भोजन में मिलाकर उक्त औषधि को अपने पति को खिला दिया, जिससे वह तत्काल बैल बन गया। अब उसे अपने इस अधूरे ज्ञान पर बड़ा दुःख हुआ और सोचने लगी कि वह बैल का पुरुष किस प्रकार बनावे। अतः लज्जित और दुःखित होकर जंगल में किसी घासवाली भूमि में एक वृक्ष के नीचे बैल रूपी पति को घास चराया करती थी और बैठी बैठी विलाप करती रहती। दैवयोग से एक दिन शिव और पार्वती विमान में बैठे हुए आकाश मार्ग से उसी ओर जा रहे थे। पार्वती ने उसका करुण विलाप सुनकर शंकर भगवान् से पूछा—स्वामिन् ! इसके दुःख का कारण क्या है? शंकर ने पार्वती का समाधान किया और कहा कि—इस वृक्ष की छाया में ही इस प्रकार की औषधि विद्यमान है जिसके सेवन से यह पुनः पुरुष बन सकता है। इस संवाद को यशोमति ने भी सुन लिया और उसने तत्काल ही उस छाया को रेखाङ्कित कर दिया और उसके मध्यवर्त्ती समस्त घास के अंकुरों को तोड़-तोड़ कर बैल के मुख में डाल दिया। घास के साथ औषधि के चले जाने पर वह बैल पुनः पुरुष बन गया।

आचार्य हेमचन्द्र ने आख्यान का उपसंहार करते हुए कहा—राजन् !

जिस प्रकार नाना प्रकार की घासों के मिल जाने से यशोमति को औषधि की पहिचान नहीं हो सकी, उसी प्रकार इस युग में कई धर्मों से सत्य धर्म तिरोभूत हो रहा है। परन्तु समस्त धर्मों के सेवन से उस दिव्य औषधि की प्राप्ति के समान पुरुष को कभी न कभी शुद्ध धर्म की प्राप्ति हो ही जाती है। जीव-दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के सेवन से बिना किसी विरोध के समस्त धर्मों का आराधन हो जाता है। आचार्य के इस उत्तर ने समस्त सभासदों को प्रभावित किया।

आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज जयसिंह के प्रथम मिलन के संबंध में एक इस प्रकार का उल्लेख भी उपलब्ध होता है कि—जयसिंह एक बार हाथी पर सवार हो नगर का परिभ्रमण करने निकले। मार्ग में सूरि को एक दूकान पर खड़े देखा और उनसे कुछ कहने को कहा। सूरि ने राजा की प्रशंसा में निम्न श्लोक कहा :—

कारय प्रसरं सिद्धहस्तिराजमशङ्कितम्।
त्रस्यन्तु दिग्गजाः किंतैर्भूस्त्वयैवोद्धृता यतः॥

कहा जाता है कि इस श्लोक को सुनकर जयसिंह प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने दरबार में सूरि को बुलाया। मालव की विजय के उपरान्त जब सिद्धराज जयसिंह को आशीर्वाद देने के लिए सभी धर्मवाले एकत्र हुए थे, उस समय जैनधर्म का प्रतिनिधित्व हेमचन्द्र सूरि ने ही किया था। यह मिलन विक्रम सं० ११९१–११९२ में हुआ होगा।

सिद्धहेम कब और कैसे लिखा गया—

कहा जाता है कि हेमचन्द्र के द्वारा पढ़े गये श्लोक[1] की गम्भीर अर्थचातुरी से उपस्थित समस्त विद्वान् अधिक चमत्कृत हुए और सूरि की प्रशंसा करने लगे। इस अवसर पर एक असहिष्णु ने कहा कि यह हमारे सनातन शास्त्रों का ही प्रभाव है, उन्हीं के अध्ययन से इन्हें ऐसी विद्वत्ता प्राप्त हुई है। राजा ने हेमचन्द्र से पूछा—'क्या यह यथार्थ है?' उन्होंने उत्तर दिया कि हम तो उस जैनेन्द्र व्याकरण का अध्ययन करते हैं, जिसका महावीर ने इन्द्र के समक्ष बाल्य-काल में व्याख्यान किया था। राजा ने कहा—'इस पुरानी बात को जाने दीजिए और किसी दूसरे इधर के वैयाकरण का नाम लीजिए।' हेमचन्द्र ने उत्तर दिया—'यदि आप सहायक हों तो एक नवीन पञ्चाङ्ग व्याकरण तैयार किया जाय।' सिद्धराज जयसिंह के द्वारा स्वीकृति मिलने पर काश्मीर देश के प्रवरपुर के भारती कोष से तथा अन्य देशों से कई प्राचीन व्याकरणों की प्रतियाँ मँगाई गईं

१. देखें प्रभावकचरित पृ० ३०० श्लो० ७२।

और व्याकरण शास्त्र के कई विद्वान् देश-देशान्तरों से बुलाये गये। हेमचन्द्र ने एक वर्ष में समस्त व्याकरण ग्रन्थों का अवगाहन कर पञ्चाङ्गपूर्ण—सूत्र, उणादि-गण सूत्र, गणपाठ, लिङ्गानुशासन एवं धातुपाठयुक्त व्याकरण ग्रन्थ रचा। अपने इस अभिनव व्याकरण ग्रन्थ का नाम सिद्धहैमशब्दानुशासन रखा। कहा जाता है कि शुद्धाशुद्ध की परीक्षा के बाद यह ग्रन्थ राजकीय कोष में स्थापित किया गया और ३०० लेखकों द्वारा तीन वर्ष तक इसकी प्रतियाँ तैयार कराई गईं और राजाज्ञा से अठारह देशों में अध्ययन-अध्यापनार्थ भेजी गईं।

सिद्धहैमशब्दानुशासन की रचना के हेतु के सम्बन्ध में यह भी बताया जाता है कि—मालव विजय में अनेक प्रकार की वस्तुओं के साथ जयसिंह को अवन्ती का पुस्तकालय भी उपलब्ध हुआ था। दरबारी लोग राजा को अवन्ती के पुस्तकालय की विभिन्न पुस्तकें दिखला रहे थे, उस समय राजा की दृष्टि अनेक बहुमूल्य रचनाओं पर पड़ी। राजा ने उन पुस्तकों के परिचय की जिज्ञासा प्रकट की। इसपर हेमचन्द्र ने बताया कि ये उत्तम रचनाएँ भोज की विद्वत्ता एवं विद्वत्प्रियता का परिणाम हैं। इसी कारण इस पुस्तकालय के दुर्लभ ग्रन्थों में अलंकार, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विभिन्न विभिन्न विषयों के ग्रन्थों की बहुलता है। इस पर जयसिंह के मन में साहित्यिक ईर्ष्या जाग्रत हुई और उन्होंने कहा, कि क्या हमारे यहाँ श्रेष्ठ व्याकरण की रचना नहीं हो सकती है? उपस्थित लोगों ने आचार्य हेमचन्द्र की ओर सङ्केत किया और हेमचन्द्र ने राजाज्ञा प्राप्तकर काश्मीर से व्याकरण की आठ पुस्तकें मँगाईं तथा प्रस्तुत शब्दानुशासन की रचना की[१]।

उपर्युक्त घटना में भले ही नाटकीय संवेदन हो, पर इतना सत्य है कि मालव और गुजरात की द्वेषभावना राजनीतिक ही नहीं थी, अपितु साहित्यिक और सांस्कृतिक भी थी। अतः संभव है कि गुजरात का पृथक् व्याकरण तैयार कराने के लिए जयसिंह ने हेमचन्द्र को प्रेरित किया हो और उसी प्रेरणा के

---

१. देखें पुरातत्त्व (पुस्तक चतुर्थ) गुजरात नुं प्रधान व्याकरण पृ० ६१ तथा—'अन्यदा सिद्धराजोऽपि जित्वा मालवमण्डलम्। समाजगाम तस्मै चाशिषं दर्शनिनो ददुः॥ ७०–८५ श्लो०॥ प्रभावकचरित पृष्ठ ३००–३०१

गौरीशंकर ओझा ने अपने राजपूताने के इतिहास भाग १ पृ. १९६ में लिखा है कि जयसिंह ने यशोवर्मा को वि. सं. ११९२–११९५ के मध्य हराया था। उज्जयिनी के शिलालेख से ज्ञात होता है कि मालवा विक्रम सं. ११९५ ज्येष्ठवदि १४ को सिद्धराज जयसिंह के अधीन था। इस उल्लेख के आधार पर 'सिद्ध-हैम व्याकरण' की रचना संवत् ११९० के लगभग हुई होगी।

बुद्धि प्रकाश, मार्च १९३५ के अंक में प्रकाशित।

फलस्वरूप हेमचन्द्र ने उपलब्ध विभिन्न व्याकरणों का सम्यक् अध्ययन कर अपना नया व्याकरण, सिद्धराज जयसिंह के नाम को अपने नामके साथ जोड़ कर 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' नामका ग्रन्थ रचा।

हेमचन्द्र और कुमारपाल—

सिद्धराज जयसिंह ने वि. सं. ११५१–११९९ तक राज्य किया। इनके स्वर्गवासी होने तक हेमचन्द्र की आयु ५४ वर्ष की थी। वे अब तक अच्छी प्रतिष्ठा पा चुके थे। सिद्धराज के कोई पुत्र नहीं था; इससे उनके पश्चात् गद्दी का झगड़ा उठा और अन्त में कुमारपाल नामक व्यक्ति वि० सं० ११९४ में मार्गशीर्ष कृष्णा १४ को राज्याभिषिक्त हुआ। सिद्धराज जयसिंह इस कुमारपाल को मारने की चेष्टा में था; अतः यह अपने प्राण बचाने के लिए गुप्त वेष धारण कर भागता हुआ स्तम्भतीर्थ पहुँचा। यहाँ पर यह हेमचन्द्र और उदयन मंत्री से मिला। दुःखी हो कुमारपाल ने सूरि से कहा—'प्रभो! क्या मेरे भाग्य में इसी तरह कष्ट भोगना लिखा है या और कुछ भी?' सूरीश्वर ने विचार कर कहा 'मार्गशीर्ष कृष्ण १४ वि० सं० ११९९ में आप राज्याधिकारी होंगे। मेरा यह कथन कभी असत्य नहीं हो सकता है'। उक्त वचन सुनकर कुमारपाल बोला—'प्रभो! यदि आपका वचन सत्य सिद्ध हुआ, तो आप ही पृथ्वीनाथ होंगे, मैं तो आप के पादपद्मों का सेवक बना रहूँगा।' हँसते हुए सूरीश्वर बोले—'हमें राज्य से क्या काम? यदि आप राजा होकर जैन धर्म की सेवा करेंगे तो हमें प्रसन्नता होगी।' तदनन्तर सिद्धराज के भेजे हुए राजपुरुष कुमारपाल को ढूँढते हुए स्तम्भतीर्थ में ही आ पहुँचे। इस अवसर पर हेमचन्द्र ने कुमारपाल को वसति के भूमिग्रह (तहखाने) में छिपा दिया और उसके द्वार को पुस्तकों से ढँक कर प्राण बचाये। तत्पश्चात् सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु हो जाने पर हेमचन्द्र की भविष्यवाणी के अनुसार कुमारपाल सिंहासनासीन हुआ[१]।

राजा बनने के समय कुमारपाल की अवस्था ५० वर्ष की थी। अतः उसने अपने अनुभव और पुरुषार्थ द्वारा राज्य की सुदृढ़ व्यवस्था की। यद्यपि यह सिद्धराज के समान विद्वान् और विद्यारसिक नहीं था, तो भी राज्य-व्यवस्था के पश्चात् धर्म और विद्या से प्रेम करने लगा था।

कुमारपाल की राज्यप्राप्ति सुनकर हेमचन्द्र कर्णावती से पाटन आये। उदयन मन्त्री ने उनका प्रवेशोत्सव किया। इन्होंने मंत्री से पूछा—'अब राजा हमें याद करता है या नहीं?' मन्त्री ने संकोच का अनुभव करते हुए स्पष्ट

---

१. देखें नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ६ पृष्ठ ४४३–४६८
(कुमारपाल को कुल में हीन समझने के कारण ही सिद्धराज उसे मारना चाहते थे)।

कहा—'नहीं अब याद नहीं करता।' सूरीश्वर ने मन्त्री से कहा 'आज आप राजा से कहें, कि वह अपनी नयी रानी के महल में न जावें। वहाँ आज दैवी उत्पात होगा। यदि राजा आप से पूछे कि यह बात किसने बतलाई, तो बहुत आग्रह करने पर ही मेरा नाम बतलाना। मन्त्री ने ऐसा ही किया। रात्रि को महल पर बिजली गिरी और रानी की मृत्यु हो गयी। इस चमत्कार से अति विस्मित हो राजा मन्त्री से पूछने लगा, कि यह बात किस महात्मा ने बतलायी थी। राजा के विशेष आग्रह करने पर मंत्री ने गुरु जी के आगमन का समाचार सुनाया और राजा ने प्रमुदित होकर उन्हें महल में बुलवाया। सूरीश्वर पधारे। राजा ने उनका सम्मान किया और कहा कि—'उस समय आपने हमारे प्राण बचाये और यहाँ आने पर आपने हमें दर्शन भी नहीं दिये। लीजिए अब आप अपना राज्य संभालिए। सूरि ने कहा—राजन्! अगर आप कृतज्ञता स्मरण कर प्रत्युपकार करना चाहते हैं, तो आप जैनधर्म स्वीकार कर उस धर्म का प्रसार करें। राजा ने शनैः शनैः उक्त आदेश को स्वीकार करने की प्रतिज्ञा की, इसने अपने राज्य में प्राणिवध, मांसाहार, असत्यभाषण, द्यूतव्यसन, वेश्यागमन, परधनहरण आदि का निषेध कर दिया। कुमारपाल के जीवन चरित से अवगत होता है कि उसने अन्तिम जीवन में पूर्णतया जैनधर्म स्वीकार कर लिया था।

कुमारपाल और हेमचन्द्र के मिलने के संबंध में डा० बुल्हर[१] ने बताया है कि हेमचन्द्र कुमारपाल से तब मिले, जब राज्य की समृद्धि और विस्तार हो गया था। डा० बुल्हर की इस मान्यता की आलोचना काव्यानुशासन की भूमिका में डा० रसिकलाल पारिख ने की है और उन्होंने उक्त कथन को विवादास्पद सिद्ध किया है।[२]

जिन मण्डन ने कुमारपाल प्रबन्ध[३] में दोनों के मिलने की घटना पर प्रकाश

---

1. See Note 53 in Dr Bulher's Life of Hemchandra PP. 83–84.

2. See Kavyanushasan Introduction pp. cclxxxiii –cclxxxiv.

3. कुमारपाल प्रबन्ध पृ० १८–२२.

See the Life of Hemchandracharya, Hemchandrā's own account of Kumarpal's Conversion pp. 32–40.

देखें—कुमारपाल प्रतिबोध पृ० ३. श्लो० ३००–४००.

तथा देखें—आचार्य विजयवल्लभ सूरि के स्मारक-ग्रन्थ के अन्तर्गत–हेमचन्द्राचार्य, एम नुं जीवन अनेकवम" शीर्षक गुजराती निबन्ध।

डालते हुए लिखा है कि—एक बार कुमारपाल, जयसिंह से मिलने गया था। मुनि हेमचन्द्र को उसने सिंहासन पर बैठे देखा। वह अत्यधिक आकृष्ट हुआ और उनके भाषणकक्ष में जाकर भाषण सुनने लगा। उसने पूछा—मनुष्य का सबसे बड़ा गुण क्या है? हेमचन्द्र ने कहा—'दूसरों की स्त्रियों में मा-बहन की भावना रखना सब से बड़ा गुण है। यदि यह घटना ऐतिहासिक है तो अवश्य ही वि. सं. ११६९ के आसपास घटी होगी, क्योंकि उस समय कुमारपाल को अपने प्राणों का भय नहीं था।

प्रभावक चरित से ज्ञात होता है कि जब कुमारपाल अर्णोराज को विजय करने में असफल रहा। मन्त्री बाहड़ की सलाह से उसने अजितनाथ स्वामी की प्रतिमा का स्थापन-समारोह किया, जिसकी विधि हेमचन्द्र ने सम्पन्न करायी थी।

यह तो सत्य है कि राज्य स्थापना के आरम्भ में कुमारपाल को धर्म के विषय में सोच-विचार करने का अवकाश नहीं था, क्योंकि पुराने राज्याधिकारियों से उसे अनेक प्रकार से संघर्ष करना पड़ा था। वि. सं. १२०७ के लगभग उसका जीवन आध्यात्मिक होने लगा था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हेमचन्द्र का सम्पर्क कुमारपाल से पहिले ही हो चुका था और राजा हो जाने के १६ वर्ष बाद उसने जैनधर्म अंगीकार किया। इसी कारण 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित' और 'अभिधानचिन्तामणि' में हेमचन्द्र ने कुमारपाल की प्रशस्ति दी है।

जिस प्रकार जयसिंह के अनुरोध पर हेमचन्द्र ने 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' की रचना की उसी प्रकार कुमारपाल के अनुरोध पर उन्होंने योगशास्त्र, वीतराग-स्तुति और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित' की रचना की है।

हेमचन्द्र का कुमारपाल पर प्रभाव और कुमारपाल का जैनधर्म में परिवर्त्तित होना—

कुमारपाल चरित, प्रभावक चरित और प्रबन्धचिन्तामणि के देखने से ऐसा लगता है कि—कुमारपाल पर जैनधर्म के आचार का बड़ा प्रभाव था। जैनधर्म में उसकी निष्ठा थी, हेमचन्द्र को वह अपना गुरु मानता था और जैन मन्दिरों में अपनी पूजा अर्पित करता था, पर उसने पूर्णतः जैनधर्म स्वीकार कर लिया था ऐसा प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऐतिहासिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि—वह सोमनाथ के शिव का भक्त था। शिलालेखों में कुमारपाल को 'महेश्वरनृपाग्रणी' कहा गया[1] है। हो सकता है—राजा होने के कारण कुमारपाल को सभी धर्मों के

1. We find in the last canto of the S. D. K. Kumarpal distinctly mentioning his devotion to Shiva, and secondly in the inscription of Bhava-

प्रति उदारता और सहिष्णुता रखनी पड़ती हो। श्रावक के द्वादश व्रत कुमार-पाल ने धारण किए थे। भक्ष्याभक्ष्य का उसे पूर्ण परिज्ञान था।

यशपाल द्वारा रचित 'मोहराज पराजय' नामक नाटक में कुमारपाल के सात्त्विक और आध्यात्मिक जीवन की पूर्ण झांकी मिलती है। अतः कुमारपाल ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था, इसमें आशंका नहीं रहती। राजा कुमारपाल ने अनेक मन्दिर बनवाये और विभिन्न देशों के १४४० विहार बनवाये तथा धर्म प्रभावना के अनेक कार्य किये।

हेमचन्द्र की धार्मिक उदारता और उनके वैशिष्ट्यबोधक आख्यान—

आचार्य हेमचन्द्र अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि थे। धार्मिक उदारता भी उनमें थी। कहा जाता है कि एक बार राजा कुमारपाल के सामने किसी मत्सरी ने कहा—'जैन प्रत्यक्ष देव सूर्य को नहीं मानते।' हेमचन्द्र ने कहा—वाह! कैसे नहीं मानते—

'अधाम धामधामैव वयमेव हृदिस्थितम्।
यस्यास्तव्यसने प्राप्ते त्यजामो भोजनोदके॥'

अर्थात्—हम लोग ही प्रकाश के धाम श्रीसूर्यनारायण को अपने हृदय में स्थित रखते हैं, उनके अस्तरूपी व्यसन को प्राप्त होते ही हम लोग अन्न और जल तक त्याग देते हैं। इस उत्तर को सुनकर उन ईर्षालुओं का मुँह बन्द हो गया।

एक बार देवपत्तन के पुजारियों ने आकर राजा से निवेदन किया कि 'सोमनाथ का मन्दिर बहुत ही जीर्ण-शीर्ण हो गया है, उसकी मरम्मत करानी चाहिए।' उनकी प्रार्थना सुनते ही राजा ने जीर्णोद्धार का कार्य आरम्भ कर दिया। जब एक बार वहाँ के मन्दिर के संबंध में वहाँ पंचकुल का पत्र आया तब राजा ने पूछा—इस धर्म भवन के निर्माणार्थ क्या करना चाहिए? हेमचन्द्र ने कहा कि—आपको या तो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विशेष देवार्चन में संलग्न रहना चाहिए अथवा मन्दिर के ध्वजारोपण तक मद्य-मांस के त्याग का व्रत धारण करना चाहिए। राजा ने सूरीश्वर के परामर्शानुसार उक्त व्रत धारण किया। कुमारपाल ने जब सोमेश्वर की यात्रा की तो हेमचन्द्र को भी इस यात्रा में चलने का निमंत्रण दिया। हेमचन्द्र ने तुरन्त स्वीकार कर उत्तर दिया कि—भला! भूखे से निमंत्रण का क्या आग्रह! हम तपस्वियों का तो तीर्थाटन मुख्य धर्म ही है। इसके पश्चात् राजा ने उनको सुखासन, वाहनादि ग्रहण करने को कहा। परन्तु उन्होंने पैदल यात्रा करने की इच्छा प्रकट की

Brahaspati of the Kumarpal's reign, he is called 'महेश्वरनृपाग्रणी' The foremost of Maheshwar king (V. 47).

और कहा कि—हमारा विचार शीघ्र ही प्रयाण करने का है जिससे शत्रुञ्जय और गिरनार आदि महातीर्थों की भी यात्रा कर हम आपके पहुँचते २ देवपत्तन पहुँच जावें। राजा ने यात्रा प्रारम्भ की। वे देवपत्तन के निकट आ पहुँचे, परन्तु आचार्य हेमचन्द्र के दर्शन नहीं हुए। पर जब नगर में राजा का प्रवेशोत्सव सम्पन्न किया जा रहा था उस समय सूरीश्वर भी उपस्थित थे। राजा ने बहुत भक्ति से सोमेश्वर के लिङ्ग की पूजा की और हेमचन्द्र से कहा कि यदि आपको कोई आपत्ति न हो तो आप भी त्रिभुवनेश्वर श्री सोमेश्वर देव का अर्चन करें। हेमचन्द्र ने यहाँ सोमेश्वर का अर्चन किया, निजनिर्मित श्लोकों द्वारा उनकी स्तुति की। कहा जाता है कि—हेमचन्द्र ने यहाँ राजा को साक्षात् महादेव के दर्शन कराये, जिससे राजा ने कहा कि महर्षि हेमचन्द्र सब देवताओं के अवतार और त्रिकालज्ञ हैं। इनका उपदेश मोक्षमार्ग को देने वाला है।

कुमारपाल ने जीवहिंसा का सर्वत्र निषेध करा दिया था। इनकी कुलदेवी कण्टेश्वरी देवी के मन्दिर में बलिदान होता था। आश्विनमास का शुक्लपक्ष आया तो पुजारियों ने राजा से निवेदन किया, कि यहाँ पर सप्तमी को ७०० पशु और सात भैंसे, अष्टमी को ८०० पशु और आठ भैंसे तथा नवमी को ९०० पशु और ९ भैंसे राज्य की ओर से देवी को चढ़ाये जाते हैं। राजा इस बात को सुनकर हेमचन्द्र के पास गया और इस प्राचीन कुलाचार का वर्णन किया। हेमचन्द्र ने कान में ही राजा को समझा दिया, जिसे सुनकर उसने कहा—अच्छा! जो दिया जाता है, वह हम भी यथाक्रम देंगे। तदनन्तर राजा ने देवी के मन्दिर में पशु भेजकर उनको ताले में बन्द करा दिया और पहरा रख दिया। प्रातःकाल स्वयं राजा आया और देवी के मन्दिर के ताले खुलवाए। वहाँ सब पशु आनन्द से लेटे थे। राजा ने कहा—देखो, ये पशु मैंने देवी को भेंट किए थे, यदि इन्हें पशुओं की इच्छा होती, तो वे इन्हें खा लेतीं। परन्तु उन्होंने एक को भी नहीं खाया। इससे स्पष्ट है कि उन्हें मांस अच्छा नहीं लगता, तुम उपासकों को ही यह भाता है। राजा ने सब पशुओं को छुड़वा दिया। दशमी की रात को राजा को कण्टेश्वरी देवी स्वप्न में दिखाई दी और शाप दे गई, जिससे वह कोढ़ी हो गया। उदयन ने बलि देने की सलाह भी दी; परन्तु राजा ने किसी के प्राण देने की अपेक्षा अपने प्राण देना अच्छा समझा। जब आचार्य हेमचन्द्र को इस संकट का पता लगा, तो उन्होंने जल मंत्रित करके दे दिया; जिससे राजा का दिव्य रूप हो गया।[1] इस प्रकार हेमचन्द्र की महत्ता

---

१. देखें—कुमारपालेन अमारौ प्रारब्धायां आश्विन सुदिपक्षः समागात्।····
······राजादोगुन्दुकदेव इव दिव्यरूपः सम्पन्नो भक्तश्च समधिकम्।

प्रबन्धकोश पृ० ४७-४८

के संबंध में अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं।

कहा जाता है कि काशी से विश्वेश्वर नामक कवि पाटण आया और वहाँ हेमचन्द्र की विद्वत्समिति में सम्मिलित हुआ। उसने कहा "पातु वो हैमगोपालः कम्बलं दण्डमुद्वहन्" अर्थात् कम्बल और लट्ठ लिए हुए हेम (चन्द्र) ग्वाल तुम्हारी रक्षा करें। इतना कह चुप हो गया। कुमारपाल भी वहां विद्यमान थे। इस वाक्य को निन्दा विधायक समझ उनकी त्योरी चढ़ गयी। कवि को तो वहाँ पर लोगों के हृदय और मस्तिष्क की परीक्षा करनी थी, उसने यह दृश्य देख तुरन्त अधोलिखित श्लोकार्ध पढ़ा—"षड्दर्शनपशुग्रामं चारयन् जैनगोचरे"[१]। अर्थात् वह गोपाल, जो षड्दर्शन रूपी पशुओं को जैन तृणक्षेत्र में हाँक रहा है। इस उत्तरार्ध से उसने समस्त सभ्यों को संतुष्ट कर दिया।

हेमचन्द्र की रचनाएँ—

हेमचन्द्र की रचनाओं की संख्या त्रिकोटि—तीन करोड़ बतायी जाती है। यदि इसे हम अतिशयोक्ति मान लें, तो भी १०० से अधिक इनकी रचनाएँ होंगी। इन्हें कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि से भूषित किया गया था। इनकी रचनाओं के देखने से यह स्पष्ट है कि हेमचन्द्र अपने समय के अद्वितीय विद्वान् थे और समस्त साहित्य के इतिहास में किसी दूसरे ग्रन्थकार की इतनी अधिक मात्रा में विविध विषयों की रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। महत्त्वपूर्ण रचनाएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) पुराण—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित।—इसमें इन्होंने संस्कृत में काव्यशैली द्वारा जैनधर्म के २४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्त्ती, ९ नारायण, ९ प्रति-नारायण एवं ९ बलदेव इन ६३ प्रमुख व्यक्तियों के चरित का वर्णन किया है। यह ग्रन्थ पुराण और काव्य कला दोनों ही दृष्टियों से उत्तम है। परिशिष्ट पर्व तो भारत के प्राचीन इतिहास की गवेषणा में बहुत उपयोगी है।

(२) काव्य—कुमारपाल चरित, इसे द्व्याश्रय काव्य भी कहते हैं। इस नाम के दो कारण हो सकते हैं। प्रथम कारण तो यह है कि—यह संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं में लिखा गया है। द्वितीय कारण यह भी सम्भव है कि—इस कृति का उद्देश्य अपने समय के राजा कुमारपाल का चरित वर्णन करना है और इससे भी अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य अपने संस्कृत और प्राकृत व्याकरण के सूत्र क्रमानुसार ही नियमों के उदाहरण प्रस्तुत करना है। यह कितना कठिन कार्य है? इसे सहृदय काव्यरसिक जन ही जान सकते हैं।

(३) व्याकरण—शब्दानुशासन। इसमें आठ अध्याय हैं, प्रथम सात

१. देखें—प्रभावक चरित पृष्ठ ३१५ श्लोक ३०४।

अध्यायों में संस्कृत भाषा का व्याकरण है और आठवें अध्याय में प्राकृत भाषा का। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के लिए यह व्याकरण उपयोगी और प्रामाणिक माना जाता है।

(४) कोष—इनके चार प्रसिद्ध कोष हैं।

(१) अभिधानचिन्तामणि (२) अनेकार्थसंग्रह (३) निघण्टु और (४) देशीनाममाला। प्रथम—अमरकोष के समान संस्कृत की एक वस्तु के लिए अनेक शब्दों का उल्लेख करता है। दूसरा—कोष, एक शब्द के अनेक अर्थों का निरूपण करता है। तीसरा—अपने नामानुसार वनस्पतिशास्त्र का कोष है एवं चौथा ऐसे शब्दों का कोष है, जो उनके संस्कृत एवं प्राकृत व्याकरण से सिद्ध नहीं होते और जिन्हें इसी कारण देशी माना है। प्राकृत, अपभ्रंश एवं आधुनिक भाषाओं के अध्ययन के लिए यह कोष बहुत ही उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है।

(५) अलंकार—काव्यानुशासन। यह अपने विषय का साङ्गोपाङ्ग पूर्ण ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने स्वयं ही सूत्र, अलंकार चूड़ामणि नाम की वृत्ति एवं विवेक नाम की टीका लिखी है। इसमें मम्मट की अपेक्षा काव्य के प्रयोजन, हेतु, अर्थालंकार, गुण, दोष, ध्वनि आदि सिद्धान्तों पर हेमचन्द्र ने विस्तृत और गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'हृद्यं साधर्म्यमुपमा' यह उपमा का लक्षण किसे अपनी ओर आकृष्ट न करेगा।

(६) छन्द—छन्दोऽनुशासन। इसमें संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य के छन्दों का निरूपण किया गया है। मूल ग्रन्थ सूत्रों में ही है। आचार्य ने स्वयं ही इसकी वृत्ति भी लिखी है। इन्होंने छन्दों के उदाहरण अपनी मौलिक रचनाओं द्वारा दिये हैं। इसमें रसगंगाधर के समान सब कुछ आचार्य का अपना है।

(७) न्याय—प्रमाणमीमांसा। इसमें प्रमाण और प्रमेय का सविस्तर विवेचन विद्यमान है। अनेकान्तवाद, प्रमाण, पारमार्थिक प्रत्यक्ष की तात्त्विकता, इन्द्रियज्ञान का व्यापारक्रम, परोक्ष के प्रकार, अनुमानावयवों की प्रायोगिक व्यवस्था, कथा का स्वरूप, निग्रहस्थान या जय-पराजय व्यवस्था, प्रमेय-प्रमाता का स्वरूप एवं सर्वज्ञत्व का समर्थन आदि मूल मुद्दों पर विचार किया गया है।

(८) योगशास्त्र—हेमचन्द्र ने योगशास्त्र पर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। इसमें जैनधर्म ही आध्यात्मिक शब्दावली का प्रयोग किया है। इसकी शैली पतञ्जलि के योगशास्त्र के अनुसार ही है; पर विषय और वर्णनक्रम दोनों में मौलिकता और भिन्नता है।

(९) स्तोत्र—द्वात्रिंशिकाएँ। स्तोत्र साहित्य की दृष्टि से हेमचन्द्र की उत्तम कृतियाँ हैं। वीतराग और महावीर स्तोत्र भी सुन्दर माने जाते हैं।

हेमचन्द्र का व्यक्तित्व और अवसान—

हेमचन्द्र का व्यक्तित्व बहुमुखी था। ये एक ही साथ एक महान् सन्त, शास्त्रीय विद्वान्, वैयाकरण, दार्शनिक, काव्यकार, योग्य लेखक और लोक चरित्र के अमर सुधारक थे। इनके व्यक्तित्व में स्वर्णिम प्रकाश की वह आभा थी जिसके प्रभाव से सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल जैसे सम्राट् आकृष्ट हुए। ये विश्वबन्धुत्व के पोषक और अपने युग के प्रकाशस्तम्भ ही नहीं अपि तु युग-युग के प्रकाशस्तम्भ हैं। इस युगपुरुष को साहित्य और समाज सर्वदा नतमस्तक हो नमस्कार करता रहेगा।

कुमारपाल ३० वर्ष ८ महीने और २७ दिन राज्य करके सन् ११७४ में सुरपुर सिधारे। इनके छः महीने पूर्व हेमचन्द्र ने ऐहिकलीला समाप्त की थी। राजा को इनका वियोग असह्य रहा। हेमचन्द्र के शरीर की भस्म को इतने लोगों ने अपने मस्तक पर लगाया कि अन्त्येष्टिक्रिया के स्थान पर एक गड्ढा हो गया, जो हेमखाडड नाम से प्रसिद्ध हुआ।

द्वितीय अध्याय

संस्कृत शब्दानुशासन का एक अध्ययन

व्याकरण के क्षेत्र में हेमचन्द्र ने पाणिनि, भट्टोजि दीक्षित और भट्टि का कार्य अकेले ही किया है। इन्होंने सूत्र, वृत्ति के साथ प्रक्रिया और उदाहरण भी लिखे हैं। संस्कृत शब्दानुशासन सात अध्यायों में और प्राकृत शब्दानुशासन एक अध्याय में, इस प्रकार कुल आठ अध्यायों में अपने अष्टाध्यायी—शब्दानुशासन को समाप्त किया है।

संस्कृत शब्दानुशासन के उदाहरण संस्कृत द्व्याश्रयकाव्य में और प्राकृत शब्दानुशासन के उदाहरण प्राकृत द्व्याश्रय काव्य में लिखे हैं। प्रस्तुत अध्याय में संस्कृत शब्दानुशासन का एक अध्ययन उपस्थित किया जाता है :—

प्रथमाध्याय : प्रथम पाद—

प्रथम पाद का सबसे पहिला सूत्र 'अर्हम्' १।१।१ है। यह मङ्गलार्थक है। इस पाद का दूसरा महत्त्वपूर्ण सूत्र 'सिद्धिः स्याद्वादात्' १।१।२ है। इस सूत्र द्वारा हेम ने समस्त शब्दों की सिद्धि—निष्पत्ति और ज्ञप्ति अनेकान्तवाद द्वारा ही स्वीकार की है।—वास्तविकता भी यही है। शब्दों की सिद्धि—निष्पत्ति और ज्ञप्ति का परिज्ञान स्याद्वाद सिद्धान्त द्वारा ही होता है, एकान्त द्वारा नहीं। 'लोकात्' १।१।३ सूत्र द्वारा हेम ने व्याकरण शास्त्र के लिए लौकिक व्यवहार की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है। १।१।४ सूत्र से सामान्य संज्ञाओं का विवेचन प्रारम्भ होता है। इस पाद में निम्नलिखित संज्ञाएँ प्रधान रूप से परिगणित की गई हैं।

१ स्वर[१] २ ह्रस्व[२] ३ दीर्घ ४ प्लुत ५ नामी[३] ६ समान[४] ७ सन्ध्यक्षर[५] ८ अनुस्वार[६] ९ विसर्ग १० व्यञ्जन[७] ११ धुट्[८] १२ वर्ग[९] १३ अघोष[१०] १४ घोषवत्[११] १५ अन्तस्थ[१२] १६ शिट्[१३] १७ स्व[१४] १८ प्रथमादि[१५] १९ विभक्ति[१६] २० पद[१७] २१ वाक्य[१८] २२ नाम[१९] २३ अव्यय और २४ संख्यावत्[२०]।

---

(१) औदन्ताः स्वराः १।१।४। (२) एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुताः १।१।५। (३) अनवर्णा नामी १।१।६। (४) लृदन्ताः समानाः १।१।७। (५) ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षरम् १।१।८। (६) अं अः अनुस्वारविसर्गौ १।१।९ (७) कादिर्व्यञ्जनम् (८) अपञ्चमान्तस्थो धुट् १।१।११। (९) पञ्चको वर्गः १।१।१२। (१०) आद्यद्वितीयशषसा अघोषाः १।१।१३। (११) अन्यो घोषवान् १।१।१४। (१२) यरलवा अन्तस्थाः १।१।१५। (१३) अं अः ≍क≍प शषसाः शिट् १।१।१६। (१४) तुल्यस्थानास्यप्रयत्नः स्वः १।१।१७। (१५) स्यौजसमौशष्टाभ्या··· १।१।१८। (१६) स्त्यादि विभक्तिः १।१।१९। (१७) तदन्तं पदम् १।१।२०। (१८) सविशेषणमाख्यातं वाक्यम् १।१।२६। (१९) अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम १।१।२७। (२०) डत्यतुसंख्यावत् १।१।३९।

इन संज्ञाओं में पद, अव्यय एवं संख्यावत् इन तीन संज्ञाओं का अलग अलग एक-एक प्रकरण है अर्थात् विशेष रूप में भी इन संज्ञाओं का विवेचन किया गया है, जैसे सामान्य रूप से स्याद्यन्त और त्याद्यन्त को (१।१।२०) पद कह देने के पश्चात् भवदीय आदि में निहित भवत् आदि का पदत्व विधान किया गया है। अव्यय संज्ञा के सामान्य विवेचन करने के अनन्तर— १–१–३१–१–१–३६ सूत्रों तक विशेष रूप से अव्यय संज्ञा का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार संख्यावत् संज्ञा का कथन सामान्य रूप से कर दिया गया है, किन्तु बाद में पाद के अन्तिम सूत्र १।१।४२ तक विशेष रूप से इस संज्ञा की विवेचना की गई है। उस वृत्ति में स्वयं ही आचार्य हेम ने उक्त संज्ञाओं का स्पष्टीकरण सोदाहरण किया है। अतएव स्पष्ट है कि इस पाद में केवल संज्ञाओं का निरूपण किया गया है। आगत सभी संज्ञाएँ सामान्य ही हैं, केवल कुछ संज्ञाओं का वर्णन विशेष रूप में आया है।

द्वितीय पाद—

संज्ञा प्रकरण के अनन्तर लाघवानुसार वर्ण कार्यों का विवेचन होना चाहिए; फलतः हेम ने भी यही क्रम रखा है। इस पाद में सर्वप्रथम दीर्घ सन्धि का कथन[१] है। तत्पश्चात् क्रम से गुण, वृद्धि, पूर्वलुक्, यण्, अयादि, परलुक्, अवसन्धि, असन्धि एवं अनुनासिक इन विभिन्न स्वर सन्धियों का सम्यग् विवेचन किया गया है।

१।२।३। सूत्र द्वारा ऱ्, ऌ को भी स्वर माना गया है। पाणिनीय शास्त्र में अवर्ण और ऋ के संयोग से गुण और वृद्धि अ तथा आ के रूप में होती है तथा उनके साथ अन्त में 'र' लगाने के लिए 'उरणरपरः' १।१।५१ एक पृथक् सूत्र लिखा है, किन्तु हेम ने एक ही सूत्र द्वारा सरलता से कार्य चला लिया है। पाणिनि ने ए अथवा ओ के पूर्व रहने वाले अ को ए, ओ में विलयन के लिए पर रूप तथा उसके बाद रहने वाले 'अ' को ए, ओ में विलीनीकरण के लिए पूर्व रूप संज्ञा दी है किन्तु हेम ने दोनो अवस्थाओं में ही 'अ' को लुक् कर दिया है। हेम की यह सरलता इनकी एक बड़ी उपलब्धि है।

अयादि सन्धि के लिए पाणिनि का 'एचोऽयवायावः' ६।१।७८ एक ही सूत्र है पर हेम ने इसके दो टुकड़े कर दिये हैं—एदैतोऽयाय् १।२।२३ तथा ओदौतोऽवाव् १।२।२४। पाणिनि ने 'ओ' के स्थान पर 'अवङ' का विधान किया है और ङ को अनुबन्ध मानकर हटाया है। हेम ने सीधे 'ओ' के स्थान पर 'अव' कर दिया है। प्रायः हेम अनुबन्ध के झंझट से सर्वत्र दूर रहे है। उनकी पहुँच सीधे प्रकृति और प्रत्यय के उस अंश पर होती है, जहाँ बिना

---

१. समानानां तेन दीर्घः १।२।१

किसी भी प्रकार का विकार किये साधनिका की प्रक्रिया का उपयोग हो जाता है।

जहाँ कोई सन्धि नहीं होती, वहां ज्यों का त्यों रूप रह जाता है। इसे पाणिनि ने प्रकृति भाव कहा है, किन्तु हेम ने इसे असन्धि कह कर सन्धियों का निषेध कर दिया है[1]।

तृतीय पाद —

द्वितीय पाद में स्वर सन्धियों का विवेचन किया गया है। क्रमानुसार इस तृतीय पाद में व्यञ्जन सन्धि का निरूपण किया गया है। इस प्रसंग में अनुनासिक, चतुर्थ व्यञ्जन, छ–विधि आदि विधियों के कथन के पश्चात् विसर्ग सन्धि के कतिपय नियम 'र क ख प फयोः≍क≍पौः' १।३।५; 'शषसे शषसं वा' १।३।६ 'एवं चटते द्वितीये' १।३।७ सूत्रों में बताये गये हैं। १।३।८ सूत्र से पुनः व्यञ्जन सन्धि का अनुक्रमण आरम्भ हो जाता है। इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि पाणिनि ने कहीं र अन्तिम न तथा म को रु करके और उसको विसर्ग बनाकर तब 'स' किया है। हेम ने सीधे न् और म् के स्थान पर 'स' आदेश कर दिया है। कहीं कहीं हेम ने "न्" के स्थान पर 'र' भी किया है यथा 'नृनः पेषु वा' १।३।१० सूत्र द्वारा 'नृंर्नॅ पाहि' की सिद्धि के लिए 'न्' के स्थान् पर 'र' करना पड़ा है। हम हेम की इस स् पद्धति में सरलीकरण की प्रक्रिया का पूरा उपयोग पाते हैं। कुछ दूर तक व्यञ्जन सन्धि के प्रचलित रहने के अनन्तर पुनः विसर्गसन्धि की बातें आ जाती हैं। इस प्रकरण के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि हेमचन्द्र विसर्ग सन्धि का अन्तर्भाव व्यञ्जन सन्धि में ही करते हैं। अतोऽति रो रुः १।३।२० तथा घोषवति १।३।२१ सूत्रों से स्पष्ट है कि इन्होंने विसर्ग को व्यञ्जन के अन्तर्गत ही माना है और इसी कारण व्यञ्जन सन्धि के विवेचन में साथ ही विसर्ग सन्धि की बातें भी बतला दी गई हैं। इसके अनन्तर इस पाद में व्यञ्जन लुक् प्रकरण आया है। इसमें 'य्' और 'व्' का लोप विधान है। ईषत्स्पृष्टतर शब्दों के लोप का विधान भी इसी पाद में वर्णित है। इसके अनन्तर य विधान, छ विधान, द्वित्व विधान, ढलोप विधान, सलोप विधान, विपर्यय, विसर्गविधान, तवर्ग का चवर्ग विधान, तवर्ग का टवर्ग विधान, तवर्ग का ल विधान एवं स का श और षत्व विधान आदि प्रकरणांश आये हैं। इनमें द्वित्व विधान की प्रक्रिया बहुत ही विस्तृत है। इस पाद में 'शिटयाद्यस्य द्वितीयो वा' १।३।५९ द्वारा 'ख्षीरम्, क्षीरम् तथा अप्सराः, अप्सराः जैसे शब्दों की सिद्धि प्रदर्शित की है। हिन्दी का 'खीर' शब्द हेमचन्द्र के 'ख्षीरम्' के बहुत नजदीक है। अवगत होता है कि हेमचन्द्र के समय में इस शब्द का प्रयोग होने लगा था।

---

१. वात्यसन्धिः १।२।३१—ॐ चोञ १।२।३९ सूत्र तक।

हेम ने इस पाद में व्यञ्जन और विसर्ग इन दोनों सन्धियों का सम्मिलित रूप में विवेचन किया है। इसमें कुछ सूत्र व्यञ्जन सन्धि के हैं तो कुछ विसर्ग के और आगे बढ़ने पर विसर्ग सन्धि के सूत्रों के पश्चात् पुनः व्यंजन संधि के सूत्रों पर लौट आते हैं अनन्तर पुनः विसर्ग सन्धि की बातें बतलाने लगते हैं। सामान्यतया देखने पर यह एक गड़बड़ झाला दिखाई पड़ेगा, पर वास्तविकता यह है कि हेमचन्द्र ने व्यञ्जन सन्धि के समान ही विसर्ग सन्धि को व्यञ्जन सन्धि ही माना है, यतः दोनों का एक जाति या एक ही कोटि का स्वरूप है। दूसरी बात यह है कि प्रायः यह देखा जाता है कि व्यञ्जन सन्धि के प्रसंग में आवश्यकतानुसार ही विसर्ग कार्य का समावेश हो जाया करता है। अतएव इस निष्कर्ष को मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि हेम ने विसर्ग को प्रधान न मानकर 'र्' को ही प्रधान माना है तथा स् और र् इन दोनों व्यञ्जनों के द्वारा विसर्ग का निर्वाह किया है। अतः इस एक ही पाद में सम्मिलित रूप से दोनों—विसर्ग और व्यञ्जन सन्धियों का विवेचन युक्ति संगत और वैज्ञानिक है। विस्तार को संक्षित करने की इस प्रक्रिया में हेम ने वस्तुतः एक नयी दिशा की ओर संकेत किया है। शब्दानुशासक की दृष्टि से हेम का यह अनुशासन नितान्त वैज्ञानिक है।

चतुर्थ पाद—

इस पाद के 'अत आः स्यादौ जस् भ्याम्ये' १।४।१ सूत्र से 'स्याद्यन्त प्रकरण' का प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों की सिद्धि का विधान है। इसके पश्चात् इकारान्त, उकारान्त, ऋकारान्त और इसके अनन्तर व्यञ्जनान्त शब्दों का नियमन किया गया है। इस प्रकरण की एक प्रमुख विशेषता यह है कि एक शब्द के सभी विभक्तियों के समस्त रूपों की पूर्णतया सिद्धि न बताकर सामान्य विशेष भाव से सूत्रों का निबन्धन किया गया है; जैसे अकारान्त शब्दों के कुछ विभक्ति रूपों का सिद्धि प्रकार बताया गया है, इसके बाद बीच में ही इकारान्त, उकारान्त शब्दों के रूप भी उक्त विभक्तियों में ही बतला दिये गये हैं। अभिप्राय यह है कि अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त और ऋकारान्त शब्दों की जिन २ विभक्तियों में समान कार्य होता है, उन २ विभक्तियों में शब्द रूपों की साधनिका समान रूप से बतला दी गयी है। जब विशेष कार्य का अवसर आया है तब विशेष रूपों का विधान कर दिया गया है। उदाहरणार्थ 'अम्' विभक्ति के संयोग से रूप बनाने के लिए पहिले नियम बनाना छोड़ दिया गया है और देवम्, मालाम्, मुनिम्, नदीम्, साधुम् एवं वधूम् आदि शब्दों की सिद्धि के लिए 'समानादमो ऽतः' १।४।४६ सूत्र लिखा है। इसी प्रकार 'दीर्घोनाम्यतिसृचतसृषः' १।४।४७ सूत्र द्वारा तिसृ, चतसृ, षान्त और रान्त शब्दों को छोड़कर नाम के बाद में रहने

पर पूर्ण स्वर को दीर्घ बनाने का विधान किया है। इस नियम के अनुसार वनानाम् ; मुनीनाम् , साधूनाम् , पितॄणाम् प्रभृति रूप सिद्ध होते हैं। इसके पश्चात् 'नुर्वा' १।४।४८ सूत्र से वैकल्पिक दीर्घ होता है। जैसे नृणाम् , नॄणाम् आदि। विशेष सूत्रों में अपवाद सूत्र भी परिगणित हैं। हेम की इस प्रक्रिया के कारण स्वरान्त शब्दों के साथ व्यञ्जनान्त शब्दों का भी नियमन होता गया है, जैसे **'संख्या सायवे रहस्याह्न ङौ वा'** १।४।५० सूत्र स्वरान्त शब्दों के मध्य में व्यञ्जनान्त शब्दों का भी नियमन करता है।

प्रथम अध्याय के तीन पादों में सन्धियों की चर्चा है। अतः क्रमानुसार चतुर्थ पाद में शब्द रूपों की विवेचना की गई है। इसकी भी एक सापेक्ष विशेषता यह है कि इस पाद में सूत्रों के आधीन आये हुए सन्धि नियमों का विवेचन किया गया है। यतः शब्द सिद्धि के साथ सन्धि का सम्बन्ध बना रहता है। इसी कारण इस पाद में भी सन्धि की कतिपय बातें आयी हैं। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक कार्य में सन्धि की आवश्यकता पड़ती ही है, अतः सन्धि नियमों की चर्चा करना इस पाद में भी आवश्यक था।

द्वितीयाध्याय : प्रथम पाद—

इस पाद का आरम्भ 'त्रिचतुरस्तिसृचतसृस्यादौ' २।१।१ सूत्र द्वारा त्रिशब्द (स्त्रीलिङ्ग) से होता है। इस पाद में इसी प्रकार के व्यञ्जनान्त शब्दों का अनुशासन किया गया है। स्त्रीलिङ्ग त्रि और चतुर् के अनन्तर जरा (जरस्) अप् , रै तथा युष्मद् और अस्मद् शब्दों का अनुशासन किया गया है। यद्यपि जरस् और युष्मद् के बीच "अप्" और "रै" शब्द का आ जाना कुछ खटकता सा है, किन्तु जब हेम की सूत्र प्रक्रिया पर दृष्टिपात करते हैं, तो हमें यह नितान्त उचित प्रतीत होता है, कि उक्त शब्दों का बीच में आना आनुषङ्गिक नहीं है बल्कि प्रासङ्गिक है। इन शब्दों के पश्चात् इदम् , तत् , अदस् शब्दों की प्रक्रिया का निरूपण है। इसके पश्चात् इयङ् और दीर्घ विधान उपलब्ध होता है। यह प्रकरण भी व्यञ्जनान्त शब्दों की ओर संकेत बनाये रखने की सूचना देता है। हेम ने पहिले बिना प्रकरण के जो सूत्र लिखे हैं, उनका कारण यह है कि उक्त सूत्रों में उदाहरण (स्वतन्त्र) दे दिये गये हैं। और जब व्यञ्जनान्त शब्दों का प्रकरण आरम्भ हुआ है, उस समय उनकी प्रक्रिया का निर्वाह किया गया है। कुछ सूत्र प्रकरण विरुद्ध से प्रतीत होते हैं, किन्तु संगति निर्वाह के लिए उनका आना भी आवश्यक है। यही कारण है कि इस पाद में कहीं २ तिङन्त, कृदन्त और तद्धित के सूत्र भी बीच में टपक पड़ते हैं। इसका कारण यही है कि साधनिका के लिए उपर्युक्त प्रकार के सूत्रों की आवश्यकता पहले ही प्रतीत हुई, अतः ये सूत्र अप्रासंगिक जैसे आभासित होते हैं। मूल बात यह है कि इस पाद में

व्यञ्जनान्त शब्दों का अनुशासन लिखा गया है और इसमें सहायक तद्धित, कृदन्त और तिङन्त के कुछ सूत्र भी आ गये हैं।

द्वितीय पाद—

इस पाद में कारक प्रकरण है। इसमें सावधानी से सभी कारक-नियमों को निबद्ध करने की चेष्टा की गई है। कारक की परिभाषा देते हुए "**क्रियाहेतुः कारकम्** २।२।१ **क्रियाया निमित्तं कर्त्रादिकारकं स्यात्। अन्वर्थाश्रयणाच्च निमित्तत्वमात्रेण हेत्वादेः कारकसंज्ञा न स्यात्।**" लिखा है। इससे स्पष्ट है कि हेम ने पाणिनि के समान विभक्त्यर्थ में '**कारके**' १।४।२३ सूत्र द्वारा कारक का अधिकार नहीं माना; बल्कि—आरम्भ में ही कारक की परिभाषा लिख कर कारक प्रकरण की घोषणा की। हेम ने कर्म कारक की परिभाषा में '**कर्त्तुर्व्याप्यं कर्म**' २।२।३ **कर्त्रा क्रियया यद्विशेषेणाप्तुमिष्यते तत्कारकं व्याप्यं कर्म च स्यात्। तत्त्रेधा** निर्वर्त्त्यं विकार्यं व्याप्यं च" अर्थात् निर्वर्त्य, विकार्य और व्याप्य इन तीनों अर्थों में कर्म कारक माना है। पाणिनि ने '**कर्तुरीप्सिततमं कर्म** १।४।४९ **कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्**" अर्थात् कर्त्ता क्रिया के द्वारा जिस इष्टतम को प्राप्त करना चाहता है उसकी कर्म संज्ञा बतायी है। इन दोनों संज्ञाओं की तुलना करने से ज्ञात होता है कि हेम ने पाणिनि के इष्टतम का अन्तर्भाव व्याप्य में कर लिया है। विकार्य और निवर्त्य के लिए पाणिनि को अगले सूत्रों में व्यवस्था देनी पड़ी है। हेम ने इस एक सूत्र द्वारा ही सब कुछ सिद्ध कर दिया है।

इस प्रकरण में '**उपान्वध्याङ्वसः** २।२।२१ सूत्र पाणिनि का १।४।४८ ज्यों का त्यों रखा है। **स्वतन्त्रः कर्त्ता** २।२।२, **साधकतमं करणम्** २।२।२४ हेम के ये दोनों सूत्र पाणिनि के १।४।५४ और १।४।४२ सूत्र हैं। शब्दानुशासन की दृष्टि से हेम ने उन सभी अर्थों में विभक्तियों का विधान प्रदर्शित किया है, जिन अर्थों में पाणिनि ने। हेम के इस प्रकरण में एक नई बात यह आई है कि बहुवत् भाव करने वाले सूत्रों (२।२।१२१, २।२।१२२, २।२।१२३ तथा २।२।१२४) को कारक प्रकरण में स्थान दिया है। पाणिनि ने इस बहुवत् भाव को शेष प्रकरण में स्थान दिया है, कारक में नहीं। यतः पाणिनि की दृष्टि में बहुवद् भाव कारकीय नहीं है, पर हेम ने इसे कारकीय मानकर अपनी वैज्ञानिकता का परिचय दिया है। क्यों कि एक वचन या द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का होना अर्थात् सि (पाणि० सु), औ के स्थान पर जस् का हो जाना कारकीय जैसा ही प्रतीत होता है। अतः हेम ने उक्त चारों सूत्रों को कारक पाद के अन्त में तत्सदृश होने से ग्रथित कर दिया है। इस बहुवद् भाव का संबंध आगे वाले पादों से नहीं है। इससे स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने बहुवद् भाव को भी कारक जैसा विधान ही माना है।

तृतीय पाद—

इस पाद में प्रधानरूप से सत्व, षत्व और णत्व विधि का प्रतिपादन किया गया है। सत्वविधि **'नमस्पुरसो प्रातेः कखपफि रः सः'** २।३।१ से आरम्भ हो कर **'सुगः स्यसनि'** २।३।६२ सूत्र तक चलती रहती है। इस प्रकरण में र का सः—**नाम्निनस्तयोः षः** २।३।८ से २।३।६२ तक स के स्थान पर षत्व-विधि का कथन किया गया है। इस विधि द्वारा अव्यय, समास, क्रिया के संबंध पदाभ्यन्तरीय, स्वतन्त्रपदों, उपसर्गसन्निधियुक्त, पदादि, धात्वादि, धातुगत उपसर्ग के संयोग एवं अर्थ विशेष बोधक धातुओं में र एवं स का षत्वविधान किया गया है।

इसके पश्चात् णत्वविधान आरम्भ होता है। यह विधान २।३।६३ से २।३।९७ तक चलता है इसमें समास, कृदन्त, तद्धित, तिङन्त, उपसर्ग अव्यय आदि के संयोग और उनकी भिन्न भिन्न स्थितियों में णत्वभाव दिखाया गया है। इसके पश्चात् इस पाद में **'ऋरलृलंकृपोऽकृपीटादिषु'** २।३।९९ से **परेर्घाऽङ्कयोगे'** २।३।१०३ सूत्र तक र का लत्व विधान सिद्ध किया गया है। इस विधान का आधार भी उपसर्गयोग, विशेष क्रिया वाची शब्द एव अन्य कतिपय शब्द हैं। अनन्तर **'ऋफिडादीनां डश्चलः'** २।३।१०४ सूत्र में ऋफिड, ऋतक, कपरिका के ऋ, र और ड का लत्व विधान दिखलाया है। इस पाद का अन्तिम सूत्र **'जपादीनां यो वः'** २।३।१०५ प को वैकल्पिक रूप से व होने का विधान करता है और इसके उदाहरणों में जवा, जपा, पारावतः—पारापतः शब्दों को उपस्थित किया गया है।

संक्षेपतः इस पाद में षत्व, णत्व, लत्व एवं वत्व विधियों का प्ररूपण किया गया है। षत्व २।३।६२ में समाप्त हो कर णत्व विधि २।३।९७ तक चलती है। इस प्रकरण के अनन्तर 'षः सोष्ट्यैष्ठि वष्वष्कः' २।३।९८ सूत्र पुनः षत्व विधान का आ गया है। बीच में इस सूत्र के आने का क्या हेतु है? हेम ने इस सूत्र को णत्व विधि के अन्त में क्यों रखा है? हमें इसके दो कारण मालूम पड़ते हैं। पहला तो यह है कि—इस प्रकरण में षत्व विधि को ही प्रधान माना गया है अतः णत्व विधि के कथन के अनन्तर उपसंहार रूप से षत्व विधायक सूत्र लिखा है। दूसरा कारण यह है कि इस षत्व विधायक सूत्र का पूर्ववर्ती 'पाठे धात्वादेर्णो नः २।३।९७ सूत्र है और इसकी अनुवृत्ति २।३।९८ सूत्र में करनी है। यद्यपि पहला णत्व विधायक है और दूसरा षत्व विधायक है तो भी दोनों का सम्बन्ध यह है कि—दोनों के भिन्न भिन्न कार्य होने पर भी निमित्त समान है। अतः आवश्यक था कि दोनों को एक साथ रखा जाय—षत्व प्रकरण में या णत्व प्रकरण में। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ऐसी अवस्था में णत्व विधायक सूत्र को ही

षत्व प्रकरण में क्यों नहीं रख दिया ? इसका उत्तर स्पष्ट है—उक्त णत्व विधायक सूत्र के जो निमित्त हैं, उनके कुछ अंशों के लिए षत्वविधायक सूत्र अपवाद भी हैं। जैसे २।३।९८ सूत्र ष्ट्यै, ष्टिव तथा ष्वष्क में नहीं लगता है। तीसरी बात यह भी हो सकती है कि सम्भवतः हेम ने २।३।९८ को सत्व विधायक मानकर षत्व और णत्व दोनों प्रकरणों के अन्त में लिखा और पूर्व सूत्र से सम्बद्ध भी कर दिया। निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि यह पाद बहुत मौलिक और ठोस है। इसमें सभी प्रकार की सत्व, षत्व, णत्व, लत्व और बत्व विधियों का प्रतिपादन किया गया है। शब्दानुशासन की उक्त प्रक्रिया को एक ही पाद में एक साथ क्रमबद्ध ग्रथित कर हेमचन्द्र ने शब्दजिज्ञासुओं का मार्ग बहुत ही सरल और सुकर कर दिया है। हमारी दृष्टि में यह पाद बहुत ही महत्वपूर्ण है।

चतुर्थ पाद—

इस पाद में स्त्रीप्रत्यय प्रकरण है। इसमें सभी स्त्रीप्रत्ययों का अनुशासन किया गया है। स्त्रीप्रत्यय की समस्त विधि और प्रक्रियाओं को बतलाने वाले सभी सूत्र इस एक ही प्रकरण में आ गए हैं। स्त्रीप्रत्यय की सहायता करने वाले कुछ तद्धित के सूत्र भी आ गये हैं किन्तु उन सूत्रों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। स्त्रीप्रत्ययों के सहायक रूप में ही उन्हें उपस्थित होना पड़ता है। जैसे २।४।८८ सूत्र 'य' का लोप करने के लिए आया है अन्यथा मनुष्य शब्द से स्त्रीप्रत्ययान्त रूप मानुषी कैसे बन सकता था। **'सूर्यागस्त्ययोरीये च'** २।४।८९ से २।४।९५ सूत्र तक लुक् करने वाले सूत्रों से स्त्रीप्रत्ययों का कोई सम्बन्ध नहीं है; पर जब लुक् प्रकरण आया तो उस सम्बन्धी सभी सूत्रों को यहाँ लिख दिया गया है। इसके अनन्तर २।४।९६ सूत्र से २।४।१०७ सूत्र तक ह्रस्व का प्रकरण आ जाता है। इस प्रकरण का कारण भी पूर्वोक्त ही है। तदनन्तर इकार का प्रकरण आरम्भ होता है, यह प्रकरण साक्षात् या परम्परया स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों की सिद्धि में सहायक है। अनेक स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द इसी प्रकरण से सिद्ध होते हैं। यथा स्विका, स्वका, ज्ञिका, ज्ञका, अजिका, अजका, पुत्रिका, पुत्रका, वर्तिका, वर्त्तका आदि स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों का साधुत्व दिखलाया गया है।

तृतीय अध्याय : प्रथम पाद—

इस पाद के आरम्भ में धातु के पूर्व उपसर्ग के प्रयोग का निरूपण किया है **'अर्याद्यनुकरणच्विडाचश्च गतिः'** ३।१।२ सूत्र से आरम्भ कर ३।१।१७ सूत्र तक गतिसंज्ञाविधायक सूत्रों का प्रतिपादन किया है। इस पाद का प्रधान वर्ण्य विषय समास है। अतः ३।१।१८ सूत्र सामान्य समास विधायक है। पाणिनि ने सहसुपा २।१।४ से जो काम लिया है वही काम हेम ने उक्त सूत्र से किया है। यहां एक प्रश्न यह उठता है कि हेम ने इस सामान्य समास विधायक सूत्र से पहले

गतिसंज्ञक सूत्रों को क्यों लिखा है ? साधारणतः विचार करने पर यह एक असंगति सी प्रतीत होगी, पर विशेष रूप से ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये गतिसंज्ञाविधायक सूत्र भी समासफलक हैं अतः इनके द्वारा पहले संग्रहात्मक कार्य सम्पन्न किया गया है। 'गतिक्वन्यस्तत्पुरुषः' ३।१।४२ सूत्र गतिसंज्ञकों में समास का नियमन करता है। पाणिनि ने 'कुगतिप्रादयः' २।२।१८ सूत्र से जो कार्य लिया है, हेम ने उक्त सूत्र से वही कार्य साधा है।

इसके पश्चात् ३।१।१९ सूत्र से बहुव्रीहि समास का प्रकरण आरम्भ होता है। यहाँ कुछ क्रमभंग सा प्रतीत होता है; यतः तत्पुरुष, अव्ययीभाव समासों का निरूपण इसके पश्चात् किया है। इसका समाधान स्वयं हेम ने ३।१।१८ की वृत्ति में 'लक्षणमिदमधिकारश्च तेन बहुव्रीह्यादिसंज्ञाऽभावे यत्रैकार्थता तत्रानेनैव समासः' अर्थात् बहुव्रीहि आदि के अभाव में जहाँ एकार्थता है, वहीं ३।१।१८ से समास होता है। अतः यह स्पष्ट है कि बहुव्रीहि समास करने वाले सूत्र दौड़ आये हैं। इसके बाद ३।१।२६ सूत्र अव्ययीभावविधायक आता है। इसमें भी एक कारण है—'केशेषु केशेषु अपहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तम्' इस अर्थ में बहुव्रीहि समास की प्राप्ति है और होना चाहिए यहाँ अव्ययीभाव। इसीलिए बहुव्रीहि का अपवादस्वरूप उक्त सूत्र यहाँ रखा गया है। यह प्रकरण ३।१।४१ सूत्र तक चलता है और अव्ययीभावसंबंधी सभी कार्य विस्तारपूर्वक बतलाये गये हैं। ३।१।४२ सूत्र से ३।१।९५ तक तत्पुरुष समास का प्रकरण आता है। इसमें तत्पुरुष समास संबंधी सभी प्रकार के अनुशासन प्रस्तुत किये गये हैं। तदनन्तर—'विशेषणं विशेष्येणैव चार्थं कर्मधारयश्च' ३।१।९६ से कर्मधारय का वर्णन प्रारम्भ होता है। यह समास ३।१।११५ सूत्र से चलता रहता है। तत्पुरुष समास की समाप्ति करते हुए मयूरव्यंसकेत्यादयः ३।१।११६ में निपातित तत्पुरुष समास का वर्णन किया है। अनन्तर द्वन्द्व समास का प्रकरण है, यह भी एक रहस्य ही है। द्वन्द्व समास के प्रयोगस्थलों में दोनों पद प्रथमान्त ही होते हैं, जैसे कर्मधारय के। प्रथमान्त का ही कर्मधारय और द्वन्द्व समास होता है। दोनों में अन्तर यह है कि कर्मधारय के पद विशेष्य-विशेषण होते हैं तथा द्वन्द्व के दोनों विशेष्य (प्रधान)। इस प्रकार दोनों की विभिन्नता होने से अपवादभाव एकदम अनिश्चित है परन्तु विभक्तिसाम्य होने से कर्मधारय के बाद द्वन्द्व का रखना युक्तिसंगत है।

द्वन्द्व समास में एकशेष का अत्यन्त महत्त्व है, इसे द्वन्द्व का ही एक विशेष रूप कहा जाता है। एकशेष का अर्थ होता है समास के अन्तर्गत आये हुए अनेक पदों में से एक पद का शेष रहना—बचे रहना तथा औरों का हट जाना। द्वन्द्व प्रकरण में ही एकपदभाव की चर्चा है। इसका तात्पर्य यह है

कि द्वन्द्व समास में अनेक प्रधान पदों के रहने पर भी एकवचन विभक्ति का आना। जैसे देवाश्च असुराश्च=देवासुरम्। एकपदभाव होने पर नपुंसकलिंग हो जाता है। इसके पश्चात् 'प्रथमोक्तं प्राक्' ३।१।१४८ सूत्र से ३।१।१६३ तक 'किस समास में किस शब्द को पहले रखना चाहिए' इसका अनुशासन उपलब्ध होता है। यह प्राक्प्रयोग (पूर्वनिपात) प्रकरण विस्तृत और स्पष्ट है। हेम ने इस अन्तिम प्रकरण का ग्रन्थन कर समास प्रकरण को पुष्ट बनाया है। इसी प्रकरण के साथ यह पाद समाप्त हो जाता है।

द्वितीय पाद—

इस पाद में समास की परिशिष्ट-चर्चा है अर्थात् समास होने के बाद तथा समासनिमित्तक अनिवार्य कार्य होने के पश्चात् सामासिक प्रयोगों में कुछ विशेष कार्य होते हैं जैसे अम्, मुञ्लुक्, ह्रस्व प्रभृति नियमों का इस प्रकरण में समावेश किया गया है।

इस पाद में सर्वप्रथम 'अम्' की प्रकरणिका आयी है, जो ३।२।५ सूत्र तक है और इसके उपरान्त लुप् (लोप) और लुब्निषेध की चर्चा है। इसी प्रसंग में जहाँ मध्यगत विभक्तियाँ समास में श्रूयमाण रह जाती हैं उनके लोपाभाव का निर्देशन आरम्भ हो गया है। यह पूर्वपद का कार्य हुआ, क्योंकि ३।२।३८ सूत्र तक पूर्वपद की विभक्ति का लोपाभाव अनुशिष्ट है। इस पूर्वपद के अन्त्य कार्य की प्रसक्ति में ३।२।३९ से आत्व का प्रकरण आ जाता है। मातापुत्रौ, होतापुत्रौ आदि में 'पुत्रे' ३।२।४० से आत्व का विधान किया गया है। इसी में अन्त्य का 'ई' होना (अग्नीषोमौ, अग्नीवरुणौ) ३।२।४२ सूत्र द्वारा तथा ३।२।४३ सूत्र द्वारा अन्त्य 'इ' का भी विधान किया गया है। इसके पश्चात् पूर्वपद (समूचे) की विकृति की बात आती है। द्यावापृथिवी=दिव् पृथिवी आदि उदाहरण उक्त सूत्रों को चरितार्थ करते हैं। पुंवद्भाव, अनूङ् इत्यादि को बीच में डालते हुए पुंवद् का निषेध भी किया गया है। ३।२।६३ सूत्र तक विधि-निषेधपूर्वक पुंवद्भाव का प्रकरण चलता है। इस प्रकार इस पाद में समासाकार पूर्व में स्थित द्वन्द्वों में जो-जो विकृतियाँ संभव हैं, उन सबका संकलन किया गया है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि इसमें प्रथम समास के अन्त में आने वाली विभक्ति के 'अम्' बनाने का विधान है और पुनः उसके लोप का विधान विशेष स्थलों के लिए किया गया है। इस लुप् के प्रकरण में ही समास के पूर्वपद के लुप् की चर्चा का प्रसंग आ गया है। यही नहीं, जहाँ समास की अन्तिम विभक्ति का लुप्-निषेध समास होता है, उसी स्थिति को ग्रहण करते हुए समास के बीच में रहने वाली विभक्ति का लोप-निषेध करने वाला

प्रकरण आ जाता है। समास के बीच में रहने वाली विभक्ति पूर्वपद की ही हो सकती है। इसलिए इसके अनन्तर पूर्वपद-सम्बन्धी सभी कार्यों के नियमन का भार आ जाता है। यह पाद हेम का बहुत उपयोगी और मौलिक है। प्रकरणों का क्रम भी तर्कसंगत है। कई कार्यों का समावेश हो जाने पर भी इसमें किसी भी प्रकार की त्रुटि नहीं आने पायी है; क्योंकि कार्यमात्र के संग्रहणार्थ हेम ने अपने प्रकरण नहीं बनाये हैं, किन्तु कार्य पद (शब्द) के अनुगामी हैं अर्थात् जिन शब्दों में एक अक्षर के या एक भाग के जो-जो कार्य संभावित हैं, उन सभी कार्यों का समावेश हेम ने इस प्रकरण में किया है। संस्कृत व्याकरण के दो आवश्यक कार्य हैं—प्रथम संक्षेप और द्वितीय सूत्र-सूत्रांश की सूत्रान्तर में अनुवृत्ति। हेम ने इस पाद में उक्त दोनों ही बातों का आश्रय ग्रहण किया है।

तृतीय पाद—

यह पाद क्रिया-प्रकरण से संबंध रखता है, इसमें सामान्यतः वृद्धि, गुण तथा धातुज्ञान की आवश्यकता निरन्तर बनी रहती है। अतः इसके लिए तीन सूत्र इस पाद में सर्वप्रथम आये हैं। 'न प्रादिरप्रत्ययः' ३।३।४ सूत्र में बतलाया गया है कि उपसर्ग का प्रयोग धातु के पहले होता है, बाद में नहीं। ३।३।५ में 'दा', 'धा' के विशेष नियमों पर प्रकाश डाला गया है। ३।३।६ सूत्र से क्रिया-प्रत्ययों का निर्देश आरम्भ किया है। हेम का यह क्रिया-प्रकरण पाणिनि की शैली पर नहीं लिखा गया है बल्कि कलाप या कातन्त्र की शैली पर निर्मित है। कातन्त्र के समान हेम ने भी क्रिया की दश अवस्थाएँ स्वीकार की हैं (१) वर्त्तमाना (२) सप्तमी (३) पंचमी (४) ह्यस्तनी (५) अद्यतनी (६) परोक्षा (७) आशीः (८) श्वस्तनी (९) भविष्यन्ती एवं (१०) क्रियातिपत्ति। पाणिनि के समान हेम ने लकारों का विधान नहीं किया है। पाणिनि और हेम की रूपसाधनिका की प्रक्रियाओं में बहुत अन्तर है। पाणिनि पहले लकार लाते हैं, पश्चात् उनके स्थान पर तिप् तस् झि आदि अठारह प्रत्ययों का आदेश करते हैं, तत्पश्चात् क्रिया-रूप की सिद्धि होती है। हेम इस समस्त द्रविड़ प्राणायाम से बच गये हैं। इन्होंने 'वर्त्तमाना आदि क्रियावस्थाओं के प्रत्यय पृथक्-पृथक् गिन दिये हैं। इससे प्रक्रिया में बड़ी सरलता आ गई है। वर्त्तमाना के प्रत्यय बताते हुए—'वर्त्तमाना तिप् तस् अन्ति, सिप् थस् थ, मिव् वस् मस् ; ते आते अन्ते, से आथे ध्वे, ए वहे महे' ३।३।६; सप्तमी के 'सप्तमी यात् यातां युस् , यास् यातं यात, यां याव याम; ईत ईयाताम् ईरन् , ईथास् ईयाथाम् ईध्वम् , ईय ईवहि ईमहि' ३।३।७ प्रत्यय बतलाये हैं। इस प्रकार समस्त विभक्तियों के प्रत्यय

बतलाकर आत्मनेपद और परस्मैपद के अनुसार प्रक्रिया बतलायी गयी है। इन विभक्तियों का विवेचन तीनों पुरुष और तीनों वचनों में किया गया है। 'नवाद्यानि शतृक्वसू च परस्मैपदम्' ३।३।१९ एवं 'पराणि काननशौ चात्मनेपदम्' ३।३।२० सूत्रों द्वारा परस्मैपद और आत्मनेपद प्रत्ययों का वर्गीकरण किया है। परस्मैपद और आत्मनेपद का यह प्रकरण ३।३।१९ से आरम्भ होकर ३।३।१०८ सूत्र तक चला गया है। पाणिनि द्वारा निरूपित आत्मनेपद-प्रक्रिया के सभी अनुशासन और विधान इस प्रकरण में आ गये हैं। विस्तार और मौलिकता इन दोनों ही दृष्टियों से हेम का यह प्रकरण बहुत ठोस है। हेम ने आत्मनेपद प्रक्रिया को अलग निबद्ध नहीं किया बल्कि क्रिया-प्रकरण के आरम्भ में ही परस्मैपद और आत्मनेपद की जानकारी प्राप्त कराने के लिए उक्त नियमों का निरूपण कर दिया है। इनका ऐसा निरूपण करना उचित भी है, क्योंकि जब तक यह ज्ञात नहीं कि किस अर्थ में कौन सी क्रिया आत्मनेपदी है और कौन सी परस्मैपदी है; तब तक उस क्रिया की पूरी साधनिका उपस्थित नहीं की जा सकती। अतएव हेम ने पहिले उक्त झमेले पर ही विचार कर लेना आवश्यक और युक्तिसंगत समझा। व्याकरण के क्रम की दृष्टि से भी यह आवश्यक था कि क्रिया के अनुशासन के पूर्व क्रिया की शब्द और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से प्रकृति और स्थिति का परिज्ञान कर लिया जाय। हेम ने क्रिया की दश अवस्थाएँ मानी हैं। पाणिनि के लेट् लकार को हेम ने सर्वथा छोड़ दिया है। इसका कारण स्पष्ट है कि हेम ने लौकिक संस्कृत का व्याकरण लिखा है, वैदिक का नहीं। पाणिनि ने वेद का भी व्याकरण लिखा, अत: उनको लेट का प्रतिपादन करना आवश्यक था।

चतुर्थ पाद—

३।३।३ सूत्र द्वारा धातु की पहिचान करायी जा चुकी है तथा धातुसंबंधी अनेक कार्य भी पूर्वपाद में आ चुके हैं। इस पाद में प्रत्यय-विशिष्ट धातुओं का विवरण है। कई धातुओं के बाद कुछ ऐसे प्रत्यय जुड़ते हैं, जिन्हें मिलाकर पूरे को भी धातु कहा जाता है। इस सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना प्रक्रिया का निर्वाह नहीं हो सकता। पाणिनि ने भी सनाद्यन्ता धातवः ३।१।३२ सूत्र द्वारा यही सिद्धान्त उद्घोषित किया है।

इस प्रकरण में धातुओं के स्वार्थिक सभी प्रत्यय निविष्ट किये गये हैं—३।४।१ तथा ३।४।४ द्वारा आय, ३।४।२ द्वारा णिङ्, ३।४।३ द्वारा ईीप्, ३।४।५—७, २१ द्वारा सन्, ३।४।८ द्वारा यक्, ३।४।९–१२ द्वारा यङ्, ३।४।१४–१६ द्वारा यङ्लोप-विधान, ३।४।१७–१८ द्वारा णिच्, ३।४।२२ द्वारा काम्य, ३।४।२३–२४, ३६ द्वारा क्यन्, ३।४।२५ द्वारा क्विप एवं ३।४।२६–३।४।३५ द्वारा

क्यङ् प्रत्यय का विधान किया गया है। ३।४।३८ से ३।४।४१ तक भी पुनः णिङ् का विधान आया है। ३।४।४२–४३ में णिच् का नियमन आया है। उपर्युक्त सभी प्रकार के प्रत्ययों से संयुक्त धातुओं के साथ परोक्षा विभक्ति में आम् का भी विधान किया गया है (दयाञ्चक्रे)। इसके अनन्तर आम् प्रत्यय की विशेष प्रक्रिया बता लेने के पश्चात् सच् और सिच् की भी चर्चा आई है। ये दोनों यद्यपि धातु के बाद तथा प्रत्यय के पहिले आते हैं परन्तु ये स्वार्थिक नहीं कहे जा सकते। इस बात को स्पष्ट करने के लिए सच् तथा सिच् की प्रक्रिया बतायी गई है। फलतः इस पाद में लुङ्-संबंधी सभी कार्यों का नियमन आया है। इसके उपरान्त शप्, श्य आदि विकरणों की चर्चा भी की गई है। इस पाद के अन्त में आत्मनेपद करने वाले कुछ विशेष सूत्र भी आये हैं। ऐसा लगता है कि पूर्वपाद की आत्मनेपद-सम्बन्धी प्रक्रिया की कमी को पूरा करने के लिये ही इस पाद मे उक्त प्रकार के सूत्र निबद्ध किये गये हैं।

चतुर्थ अध्याय : प्रथम पाद—

इस पाद का आरंभ द्वित्व विषय को लेकर होता है। द्विर्धातुः परोक्षाङे प्राक्तुस्वरे स्वरविधेः ४।१।१ सूत्र द्वारा परोक्षा में धातु का द्वित्व होता है। यद्यपि द्वित्व का आरम्भ परोक्षा के लिए होता है, किन्तु आगे चलकर यह प्रकरण द्वित्व सामान्य मे परिवर्तित हो जाता है। इस द्वित्व के प्रसंग मे जहाँ कहीं धातु में विकृति होती है, उसका निर्देश भी बाद में किया गया है। प्यायः पीः ४।१।९१ सूत्र द्वारा प्याय को पी होता है; जैसे आपिप्ये मे। कृदन्त का प्रकरण आने पर कृदन्त रूपों मे भी पी विधान की चर्चा हुई है। कृदन्त के क्त और क्तवतु प्रत्यय की चर्चा होने पर उनके साथ में रहनेवाले जिस-जिस धातु में (प्रकृति में) जो कोई विकार (परिवर्त्तन) हुआ है, उसकी चर्चा का गयी है। इस प्रकार शनैः शनैः कृदन्त का पद दृढ़ होकर इस पाद मे उपस्थित हो जाता है। इस पाद के अन्तिम सूत्रों मे कृत् प्रत्ययो का विधान है।

द्वितीय पाद—

प्रथम पाद में प्रत्ययों के पूर्व में स्थित धातुओं मे विकारानुशासन किया गया है। इसी प्रकरण से संबद्ध होता हुआ यह पाद आरम्भ होता है। जिन धातुओं के अन्त में सन्ध्यक्षर है, उनको आत्व हो जाता है। यही इस पाद की उत्थान-भूमिका है। तत्पश्चात धातुओं के नकारान्त, लकारान्त, जकारान्त, यकारान्त, ह्रस्वान्त एवं इकारान्त आदि विविध विधानों का निरूपण किया गया है। पश्चात् मध्य वर्णों का लोप-विधान किया गया है। यह लुक् का प्रसंग ४।२।५९ तक चलता है। इन विविध प्रकार के प्रत्ययों के संयोग से धातुओं के विविध

विकारों के देखने से यही अवगत होता है कि हेम ने इस प्रकरण में उन समस्त धातुरूपों को सन्निविष्ट किया है, जिनके विकारी रूप संभव हैं। सभी प्रकार के विकारों और उन विकारों से समुत्पन्न सभी प्रकार की शब्द की स्थितियों पर प्रकाश डाला है।

तृतीय पाद—

इस पाद में विशेषतः गुण और वृद्धि का नियमन किया गया है। सर्व प्रथम धातुओं में गुण करने के लिए 'नामिनो गुणोऽक्ङिति' ४।३।१ सूत्र आया है। इस सूत्र ने गुण का सापेक्ष्य सामान्य विधान किया है। यों तो गुण का प्रकरण इस पाद के १०वें सूत्र तक चलता है। पाणिनि ने गुण का निषेध कराने के लिये 'क्ङिति च' १।१।५ सूत्र पृथक् लिखा है। हेम ने उस सूत्र के कार्य का समावेश इसी में कर दिया है। इसके पश्चात् गुण-निषेध करने वाले चार सूत्र आते हैं। पश्चात् इ को य् तथा उ को व् करने वाले दो सूत्र आते हैं। ये सभी सूत्र गुण के अपवादस्वरूप आये हैं। अनन्तर ४।३।४२ तक ङित् और कित् करने वाले सूत्र रखे गये हैं तथा ङित् और कित् करने का परिणाम है गुण का न होना और अनुनासिक व्यञ्जन का लोप होना। गुण के अव्यवहितोत्तर वृद्धि का प्रसंग आ जाता है और सामान्य तथा विशेष रूप से निर्वाचन के बाद ४।३।६१ सूत्र द्वारा इसकी समाप्ति भी होती है। तिङन्त-प्रक्रिया के अन्तर्गत औकार रूप वृद्धि का उल्लेख कर लेने के बाद इकार का अनुशासन किया गया है। इस विषय का अन्तिम सूत्र ४।३।६५ सिजन्त धातुओं में प्रवृत्त होता है। अतः सिच् का नाम आने पर सिच्संबंधी विभिन्न कार्यों की ओर भी हेम का ध्यान गया है। अतः इसके बाद सिच् का लोप करने वाले सूत्र यहाँ लिखे हैं तथा लुप् का प्रसंग आ जाने से विभिन्न-स्थलीय लुप् की चर्चा की गई है। इस विषय का अन्तिम सूत्र 'णेरनिटि' ४।३।८३ है। इस सूत्र में णि के लोप का कथन किया गया है। आगे वाला ४।३।८४ सूत्र भी णि के लोप का विधान करता है। इस सूत्र के आगे से तो णि का विधान ही आरंभ हो जाता है। 'लघोर्यपि' ४।३।८६ सूत्र के यय् (य-प्राप्य) के पूर्वस्थित 'णि' को अय् किया गया है। यय् कृदन्तीय प्रत्यय है। अतः यहाँ से आगे सामान्य तथा विशेष रूप से अय् का भी तथा कृदन्तीय प्रत्यय-संबंधी अन्य कार्यों का विधान भी आया है। धातु के अन्तिम वर्ण के विकार का प्रसंग आने पर और भी कार्य आ गये हैं—जैसे स का त, दीङ् का दीय्, ग्ला का ग्ले इत्यादि। इस प्रकार प्रसंगों का तारतम्य मिलाते हुए धातुसंबंधी विभिन्न विकारों का अनुशासन करते हुए इस पाद की समाप्ति की है।

चतुर्थ पाद—

यह पाद धातुओं के आदेश-विधान से प्रारम्भ होता है। आदेश-विधान को सम्पन्न करने वाले कार्य 'अस्तिब्रुवोर्भूवचावशिति' ४।४।१ सूत्र से आरम्भ होकर ४।४।२९ सूत्र तक चलते हैं। बीच में एकाध रूप ऐसा भी आया है, जिसने धातु के अन्तिम वर्ण को 'इ' बनाने का कार्य किया है। इस प्रकार विभिन्न आदेश-सम्बन्धी वर्णन आया है। ४।४।३२ सूत्र से इट् प्रत्यय का विधान आरम्भ हुआ है। यह प्रकरण ४।४।८९ सूत्र तक चलता रहा है। इसमें धातु की विभिन्न परिस्थितियों में इडागम तथा इडागमाभाव का निरूपण किया गया है। इसके अनन्तर कुछ स्वरात्मक और कुछ व्यञ्जनात्मक आगमों की चर्चा है। व्याकरण शास्त्र में आगम उसे कहा जाता है जो मित्रवत् स्वतंत्ररूप से प्रयोग में आ जाता है। आदेश तो किसी के स्थान पर होता है। पर आगम सदा स्वतंत्र रूप से होता है। 'अतो म आने' ४।४।११४ सूत्र पचमानः प्रयोग में 'म' का आगम करता है। इसमें धातु 'पच्' और प्रत्यय 'आन' (कृदन्तीय) है। किन्तु उक्त सूत्र वहीं 'म' का आगम करता है जहाँ आन के पूर्व अ ह्रस्व हो, दूसरा वर्ण कोई भी रहने पर 'म' का आगम नहीं हो सकता। इसके निषेध रूप में 'आसीनः' ४।४।११५ सूत्र आता है। यह सूत्र आस् के बाद 'आन' के 'आ' को 'ई' बना देता है। इसके पश्चात् पुनः धातुसंबंधी विकृतियों का वर्णन है। ४।४।११६ सूत्र ॠदन्त धातुओं के क्ङिति प्रत्यय रहने पर ॠत् को ईर् कर देता है; तीर्णम् और किरति प्रयोगों की सिद्धि इसी आधार पर की गई है। ४।४।११७ सूत्र द्वारा उपर्युक्त स्थिति में ही ॠत् को उद् बनाया गया है और इस सिद्धान्त द्वारा 'पूः' बुभूर्षति, बुबूर्षते जैसे प्रयोगों की सिद्धि की गई है। ४।४।११९-२० सूत्रों द्वारा 'मित्रशीः' और 'आशीः' प्रयोगों की सिद्धि के लिए 'इ' का विधान किया गया है। ४।४।१२१ सूत्र द्वारा विशेष परिस्थिति में प् व् व्यञ्जन के लुक् का विचार किया है और इस पाद के अन्तिम सूत्र ४।४।१२२ में कृत के स्थान पर कीर्त्ते आदेश किया गया है। इस पाद के अन्तिम सूत्र से आख्यात प्रकरण के समाप्त होने की सूचना भी मिल जाती है। आख्यात-संबंधी समस्त नियम और उपनियमों का प्रतिपादन उपसंहार के रूप में इस पाद में आया है। जिन नियमों को तृतीय और चतुर्थ अध्याय के पादों में छोड़ दिया गया था या प्रकरणवश जिनकी आवश्यकता वहाँ नहीं थी, उन आगम और आदेश-संबंधी नियमों का निरूपण इस पाद में किया गया है।

पञ्चम अध्याय : प्रथम पाद—

इस पाद के प्रथम सूत्र से ही कृदन्त प्रत्ययों के वर्णन की सूचना मिल जाती

है। 'आतुमोऽत्यादिः कृत्' ५।१।१ धातोर्विधीयमानस्त्यादिवर्ज्यो वक्ष्यमाणः प्रत्ययस्तुमभिव्याप्य कृत् स्यात्। अर्थात् धातुओं में लगाये जाने वाले प्रत्ययों को कृत् कहा गया है और कृत् प्रत्ययों के संयोग से बने हुए शब्द कृदन्त कहलाते हैं। कृत् प्रत्यय लगाने पर क्रिया का प्रयोग दूसरे शब्द-भेदों की तरह होता है। प्रथम पाद के आरम्भ में ११ सूत्र कर्त्ता में प्रत्यय करने वाले हैं। इसके बाद १२वाँ सूत्र आधार अर्थ में क्त प्रत्यय करता है। 'इदं येषां शयितम्' उदाहरण में शयितम् का अर्थ है शयन करने का स्थान, अतः सिद्ध है कि हेम ने आहारार्थक और गत्यर्थक धातुओं से आधार अर्थ में उक्त सूत्र द्वारा 'क्त' का विधान किया है।

'क्त्वातुमम् भावे' ५।१।१३ सूत्र द्वारा धात्वर्थमात्र में 'क्त्वा', 'तुम्' और 'अम्' का विधान किया है। ५।१।१५ द्वारा हेम ने उणादि प्रत्ययों का विधान उक्त सामान्य प्रत्ययों के साथ ही कर दिया है। पाणिनि ने उणादि प्रत्ययों के लिए अलग एक प्रकरण लिखा है और उनके नियमन के लिए 'उणादयो बहुलम्' ३।३।१ इस सामान्य सूत्र की रचना की है, किन्तु हेम ने इस पाद में उणादि प्रत्ययों के संकलन के लिये अलग कोई प्रकरण नहीं लिखा है। हाँ उनका उणादि प्रकरण पृथक् उपलब्ध है।

हेम ने ऋवर्णान्त तथा व्यञ्जनान्त वर्णों से 'ऋवर्णव्यञ्जनान्ताद् घ्यण्' ५।१।१७ से 'घ्यण्' प्रत्यय का विधान किया है। पाणिनि ने इसी स्थल में 'ऋहलोर्ण्यत्' ३।१।१२४ सूत्र द्वारा ण्यत् का अनुशासन किया है। यद्यपि दोनों वैयाकरणों के प्रत्ययों में अन्तर मालूम पड़ता है, पर प्रक्रियाविधि एक ही है और दोनों के भिन्न प्रत्ययों का तात्पर्य भी एक ही है। हेम के इस घ्यण् प्रत्यय का नियमन ५।१।२६ सूत्र तक चलता है। इन सूत्रों में विभिन्न धातुओं से विभिन्न परिस्थितियों में उक्त प्रत्यय की व्यवस्था की गई है।

'तव्यानीयौ' ५।१।२७ सूत्र द्वारा हेम ने तव्य और अनीय प्रत्ययों का विधान किया है। पाणिनीयतन्त्र में इन दो प्रत्ययों के स्थान पर 'तव्यत्तव्यानीयरः' ३।१।९६ सूत्र द्वारा तव्यत्, तव्य और अनीयर् इन तीन प्रत्ययों का अनुशासन मिलता है। वस्तुतः तव्य और तव्यत् इन दोनों प्रत्ययों के लगाने से शब्द समान ही तय्यार होते हैं। पाणिनि को वैदिकशब्दानुशासन में तित्स्वर करने के लिए तव्यत् की भी आवश्यकता प्रतीत हुई थी, किन्तु हेम को इसकी कोई आवश्यकता न थी। अतः इन्होंने तीन प्रत्ययों का कार्य दो प्रत्ययों से चला लिया।

इसके पश्चात् इस प्रकरण में य (पाणिनीय यत्), क्यप्, णक् (पाणिनीय ण्वुल्), तृच, अच्, अन्, णिन्, क, उ, श, ण, अकट्, थक, टनण्, अक, अकन्,

तिक्, अण्; ण्, टक्, ड, खि, इ, अ, ट, ख, खश्, खि, ष्णु, खुकञ्, खनट्, खड्, ड, अ, क, विण्, मन्, वन्, क्वनिप्, विच्, क्विप्, टक्, सक्, क्वनिप्, तृ, क्त एवं क्तवतु प्रत्ययों का विधान किया है। पाणिनि ने क्त तथा क्तवतु प्रत्यय का निष्ठा नाम देकर विधान किया है; हेम ने निष्ठा संज्ञा की कोई आवश्यकता नहीं समझी और उन्होंने 'क्तक्तवतू' ५।१।१७४ भूतार्थाद् धातोरेतौ स्याताम् लिखकर सीधे ही इन प्रत्ययों का अनुशासन लिख दिया है।

द्वितीय पाद—

प्रथम पाद का अन्तिम सूत्र भूतार्थ-परिचायक है। अतः द्वितीय पाद का पहला सूत्र भूतार्थ में प्रवृत्त होता है। विशेषतः भूत परोक्षा अवस्था के लिए आया है। 'श्रुसदवस्भ्यः परोक्षा वा' ५।२।१ सूत्र द्वारा परोक्षा का विधान कर उपशुश्राव, उपससाद, आदि रूपों की सिद्धि की है। सामान्यतया इस सूत्र का संबंध कृदन्त के साथ नहीं है पर परोक्षा के साथ संबंध स्थापित किये जाने पर कृदन्त के साथ संबन्ध हो ही जाता है। परोक्षा के अर्थ में—भूतकाल में परस्मैपदी धातु के परे 'क्वसु' होता है और क्वसु का वस रहता है। क्वसु होने से क्वस्, इन् और आकारान्त धातु के परे इट् होता है। क्वसु होने पर गम्, हन्, विश, दृश् और विद् धातु के परे विकल्प से इट् का अनुशासन किया गया है। आत्मनेपदी धातुओं के परे कानच् होता है। परोक्षा विभक्ति में जो कार्य होते हैं, कानच् होने से भी वे ही कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। ५।२।३ सूत्र द्वारा क्वसु और कानान्त शब्दों का कर्त्तरि में वैकल्पात् निपातन किया गया है और समीयिवान्, अनाश्वात् प्रभृति प्रयोगों की सिद्धि बतलायी गयी है।

इसके पश्चात् ५।२।४ सूत्र द्वारा भूतकाल अद्यतनी की अवस्था का विधान किया गया है। यह प्रकरण केवल तीन सूत्रों में ही समाप्त हो जाता है। अनन्तर ५।२।७ सूत्र से अनद्यतनी ह्यस्तनी का अनुशासन आरम्भ होता है और ५।२।१४ सूत्र तक ह्यस्तनी का प्रसंग चलता रहता है। ह्यस्तनी में जिन कृत् प्रत्ययों का सन्निवेश हुआ है, हेम ने वृत्ति में उनके साथ आख्यात रूपों का भी निर्देश कर दिया है। 'स्मे च वर्त्तमाना' ५।२।१६ सूत्र द्वारा भूतकाल में वर्तमाना का प्रयोग किया है और 'वसन्तीह पुरा छात्राः' रूप की सिद्धि प्रदर्शित की है। इसके पश्चात् ५।२।१७,१८ और १९ सूत्रों द्वारा भूतार्थ में वर्तमाना-प्रयोग की चर्चा विस्तारपूर्वक की गई है। ५।२।२० सूत्र द्वारा भविष्यन्ती का विधान किया है और साथ ही शतृ तथा आनश् प्रत्ययों का अनुशासन भी। ५।२।२१ सूत्र भी माङ् उपपद होने पर उक्त त्यय का निदर्शन

करता है। 'वा वेत्तेः क्वसुः' ५।२।२२ सूत्र द्वारा सदर्थ की जानकारी के अर्थ में विद् धातु से वैकल्पात् क्वसु प्रत्यय करके विद्वान् शब्द की सिद्धि की है। अन्य वैयाकरणों ने अदादिगणीय विद् धातु से होने वाले शतृ प्रत्यय के स्थान में वस् का आदेश करके विद्वान् शब्द को निष्पन्न किया है। पश्चात् शान प्रत्यय का विधान कर पवमानः, यजमानः आदि उदाहरणों का साधुत्व प्रदर्शित किया गया है। इसके आगे तृश्, तृन्, इष्णु, ष्णुक्, स्नु, क्नु, उ, आस, उस्, आलु, उकण्, अन्, ऊक, घिनण्, णक, टक्, इन्, मरक्, घुर, ट्वरप्, र, नजिङ्, वर, क्विप्, डु, इत्र, त्रट्, त्र, एवं क्त प्रत्ययों का विधान किया गया है। इन प्रत्ययों में घिनण् प्रत्यय का अनुशासन ५।२।४ से आरम्भ होकर ५।२।६६ तक चलता रहा है। अवशेष प्रत्ययों में दो-चार प्रत्ययों को छोड़ प्रायः सभी का एक या दो सूत्र में ही विवेचन कर दिया है।

तृतीय पाद—

इस पाद में भविष्यन्ती अर्थ में प्रत्ययों के संग्रह की चेष्टा की गई है। भविष्यन्ती विभक्ति जिन-जिन अर्थों में संभव है, हेम ने उन-उन सभी अर्थों में उसके प्रयोग की व्यवस्था पर प्रकाश डाला है। भविष्यन्ती के अनन्तर श्वस्तनी और श्वस्तनी के बाद वर्त्तमाना का निरूपण किया गया है। वर्त्तमाना की चर्चा ५।३।१२ तक चलती है। ५।३।१३ में सूत्र द्वारा भविष्यन्ती के अर्थ में तुम् और णकच् प्रत्ययों का विधान करके कर्तुं और कारकः रूपों की सिद्धि की है। पाणिनीयतन्त्र में णकच् के स्थान पर ण्वुल् प्रत्यय का विधान है पर इसके स्थान में अक आदेश हो जाता है। हेम ने सीधा णकच् प्रत्यय कर प्रक्रिया को सरल कर दिया है। ५।३।१४ सूत्र कृञ् धातु को उपपद रहने से अण् प्रत्यय का नियमन करता है और कुम्भकारः की सिद्धि पर प्रकाश डालता है। हेम ने पाकाय, पक्तये, पचनाय आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिए भाववचनाः ५।३।१५ सूत्र द्वारा भावार्थ में घञ्, क्ति आदि प्रत्ययों का विधान किया है और बतलाया है कि उक्त प्रत्यय भाव अर्थ में आने पर भविष्यन्ती अवस्था को बतलानेवाले होते हैं। घञ् प्रत्यय का अनुशासन ५।३।१६ और ५।३।१७ में भी किया गया है तथा पादः, रोगः, सारः, स्थिरः, विस्तरः आदि प्रयोगों की सिद्धि उक्त प्रत्यय द्वारा बतलायी गयी है।

हेम का भावाकर्त्रोः ५।३।१८ सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पाणिनि ने करण आदि अर्थों में अलग-अलग प्रत्ययों का संविधान किया है, किन्तु हेम ने अत्यन्त संक्षेप कर दिया है अर्थात् आगे आने वाले प्रत्यय भाव अर्थ में तथा कर्तृकारक को छोड़ अन्य सभी कारकों के अर्थ में आते हैं। बीच-बीच में कहीं-कहीं एक ही भाव अर्थ में प्रत्यय का विधान है—जैसे क्ति-गीतिः। घञ्

प्रत्यय-विधायक सूत्रों के अनन्तर ५।३।२३ से भाव अर्थ में अल् प्रत्यय का विधान आरम्भ होता है और यह ५।३।२३ सूत्र तक चलता रहता है। पश्चात् घन, घण और अल प्रत्ययान्त शब्दों के निपातन का प्रकरण आरम्भ होता है और यह ५।३।४१ तक अनुशासन करता रहता है। ५।३।४२ से पुनः अल-विधायक सूत्र उपस्थित हो जाते हैं और ये ५।३।५३ तक अपना कार्य करते रहते हैं। ५।३।५४ से पुनः घञ् प्रत्यय का कार्य आरम्भ हो जाता है और यह परम्परा ५।३।८१ सूत्र तक चलती रहती है। तदनन्तर भाव अर्थ में कर्त्ता से भिन्न अन्य कारकों के अर्थ में क, अथु, त्रिमक, न, नङ्, कि, अन्, क्तिन्, क्ति, क्यप्, शो, य, अङ्, अल, क्विप्, अ, अनि, इञ्, णक, क, अनट्, घ एवं खल् प्रत्ययों का संविधान किया गया है। ५।३।१३२ सूत्र से पुनः घञ् प्रत्यय का प्रकरण आरंभ हुआ है और यह ५।३।१३७ सूत्र तक चलता रहा है। इस घञ् प्रकरण में एकाध नई बात भी आयी है। आङ् पूर्वक नी धातु से घञ् करके आनाय तभी बनता है, जब कि उस कृदन्तीय शब्द का अर्थ जाल होता है। हेम ने इसके लिए अनुशासन करते हुए—'आनायो जालम्' ५।३।१३६ 'आङ्पूर्वान्नियः करणाधारे पुन्नाम्नि जालेऽर्थे घञ् स्यात्' लिखा है। इससे सिद्ध है कि हेम ने समस्त प्रत्ययों का विधान विशेष-विशेष अर्थों का द्योतन करने के लिए विशिष्ट परिस्थितियों में किया है।

चतुर्थ पाद—

पाणिनि के वर्त्तमान के अर्थ में हेम ने 'सन्' का व्यवहार किया है। पाणिनि ने वर्त्तमानवद्भाव के लिए 'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद् वा' ३।३।१३१ सूत्र लिखा है। हेम ने उसके स्थान पर 'सत् सामीप्ये सद्वद्वा' ५।४।१ सूत्र लिखा है। यह पाद इसी सूत्र से आरम्भ होता है। इसके बाद भी कालों के प्रयोग का अनुशासन किया गया है। पाणिनि और हेम की तुलना करने पर यह कहा जा सकता है कि पाणिनि की लकारार्थ-प्रक्रिया हेम के इस पाद का कार्य करती है। अर्थात् हेम ने इस पाद में कालविधायक प्रत्ययों का निरूपण किया है। 'भूतवच्चाशंस्ये वा' ५।४।२ सूत्र में बताया है कि भविष्यत् काल के अर्थ में भूतकाल के प्रत्ययों का प्रयोग होता है ५।४।३। में क्षिप्रा और आशंसा अर्थ में क्रम से भविष्यन्ती और सप्तमी विभक्ति का विधान किया है। नानद्यतनः प्रबन्धासत्त्योः ५।४।५ सूत्र से अद्यतनी विभक्ति के निषेध का विधान बतलाया गया है।

जिस प्रकार पाणिनि ने कहीं-कहीं लकार विशेष के अर्थ में कृत्यप्रत्ययों का प्रयोग भी उपयुक्त माना है उसी प्रकार हेम ने प्रैषाऽनुज्ञावसरे कृत्यपञ्चम्यौ ५।४।२९ तथा ५।४।३० सूत्र द्वारा विधान किया है। हेम ने बीच-बीच में कई विशेष बातों पर भी प्रकाश डाला है।

कालवेलासमये तुम्वाऽवसरे ५।४।३३ सूत्र द्वारा अवसर गम्यमान रहने पर काल, वेला अथवा समय ये शब्द उपपद रहें तो धातु से तुम् तथा कृत्य प्रत्यय होते हैं। उत्तरवर्ती ५।४।३४ सूत्र द्वारा हेम ने उक्त स्थिति में सप्तमी (पाणिनि का विधिलिङ्) का भी नियमन किया है। अभिप्राय यह है कि इस प्रकरण में जितने भी प्रत्यय आये हैं वे सब कालिक अर्थ को बतलाने के लिए ही हैं। ५।४।४४ वें सूत्र से क्त्वा का प्रसंग आरम्भ होता है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि इस कालिक अनुशासन में क्त्वा कैसे टपक पड़ा? उत्तर सीधा और सरल है कि यहाँ क्त्वा प्रत्यय तभी कहा गया है, जब कि अलम् या खलु का सहप्रयोग होता हो और उसमें अलम् एवं खलु निषेधार्थक होकर आवें। 'निषेधे अलंखल्वोः क्त्वा ५।४।४४ सूत्र उक्त अर्थ में ही अलंकृत्वा, खलुकृत्वा प्रयोग की सिद्धि करता है।

क्त्वा का समानार्थी ख्णम् (पाणिनि का णमुल्) है। इसका विधान ख्णम् चाभीक्ष्ण्ये ५।४।४८ से आरम्भ होकर ५।४।५३ सूत्र तक रहता है। इसके बाद 'णम्' प्रत्यय का अनुशासन आरम्भ होकर ५।४।८८ पर समाप्त होता है। ५।४।८४ सूत्र से एक विशेषता यह हो जाती है कि णम् प्रत्यय के साथ क्त्वा प्रत्यय और जुड़ जाता है और ५।४।८८ सूत्र तक क्त्वा और णम् दोनों प्रत्ययों का अनुशासन चलता रहता है। 'इच्छार्थे कर्मणः सप्तमी' ५।४।८९ सूत्र द्वारा पुनः सप्तमी का विधान किया है और इस पाद के अन्तिम सूत्र ५।४।९० में शक्याद्यर्थ और इच्छार्थ धातुओं के समर्थार्थों में नाम के उपपद रहने पर कर्मभूत धातुओं से तुम् प्रत्यय का संविधान किया है। अभिप्राय यह है कि उक्त सूत्र द्वारा विशेष-विशेष अवसरों में तुम् प्रत्यय का नियमन किया गया है।

षष्ठ अध्याय : प्रथम पाद—

हेम ने जिस प्रकार पूर्व अध्याय के प्रारम्भ में ५।१।१ सूत्र द्वारा यह बतलाया है कि कौन-कौन प्रत्यय कृत् हैं उसी प्रकार तद्धित प्रत्ययों के सम्बन्ध में 'तद्धितोऽणादिः' ६।१।१ पहला प्रतिज्ञासूत्र है अर्थात् अण् आदि वक्ष्यमाण प्रत्यय तद्धित कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि धातु को छोड़ कर अन्य प्रकार के शब्दों के आगे प्रत्यय लगाने से जो शब्द बनते हैं वे तद्धित कहलाते हैं। हेम ने उस प्रकार के ही वक्ष्यमाण प्रत्ययों की तद्धित संज्ञा बतलायी है। तद्धित प्रत्यय एक प्रकार के प्रत्ययों की सामान्य संज्ञा है। तद्धित प्रकरण में कुछ विशेष संज्ञाएँ भी होती हैं। ऐसी संज्ञाओं का प्रवेश इसी प्रसंग में वृद्ध, युवा आदि संज्ञाएँ बतला कर करा दिया गया है।

तद्धित प्रत्ययों में सर्वप्रथम 'अण्' प्रत्यय आता है। 'पाणिनि' ने

अपत्यमात्र में अण प्रत्यय करने के लिए 'तस्यापत्यम्' ४।१।९२ सूत्र लिखा है। हेम के सभी सूत्र विशेष रूप से ही आये हुए हैं। हेम ने अण् प्रत्यय के अनन्तर 'ञ्य' प्रत्यय का नियमन किया है। यह नियमन ६।१।१५ सूत्र से प्रारम्भ है। 'बहिषष्टीकण् च' ६।१।१६ से 'टीकण्' और 'ञ्य' प्रत्ययों का अनुशासन किया गया है तथा 'बाहीक:' और 'बाह्य:' इन रूपों की सिद्धि की गई है। पश्चात् ६।१।१७ सूत्र द्वारा कलि और अग्नि शब्दों से 'एयण्' प्रत्यय का अनुशासन कर 'कालेयम्' तथा 'आग्नेयम्' शब्दों की साधनिका प्रस्तुत की है। ६।१।१८ सूत्र द्वारा पृथिवी शब्द से 'ञा' और 'ञी' प्रत्यय किये गये हैं, जिनसे पार्थिवा और पार्थिवी उदाहरणों का साधुत्व प्रदर्शित किया गया है। ६।१।१९ सूत्र द्वारा उत्सादि शब्दों से अञ् प्रत्यय का विधान कर औत्स और औदपातम् की सिद्धि की गई है। यह अञ् का प्रकरण आगे वाले सूत्र में भी वर्त्तमान है। ६।१।२१ सूत्र द्वारा देव शब्द से यञ् और अञ् प्रत्ययों का विधान करके दैव्यम् तथा दैवम् का साधुत्व दिखलाया है। ६।१।२२ और ६।१।२३ सूत्रों द्वारा स्थाम्न और लोम्न शब्दों से 'अ' प्रत्यय का अनुशासन करके अश्वत्थाम: और उडुलोमा: शब्दों का साधुत्व प्रदर्शित किया है। ६।१।२४ सूत्र में प्रत्यय लुप् की बात कही गई है। ६।१।२५ सूत्र द्वारा भव अर्थ में स्त्री और पुम शब्द से नञ् एवं स्नञ् प्रत्ययों का विधान करके स्त्रैण: तथा पौंस्न: उदाहरणों की सिद्धि की गई है। ६।१।२६ सूत्र ने विकल्प से उक्त प्रत्ययों का नियमन करते हुए त्य का भी नियमन किया है। 'गो: स्वरे य:' ६।१।२७ सूत्र से य प्रत्यय का विधान कर गव्यम् की सिद्धि की गई है। पश्चात् अपत्यार्थ में अणादि का विधान करते हुए 'औपगव:' जैसे शब्दों का साधुत्व बतलाया गया है। 'अत इञ्' ६।१।३१ सूत्र से हेम ने अपत्यार्थ में अदन्त षष्ठ्यन्त से इञ का विधान कर दाक्षि: की सिद्धि की है। हेम का यह कथन पाणिनि के 'अत इञ्' ४।१।९५ से बिलकुल मिलता है। दोनों ही अनुशासकों के सूत्र और उदाहरण मिलते हैं। हेम का यह इञ् प्रत्यय का अनुशासन ६।१।४१ सूत्र तक चलता है। ६।१।४२ सूत्र से यञ् का नियमन आरम्भ होता है और ६।१।४५ सूत्र तक चलता रहता है। ६।१।४७ सूत्र से आयन्य और ६।१।४८ सूत्र से आयनञ् प्रत्ययों का अनुशासन किया है। ६।१।५३ से आयनण् प्रत्यय का अनुशासन आरम्भ होता है और यह अनुशासन ६।१।५९ सूत्र तक चलता है। ६।१।६० सूत्र से अपत्यार्थक अण् का प्रकरण प्रारम्भ होता है और यह प्रकरण ६।१।६८ सूत्र तक जाता है। ६।१।६९ सूत्र से पुन: अपत्यार्थक एयण् प्रत्यय का कथन आरम्भ हो जाता है और ६।१।७८ सूत्र तक इसका अनुशासन

कार्य करता रहता है। पश्चात् ६।१।७९ सूत्र द्वारा णैर प्रत्यय और ६।१।८० तथा ६।१।८१ सूत्रों द्वारा एरण् प्रत्यय का विधान किया गया है। तदनन्तर अपत्यार्थ में णार, एयञ्, एयण्, इकण्, णेकण, ब्य, ईय, डेय, णीयण, य, इय, या, ईन, एयकञ्, अञ, ईनञ्, ञ्य, इञ्, ञ्य, आयनिञ्, यूनीकण्, द्विरज, द्विरण, विरिञ, द्विर्ञ्य एवं द्विडब्णण् प्रत्ययों का विधान किया गया है। आयन प्रत्यय का नियमन ६।१।१०८ से आरम्भ होकर ६।१।११४ तक चलता रहता है। हेम ने ६।१।१२० से प्रत्ययों के लोप का प्रकरण आरम्भ किया है जो इस पाद के अन्त तक चलता रहा है।

इस पाद के अधिकांश सूत्र पाणिनि से भाव या शब्द अथवा दोनों मे पर्याप्त साम्य रखते हैं। तुलना के लिए कतिपय सूत्र यहाँ उद्धृत किए जाते हैं :—

हैम व्याकरण	पाणिनीय व्याकरण
गर्गादेर्यञ् ६।१।४२	गर्गादिभ्यो यञ् ४।१।१०५
शिवादेरण ६।१।६०	शिवादिभ्योऽण् ४।१।११२
कन्या त्रिवेण्याः कानीनत्रिवणं च ६।१।६८	कन्यायाः कनीन च ४।१।११६
नडादिभ्य आयनण् ६।१।५३	नडादिभ्यः फक् ४।१।९९
हरितादेरञः ६।१।५५	हरितादिभ्योऽञः ४।१।१००
शुभ्रादिभ्यः ६।१।७३	शुभ्रादिभ्यश्च ४।१।१२२
कुल्टाया वा ६।१।७८	कुलटाया वा ४।१।१२७
भ्रुवो भ्रुव च ६।१।७६	भ्रुवो वुक् च ४।१।१२५
गोधाया दुष्टे णारश्च ६।१।८१	गोधाया ढ्रक् ४।१।१२९
क्षुद्राभ्य एरण् वा ६।१।८०	क्षुद्राभ्यो वा ४।१।१३१
भ्रातुर्व्यः ६।१।८८	भ्रातुर्व्यश्च ४।१।१४४
कुर्वादेर्ञ्यः ६।१।१००	कुर्वादिभ्यो ण्यः ६।१।१५१
प्राग्भरते बहुस्वरादिञः ६।१।१२९	बह्वच इञः प्राच्यभरतेषु २।४।६६
पैलादेः ६।१।१४२	पीलाया वा ४।१।११८
चतुष्पाद्भ्य एयञ् ६।१।८३	चतुष्पाद्भ्यो ढञ् ४।१।१३५
गृष्ट्यादेः ६।१।८४	गृष्ट्यादिभ्यश्च ४।१।१३६
कुलादीन ६।१।९६	कुलात्खः ४।१।१३९
दुष्कुलादेयण्वा ६।१।९८	दुष्कुलाड्ढक् ४।१।१४२
महाकुलाद्वाऽञीनञौ ६।१।९९	महाकुलाद् ढञ्खञौ ४।१।१४१
पुत्रान्तात् ६।१।१११	पुत्रान्तादन्यतरस्याम् ४।१।१५९

हैम व्याकरण	पाणिनीय व्याकरण
गान्धारिसाल्वेयाभ्याम् ६।१।११५	साल्वेयगान्धारिभ्यां च ४।१।१६९
साल्वांशप्रत्यग्रथकलकूटाऽश्मकादिञ ६।१।११७	साल्वावयवप्रत्यग्रथकलकूटाश्मकादिञ् ४।१।१७३
यस्कादेर्गोत्रे ६।१।१२५	यस्कादिभ्यो गोत्रे २।४।६३
यूनि लुप् ६।१।१३७	यूनि लुक् ४।१।९०
यञिञः ६।१।५४	यञिञोश्च ४।१।१०१
जीवन्तपर्वताद्वा ६।१।५८ द्रोणाद्वा ६।१।५९	द्रोणपर्वतजीवन्तादन्यतरस्याम् ४।१।१०३

द्वितीय पाद—

इस पाद में रक्त, समूह एवं अवयव-विकार आदि अर्थों में तद्धित प्रत्ययों का विधान किया गया है। 'रागादे रक्ते' ६।२।१ रज्यते येन कुसुम्भादिना तदर्थात् तृतीयान्तात् रक्तमित्यर्थे यथाविहितः प्रत्ययः स्यात्—अर्थात् इस आरम्भिक सूत्र द्वारा रक्तादि अर्थों में यथाविहित प्रत्ययों के विधान की प्रतिज्ञा की है। यह रक्तार्थक प्रकरण ६।२।५ सूत्र तक है। ६।२।६ सूत्र से ६।२।८ सूत्र तक कालार्थ में प्रत्ययों का नियमन किया गया है। पश्चात् ६।२।९ से समूहार्थवाची सहित प्रत्ययों का प्रकरण आता है, यह प्रकरण ६।२।२९ सूत्र तक निरन्तर चलता है। इसके बाद विकारे ६।२।३० सूत्र के अधिकृत विकारार्थक प्रत्यय आते हैं। ये प्रत्यय अवयवार्थक भी हैं। इस प्रकार के प्रत्ययों की परम्परा ६।२।६१ सूत्र तक वर्तमान है। तदुपरान्त भ्रातृ-अर्थ, दुग्ध अर्थ, राष्ट्र अर्थ, निवासादि अर्थ, चातुर-अर्थ, देवता-अर्थ, साऽस्यदेवता-अर्थ, प्रहरण-अर्थ, तद्वेत्ति, तदधीत-अर्थ, सामेत्य अर्थ, व्रती-अर्थ, भक्ष्य-अर्थ, एवं अपत्यादि से भिन्न अर्थ में प्रत्ययों का अनुशासन किया गया है। अन्तिम सूत्र ६।२।१४५ के द्वारा यह बतलाया गया है कि अपत्य आदि से इतर अर्थों में भी कहीं-कहीं उन अर्थों में विहित प्रत्यय आ जाते हैं जैसे चक्षुषे इदम् चाक्षुषं रूपम्। अश्वाय अयम् = आश्वः रथः इत्यादि।

तृतीय पाद—

इस पाद का पहला सूत्र 'शेषे' ६।३।१ है; जिसका तात्पर्य है कि अपत्य आदि अर्थों से भिन्न प्राग जातीय अर्थ में वक्ष्यमाण प्रत्यय होते हैं। इस पाद में एयण्, इय, एत्य, ईन, य, एयकञ्, त्यण्, टापनाण्, त्यच्, इकण्, अकञ् अण्, अञ्, इकण्, ईयस्, अकीय, ईय, णिक्, अञ्, ईनञ्, ण्य, य, इय, म, अ, च, रन, न, तन, एण्य इत्यादि अनेक प्रत्ययों का संग्रह इस पाद में किया गया है। इस पाद में २१९ सूत्र हैं और इन सूत्रों में तद्धितीय प्रत्ययों का अनुशासन आ गया है। यह अनुशासन अन्य व्याकरणों के समान ही है।

यह प्रायः देखा जाता है कि इस प्रकरण में एक प्रत्यय करने वाले सभी सूत्र एक साथ नहीं आये हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि हेम ने प्रत्ययों की अर्थानुसारिणी रखी है अर्थात् एक किसी विशेष अर्थ में जितने प्रत्यय आने वाले होते हैं, वे सभी प्रत्यय उस अर्थविशेष में आ जाते हैं और जब दूसरे अर्थ का प्रकरण आता है तो उस अर्थ में प्रयुक्त होने वाले प्रत्ययविधायक सूत्र उपस्थित हो जाते हैं। अत एव एयण् , इकण् , अण् , एयकञ् , टायनण् , ईन् , ईय् , अकञ् आदि प्रत्ययों के विधायक सूत्र एक साथ न आकर विभिन्न स्थलों में आये हैं। इसलिए एक ही प्रत्ययविधायक सूत्रों का अनेक स्थलों पर आना अनुचित या अनुपयुक्त नहीं है। हेम की शैली शब्दानुशासन के क्षेत्र में अन्य वैयाकरणों की अपेक्षा भिन्न है। जहाँ पाणिनि आदि संस्कृत-शब्दानुशासकों ने एक प्रत्ययविधायक सूत्रों को एक साथ रखने की चेष्टा की है वहाँ हेम ने एक अर्थ में प्रयुक्त होने वाले प्रत्ययों के विधायकसूत्रों को एक साथ रखने का प्रयास किया है। इसी कारण एक प्रत्ययविधायक सूत्र एक ही जगह नहीं आ पाये हैं। हेम की अर्थानुसार प्रत्ययविधायक इस सूत्रशैली को ठीक तरह से हृदयंगम किए बिना साधारण पाठक को अक्रम और अव्यवस्था की आशंका हो सकती है। किन्तु आद्योपान्त इस पाद के अर्थानुसारी प्रत्ययों के अवलोकन करने पर किसी भी प्रकार की आशंका नहीं रह सकती है।

चतुर्थ पाद—

'यह पाद तद्धित का ही शेष है' इस बात की सूचना प्रथम सूत्र की वृत्ति में ही मालूम हो जाती है। प्रथम सूत्र की वृत्ति में हेम ने लिखा है—'आपादान्तात्यदनुक्तं स्यात्' 'तत्रायमधिकृतो ज्ञेयः'। अर्थात् इस पाद का यह प्रथम सूत्र (इकण्) पाद की समाप्ति तक जो अर्थ उक्त नहीं हैं, उन अर्थों में अधिकृत समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जो अर्थ उक्त हो चुके हैं, उनसे भिन्न अर्थों में आगे के सूत्रों के द्वारा इकण् प्रत्यय हो जाता है। जैसे संस्कृत अर्थ में 'संस्कृते' ६।४।३ सूत्र से इकण् होने पर दाधिकम् , वैधिकम् आदि रूप बनते हैं। बीच-बीच में कुछ अपवाद प्रत्यय भी आ जाते हैं। उदाहरण के लिए ६।४।४ सूत्र को लिया जा सकता है। यह सूत्र संस्कृत अर्थ में अण् का भी विधान करता है और कौलत्थम , तैत्तडीकम् आदि शब्दों का साधुत्व उक्त अर्थ में बतलाता है।

इसके अनन्तर 'संसृष्टे' ६।४।५, तरति ६।४।९, चरति ६।४।११, जीवति ६।४।१५, निर्वृत्त ६।४।२०, हरति ६।४।२३, वर्त्तते ६।४।२७, हनति ६।४।३१, तिष्ठति ६।४।३२, गृह्णाति, गच्छति, धावति, पृच्छति, समवेत, चरति, अवक्रय

शील, प्रहरण, नियुक्त, वसति, व्यवहरति, अधिगमार्ह, तद्याति, यजमान, अधीयान, प्राप्त, ज्ञेय, शक्त, दक्षिणा, देय, कार्य, शोभमान, परिजय्यादि, निर्वृत्त, भूत, भृत, अधीष्ट, ब्रह्मचर्य, ब्रह्मचारी, चौर, प्रयोजन, मन्थ, दण्ड, प्राप्त, आर्हत्, क्रीत, वाप, हेतु (संयोग अथवा उत्पात), ज्ञात, तं पचति, हरत्, मान, स्तोम, एवं तं अर्हति आदि विविध अर्थों में तद्धित-प्रत्ययों का अनुशासन किया गया है। इस अध्याय के प्रथम तीन पादों के सूत्रों द्वारा जिन अर्थों में प्रत्ययों का अनुशासन अवशिष्ट रह गया है, उन सभी प्रत्ययों का संग्रह इस पाद में कर दिया गया है।

प्रत्ययों की दृष्टि से इस पाद में इकण्, अण्, अ, इनण्, इक्, इकट्, इक, ईनञ्, इय, कण्, ण्य, ञिन्, डक, ण, ईत्, अञ्, य, कञ्, कइक, इकट, डट्, डण् एवं ईय् आदि प्रत्ययों का नियमन किया गया है। प्रधानतः इकण् प्रत्यय का अनुशासन ही मिलता है; इस पाद में सबसे अधिक सूत्र इसी प्रत्यय का विधान करने वाले हैं।

सप्तम अध्याय : प्रथम पाद—

इस पाद का आरम्भ 'य' प्रत्यय से हुआ है। पूर्वोक्त अर्थों के अतिरिक्त जो अर्थ शेष रह गये हैं, उन अर्थों में सामान्यतया य प्रत्यय का विधान किया गया है। प्रथम प्रतिज्ञा-सूत्र भी इस बात का द्योतक है कि इयात्, अर्वाक् और य ये तीनों प्रत्यय अधिकृत होकर चलते हैं। वहति रथयुगप्रासङ्गात् ७।१।२ सूत्र द्वारा द्वितीयान्त से वहत्यर्थ में य प्रत्यय का विधान कर हिरथ्यः, युग्यः आदि उदाहरणों का साधुत्व दिखलाकर 'धुरो यैं यण्' ७।१।३ सूत्र से द्वितीयान्त धुरि से वहत्यर्थ में एयण् प्रत्यय का नियमन किया है। आगे के सूत्रों में वहत्यर्थ में ही विभिन्न शब्दों से ईन, अईन्, इकण्, अण्, य और ण प्रत्यय का विधान किया है। नौविषेण तार्यवध्ये ७।१।१२ सूत्र में तृतीयान्तों से य, न्यायार्थादनपेते ७।१।१३ में पञ्चम्यन्तों से य, मतमदस्य करणे ७।१।१४ में षष्ठ्यन्तों से य एवं ७।१।१५ में सप्तम्यन्तों से य प्रत्यय का अनुशासन किया गया है। इसके अनन्तर साधु अर्थ में एयण्, ण, ण्य, इनञ् और इकण् प्रत्ययों का कथन किया गया है। ७।१।२२ से तदर्थ में य और ण्य प्रत्ययों का अनुशासन आया है। ७।१।२६ से कर्ष अर्थ में य और ७।१।२७ से सगति अर्थ में य प्रत्यय का विधान करता है। ७।१।२८ सूत्र से आतदोऽर्थ का अधिकार चलता है और उक्त अर्थ में य प्रत्यय का अनुशासन किया गया है। 'तस्मै हिते' ७।१।३५ सूत्र से हित अर्थ का आरम्भ होता है और इस अधिकारोक्त अर्थ में य, ध्य, ईनञ्, ईन, इकण् एवं ण प्रत्ययों का प्रतिपादन किया गया है। ७।१।४४ सूत्र से परिणामिनि हेतु—अर्थ का अधिकार चलता है। इस अर्थ

में अञ्, ञ्य, एयण् प्रत्ययों का नियमन किया गया है। ७।१।५१ सूत्र में अर्ह अर्थ में वत् प्रत्यय तथा ७।१।५२ सूत्र में इवार्थ और क्रियार्थ में वत् प्रत्यय किया गया है। ७।१।५३ सूत्र में सप्तम्यन्त से इवार्थ में और ७।१।५४ सूत्र से षष्ठ्यन्त से इवार्थ में वत् प्रत्यय का अनुशासन किया गया है। ७।१।५५ सूत्र में बताया गया है, कि षष्ठ्यन्त से भाव अर्थ में त्व और तल् प्रत्यय होते हैं। इससे आगे के दोनों सूत्रों में भी त्व और तल् प्रत्ययों का विभिन्न स्थितियों में निरूपण किया गया है। अनन्तर भाव और कर्म अर्थ में इमन्, ट्यण्, य, एयण्, अञ्, अण्, अकञ्, त्रिकञ्, ईय एवं त्व प्रत्ययों का विधान किया गया है। ७।१।७८ सूत्र से क्षेत्र अर्थ में प्रत्ययों का अनुशासन आरम्भ होता है और इस अर्थ में शाकट, शाकिन, इनञ्, एयण् एवं य प्रत्ययों का नियमन किया गया है। ७।१।८४ सूत्र से रजति अर्थ में कट, ७।१।८५ से गम्यार्थ ईनञ्, ७।१।८६ से जल्प अर्थ में ईनञ्, ७।१।८७ से पार्थ अर्थ में कुण; ७।१।८८ से तिङ् अर्थ में ईन, ७।१।९४–९५ से व्याप्नोति अर्थ में ईन, ७।१।९६ से बद्धेति अर्थ में ईन, ७।१।९७ से नेय अर्थ में ईन, ७।१।९८ से अत्ति अर्थ में ईन, ७।१।९९ से अनुभवति अर्थ में ईनान्तों का निपातन, ७।१।१००–१०४ सूत्रों से गामिनि–अर्थ में ईन; ७।१।१०५ से इनान्तों का निपातन, ७।१।१०६–१०७ सूत्रों द्वारा स्वार्थ में ईन; ७।१।१०८ से तुल्य अर्थ में क, ७।१।१०९–१११ सूत्रों द्वारा प्रत्ययनिषेध, ७।१।११२—७।१।१२२ सूत्रों द्वारा तुल्य अर्थ में य, इय, एयञ्, एयन्, अण्, इक्, इकण् और टीकण्; ७।१।१२३–१२४ में 'विविस्तृत–अर्थ में शाल, शङ्कट, और कट, ७।१।१२६ से अवादवनत—अर्थ में कुटार और कट अवा""सानत अर्थ में टीट, नाट और भ्रट, ७।१।१२८ से नेनीसानत—अर्थ में चिक, और चिचिक, ७।१।१२९ से नेनीरन्ध्र अर्थ में वि"' ड और विरीस, चाक्षुष्य–अर्थ में ल, ७।१।३२ सूत्र से संघात और विस्तार अर्थ में कट और चट, ७।१।३३ से स्थान–अर्थ में गोष्ठ, ७।१।१३६ से स्नेह अर्थ में तैल, ७।१।१३९ से सञ्जात अर्थ में इत ७।१।१४० से षष्ठ्यर्थ में प्रमाणार्थक शब्दों से मात्रट् एवं ७।१।१४१ से षष्ठ्यर्थ में विभिन्न प्रत्ययों का विधान किया गया है। इसके पश्चात् संख्यार्थ, मानार्थ, श्रद्धा, पारिजात, काम–अर्थ, सक्त–अर्थ, स्वाङ्ग–अर्थ, आधूत अर्थ, धारिणि–अर्थ, धृत–अर्थ कारिणि-अर्थ, फल-अर्थ, द्रष्टा–अर्थ, एवं दटकादि अर्थ में विभिन्न प्रत्ययों का अनुशासन किया गया है।

हेम की यह प्रत्यय-प्रक्रिया पाणिनि की अपेक्षा सरल है। पाणिनि ने कुछ शब्दों के आगे ठक्, ठञ्, आदि प्रत्यय किए हैं तथा ठ को इक करने के लिए 'ठस्येकः' ७।३।५० सूत्र लिखा है। किन्तु हेम ने सीधे ही इक कर दिया है। हेम का यह प्रक्रियालाघव शब्दानुशासन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

द्वितीय पाद—

इस पाद का मुख्य वर्ण्य विषय संज्ञा–विशेषण बनाना है। सर्वप्रथम इस पाद में मतु प्रत्यय आता है। इसके बाद इन, इक, अक, त, म, युस, इल, आरक, ईयस, ऊल, ल, इल, ग्मिन्, र, श, न, अण, म, ईर, डुर, डूर, अलु, व, अ, विन्, मिन, वल्, य, इकण्, इन्, ईय, क, चरट्, अत्र्, तसु, तस्, त्रप्, दा, ईद्युस्, द्युस्, र्हि, था, धा, ध्यमञ्, घण्, कृत्वस्, सुच्, अत्, स्तात्, अत, आत्, आ, आहि, च्वि, सात्, त्रा, डाच्, शस्, टीकण, पिज्ज, पेज, द्वयसट्, मात्रट्, कार, घेय, नईन, तन, त्न, तल्, ट्यण्, तिक एवं सस्न प्रत्ययों का अनुशासन लिखा गया है।

इस पाद में जहाँ सूत्रों से काम नहीं चला है, वहाँ वृत्ति के आदेशों से काम लिया है। जैसे वाचाल या वाग्मी बनाने के लिए। पाणिनि ने व्यर्थ अधिक बोलने वाले के लिए वाचाल शब्द बनाया है तथा सार्थक और अधिक बोलने वाले के लिए वाग्मी। हेम के यहाँ वाचाल बनाने के लिए **'वाच आ-लाटौ' ७।२।२४** सूत्र है। जिसका सूत्रानुसार अर्थ है–वाच् शब्द के बाद अल प्रत्यय होता है और वाग्मी बनाने के लिए **हेम ने 'ग्मिन' ७।२।२५** सूत्र लिखा है। दोनों सूत्र एक रूप से मत्वर्थ में लगते हैं। उक्त सूत्रों के अनुसार वाचाल तथा वाग्मी दोनों का अर्थ समान होना चाहिए, जो ठीक नहीं। अतः हेम को 'वाच आलाटौ' ७।२।२४ की वृत्ति में "क्षेपे गम्ये" अर्थात् अल प्रत्यय क्षेप–निन्दा अर्थ में होता है। अतः स्पष्ट है कि हेम ने वृत्ति में मात्र सूत्रार्थ को ही स्पष्ट नहीं किया है बल्कि कई विशेष बातों पर भी प्रकाश डाला है।

तृतीय पाद—

यह पाद प्रकृतार्थक मयट् प्रत्यय से प्रारम्भ होता है। प्रकृत का अर्थ स्वयं हेमचन्द्र ने लिखा है—"प्राचुर्येण प्राधान्येन वा कृतम्" ७।३।१ की वृत्ति अर्थात् प्राचुर्य या प्राधान्य के द्वारा किया गया। पाणिनि शास्त्र में सभी अव्यय तथा सर्वनामों में टि के पहले अकच् करना आवश्यक है। इसके लिए उन्होंने **'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः' ५।३।७१** सूत्र का विधान किया है। हेम ने **उक्त विधान को कुछ विशिष्टता के साथ बतलाने के लिए** त्यादिसर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात्पूर्वोऽक् ७।३।२९–३० सूत्र बनाये है। जहाँ पाणिनि ने टच् आदि सभी समासान्तों को तद्धित मान कर तद्धित कार्य किया है, पर उन्हें स्थान, समासान्त प्रकरण में ही दिया है, वहाँ हेम ने सभी समासान्तों (समास के अन्त में होने वाले प्रत्ययों) को तद्धित प्रकरण में रख कर तद्धित माना है।

इस पाद में मुख्य रूप से विभिन्न समासों के बाद जो जो प्रत्यय आते हैं उन सब का सन्निवेश किया गया है। यह समासान्त तद्धित प्रत्ययों का प्रकरण ७।३।६९ से आरम्भ होकर ७।३।१८२ सूत्र तक निरन्तर चलता रहता है। यद्यपि इस पाद के आरम्भ में कुछ दूसरे प्रकार के प्रत्ययों का भी संग्रह है परन्तु–प्रधानता समासान्त तद्धित प्रत्ययों की ही है।

इस प्रकरण के यहाँ आने का एक विशेष कारण भी है। यतः जिस समास के बाद समासान्त तद्धित प्रत्यय आते हैं, वे प्रायः सम्पूर्ण शब्द को विशेषण बना देते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हेम ने सप्तम अध्याय के द्वितीय पाद से ही संज्ञा–विशेषणों का कथन आरम्भ कर दिया है। अतः इस पाद में संज्ञा-विशेषणों की व्युत्पत्ति के लिए समासान्त तद्धित प्रत्ययों को स्थान दिया।

चतुर्थ पाद—

इस पाद में मुख्य रूप से तद्धित प्रत्ययों के आ जाने के बाद स्वर में जो विकृति होती है उसी का निर्देश किया गया है। ञित् (जिस प्रत्यय से ञ् हटा हो) अथवा णित (जिस प्रत्यय से ण् हटा हो) तद्धित प्रत्यय के बाद में हो तो पूर्व स्थित नाम के आदिम स्वर की वृद्धि होती है। जैसे दक्ष+इञ्=दाक्षि, भृगु+अण्=भार्गव इत्यादि। यहाँ से ही यह पाद प्रारम्भ होता है। उक्त प्रत्ययों के संयोग में और भी कई तरह के कार्य होते हैं तथा कहीं कहीं पर तत् तत् कार्यों का निषेध भी किया गया है। विधि एवं—निषेध के द्वारा प्रचलित प्रवृत्ति–जिसमें कई कार्य आये हैं–७।४।६० में समाप्त होती है। ६० वाँ सूत्र वैकल्पिक लुक् करता है। अतः यहाँ से लुक् करनेवाले सूत्र प्रवृत्त होने लगे हैं। लुक् का प्रकरण ७।४।७१ सूत्र पर समाप्त होता है। इसके बाद ७।४।८० सूत्र तक शुद्ध लुक् का प्रकरण है। ७।४।८१ से पित् लुक् का प्रसंग है, जो द्वित्व प्रकरण के अन्दर ही प्रकरणवश आ गया है। इसीलिए आगे भी पुनः द्वित्व प्रकरण छूटने नहीं पाया है। द्वित्व की समाप्ति ८९ वें सूत्र से की गई है। इसके आगे प्लुत का प्रकरण आया है। हेम ने प्लुत करनेवाले सूत्रों को इसी पाद में रखा है।

अनन्तर इसी पाद में कुछ ऐसे सूत्र आते हैं, जो एकदम अप्रासंगिक हैं अथवा सामान्य सूत्र होने के कारण अन्त में न रखकर आरम्भ में रखने लायक हैं। ७।४।१०४ सूत्र से लेकर ७।४।१०८ तक सभी सूत्र परिभाषा-सूत्र हैं। ये सूत्र कार्यकारी सूत्रों के मार्गदर्शक हुआ करते हैं। इसके बाद १०९ तथा ११० सूत्र 'स्थानिवद्भाव' करनेवाले तथा १११ और ११२ ये दो सूत्र स्थानिवद्-भाव के निषेधक हैं। इसी प्रकार इस पाद की समाप्ति तक के सभी सूत्र या तो

परिभाषा-सूत्र हैं या अतिदेश सूत्र, जिनकी विशेष रूप से तद्धित प्रकरण में कोई आवश्यकता नहीं है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि हेम ने इन सूत्रों को इस तद्धित प्रकरण में क्यों जोड़ा? इनका यह जोड़ना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। विचार करने पर ज्ञात होता है कि—ग्रन्थारम्भ में सर्वप्रथम हेम ने सामान्य रूप से संज्ञाओं का प्रकरण दिया है। इसके अनन्तर विभिन्न संधियां आयी हैं, पश्चात् स्यन्तप्रकरण, कारकप्रकरण, स्त्रीप्रत्यय, समास, कृदन्तवृत्ति, एवं तद्धितवृत्ति-प्रकरण आये हैं। इन प्रकरणों में भी कहीं भी परिभाषाविषयक तथा अतिदेश सूत्रों को रखने की गुंजायश मालूम नहीं होती। वास्तव में उपर्युक्त सभी प्रकरण विशेष-विशेष रूप से अपने-अपने कार्य करने वाले हैं। अतएव सबके अन्त में इन सामान्य सूत्रों को जोड़ा गया है।

इस विचार-विनियम के उपरान्त यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि उक्त सामान्य सूत्रों का एक अलग पाद ही क्यों न निर्मित कर दिया गया। इस जिज्ञासा का समाधान भी स्पष्ट है कि उक्त प्रकार सूत्र ७।४।१०४ से ७।४।१२२ तक सब मिलाकर १९ ही हैं। अतः यह संभव नहीं था कि इतने थोड़े से सूत्रों को लेकर एक पृथक् पाद निर्मित किया जाता।

यहाँ एक शंका और बनी रह जाती है कि अतिदेश सूत्रों के पूर्व प्लुत सूत्र क्यों आये? पहले अध्याय के दूसरे पाद में असन्धि-प्रकरण आ चुका है। जिसमें प्लुत समकक्ष कार्य भी हैं, इस शंका का समाधान हमारे मत से यह हो सकता है कि प्रथम अध्याय का विषय है सन्धिका अभाव। जिन २ साधनों के रहने पर सन्धियां नहीं होती हैं, उन बातों को असन्धि प्रकरण में स्पष्ट किया गया है। वहाँ आया हुआ प्लुत भी साधन के रूप में ही उपस्थित है। इस संस्कृत शब्दानुशासन के अन्तिम अध्याय के अन्तिम पाद में द्विरुक्त प्रक्रिया का आना यथार्थ है। ज्ञातव्य है कि द्वित्व प्रकरण में ही ७।४।८९ में प्लुत विधान भी आ गया है; यतः ७।४।८९ वाँ सूत्र दोनों कार्य करता है। यहाँ प्लुत-द्वित्व-संयुक्त होकर आये हैं। अतः इनका समावेश यहाँ ही होना सर्वथा उपयुक्त है। द्वित्व तद्धित में प्लुत का सन्निवेश हेम की मौलिकता प्रकट करता है, जिसका पाणिनीय शास्त्र में बिलकुल अभाव है। ऐसा मालूम होता है कि हेम के समय में इस प्रकार के प्लुतों का प्रयोग बढ़ गया था; जिनका संग्रन्थन करके हेम को अपनी भाषा-शास्त्रीय प्रतिभा के प्रदर्शन का अवसर मिला।

तृतीय अध्याय

हेम शब्दानुशासन के खिलपाठ

व्याकरण शास्त्र के सूत्र-रचयिता सूत्रपाठ को लघु बनाने के लिए उससे सम्बद्ध विस्तृत विषयों को जिन ग्रन्थों में सम्बद्ध करते हैं, वे शब्दानुशासन के खिलपाठ या परिशिष्ट कहलाते हैं। प्रायः प्रत्येक शब्दानुशासन के धातुपाठ, गणपाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन ये चार खिल होते हैं। हेम शब्दानुशासन के उक्त सभी खिलपाठ उपलब्ध हैं।

धातुपाठ—धातुपारायण व्याकरण का एक उपयोगी अंग माना जाता है। सार्थ धातु-परिज्ञान के अभाव में व्याकरण-सम्बन्धी ज्ञान अधूरा ही माना जाता है। हेम ने हैमधातु-पारायण नामक स्वतन्त्ररूप से स्वोपज्ञ ग्रन्थ लिखा है, जिसका आदि श्लोक निम्न है—

श्रीसिद्धहेमचन्द्रव्याकरणनिवेशितान् स्वकृतधातून्।
आचार्य-हेमचन्द्रो विवृणोत्यहं नमस्कृत्य॥

धातुपारायण की विवृति में बताया गया है—

इह तावत्पदपदार्थज्ञानद्वारोत्पन्न हेयोपादेयज्ञानं च नयनिक्षेपादिभिरधिगमोपायैः परमार्थतः। व्यवहारतस्तु प्रकृत्यादिभिरिति। पूर्वाचार्यप्रसिद्धा एव सुखग्रहणस्मरणकार्यसंसिद्धये विशिष्टानुबन्धसम्बन्धक्रमाः सहार्थेन प्रकृतयः प्रस्तूयन्ते। तत्र यद्यपि नामधातुपदभेदात् राजा जयति।

इस वृत्ति में धातु प्रकृति को दो प्रकार की माना है—शुद्धा और प्रत्ययान्ता शुद्ध में भू, गम्, पठ, कृष् आदि एवं प्रत्ययान्ता में गोपाय, कामि, जुगुप्स, कण्डूय, बोभूय, बोभू, चोरि, भावि आदि परिगणित हैं। हेम ने प्रत्येक धातु के साथ अनुबन्ध की भी चर्चा की है। इन्होंने अनिट् धातुओं में अनुस्वार को अनुबन्ध माना है, यथा पां पाने, अंक्ङ् व्यक्तायां वाचि (धा० पा० २, ६७) आदि। उभयपदी धातुओं में ग् अनुबन्ध बतलाया है। ऐसा लगता है कि **हेमने पाणिनि के धातु अनुबन्धों में पर्याप्त उलट-फेर किया है।**

हैम अनुबन्ध	पाणिनीय अनुबन्ध
इ (ङ्)	ङ्
ई (ग)	ञ्
उ	इ
ऊ	उ
ॠ	इर्
ऐ	ई
औ	ऊ

हैम धातुपाठ में कुल १९८० धातुएँ उपलब्ध हैं। इनका क्रम निम्न प्रकार है—

भ्वादिगण	अनुबन्धाभाव	१०५८
अदादिगण	क् अनुबन्ध	७१+१४
×	×	×
दिवादिगण	च् अनुबन्ध	१४२
स्वादिगण	ट् ,,	२९
तुदादिगण	त् ,,	१५८
रुधादिगण	प् ,,	२६
तनादिगण	य् ,,	९
क्र्यादिगण	श् ,,	६०
चुरादिगण	ण् ,,	४१२

हैम की कुछ धातुओं के अर्थ बहुत ही सुन्दर हैं, इन अर्थों से भाषा-सम्बन्धी अनेक प्रवृत्तियाँ अवगत होती हैं। यथा—

डुवपीं धातु को बीजसन्तान अर्थ में, फक्क को निगीर्ण अर्थ में, खोडु को घात अर्थ में, जम्, झम्, जिम को भोजन अर्थ में, पूली को तृणोच्चय अर्थ में और मुटत् के आक्षेप तथा मर्दन अर्थ में माना है।

आचार्य हेम ने धातुपाठ में धातुओं को अर्थसहित गद्य के अतिरिक्त पद्य में भी पठित किया है। ये पद्य इनके पर्याप्त सरस हैं[१]।

मुसलक्षेपहुंकारस्तोमैः कलमखण्डनि।
कुचविष्कम्भमुत्तम्भिष्कुम्भतीव ते स्मरः॥
नीपाम्भोन्दोलयत्येष प्रेङ्खोलयति मे मनः।
पवनो वीजयन्नाशा ममाशामुच्चुलुम्पति॥

इस प्रकार हेम का धातुपाठ ज्ञानवर्धन होने के साथ मनोरंजक भी है।

गणपाठ—जितने शब्द-समूह में व्याकरण का एक नियम लागू होता है, उतने शब्द-समूह को गण कहते हैं। हेमने अपने संस्कृत और प्राकृत दोनों प्रकार के शब्दानुशासनों में गणों का उल्लेख किया है। कितने ही गणों का पता तो बृहद् वृत्ति से लग जाता है; पर ऐसे भी कुछ गण हैं, जिनका पता उस वृत्ति से नहीं लग पाता। अतः विजयनीति सूरि ने सिद्ध हैम बृहत्प्रक्रिया में हेम के सभी गणपाठ दिये हैं।

हेमने ३।१।६२ में श्रितादि गणका जिक्र किया है। इसमें श्रित, अतीत; पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त, आपन्न, गामिन्, अगामिन् शब्दों को रखा है।

१—धातुपारायण १० विवृति पृ० २८७

प्रियादिगण में प्रिया, मनोज्ञा, कल्याणी, सुभगा, दुर्भगा, स्वा, क्षान्ता, थान्ता, वामना, समा, सचिवा, चपला, बाला, तनया, दुहितृ, और मस्ति शब्दों को परिगणित किया है। हेमने व्याकरण के लिए उपयोगी गणपाठों का पूर्ण निर्देश किया है।

उणादिसूत्र—

हेम ने 'उणादयः' ५।२।९३ सूत्र लिखकर उणादि का परिचय कराया है। इस सूत्र के ऊपर **'सदर्थाद् धातोरुणादयो बहुलं स्युः'** वृत्ति लिखकर सदर्थक धातुओं से उणादि प्रत्ययों का अनुशासन किया है। उण् सूत्र को आरम्भ कर "कृ-वा-जि-स्वदि-साध्य-शौ-दृ-स्ना-सनि-जानि-रह-इणभ्य उण्" लिखा है। यथा—कृ + उण् = कारुः, कारुर्नापितादिः, वा + उण् = वायुः।

उणादि द्वारा निष्पन्न कितने ही ऐसे शब्द हैं, जिनसे हिन्दी-गुजराती और मराठी भाषा की अनेक प्रवृत्तियों पर प्रकाश पड़ता है। यथा—कर्कर क्षुद्राश्मा = कांकर, कंकड़; गर्गरी महाकुम्भ = गागरः, दवरो—गुण = डोरा; गोबर, पटाका वैजयन्ती = पताका, पटाका।

उणादि सूत्रों के ऊपर हेम की स्वोपज्ञ वृत्ति भी उपलब्ध है। इसका आरम्भिक और निम्न प्रकार है—

> श्रीसिद्धहेमचन्द्रव्याकरणनिवेशिनामुणादीनाम्।
> आचार्यहेमचन्द्रः करोति विवृतिं प्रणम्यार्हम्॥

लिङ्गानुशासन—

संस्कृत भाषा का पूर्ण अनुशासन करने के लिए हेम ने 'हैमलिङ्गानुशासनम्' लिखा है। पाणिनि के नाम पर भी एक लिङ्गानुशासन उपलब्ध है, पर यह पाणिनि का है या नहीं, इस पर आज तक विवाद है। अतः अष्टाध्यायी के मूल सूत्रों के साथ लिङ्गानुशासन करने वाले सूत्रों का सम्बन्ध नहीं है। **अतः ऐसा मालूम होता है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी को सभी दृष्टियों से पूर्ण बनाने के लिए लिङ्गानुशासन का प्रकरण पीछे से जोड़ दिया गया है।**

अमर कवि ने अमरकोष में भी लिङ्गानुशासन का प्रकरण रखा है। उन्होंने श्लोकबद्ध शैली में प्रत्यय एवं अर्थ-साम्य के आधार पर शब्दों का संकलन कर लिङ्गानुशासन किया है। अनुभूति स्वरूपाचार्य के द्वारा लिखित लिङ्गानुशासन भी उपलब्ध है, पर हेम का यह लिङ्गानुशासन अपने ढंग का अनोखा है। हैम लिङ्गानुशासन की अवचूरि में बताया गया है— **"लिङ्गानुशासनमन्तरेण शब्दानुशासनं नाविकलमिति सामान्यविशेषलक्षणाभ्यां लिङ्गमनुशिष्यते"**। अर्थात् लिङ्गानुशासन के अभाव में शब्दा-

नुशासन अधूरा है, अतः सामान्य-विशेष लक्षणों द्वारा लिङ्ग का अनुशासन किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि हेम ने अपने शब्दानुशासन में पूर्णता लाने के लिए खिल पाठों के अन्तर्गत लिङ्गानुशासन को स्थान दिया है। हेम के इस लिङ्गानुशासन में जितने अधिक शब्दों का संग्रह है, उतने अधिक शब्द किसी भी लिङ्गानुशासन में नहीं आये हैं।

हेम ने अपना लिङ्गानुशासन अमरकोष की शैली के आधार पर लिखा है। पद्यबद्धता के साथ इसमें स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग और नपुंसक इन तीनों लिङ्गों में शब्दों का वर्गीकरण भी बहुत अंशों में अमर कवि के ढंग का है इतना होने पर भी हैम लिङ्गानुशासन में निम्न विशेषताएँ विद्यमान हैं—

१—हेम ने यथोचित स्थान पर ललित प्रकार के अनुकूल शब्दों को रखकर तथा पद्यबद्धता के कारण गेयता का समावेश कर शब्दों के लिङ्ग ज्ञान को सहज, सुलभ और बोधगम्य बनाने का अद्वितीय प्रयास किया है। रचनाक्रम में चारुता के साथ मोहकता और भव्यता भी विद्यमान है।

२—हेम ने इसमें विशाल शब्दराशिका संग्रह किया है। इसमें आये हुए शब्दों के सार्थ संकलन से एक बृहद् शब्दकोष तैयार किया जा सकता है। यही कारण है कि हैम लिङ्गानुशासन की अवचूरि एक छोटा सा कोष बन गयी है। हेम ने रुचिर, ललित और कोमल शब्दों के साथ कटु और कठोर शब्दों का भी संकलन किया है।

३—इस लि. ानुशासन में शब्दों का संग्रह विभिन्न साम्यों के आधार पर किया गया है।

४—तीनों लिङ्गो में शब्द-संग्रह की दृष्टि से विशेषण के विभिन्न लिङ्गोंकी चर्चा भी की गयी है। इस चर्चा द्वारा उक्त तीनों लिङ्गों की शब्दावली का वर्गीकरण भी किया गया है।

५—एकशेष द्वारा शब्दों के लिङ्ग-निर्णय की चर्चा की है। यों तो इस तरह की चर्चाएँ पाणिनीय तन्त्र में भी उपलब्ध होती हैं, किन्तु हेम का यह प्रकरण मौलिक है।

६—प्रकरण की दृष्टि से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हेम ने नाना प्रकार के नानार्थवाची शब्दों को स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग भेदों में विभक्त किया है।

७—अर्थ एवं शब्द व्युत्पत्तियों को ध्यान में रखकर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि हेम ने इस लिङ्गानुशासन में विभिन्नार्थक शब्दों का प्रयोग एक साथ अनुप्रास लाने तथा लालित्य उत्पन्न करने के लिए किया है।

इन उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त शब्द-संकलन के भेदों पर विचार

कर लेने से इस ग्रन्थ के वैशिष्ट्यों का पता और भी सहज में लग जायगा। समस्त त्रिलिङ्गी शब्दों को निम्न प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है।

१—सामान्यतया प्रत्ययों के आधार पर
२—अन्तिम अकारादिवर्णों के क्रम पर
३—शब्द-साम्य के आधार पर
४—अर्थ-साम्य के आधार पर
५—विषय के आधार पर
६—वस्तु विशेष या वाचक विशेष की समता के आधार पर

अब क्रमशः प्रत्येक प्रकार के वर्गीकरण पर थोड़ासा विचार कर लेना आवश्यक है। हेम ने अपने लिङ्गानुशासन के पहले श्लोक में क ट ण थ प भ म, य र प सान्त तथा स्न्वन्त शब्दों को पुंल्लिङ्ग बतलाया है। हेम ने इस स्थल पर शब्दों का चयन प्रत्ययों के आधार पर ही किया है। पाणिनीय लिङ्गानुशासन तो समूचा ही प्रत्ययों के आधार पर संकलित है। पर हेम ने कुछ ही शब्दों का चयन प्रत्ययों के आधार पर किया है। पाणिनि की अपेक्षा इस लिङ्गानुशासन में शैलीगत भिन्नता के अतिरिक्त और भी कई नवीनताएँ विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

पुंलिङ्गकटणथपभमयरषसस्न्वन्तोमिमनलौ किश्तिब्।
न नङौघघञोदः किर्भावे खोऽकर्तरि च कः स्यात्॥

अर्थात् कप्रत्ययान्त आनक आदि; टप्रत्ययान्त कक्षापुट आदि, णप्रत्ययान्त गुण आदि; थप्रत्ययान्त निशीथ, शपथ आदि; पप्रत्ययान्त क्षुप आदि, भप्रत्ययान्त दर्भ आदि; मप्रत्ययान्त गोधूम आदि; यप्रत्ययान्त भागधेय आदि; रप्रत्ययान्त निदर आदि; षप्रत्ययान्त गवाक्ष आदि; सप्रत्ययान्त कर्पास, हंस आदि; उप्रत्ययान्त तर्कु, मन्तु आदि; अन्त प्रत्ययान्त पर्यन्त, विष्टान्त आदि; इमन् प्रत्ययान्त, प्रथिमा, म्रदिमा, द्रढिमा आदि; न और नङ् प्रत्ययान्त स्वप्न, विश्नान, प्रश्न, विश्न आदि, घ और घञ् प्रत्ययान्त कर, पाद, भाव आदि; भाव अर्थ में खप्रत्ययान्त 'आशितभवः' आदि एवं अकर्तरि अर्थ में कप्रत्ययान्त आखूत्थ, विघ्न आदि शब्दों को पुंलिङ्ग बताया है।

हैम लिङ्गानुशासन में प्रत्ययों का आधार वाला क्रम अधिक दूर तक नहीं अपनाया गया है। शब्दों को त्रिलिङ्गों में विभक्त कर यथोचित रूप से उन्हें क्रमपूर्व लिखा है।

हैम शब्दानुशासन में शब्दों के लिङ्गों की सूचना नहीं दी गयी है, यतः हेम को लिङ्गानुशासन के द्वारा शब्दों के लिङ्गों का निर्देश करना अभीष्ट था।

पाणिनि ने प्रत्ययों की चर्चा कर प्रायः तद्धितान्त और कृदन्तान्त

शब्दों का ही संकलन किया है। यह संकलन हेम की अपेक्षा बहुत छोटा है। हेम ने नादानुकरण का आधार लेकर शब्द के अन्तरंग और बहिरंग व्यक्तित्व को पहिचानने की चेष्टा की है।

हेम का त्रिलिङ्गों में शब्दों का पूर्वोक्त दिशा क्रम से निर्देश करना उनके सफल वैयाकरण होने का प्रमाण है।

अनुभूति स्वरूपाचार्य ने भी पाणिनि के आधार पर प्रत्ययों के अनुसार या गणों के वर्गीकृत शब्दों के आधार पर त्रिलिङ्गी शब्दों की एक लम्बी तालिका दी है। परन्तु इस तालिका को देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि हैमी तालिका की अपेक्षा उक्त तालिका अवश्य छोटी है। अतएव वैयाकरण हेम का महत्त्व शब्दानुशासन के लिए जितना है, उससे कहीं अधिक लिङ्गानुशासन के लिए है। लिङ्गानुशासन में अधिकृत शब्दों का विवेचन, उनकी विशिष्टता, क्रमबद्धता आदि का सूचक है।

प्रत्ययों के आधार पर पुल्लिंग शब्दों का विवेचन हेम ने उपर्युक्त श्लोक में किया है। स्त्रीलिङ्गी शब्दों के संकलन में प्रत्ययों का आधार गृहीत नहीं है। अपि तु यह क्रम नपुंसकलिंग-विधायक शब्दों में भी पाया जाता है। यथा—

द्वन्द्वैकत्वाव्ययीभावौ क्रियाव्ययविशेषणे।
कृत्याः क्तानाः खल् जिन् भावे आत्वात-त्वादिः समूहजः॥ ९॥
गायत्र्याद्यण् स्वार्थेऽव्यक्तमथानञ्कर्मधारयः।
तत्पुरुषो बहूनां चेच्छायाशालां विना सभा॥ १०॥

(नपुंसकलिङ्ग प्रकरण)

अर्थात्—द्वन्द्वैकत्व शब्द सुखदुःखं, अव्ययीभाव में एकत्व-विधायक शब्द दण्डादण्डि, पञ्चनदं, पारेगङ्गम् आदि; क्रियाविशेषण साधु पचति, शीघ्रं गच्छति आदि, अव्यय के विशेषण उदग्, प्रत्यग् आदि, भाव अर्थ में विहित कृत्या, क्ताना, खल्, जिन् आदि प्रत्ययान्त शब्द तथा कार्यं, पाक्यं, कर्त्तव्यं, करणीयं, देयं, ब्रह्मभूयं, ब्रह्मत्वं, ग्रहणम्, पेचानम्, निर्वाणम्, दुराढ्यं भवं, सांराविणम्, वाणिज्यं, कापेयम्, द्वैपम्, चापल्यम्, आचार्यकम्, होत्रीयम्, भैक्षम्, औपगवकम्, कैदार्यम्, कावचिकम्, अश्वीयम्, पार्श्वम्, शौवम्, पौरुषेयम् आदि शब्द नपुंसकलिङ्गी होते हैं। गायत्री आदि में स्वार्थिक अण् प्रत्ययान्त शब्द गायत्रम्, आनुष्टुभम्, आदि; अव्यक्त लिंगवाची शब्द जैसे कि तस्या गर्भे जातम्, यत्तत्रोत्पद्यते तदानय आदि शब्द नपुंसकलिङ्गी होते हैं।

नञ् समास और कर्मधारय समास को छोड़कर अन्य छायान्त तत्पुरुष समासान्त प्रयोग नपुंसकलिङ्गी होते हैं। जैसे—शलभच्छायम्, शरच्छायम् आदि शब्द। शाला अर्थ को छोड़ शेष अन्य अर्थों के साथ सभा शब्द तथा तदन्तिक

तत्पुरुष समासान्त शब्द भी नपुंसकलिङ्गी होते हैं। जैसे—स्त्रीसभं, दासीसभं, मनुष्यसभं, आदि सभान्त तत्पुरुष समासान्तवाची शब्द।

हेम ने उपर्युक्त आधार पर शब्दों का संकलन उभयलिङ्गी शब्दों के वर्गीकरण के प्रकरण में भी किया है।

अन्तिम अकारादि वर्णों के क्रम से स्त्रीलिङ्ग के प्रायः सभी शब्द संकलित हैं। इस प्रकरण के ग्यारहवें श्लोक से २४ वें श्लोक पर्यन्त अन्तिम आकारान्त शब्दों का संग्रह किया गया है। २५ वें श्लोक से २९ वें श्लोक तक अन्तिम इकारान्त शब्द, ३० वें श्लोक से ३२ वें श्लोक पर्यन्त अन्तिम ईकारान्त एवं ३३ वें श्लोक में स्त्रीलिङ्गवाची अन्तिम उकारान्त तथा हलन्त शब्द संगृहीत हैं। उदाहरण के लिए कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं। इन श्लोकों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जायगा कि हेम का यह शब्द-संकलन कितना वैज्ञानिक है। पाठक को हैम-पठित क्रम से तत्तत् लिङ्गवाची शब्दों को ग्रहण करने में बड़ी सरलता का अनुभव होता है—

> ध्रुवका क्षिपका कनीनिका शम्बूका शिविका गवेधुका।
> कणिका केका विपादिका मह्लिका यूका मक्षिकाष्टका॥ ११॥
> कूर्चिका कूचिका टीका कोशिका केणिकोर्मिका।
> जलौका प्राविका धूका कालिका दीर्घिकोष्ट्रिका॥ १२॥
> जङ्घा चञ्चा कच्छा पिच्छा पिञ्जा गुञ्जा खजा प्रजा।
> झञ्झा घण्टा जटा घोण्टा पोटा भिस्सटया छटा॥ १४॥

अर्थात् उपर्युक्त श्लोकों में अन्तिम आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का संकलन किया गया है ध्रुवका, क्षिपका, कनीनिका, शम्बूका, शिविका, गवेधुका, कणिका, केका, विपादिका, मह्लिका, यूका, मक्षिका, अष्टका, कूर्चिका, कूचिका, टीका, कोशिका, केणिका, उर्मिका, जलौका, प्राविका, धूका, कालिका, दीर्घिका, उष्ट्रिका, जंघा, चंचा, कच्छा, पिच्छा, पिञ्जा, गुञ्जा, खजा, प्रजा, झंझा, घण्टा, जटा, घोण्टा, पोटा, भिस्सटा और छटा शब्दों को स्त्रीलिङ्गवाची माना है। इन शब्दों के संकलन पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि यह संकलन दो दृष्टिकोणों से किया गया होगा। पहला दृष्टिकोण तो शब्दसाम्य का भी हो सकता है और यहाँ उष्ट्रिका तक के सभी शब्दों में का वर्ण का साम्य विद्यमान है। चंचा से लेकर छटा तक चवर्ण एवं टवर्ण का साम्य उपलब्ध है। अतः इस साम्य को शब्दसाम्य भी कहा जा सकता है।

इसी प्रकरण के आगे वाले शब्दों के साथ विचार करने से एक साम्य अन्तिम स्वरों में भी मिलता है। अर्थात् उपर्युक्त सभी शब्दों में अन्तिम आ वर्ण का साम्य विद्यमान है। यही अन्तिम स्वर वर्ण-साम्य दूसरा

दृष्टिकोण हो सकता है। अन्तिम आकारान्त शब्दों के अनन्तर आने वाले इकारान्त और उकारान्त शब्दों से इस क्रम का स्पष्टीकरण और अधिक हो जायगा।

रुचिः सूचिसाची खनिः खानिखारी खलिः कीलितूली क्लमिर्वापि धूली।
कृषिः स्थालिहिण्डी त्रुटिर्वेदिनान्दी किकिः कुक्कुटिः काकलिः शुक्तिपङ्क्ती ॥२६॥

× × × ×

काण्डी खल्ली मदी घटी गोणी खण्डोल्येषणी द्रुणी।
तिलपर्णी केवली खटी नध्रीखसत्यौ च पातली ॥ ३१ ॥

अर्थात्—रुचि-कान्ति, सूचि—सेवनी, साची—तिर्यग्, खानि, खारी—मान विशेष, खली—पिण्याकादि, कीलि—कीलिका-तूलि—चित्र कूर्चिका, क्लमि—क्लम, वापि—कूप, धूलि—पांशु, कृषि—कर्षणम्, स्थालि—उखा, हिण्डी—रात्रि में घूमने वाले रक्षाचार, त्रुटि—संशय और अल्प, वेदि-यज्ञोपकरण भूमि, नान्दि—पूर्वरङ्गारङ्ग, किकि—पक्षिविशेष, कुक्कुटि—कुट्टनी, काकलि—ध्वनिविशेष, शुक्ति—कपाल शकल एवं पंक्ति—दश संख्या शब्दों को स्त्रीलिङ्ग अनुशासित किया है। उपर्युक्त सभी शब्दों में अन्तिम इकार की उपलब्धि होती है। अतः इन्हें अन्तिम इकारान्त कहा गया है। काण्डी वेदविषयक ग्रन्थ, खल्ली—हस्तपादावमर्दनाख्यरोग, मदी—कृषिवस्तु विशेष, घटी—चक्रखण्ड, गोणी—धान्यभाजन विशेष, खण्डोली सरसी और तैलमान, एषणी—वैद्यशलाका, द्रुणी—कर्णजलौका, तिलपर्णी-रक्त-चन्दन, केवली—ज्योतिःशास्त्र, खटी—खटिनी, नध्री—वध्री, खसती—महानस एवं पातली—वागुरा शब्द स्त्रीलिङ्गी हैं। हेमने उपर्युक्त शब्दों में अन्तिम ह्रस्व इकारान्त शब्दों के अनन्तर अन्तिम दीर्घ ईकारान्त शब्दों का संकलन किया है। इसके पश्चात् अन्तिम उकारान्त और ऊकारान्त शब्दों का संग्रह किया है। हेमने अन्तिम स्वरान्त शब्दों के पश्चात् व्यञ्जनान्त शब्दों का लिङ्गनिश्चय किया है।

हेम ने तीसरे प्रकार का शब्दसंग्रह शब्दसाम्य के आधार पर किया है। पुल्लिङ्गी, स्त्रीलिङ्गी और नपुंसकलिङ्गी शब्दों को लिखते समय अन्तिम या आदि स्वर अथवा व्यञ्जन-साम्य के आधार पर शब्दों का चयन किया गया है। नीचे अन्तिम (क) के साम्य के आधार पर संग्रहीत नपुंसकलिङ्गी शब्दों की तालिका दी जाती है। इस प्रकार के शब्द नपुंसकलिङ्ग प्रकरण में आये हैं। ८ वें श्लोक से लेकर ११ वें श्लोक तक अन्तिम ककारान्त, ११ वें श्लोक के अन्तिम पाद तथा १२ वें श्लोक में अन्तिम खकारान्त, गकारान्त, घकारान्त, चकारान्त, छकारान्त और अकारान्त शब्दों का संग्रह किया है। १३ वें श्लोक में अन्तिम जकारान्त, टकारान्त, और ठकारान्त शब्दों का संकलन है। इसके आगे वाले श्लोकों में अन्तिम

टकारान्त, डकारान्त, ढकारान्त, णकारान्त, तकारान्त, थकारान्त, दकारान्त धकारान्त, नकारान्त, पकारान्त, फकारान्त, बकारान्त, सकारान्त एवं हकारान्त शब्दों का संकलन किया गया है। उदाहरणार्थ, वैनीतक, भ्रमरक, मरक, वलीक, वल्मीक, बल्क, दुलक, फरक, व्यलीक, किञ्जल्क, कल्क, कणिक, स्तबक, वितङ्क, वर्चस्क, चूचुक, तडाक, तङ्क, बालक, फलक, मालक, अलक, मूलक, तिलक, पंक, पातक, कारक, करक, कन्दुक, अन्दुक, मनीक, निष्क, चषक, विशेषक, शाटक, कण्टक, टङ्क, विटङ्क, पञ्चक, पल्यङ्क, मेचक, नाक, पिनाक, पुस्तक, मस्तक, मुस्तक, शाक, वर्णक, मोदक, मूषिक, मुष्क, चण्डातक, चरक, रोचक, कञ्चुक, मस्तिष्क, यावक, करण्डक, तण्डक, आतङ्क, शूरक, सरक, कटक, शुल्क, पिण्याक, झर्झरक और हंसक शब्द अन्तिम ककारान्त होने से शब्दसाम्य के आधार पर नपुंसकलिङ्गवाचियों में पठित किये गये हैं।

शब्दसाम्य का यह आधार केवल अन्तिम शब्दों में ही नहीं मिलता बल्कि कहीं-कहीं तो नादानुकरण भी मिलता है; जिससे समस्त शब्द गति, स्थिति एवं नाद आदि के अनुकरण के आधार पर बिल्कुल मिलते-जुलते से दिखलायी पड़ते हैं। हेम ने उक्त प्रकार के शब्दों को लेकर और शब्द-साम्य के आधार पर उनका वर्गीकरण कर शब्दों का चयन किया है। उदाहरण के लिए निम्न श्लोक उद्धृत हैं—

> गुन्द्रा मुद्रा क्षुद्रा भद्रा भस्त्रा छत्रा यात्रा मात्रा।
> दंष्ट्रा फेला वेला मेला गोला शाला माला ॥ २१ ॥
> मेखला सिध्मला लीला रसाला सर्वेला बला।
> कुद्दाला शाकुला हेला शिला सुवर्चला कला ॥ २२ ॥

(स्त्रीलिङ्ग प्रकरण)

उपर्युक्त पद्यों में आगत गुन्द्रा, मुद्रा, क्षुद्रा और भद्रा में, भस्त्रा, छत्रा, यात्रा, मात्रा और दंष्ट्रा में एवं फेला, वेला, मेला, गोला, शाला, माला, मेखला, सिध्मला, लीला, रसाला, सर्वेला, बला, कुद्दाला, शङ्कुला, हेला, शिला, सुवर्चला और कला शब्दों में केवल अन्तिम वर्ण की ही समता नहीं है, अपितु उक्त शब्दों के उच्चारण तत्त्व और श्रवणीय तत्त्वों में पूर्ण समता है। अतः उपर्युक्त शब्दों में शब्द-साम्य माना ही जायगा। एक सामान्य व्यक्ति भी गुन्द्रा, मुद्रा, क्षुद्रा और भद्रा में शब्दसाम्य का अनुभव करेगा।

अतः हेम ने शब्द-संकलन का एक प्रमुख क्रम शब्दसाम्य माना है और इस आधार पर शब्दों का संचयन प्रायः समस्त लिङ्गानुशासन में बहुलता से उपलब्ध होता है।

अर्थ-साम्य के आधार पर भी हेम ने लिङ्गानुशासन में शब्दों का संग्रह किया है। अंगवाचक, पशु-पक्षीवाचक, दासवाचक, दलवाचक, वृक्ष एवं वृक्ष के अंग विशेष पल्लव, पुष्प, शाखावाचक तथा वस्तुवाचक कतिपय शब्दों का अर्थानुसारी संकलन किया गया है। निम्न श्लोक में अंगवाची शब्दों का संकलन दर्शनीय है।

हस्तस्तनोष्ठनखदन्तकपोलगुल्फकेशान्धुगुच्छदिवसर्तुपतद्ग्रहाणाम् ।
निर्यासनाकरसकण्ठकुठारकोष्ठहैमारिवर्षविषबोलरथाशनीनाम् ॥ २ ॥

—पुंल्लिंग

अर्थात्—हस्त, स्तन, ओष्ठ, नख, दन्त, कपोल, गुल्फ और केश इन अंगवाची शब्दों का पुँल्लिङ्गी शब्दों में अर्थानुसारी संकलन किया गया है। यद्यपि यह सत्य है कि हेम ने शब्दों के संग्रह में शब्दसाम्य का आधार ही प्रधान रूप से ग्रहण किया, तो भी औषधियों के नाम, पशु-पक्षियो के नामों में अर्थानुसारी या विषयानुसारी क्रम आ ही गया है।

हैम लिङ्गानुशासन में अन्तिम-वर्ण की समता के आधार पर ही प्रायः शब्दों का संकलन उपलब्ध होता है। इन शब्दो के क्रम में लालित्य एवं अनुप्रास का भी पूरा ध्यान रखा गया है। जैसे—

कर्पूरनूपुरकुटीरविहारवारकान्तारतोमरदुरोदरवासराणि ।
कासारकेसरकरीरशरीरजीरमञ्जीरशेखरयुगंधरवज्रवप्राः ॥ २७ ॥
आलवालपलभालपलालाः पल्वलः खलचषालविशालाः ।
शूलमूलमुकुलास्तलतैलौ तूलकुड्मलतमालकपालाः ॥ २८ ॥
कवलप्रवालबलशम्बलोत्पलोपलशीलशैलशकलाङ्गुलाञ्चलाः ।
कमलं मलं मुशलशालकुण्डलाः कललं नलं निगलनीलमङ्गलाः ॥ २९ ॥

—पुंनपुंसकलिङ्ग

अर्थात् कर्पूर, नूपुर, कुटीर, विहार, वार, कान्तार, तोमर, दुरोदर, वासर, कासार, केसर, करीर, शरीर, जीर, मंजीर, शेखर, युगंधर, वज्र एवं वप्र शब्दों को पुंनपुंसकलिङ्गी कहा गया है। इन शब्दों के रखने के क्रम में केवल अन्तिम रकार का ही साम्य नहीं है अपितु कर्पूर और नूपुर में, कुटीर और विहार में, वार और कान्तार में, तोमर और दुरोदर में, वासर कासार में, करीर और-शरीर में, जीर और मंजीर में, शेखर और युगन्धर में तथा वज्र और वप्र में पूर्णतया अनुप्रासलालित्य एवं शब्दसाम्य का ध्यान रखा गया है।

आलवाल, पल, भाल, पलाल, पल्वल, खल, चषाल, विशाल, शूल, मूल, मुकुल, तल, तैल, तूल, कुड्मल, तमाल, कपाल, कवल, प्रवाल, बल, शम्बल, उत्पल, उपल, शील, शैल, शकल, अंगुल, चंचल, कमल, मल, मुशल, शाल,

कुण्डल, कलल, नल, निगल, नील और मंगल शब्दों को पुं-नपुंसकलिङ्गी बताया है। उपर्युक्त शब्दों के संकलन में दो या तीन शब्दों का एक क्रमविशेष मान कर शब्द-चयन किया है। जैसे—आलवाल और पल में, माल और पलाल में, पल्वल और खल में, कपाल और विशाल में, शूल, मूल और मुकुल में, तल और तैल में, तूल और कुड्मल में, तमाल और कपाल में, कम्बल और प्रवाल में, बल और शम्बल में, उत्पल और उपल में, शील और शैल में, शकल और अङ्कुल में, कंचल और कमल में, मल और मुशल में, शाल और कुण्डल में, कलल और नल में, एवं निगल, नील और मंगल में एक अद्भुत प्रकार का साम्य है। अतः हेम ने लिङ्गानुशासन में शब्द-संचयन के समय शब्द-साम्य पर पूरा ध्यान रखा है। हेम ने इस लिङ्गानुशासन में पुंल्लिङ्गी, स्त्रीलिङ्गी, नपुंसकलिङ्गी, पुं-स्त्रीलिङ्गी, पुं-नपुंसकलिङ्गी, स्त्री-क्लीबलिङ्गी, स्वतःस्त्रीलिङ्गी और परलिङ्गी शब्दों का संग्रह किया है। पुं-स्त्रीलिङ्गी शब्दों के संकलन में पुँल्लिङ्गी शब्दों को बताकर उन्हींका स्त्रीलिङ्गी रूप ग्रहण करने का निर्देश किया है। यथा—

> विधकूपकलंबजित्यवर्ध्राः सहचरमुद्गरनालिकेरहाराः।
> बहुकरकुसरौ कुठारशारौ वल्लरशफरमसूरकीलरालाः॥ ८॥
> पटोलः कम्बलो भल्लो दंशो गण्डूषवेतसौ।
> लालसो रभसो वर्तिवितस्तितुटयस्त्रुटिः॥ ९॥

अर्थात् विध, कूप, कलम्ब, जित्य, वर्ध्र, सहचर, मुद्गर, नालिकेर, हार, बहुकर, कुसर, कुठार, शार, वल्लर, शफर, मसूर, कील, राल, पटोल, कम्बल, भल्ल, दंश, गण्डूष, वेतस, लालस, रभस, इदंवर्ति, इदंवितस्ति, और त्रुटि इन स्त्रीलिङ्गी शब्दों को स्वयमेव ग्रहण करना पड़ता है।

हेम ने स्वतःस्त्रीलिङ्गी शब्दों का एक पृथक प्रकरण रखा है। पाणिनि, अनुभूति स्वरूपाचार्य और अमर तीनों की अपेक्षा हेम का यह प्रकरण मौलिक है। यद्यपि प्रत्ययान्त शब्दों का निर्देश करते हुए पाणिनि ने स्त्रीलिङ्गी शब्दों के प्रकरण में, स्वतःस्त्रीलिङ्गी शब्दों का निर्देश किया है, परन्तु उनका यह निर्देश मात्र निर्देश ही है। हेम ने उन सभी शब्दों का एक अलग प्रकरण बना दिया है, जिनका विशेषण–विशेष्य भाव के आधार पर लिङ्ग निर्धारण नहीं किया जाता है; बल्कि जिनमें स्वतः ही स्त्रीलिङ्ग विद्यमान है। ऐसे शब्दों की तालिका में मद्यपान अर्थ में सरक; श्वाविद्रोमन् वाच्यार्थ में शल्ल; अब्दोपल अर्थ में करक, बीजकोश, खड्गपिधान और प्रत्याकार अर्थ में कोश; केदार अर्थ में वलज; धान्य, पवन और स्थान अर्थ में खल शब्द को स्वतः स्त्रीलिङ्ग कहा है। इसके आगे नक्षत्र अर्थ में अश्विनी; चित्रा,

पुर अर्थ में अमरावती, अलका; आभरण अर्थ में मेखला; वृक्ष अर्थ में मल्लातकी, आमलकी, हरीतकी, बिभीतकी; हनुक अर्थ में तारका; मानविशेष में आढकी; भाजन विशेष और फोट अर्थ में पिटका; अग्निकण अर्थ में स्फुलिङ्ग; औषधिविशेष अर्थ में विडङ्गा; वस्त्रविशेष अर्थ में पटी; पत्र-भाजन अर्थ में पुटी; न्यग्रोध, तरु तथा रस्सी अर्थ में वटी; वृत्ति अर्थ में वाटी; छोटे किवाड़ों के अर्थ में कपाटी; छोटी गाड़ी के अर्थ में शकटी; आश्रम विशेष अर्थ में मठी; भाजनभेद के अर्थ में कुण्डी; शृंग अर्थ में विषाणी; केश मार्जन अर्थ में कंकनी; बाण अर्थ में तूणी, तूणा; कन्दविशेष में मुस्ता; वर्ण कम्बल में कुथा; वृक्षविशेष अर्थ में इङ्गुदी; जम्हाई अर्थ में जृम्भा; वृक्ष अर्थ में दाडिमा; स्थाली अर्थ में पिठरी; सेना के पिछले हिस्से के अर्थ में प्रतिसरा; भाजन अर्थ में पात्री; गुफा के अर्थ में कन्दरी, कन्दरा; नखाभ अर्थ में नखरी, नखरा; आतपत्र अर्थ में छत्री; देशसमूह अर्थ में मण्डली; कमल डंठल अर्थ में नाली, नाला; घर के ऊपरी भाग तथा अक्षिरोग के अर्थ में पटली; रज्जु अर्थ में शृंखला; घास के बँधे हुए गट्ठर के अर्थ में पूली, पूला एवं अवज्ञा अर्थ में ।अवहेला आदि स्वत: स्त्रीलिङ्गी शब्दों का निरूपण किया गया है ।

हेम ने द्वन्द्व समास में, सपाद्यर्थ में, धान्यार्थ में, अपत्यर्थ में, क्रियोपाधि में, स्वार्थ में, प्रकृत्यर्थ में एवं निवासादि अर्थों में परलिङ्ग का निर्देश किया है। यह 'हैमलिङ्गानुशासन' पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्गवाची शब्दों की पूर्णजानकारी कराने में सक्षम है ।

चतुर्थ अध्याय

हेमचन्द्र और पाणिनि

संस्कृत व्याकरण की रचना बहुत प्राचीनकाल से होती आई है। संस्कृत के प्रकाण्ड वैयाकरण महर्षि पाणिनि के पूर्व भी कई प्रभावशाली वैयाकरण हो चुके थे, किन्तु पाणिनि के व्याकरण की पूर्णता एवं प्रभावशालिता के कारण सूर्य के सामने नक्षत्रों की भाँति उनकी प्रभा विलीन हो गयी और व्याकरण जगत में पाणिनीय प्रकाश व्याप्त हो गया। इतना ही नहीं अपितु इस भास्वर प्रकाश के सामने बाद में भी कोई प्रतिभा उद्भासित नहीं हो सकी। विक्रम की बारहवीं शताब्दी में एक हैमी प्रतिभा ही इसके अपवाद रूप में जागरित हुई। यह प्रतिभा केवल प्रकाश ही लेकर नहीं आई अपितु उस प्रकाश में रसमयी शीतलता का सहयोग भी था। हेम ने शब्दानुशासन के साथ शब्दप्रयोगात्मक द्वयाश्रय काव्य की भी रचना की।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन को पाणिनीय शब्दानुशासन की अपेक्षा सरल बनाने की सफल चेष्टा की है, साथ ही पाणिनीय अनुशासन से अवशिष्ट शब्दों की सिद्धि भी बतलायी है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि शब्दानुशासन-प्रक्रिया में पाणिनीय वैयाकरणों के समस्त मस्तिष्कों से जो काम पूरा हुआ है, उसे अकेले हेम ने कर दिखाया है। सच कहा जाय तो इस दृष्टि से संस्कृत भाषा का कोई भी वैयाकरण चाहे वह पाणिनि ही क्यों न हो, हेम की बराबरी नहीं कर सकता। हमें ऐसा लगता है कि हेम ने अपने समय में उपलब्ध कातन्त्र, पाणिनीय, सरस्वतीकण्ठाभरण, जैनेन्द्र, शाकटायन आदि समस्त व्याकरण ग्रन्थों का आलोडन कर सारग्रहण किया है और उसे अपनी अद्भुत प्रतिभा के द्वारा विस्तृत और चमत्कृत किया है।

प्रस्तुत प्रकरण में शब्दानुशासन की समस्त प्रक्रियाओं को ध्यान में रखते हुए हेम की पाणिनि के साथ तुलना की जायगी और यह बतलाने का आयास रहेगा कि हेम में पाणिनि की अपेक्षा कौन सी विशेषता और मौलिकता है तथा शब्दानुशासन की दृष्टि से हेम का विधान कैसा और कितना मौलिक एवं उपयोगी है।

सर्वप्रथम पाणिनि और हेम के संज्ञाप्रकरण पर विचार किया जायगा और दोनों की तुलना द्वारा यह बतलाने की चेष्टा की जायगी कि हेम की संज्ञाएँ पाणिनि की अपेक्षा कितनी सटीक और उपयोगी हैं।

संस्कृत भाषा के प्राय: सभी ग्रन्थों में सर्वप्रथम पारिभाषिक संज्ञाओं का एक प्रकरण दे दिया जाता है। इससे लाभ यह होता है कि आगे संज्ञा शब्दों द्वारा संक्षेप में जो काम चलाये जाते हैं वहाँ उनका विशेष अर्थ समझने में बहुत कुछ सहूलियत हो जाया करती है। संस्कृत के व्याकरण ग्रन्थ भी इसके अपवाद नहीं। वास्तव में व्याकरणशास्त्र में इस बात की और अधिक उपयोगिता है; यत: विशाल शब्दराशि की व्युत्पत्ति की विवेचना इसके बिना संभव नहीं है। उसमें विशेष कर संस्कृत व्याकरण में जहाँ एक-एक शब्द के लिए संविधान की आवश्यकता पड़ती है।

संस्कृत के शब्दानुसाशकों ने विभिन्न प्रकार से अपनी-अपनी संज्ञाओं के सांकेतिक रूप दिये हैं। कहीं-कहीं एकता होने पर भी विभिन्नता प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। यही तो कारण है कि जितने विशिष्ट वैयाकरण हुए उनकी रचनाएँ अलग-अलग व्याकरण के रूप में अभिहित हुई। विवेचन शैली की विभिन्नता के कारण ही एक संस्कृत भाषा में व्याकरण के कई तन्त्र प्रसिद्ध हुए।

हेमचन्द्र की सर्वत्र व्यावहारिक प्रवृत्ति है; इन्होंने संज्ञाओं की संख्या बहुत कम रखकर काम चलाया है। इन्होंने स्वरों का संज्ञाओं में वर्गीकरण करते हुए, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, नाम्नि, समान और सन्ध्यक्षर ये छ: सामान्य संज्ञाएँ प्रस्तुत की हैं। इसी प्रकार व्यंजनों के, संज्ञाओं द्वारा विभाजन प्रसंग में छ: संज्ञाएँ संकलित हैं। ये हैं—धुट्, वर्ग, घोषवान्, अघोष, अन्तस्थ और शिट्। स्वर संज्ञाओं तथा व्यंजन संज्ञाओं का विवेचन कर लेने के बाद एक स्व संज्ञा का विधान है, जिसका उपयोग स्वर एवं व्यंजन दोनों के लिए समान है।

स्वर तथा व्यंजन विधान संज्ञाओं के विवेचन के अनन्तर विभक्ति, पद, नाम, और वाक्य संज्ञाओं का बहुत ही वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है। पाणिनीय व्याकरण में इस प्रकार के विवेचन का ऐकान्तिक अभाव है। पाणिनि तो वाक्य की परिभाषा देना ही भूल गये हैं। परवर्ती वैयाकरण कात्यायन ने संभालने का प्रयत्न अवश्य किया है, पर उन्होंने वाक्य की जो परिभाषा "एकतिङ् वाक्यम्" दी है, वह भी अधूरी ही रह गयी है। बाद के पाणिनीय तन्त्रकारों ने इसे व्यवस्थित करना चाहा है, किन्तु वे "एकतिङ् वाक्यम्" के दायरे से दूर नहीं जा सके हैं। फलत: उनकी वाक्य-परिभाषा सीधा स्वरूप लेकर उपस्थित नहीं हो सकी है और उसकी अपूर्णता ज्यों की त्यों बनी रही है। किन्तु हेम ने वाक्य की बहुत स्पष्ट परिभाषा दी है "सविशेषणमाख्यातं वाक्यम्" १।१।२६ "त्याद्यन्तं पदमाख्यातम्, साक्षात् पारम्पर्येण वा यान्याख्यातविशेषणानि तैः प्रयुज्यमानैरप्रयुज्यमानैर्वा सहितं प्रयुज्यमानमप्रयुज्यमानं वा आख्यातं वाक्यसंज्ञं भवति"। अर्थात् मूल सूत्र में सविशेषण आख्यात वाक्य की वाक्यसंज्ञा बतलायी

गई है। यहाँ आख्यात के विशेषण का अर्थ है अव्यय, कारक, कारकविशेषण और क्रियाविशेषणों का साक्षात् या परम्परया रहना। आगे वाले सूत्रांश से स्पष्ट है कि प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान विशेषणों के साथ प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान आख्यात को वाक्य कहा गया है। यहाँ विशेषण शब्द द्वारा केवल संज्ञाविशेषण का ही ग्रहण नहीं है, अपितु साधारणतः अप्रधान अर्थ लिया गया है और आख्यात को प्रधानता दी गयी है। वैयाकरणों का यह सिद्धान्त भी है कि—वाक्य में अख्यात का अर्थ ही प्रधान होता है। तात्पर्य यह है कि हेम की वाक्य परिभाषा सर्वाङ्गपूर्ण है। इन्होंने इस परिभाषाषा का सम्बन्ध वाक्य प्रदेश "पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये वस्नसौ बहुत्वे" २।१।२१ सूत्र से भी माना है। पाणिनि या अन्य पणिनीय तन्त्रकार वाक्यपरिभाषा को हेम के समान सर्वांगीण नहीं बना सके हैं। यों तो 'एकतिङ्वाक्यम्' से कामचलाऊ अर्थ निकल आता है और किसी प्रकार वाक्य की परिभाषा बन जाती है; पर समीचीन और स्पष्टरूप में वाक्य की परिभाषा सामने नहीं आ पाती है। अतः आचार्य हेम ने वाक्य परिभाषा को बहुत ही स्पष्टरूप में उपस्थित किया है।

हेम ने सात सूत्रों में अव्ययसंज्ञा का निरूपण किया है। इस निरूपण में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि निपातसंज्ञा को अव्ययसंज्ञा में ही विलीन कर लिया है। इन्होंने चादि को निपात न मानकर सीधा अव्यय मान लिया है। यह एक संक्षिप्तीकरण का लघुतम प्रयास है। इत् प्रत्यय और संख्यावत् संज्ञाओं का विवेचन भी पूर्ण है। हेम ने अनुनासिक का अर्थ व्युत्पत्तिगत मान लिया है, अतः इसके लिए पृथक् सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं समझी है। संज्ञाप्रकरण की हेम की संज्ञाएँ शब्दानुसारी हैं, किन्तु आगे वाली कारकीय संज्ञाएँ अर्थानुसारी हैं। पणिनि के समान हेम की संज्ञाओं का तात्पर्य भी अधिक से अधिक शब्दावली को अपने अनुशासन द्वारा समेटना मालूम पड़ता है। अतः हेम ने पाणिनि की अपेक्षा कम संज्ञाओं का प्रयोग करके भी कार्य चला लिया है। यह सत्य है कि हेम ने पाणिनीय व्याकरण का अवलोकन कर भी उनकी संज्ञाओं को ग्रहण नहीं किया है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञाएँ पाणिनि ने भी लिखी हैं किन्तु हेमने इन संज्ञाओं में स्पष्टता और सहज बोधगम्यता लाने के लिए एक, द्वि और त्रिमात्रिक को क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत कह दिया है। वस्तुतः पाणिनि के "ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुतः" १।२।२७ सूत्र का भाव ही अंकित करके हेम ने एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक कहकर सर्वसाधारण के लिए स्पष्टीकरण किया है। हेम के "औदन्ताः स्वराः १।१।४ की अनुवृत्ति भी उक्त संज्ञाओं में विद्यमान है।

पाणिनि का सवर्णसंज्ञा विधायक "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १।१।९ सूत्र है।

हेम ने इसी संज्ञा के लिए "तुल्यस्थानास्यप्रयत्नः स्वः" १।१।१७ सूत्र लिखा है। इस संज्ञा के कथन में हेम की कोई विशेषता नहीं है, बल्कि पाणिनि का अनुकरण ही प्रतीत होता है। हाँ, सवर्णसंज्ञा के स्थान पर हेम ने स्वसंज्ञा नामकरण कर दिया है। दोनों ही शब्दानुशासकों का एक सा ही भाव है।

हेम और पाणिनि की संज्ञाओं में एक मौलिक अन्तर यह है कि हेम प्रत्याहार के झमेले में नहीं पड़े हैं, उनकी संज्ञाओं में प्रत्याहारों का बिल्कुल अभाव है। वर्णमाला के वर्णों को लेकर ही हेम ने संज्ञाविधान किया है। पाणिनि ने प्रत्याहारों द्वारा संज्ञाओं का निरूपण किया है जिससे प्रत्याहारक्रम को स्मरण किये बिना संज्ञाओं का अर्थबोध नहीं हो सकता है। अतः हेम के संज्ञाविधान में सरलता पर पूर्णध्यान रखा गया है।

पाणिनि ने अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय को व्यंजन-विकार कहा है। वास्तव में अनुस्वार, मकार या नकारजन्य है। विसर्ग सकार या कहीं रेफजन्य होता है। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय दोनों क्रमशः क, ख तथा प फ के पूर्व स्थित विसर्ग के ही विकृत रूप हैं। पाणिनि ने उक्त अनुस्वार आदि को अपने प्रत्याहार सूत्रों में—वर्णमाला में, स्वतंत्र रूप से कोई स्थान नहीं दिया है। उत्तर कालीन पाणिनीय वैयाकरणों ने इसकी बड़ी जोरदार चर्चा की है कि इन वर्णों को स्वरों के अन्तर्गत माना जाय अथवा व्यंजनों के। पाणिनीय शास्त्र के उद्भट विद्वान् कात्यायन ने इसका निर्णय किया कि इनकी गणना दोनों में करना उपयुक्त होगा। पाणिनीय तत्त्ववेत्ता पतञ्जलि ने भी इसका पूर्ण समर्थन किया है। हेम ने अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को "अं अः ≍क ≍प शषसाः शिट्" १।१।१६ सूत्र द्वारा शिट् संज्ञक माना है। इससे स्पष्ट है कि हेम ने अपने शब्दानुशासन में विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को व्यञ्जनों में स्थान दिया है। हेम की शिट् संज्ञा व्यंजनवर्णों की है तथा व्यंजन वर्णों की संज्ञाओं में हेम ने उक्त विसर्गादि को स्थान दिया है। शाकटायन व्याकरण में भी अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को व्यंजनों के अन्तर्गत माना है। ऐसा लगता है कि हेम इस स्थल पर पाणिनि की पेक्षा शाकटायन से ज्यादा प्रभावित हैं। हेम का अनुस्वार, विसर्ग आदि का व्यंजनों में स्थान देना अधिक तर्कसंगत जंचता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम संक्षेप में इतना ही कह सकते हैं कि हेम ने अपनी आवश्यकता के अनुसार संज्ञाओं का विधान किया है। जहाँ पाणिनि के निरूपण में क्लिष्टता है वहाँ हेम में सरलता और व्यावहारिकता है।

पाणिनि ने जिसे अच सन्धि कहा है हेम ने उसे स्वर सन्धि। हेम ने गुण

सन्धि में ऋ के स्थान पर अर् और ऌ के स्थान पर अल् किया है। पाणिनि को इसी कार्य की सिद्धि के लिए पृथक् "उरण् रपरः" १।१।५१ सूत्र लिखना पड़ा है। हेम ने इस एक सूत्र की बचत कर १।२।३ सूत्र में ही उक्त कार्य को सिद्ध कर दिया है। हेम ने ऐ और औ को सन्धि-स्वर कहा है, पाणिनि और कात्यायन ने नहीं। उत्तरकालीन व्याख्याकारों ने इनकी सन्ध्यक्षरों में गणना की है।

पाणिनि ने "एङि पररूपम् ६।१।९४ सूत्र द्वारा पहले अ हो और बाद में ए ओ हो तो पररूप करने का अनुशासन किया है। हेम ने "औष्ठौतौ समासे" १।२।१७ द्वारा लुक् का विधान किया है। पाणिनि ने अयादि सन्धि के लिए "एचोऽयवायावः" ६।१।७८ सूत्र का कथन कर समस्त कार्यों की सिद्धि कर ली है, किन्तु हेम को इस अयादि सन्धि कार्य के लिए "एदैतोऽयाय्" १।२।२३ तथा "ओदौतो वाव्" १।२।२४ इन दो सूत्रों की रचना करनी पड़ी है। स्वरसन्धि में हेम का "ह्रस्वोऽपदे वा" १।२।२२ बिल्कुल नवीन है। पाणिनि व्याकरण में इसका जिक्र नहीं है। मालूम होता है कि हेम के समय में "नदि एषा" और "नद्येषा" ये दोनों प्रयोग प्रचलित थे। इसी कारण इन्हें उक्त रूपों के लिए अनुशासन करना पड़ा। गव्यति, गव्यते, नाव्यति, नाव्यते, लव्यम् एवं लाव्यम् रूपों के साधुत्व के लिए हेम ने "य्यक्ये" १।२।२५ सूत्र लिखा है। इन रूपों की सिद्धि के लिए पाणिनि के "वान्तो यि प्रत्यये" ६।१।७९ तथा "धातोस्तन्निमित्तस्यैव" ६।१।८० ये दो सूत्र आते हैं। अभिप्राय यह है कि हेम ने लव्यम् और लाव्यम् की सिद्धि भी १।१।२५ से कर ली है, जब कि पाणिनि को इन रूपों के साधुत्व के लिए ६।१।८० सूत्र पृथक् लिखना पड़ा है। पाणिनि के पूर्वरूप और पररूप का कार्य हेम ने लुक् द्वारा चला लिया है। पाणिनि ने जिसे प्रकृतिभाव कहा है, हेम ने उसे असन्धि कहा है।

उ, इति, विति तथा ॐ इति इन रूपों की साधनिका के लिए पाणिनि ने "उञः" १।१।१७ तथा "ॐ" १।१।१८ ये दो सूत्र लिखे हैं। हेम ने उक्त रूपों की सिद्धि "ॐ चोञ्" १।२।३९ सूत्र द्वारा ही कर दी है।

पाणिनि ने जिसे हल् सन्धि कहा है, हेम ने उसे व्यंजन सन्धि। हेम ने व्यंजन सन्धि में कवर्गादि क्रम से वर्णों का ग्रहण किया है, जब कि पाणिनि ने प्रत्याहारक्रम ग्रहण किया है। पाणिनि ने विसर्ग को जिह्वामूलीय और उपध्मानीय बताया है, पर हेम ने रः कखपफयोः ≍ क ≍ पौ १।३।५ सूत्र में रेफ को ही विसर्ग तथा जिह्वामूलीय और उपध्मानीय कहा है। जो काम पाणिनि ने विसर्ग से चलाया है, वह काम हेम ने रेफ से चलाया है।

हेम ने "नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्याधुट् परे" १। ३। ८ सूत्र

द्वारा न को सीधे स बना दिया है, जब कि पाणिनि ने न = स = र स क्रम रखा है, यही नहीं बल्कि अनुनासिक और अनुस्वार करने के लिए पाणिनि ने "अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा" ८।३।२ और "अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः" ८।३।४ इन दो सूत्रों को लिखा है। हेम ने उपर्युक्त सूत्र में ही इन दोनों सूत्रों को समेट लिया है। हेम ने १।३।१३ में पतंजलि के "समो वा लोपमेके" सिद्धान्त को अर्थात् सम् के म् का वैकल्पिक लोप होता है, को निहित किया है। इससे अवगत होता है कि हेम ने पाणिनीय तन्त्र का अवगाहनकर उनकी समस्त विशेषताओं को अपने शब्दानुशासन में स्थान दिया है तथा अपनी सूक्ष्म प्रतिभा द्वारा सरलीकरण और लघ्वीकरण की ओर भी ध्यान दिया है।

हेम ने 'सम्राट्' १।३।१६ सूत्र में सम्राट् शब्द लिखकर सम्राट् की सिद्धि मान ली है जब कि पाणिनि ने ८।३।२५ सूत्र में इसकी प्रक्रिया भी प्रदर्शित की है। हेम ने १।३।२२ सूत्र में स का लुक् कर दिया है। पाणिनि ने ८।३।१७ के द्वारा स को य बनाकर ८।३।२२ सूत्र से लोप किया है। हेम का लाघव यहाँ नितान्त वैज्ञानिक है। हेम ने १।३।१५ में अस्पष्ट और ईषत्स्पष्टतर मे व और य का विधान किया है। पाणिनि ने ८।३।१८ मे इन्हें लघुप्रयत्न कहा है।

हेम ने १।३।२८ में छ को द्वित्व किया है, जब कि पाणिनि ने ६।१।७५ द्वारा तुक् का आगम किया है, पश्चात् त् को च् किया है। तुलना करने से ज्ञात होता है कि पाणिनि की अपेक्षा हेम का यह अनुशासन सरल होने के साथ वैज्ञानिक भी है, क्योंकि हेम छ को द्वित्व कर पूर्व छ को च कर देते हैं। पाणिनि तुक् आगम कर त् को च् बनाते हैं; इसमें प्रक्रिया गौरव अवश्य है।

पाणिनि का सूत्र है "आङ्माङोश्च" ६।१।७४। इसके द्वारा तुक् किया जाता है, किन्तु हेम ने १।३।२८ के अनुसार आ, मा को छोड़कर शेष दीर्घ पदान्त शब्दों से विकल्प से छ का विधान किया है। किन्तु वृत्ति के अनुसार आ मा के पास छ का होना नित्य सिद्ध होता है, पर यह सत्य है कि उक्त सूत्र के अनुसार कथन में स्पष्टता नहीं आने पायी है।

हेम ने तच्श्शेते, तच्शेते में "ततः शिटः" १।३।३६ द्वारा श को द्वित्व किया है, जो हेम की मौलिकता का द्योतक है। हेम ने विसर्ग सन्धि का निरूपण पृथक् नहीं किया है, बल्कि उसे रेफ कहकर व्यंजन सन्धि मे ही स्थान दिया है। हेम ने "रो रे लुग् दीर्घश्चादिदुतः" १।३।४१ इस एक ही सूत्र में "रो रि" ८।३।१४ तथा "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" ६।३।१११ पाणिनि के इन दोनों सूत्रों के कार्यविधान को एक साथ रख दिया है।

हेम ने "शिट्याद्यस्य द्वितीयो वा" १।३।५९ सूत्र में एक नया विधान किया है। बताया गया है कि श, ष, स के परे वर्ग के प्रथम अक्षर का द्वितीय अक्षर होता है, जैसे क्षीरम्, ख्षीरम्, अप्सराः, अफ्सरा आदि। भाषाविज्ञान की दृष्टि से हेम का यह अनुशासन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऐसा लगता है कि पाणिनि की अपेक्षा हेम के समय में संस्कृत भाषा की प्रवृत्तियाँ लोकभाषा के अधिक निकट आ रही थीं। इसी कारण हेम का उक्त अनुशासन सभी संस्कृत वैयाकरणों की अपेक्षा नया है। यह सत्य है कि हेम को अपने समय की भाषा का यथार्थ ज्ञान था। उसकी समस्त प्रवृत्तियों की उन्हें जानकारी थी। इसी कारण उन्होंने अपने अनुशासन में भाषा की समस्त नवीन प्रवृत्तियों को समेटने की चेष्टा की है।

शब्दरूपों की सिद्धि को हेम ने प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद में आरम्भ किया है। पाणिनि ने अजन्त की साधनिका आरम्भ करने के पूर्व "अर्थवद्-धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" १।२।४५ सूत्र द्वारा प्रातिपदिक संज्ञा पर प्रकाश डाला है। हेम ने "अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम" १।१।२७ सूत्र में नाम की परिभाषा बतलायी है। पाणिनि ने जिसे प्रातिपदिक कहा है हेम ने उसको नाम कहा है। हेम की नाम संज्ञा में और पाणिनि की प्रातिपदिक संज्ञा में मात्र नाम का अन्तर है, अर्थ का नहीं। हेम ने इसी नाम संज्ञा का अधिकार मानकर विभक्तियों का विधान किया है। हेम शब्दानुशासन में पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त विभक्तियाँ ही प्रायः गृहीत हैं। केवल प्रथमा एकवचन में पाणिनि के सु के स्थान पर कातन्त्र के समान "सि" विभक्ति का विधान किया गया है। हेम ने १।४।१ सूत्र से 'अतः' की अनुवृत्ति कर "भिस् ऐस्" १।४।२ सूत्र रचा है जो पाणिनि के "अतो भिस् ऐस्" ७।१।९ के समान प्रयास है।

पाणिनि ने "जश्शसोः शिः" ७।१।२० के द्वारा जस् के स्थान में "शि" होने का विधान किया है, हेम ने "जस इः" १।४।९ द्वारा सीधे जस् के स्थान पर 'इ' कर दिया है। इसका कारण यह है कि पाणिनि के यहाँ यदि केवल इ का विधान होता तो वह जस् के अन्तिम वर्ण स् को भी होने लगता, अत एव उन्होंने शकार अनुबन्ध को लगाना आवश्यक समझा और समस्त जस् के स्थान पर शि का विधान किया। हेम के यहाँ इस तरह का कुछ भी झमेला नहीं है। इनके यहाँ जस् के स्थान पर किया गया 'इ' का विधान समस्त जस् के स्थान पर होता है। अतः यहाँ हेम की लाघव दृष्टि प्रशंसनीय है। हेम ने पाणिनि की तरह सर्वादि की सर्वनामसंज्ञा नहीं की, किन्तु सर्वादि कहकर ही काम चलाया गया है। जहाँ पाणिनि ने सर्वनाम को रोककर सर्वनाम प्रयुक्त कार्य रोका है, वहाँ हेम ने सर्वादि को सर्वादि ही नहीं

मानकर काम चलाया है। यह भी हेम की लाघव दृष्टि का सूचक है।

पाणिनि ने आम् को साम् बनाने के लिए सुट् का आगम किया है, पर हेम ने "अवर्णस्यामः साम्" १।४।१५ सूत्र द्वारा आम् को सीधे साम् बनाने का अनुशासन किया है।

अजन्त स्त्रीलिंग में लतायै, लतायाः और लतायां की सिद्धि के लिए पाणिनि ने बहुत द्रविड प्राणायाम किया है। उन्होंने "याडापः" ७।३।११३ सूत्र से याट् किया; पुनः वृद्धि की, तब लतायै बनाया तथा दीर्घ करने पर लतायाः और लतायां का साधुत्व सिद्ध किया। पर हेम ने १।४।७ सूत्र द्वारा सीधे यै, यास और याम् प्रत्यय जोड़कर उक्त रूपों का सहज साधुत्व दिखलाया है। हेम की यह प्रक्रिया सरल और लाघवसूचक है।

मुनि शब्द की औ विभक्ति को पाणिनि ने पूर्वसवर्ण दीर्घ किया है। हेम ने "इदुतोऽस्त्रेरीदूत्" १।४।२१ के द्वारा इकार के बाद औ हो तो दीर्घ ईकार और उकार के बाद औ हो तो दीर्घ ऊकार का विधान किया है। हेम की यह प्रक्रिया भी शब्दशास्त्र के विद्वानों को अधिक रुचिकर और आनन्ददायक है।

"मुनौ" प्रयोग में पाणिनि ने 'अच्च घेः' ७।३।११९ के द्वारा इ को अ और ङि को औ किया है, तथा वृद्धि कर देने पर मुनौ की सिद्धि की है, किन्तु हेम ने १।४। ५ के द्वारा ङि को डौ किया है जिससे यहाँ ड का अनुबन्ध होने के कारण मुनि शब्द का इकार स्वयं ही हट गया है, अतएव मुनि शब्द के इकार के स्थान पर हेम को अकार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

"देवानाम्" में पाणिनि ने नुट् का आगम किया है, किन्तु हेम ने "ह्रस्वापश्च" १।४।३२ के द्वारा सीधे आम् को नाम् कर दिया है। हेम ने पाणिनि के "त्रेस्त्रयः" ६।१।५३ सूत्र को ज्यों का त्यों 'त्रेस्त्रयः' १।४।३४ में ले लिया है। इसी तरह "ह्रस्वस्य गुणः" ७।३।१०८ को भी १।४।४१ में ज्यों का त्यों ले लिया है। पाणिनि ने नपुंसक लिंग में कतरद् प्रयोग की सिद्धि के लिए "अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः" ७।१।२५ सूत्र द्वारा सु और अम् विभक्ति को अद् का विधान किया है और अ का लोप किया है, पर हेम ने सि और अम् को सिर्फ "द" बनाकर कतरद् की सिद्धि की है। इससे इन्होंने अकार लोप को बचाकर लाघव प्रदर्शित किया है।

पाणिनि ने कुर्वत् शब्द से पुंलिंग में कुर्वन् बनाने के लिए 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' ७।१।७० द्वारा "नुम्" और 'संयोगान्तस्य लोपः' ८।२।२३ द्वारा "त्" के लोप होने का नियमन किया है। हेम ने सीधे 'ऋदुदितः' १।४।७० द्वारा "त्" के स्थान पर "न्" कर दिया है।

उशनस् शब्द के सम्बोधन में रूप सिद्ध करने के लिए कात्यायन ने "अस्य सम्बुद्धौ वानङ् नलोपश्च वा वाच्यः" वार्तिक लिखा है। इस वार्तिक के सिद्धान्त को हेम ने 'वोशनसोनश्चामन्त्र्ये सौ' १।४।८० में रख दिया है।

पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती अनेक वैयाकरणों का नाम लिया है, कहीं-कहीं ये नाम मात्र प्रशंसा के लिए ही आते हैं, किन्तु अधिकतर वहाँ उनसे सिद्धान्त का प्रतिपादन ही किया जाता है। जहाँ सिद्धान्त का प्रतिपादन रहता है, वहाँ स्वयमेव विकल्पार्थ हो जाता है। हेम ने अपनी अष्टाध्यायी में पूर्ववर्ती आचार्यों का नाम नहीं लिया है। विकल्प विधान करने के लिए प्रायः "वा" शब्द का ही प्रयोग किया है।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों के विविधरूपों की सिद्धि के लिए हेम ने अपने सूत्रों में तत्तद्रूपों को ही संकलित कर दिया है, जब कि पाणिनि ने इन रूपों को प्रक्रिया द्वारा सिद्ध किया है।

इदं शब्द के पुंल्लिंग और स्त्रीलिंग के एकवचन में रूप बनाने के लिए पाणिनि के अलग नियम हैं। उन्होंने 'इदमो मः' ७।२।१०८ के द्वारा म विधान और 'इदोऽय् पुंसि' ७।२।१११ के द्वारा इद् को अय विधान किया है। स्त्रीलिंग में "इयम्" बनाने के लिए पाणिनि ने 'यः सौ' ७।२।११० से इद् के "द्" को "य" बनाया है, किन्तु हेम ने सीधे 'अयमियम् पुंस्त्रियोः सौ' २।१।३८ के द्वारा अयं और इयं रूप सिद्ध किये हैं। यहाँ पाणिनि की अपेक्षा हेम की प्रक्रिया सीधी, सरल और हृदयग्राह्य है। हेम की प्रयोग-सिद्धि की प्रक्रिया से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये शब्दानुशासन में सरलता और वैज्ञानिकता को समान रूप से महत्त्व देते हैं। पाणिनि की प्रक्रिया वैज्ञानिक अवश्य है, पर कहीं-कहीं जटिल और बोझिल भी है। हेम अपनी सूक्ष्म प्रतिभा द्वारा प्रायः सर्वत्र ही जटिलता के बोझ से मुक्त हैं।

पाणिनि ने त्यद्, यद् आदि शब्दों के पुंल्लिंग में रूप बनाने के लिए 'त्यदादीनामः' ७।२।१०२ सूत्र द्वारा अकार का विधान किया है, इस प्रक्रिया में त्यद् आदि से लेकर द्वितक का ही ग्रहण होना चाहिए, इसके लिए भाष्यकार ने "द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः" द्वारा नियमन किया है। हेम ने भाष्यकार के उक्त सिद्धान्त को मिलाते हुए 'आद्वेरः' २।१।४१ के द्वारा उसी बात को स्पष्ट किया है। पाणिनि ने 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' ६।४।७७ के द्वारा इ को इयङ् का विधान किया है। हेम ने 'धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव् स्वरे प्रत्यये' २।१।५० के द्वारा इय्, उव् मात्र का विधान कर एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

पाणिनि ने विदुषः शब्द की सिद्धि के लिए, "वसोः सम्प्रसारणम्" ६।४।१३१

सूत्र द्वारा सम्प्रसारण किया है तथा षत्व विधान करने पर विदुषः का साधुत्व प्रदर्शित किया है। हेम ने 'क्वसूषमतौ च' २।१।१०५ सूत्र से विद्वस् के व-स् को उष कर दिया है। वृत्रघ्नः बनाने के लिए पाणिनि ने हन् में से हकार के अकार का लोप कर ह् के स्थान पर घ् बनाने के लिए 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' ७।३।५४ सूत्र लिखा है। हेम ने हन् को 'हनो ह्रो घ्नः' २।१।११२ के द्वारा सीधे घ्नः बना दिया है। हेम का यह प्रक्रियालाघव शब्दानुशासन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

हेम ने कारक प्रकरण आरम्भ करते ही कारक की परिभाषा दी है, जो इनकी अपनी विशेषता है। पाणिनीय अनुशासन में उनके बाद के आचार्यों ने "क्रियान्वयित्वम् कारकत्वम्" अथवा "क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्" कहकर कारक की परिभाषा बतायी है, किन्तु पाणिनि ने स्वयं कोई चर्चा नहीं की है। हेम और पाणिनि दोनों ने ही कर्त्ता की परिभाषा एक समान की है। पाणिनि ने द्वितीयान्त कारक जिसे कर्मकारक कहते हैं, बताने के लिए कभी तो कर्मसंज्ञा की है और कभी कर्मप्रवचनीय तथा इन दोनों संज्ञाओं द्वारा द्वितीयान्त पदों की सिद्धि की है। "कर्मणि द्वितीया" तथा "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" सूत्रों द्वारा द्वितीया के विधान के साथ सीधे द्वितीयान्त का भी विधान किया है। हेम ने कर्मकारक बनाते समय सर्वप्रथम कर्म की सामान्य परिभाषा 'कर्त्तुर्व्याप्यं कर्म' २।२।३ सूत्र में बतायी है, इसके पश्चात् विशेषपद, के सन्निधान में जहाँ द्वितीयान्त बनाना है, वहाँ कर्मकारकत्व का ही विधान है अर्थात् कर्म कह देने से द्वितीयान्त समझ लिया जाता है। हेम के अनुसार कर्म स्वतः सिद्ध द्वितीयान्त है, उसमें द्वितीया विभक्ति लाने के लिए सामान्यतः किसी नियमन की आवश्यकता नहीं है। किन्तु एक बात यहाँ विशेष उल्लेखनीय है, वह यह है कि जहाँ पाणिनि ने यह स्वीकार किया है कि द्वितीयान्त बन जाने से ही कर्मकारक नहीं कहलाया जा सकता, बल्कि उसमें कर्म की परिभाषा भी घटित होनी चाहिए, फिर भी द्वितीयान्तमात्र होने के कारण उन रूपों का भी कारक प्रकरण के कर्मभाग में संग्रह कर दिया गया है। अतः पाणिनि की दृष्टि में विभक्ति और कारक पृथक् वस्तु हैं। विभक्ति अर्थ की अपेक्षा रखती है, पर कारक शब्द सापेक्ष है। हेम ने भी 'क्रियाविशेषणात्' २।२।४१ तथा 'कालाध्वनोर्व्याप्तौ' २।२।४२ में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। हेम का यह प्रकरण पाणिनि के समान ही है।

हेम का 'उपान्वध्याङ्वसः' २।२।२१ सूत्र पाणिनि के १।४।४८ के तुल्य तथा 'साधकतमं करणम्' २।२।२४ सूत्र पाणिनि के १।४।४२ के तुल्य हैं। पाणिनि ने "ध्रुवमपायेऽपादानम्" १।४।२४ सूत्र में "ध्रुव" शब्द का प्रयोग किया है, जिसकी व्याख्या परवर्ती आचार्यों ने अवधि अर्थ द्वारा की है। हेम इस प्रकार के झमेले

में नहीं पड़े हैं। इन्होंने सीधे "अपायेऽवधिरपादानम्" २।२।२९ सूत्र लिखा है। पाणिनि के रचित सूत्र में सन्देह के लिये अवकाश था, जिसका निराकरण टीकाकारों द्वारा हुआ। परन्तु हेम ने सूत्र में ही अवधि शब्द का पाठ रखकर अर्थ सन्देह की गुंजायश नहीं रखी है।

'सम्बोधने च' २।३।४७ पाणिनि का सूत्र है पर हेम ने "आमन्त्र्ये च" २।२।३२ सूत्र सम्बोधन का विधान करने के लिए लिखा है।

पाणिनीय तन्त्र में क्रियाविशेषण को कर्म बनाने का कोई भी नियम नहीं है, बाद के वैयाकरणों और नैयायिकों ने "क्रियाविशेषणानां कर्मत्वम्" का सिद्धान्त स्वीकार किया है। हेम ने 'क्रियाविशेषणात्' २।२।४१ सूत्र में उक्त सिद्धान्त को अपने तन्त्र में संगृहीत कर लिया है।

पाणिनि ने 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' २।३।१६ सूत्र द्वारा अलं शब्द के योग में चतुर्थी का विधान किया है, किन्तु हेम ने शक्त्यर्थक सभी शब्दों के योग में चतुर्थी का नियमन किया है; इससे अधिक स्पष्टता आ गयी है। पाणिनि के उक्त नियम को व्यावहारिक बनाने के लिए उपर्युक्त सूत्र में अलं शब्द को पर्याप्त्यर्थक मानना पड़ता है। अन्यत्र "अलं महीपाल तव श्रमेण" इत्यादि वाक्य व्यवहृत हो जायँगे। हैम व्याकरण द्वारा सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं, अतः किसी भी शक्त्यर्थक या पर्याप्त्यर्थक शब्द के साधुत्व में कहीं भी विरोध नहीं आता है।

पाणिनि ने अपादान कारक की व्यवस्था के लिए 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' १।४।२४ सूत्र लिखा है, किन्तु इस सूत्र से उक्त कारक की व्यवस्था अधूरी रहती है। अत एव वार्त्तिककार ने वार्त्तिक और पाणिनि ने अन्य सूत्र लिखकर इस व्यवस्था को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकरण में 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' (का० वा०), 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' १।४।२५, 'पराजेरसोढः' १।४।२६, 'वारणार्थानामीप्सितः' १।४।२७, 'अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति' १।४।२८, 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' १।४।३०, 'भुवः प्रभवः १।४।३१, 'पञ्चमी विभक्ते' २।३।४२ 'यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पञ्चमी' (का० वा०) सूत्र और वार्त्तिक लिखे गये हैं। पर आचार्य हेम ने "अपायेऽवधिरपादानम्" २।२।२९ इस एक सूत्र में ही उक्त समस्त नियमों को अन्तर्भुक्त कर लिया है। इस सूत्र की टीका में बताया है—"अपायश्च कायसंसर्गपूर्वको बुद्धिसंसर्गपूर्वको वा विभाग उच्यते, तेन "बुद्ध्या समीहितैकत्वान् पञ्चालान कुरुभिर्यदा। बुद्ध्या विभजते वक्ता तदापायः प्रतीयते"॥ इत्यत्रापादानत्वं भवति। एवं अधर्माज्जुगुप्सते, अधर्माद्विरमति, धर्मात् प्रमाद्यति; अत्र यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स दुःखहेतुमधर्मं बुद्ध्या प्राप्य नानेन कृत्यमस्तीति ततो निवर्त्तते। नास्तिकस्तु बुद्ध्या धर्मं प्राप्य नैनं करिष्यामीति ततो निवर्तते इति निवृत्त्यङ्गेषु जुगुप्साविरामप्रमादेष्वेते धातवो

वर्तन्त इति बुद्धिसंसर्गपूर्वकोऽपायः। तथा चौरेभ्यो बिभेति, चौरेभ्य उद्विजते, चौरेभ्यस्त्रायते, चौरेभ्यो रक्षति, अत्र बुद्धिमान् वधबन्धपरिक्लेशकारिणश्चौरान् बुद्ध्या प्राप्य तेभ्यो निवर्तते, चौरेभ्यस्त्रायते इत्यत्रापि कश्चित् सुहृद् यदीमं चौराः पश्येयुर्नूनमस्य धनमपहरेयुरिति बुद्ध्या तं चौरैः संयोज्य तेभ्यो निवर्तयतीत्यपाय एव। अध्ययनात् पराजयते, भोजनात् पराजयते, अत्रापि अध्ययनं भोजनं वाऽसहमानस्ततो निवर्तते इत्यपाय एव। यवेभ्यो गां रक्षति, यवेभ्यो गां निषेधयति, कूपादन्धं वारयति, इहापि गवादेर्यवादिसम्पर्के बुद्ध्या समीक्ष्यान्यतरस्य विनाशं पश्यन् गवादीन् यवादिभ्यो निवर्तयतीत्यपाय एव। उपाध्यायादन्तर्धत्ते, उपाध्यायाद् निलीयते, मा मामुपाध्यायोऽद्राक्षीदिति तिरोभवति इत्यत्राप्यपायः। शृङ्गाच्छरो जायते.........।

इस प्रकार हेमचन्द्र ने पाणिनि के उक्त कार्यों का एक ही सूत्र में अन्तर्भाव कर लिया है। यद्यपि महाभाष्य में 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' १।४।२४ में हेम की उक्त समस्त बातें पायी जाती हैं, तो भी यह मानना पड़ेगा कि हेम ने महाभाष्य आदि ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन कर मौलिक और संक्षिप्त शैली में विषय को उपस्थित किया है।

पाणिनीय तन्त्र में जातिवाचक शब्दों के बहुवचन का विधान कारक के अन्तर्गत नहीं है। पाणिनि ने "**जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्**" १।२।५८ सूत्र द्वारा विकल्प से जातिवाचक शब्दों में एक में बहुत्व का विधान किया है और अनुशासक सूत्र को तत्पुरुष समास में स्थान दिया है। पर हेम ने इसी तात्पर्यवाले '**जात्याख्यायां नवैकोऽसंख्यो बहुवत्**' २।२।१२१ सूत्र को कारक के अन्तर्गत रखा है। ऐसा मालूम होता है कि हेम ने यह सोचा होगा कि एकवचनान्त या बहुवचनान्त प्रयोगों का नियमन भी कारक प्रकरण के अन्तर्गत आना चाहिए। इसी आधार पर दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के अन्तिम चार सूत्र लिखे गये हैं। हेम के कारक प्रकरण का यह अन्तिम भाग पाणिनि की अपेक्षा विशिष्ट है। उक्त चारों सूत्र एकार्थ होने पर भी बहुवचन विभक्तियों के विधान का समर्थन करते हैं। विभक्ति-विधायक किसी भी तरह के सूत्र को कारक से सम्बद्ध मानना ही पड़ेगा। अतः इन चारों सूत्रों का यद्यपि विभक्ति नियमन के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, फिर भी परम्परागत सम्बन्ध तो है ही; किन्तु विभक्त्यर्थ के साथ एकवचन या बहुवचन के नियमन का सीधा सम्बन्ध नहीं है, इसी कारण हेम ने इन्हें कारक प्रकरण के मध्य में स्थान नहीं दिया। कारक के साथ उक्त विधान का पारस्परिक सम्बन्ध है, यह बात बतलाने के लिए ही इन्होंने कारक प्रकरण से दूर कर के उसीके अन्त में ग्रथित किया है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी का स्त्रीप्रत्यय प्रकरण चौथे अध्याय के प्रथम पाद से आरम्भ होकर ७७ वें सूत्र तक चलता है। आरम्भ में सुप् प्रत्ययों का विधान है। इसके पश्चात् तृतीय सूत्र "स्त्रियाम्" ४।१।३ के अधिकार में उक्त सभी सूत्रों को मानकर स्त्रीप्रत्यय-विधायक सूत्र निश्चित किये गये हैं। प्रत्ययों में सर्व-प्रथम टाप् और ङीप् आये हैं, अनन्तर डाप्, ङीन्, ङीष् और ती प्रत्यय आये हैं। हैमव्याकरण में दूसरे अध्याय के सम्पूर्ण चौथे पाद में स्त्री प्रत्यय समाप्त हुआ है। सुप् प्रत्ययों का समावेश न कर के 'स्त्रियां नृतोऽस्वस्रा-देर्ङीः' २।४।१ सूत्र में ही "स्त्रियाम्" पद आया है जिसकी आवश्यकता स्त्रीत्व ज्ञान के लिए है; हेम ने यहीं से स्त्रीत्व का अधिकार मान लिया है। पाणिनि ने ऋकारान्त और नकारान्त शब्दों से ङीप् करने के लिए "ऋन्नेभ्यो ङीप्" ४।१।५ अलग सूत्र लिखा है तथा "न षट् स्वस्रादिभ्यः" ४।१।१० द्वारा यहाँ ङीप्, टाप् का प्रतिषेध किया है। पाणिनि ने "उगितश्च" ४।१।६ के द्वारा भवती, प्राची जैसे दो तरह के शब्दों का साधन कर लिया है, परन्तु हेम ने इसके लिए 'अधातूदृदितः' १।४।२ और 'अञ्चः' २।४।३ ये दो सूत्र बनाये हैं। अत्यन्त लाघवेच्छु हेम का यहाँ गौरव स्पष्ट है।

पाणिनि ने बहुव्रीहि समाससिद्ध शब्दों को स्त्रीलिंग बनाने के लिए प्रायः बहुव्रीहि विषय के सामान्य सूत्रों की रचना की, लेकिन हेम यहाँ विशेष रूप से ही अनुशासन करते दिखलायी पड़ते हैं। अशिशु से अशिश्वी बनाने के लिए 'अशिशोः' २।४।८ सूत्र की अलग रचना की है।

पाणिनि ने सर्वप्रथम स्त्रीप्रत्यय में 'अजाद्यतष्टाप्" ४।१।४ सूत्र लिखा है, हेम ने इस प्रकरणिका में ही परिवर्तन किया है। हैमव्याकरण में पहले ङीप् प्रत्यय का प्रकरण है, उसके अन्त में उसका निषेध करने वाले 'नोपान्त्यवतः' २।४।१३ और 'मनः' २।४।१४ ये दो सूत्र हैं। उक्त दोनों सूत्रों के कारण जिन शब्दों में अन् और मन् प्रत्यय लगे होते हैं, उनके बाद स्त्रीलिंग बनाने के लिए ङी प्रत्यय नहीं आता है। इस प्रकार ङी प्रत्यय को स्त्रीलिंग बनाने के लिए 'ताभ्यां वाप् डित्' २।४।१५ सूत्र द्वारा आम् प्रत्यय का विधान किया है। तत्पश्चात् 'अजादेः" २।४।१६ सूत्र को रखा है। पाणिनि ने कुमारी आदि शब्दों को सिद्ध करने के लिए "वयसि प्रथमे" ४।१।२० सूत्र की रचना की, जिसका तात्पर्य है कि प्रथम अवस्था को बतलाने वाले शब्द से स्त्रीलिंग बनाने के लिए ङीप् प्रत्यय होता है। हेम के यहाँ उक्त सूत्र के स्थान पर "वयस्य-नन्त्ये" २।४।२१ सूत्र है। इसमें अन्तिम अवस्था बुढ़ापा से भिन्न अर्थ को बतलाने वाले सभी शब्दों के आगे ङी प्रत्यय लगता है। जैसे—कुमारी, किशोरी और वधूटी आदि। पाणिनि के उक्त सूत्रानुसार वधूटी और किशोरी शब्द

नहीं बनने चाहिए, क्योंकि ये शब्द प्रथम अवस्थावाची नहीं हैं, अतः इनकी सिद्धि उक्त सूत्र से नहीं हो सकती है। अत एव किशोरी और बधूटी के स्थान पर पाणिनि के अनुसार किशोरा और बधूटा ये रूप होने चाहिए। पर हेम के सूत्र से उक्त सभी उदाहरण सिद्ध हो जाते हैं। हेम ने 'वयस्यनन्त्ये' २।४।२१ सूत्र बहुत सोच समझ कर लिखा है।

पाणिनि के दोषपरिमार्जन के लिए कात्यायन ने "वयस्यचरमे इति वाच्यम्" वार्तिक लिखा है। सचमुच में हेम का उक्त अनुशासन अध्ययन पूर्ण है।

पाणिनि ने समाहार में द्विगु समास माना है और उसको "द्विगोः" ४।१।२१ के द्वारा त्रिलोकी को नित्य स्त्रीलिंग माना है। हेम ने उसके लिए "द्विगोस्समाहारात्" २।४।२२ सूत्र लिखा है। यहाँ समाहारात् शब्द जोड़ने का कोई विशेष तात्पर्य नहीं मालूम होता।

पाणिनि ने बह्वादिगण पठित शब्दों को स्त्रीलिंग बनाने के लिए वैकल्पिक ङीप् का विधान किया है। उक्त गण के अन्तर्गत पद्धति शब्द को भी मान लेने पर पद्धतिः, पद्धती इन दो रूपों की सिद्धि होती है जिसको "पद्धतेः" २।४।३३ के द्वारा हेम ने भी स्वीकार किया है। स्त्रीप्रत्यय प्रकरण में आया हुआ 'यूनस्तिः' ४।१।८७ सूत्र दोनों में एक है।

अव्ययीभाव समास के प्रकरण में पाणिनि की अपेक्षा हैमव्याकरण में निम्न मौलिक विशेषताएँ हैं—

(१) पाणिनि ने "अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रति-शब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु" २।१।६ सूत्र लिखा है। प्रयोग की प्रक्रिया के अनुसार एक सूत्र रखने में संगति नहीं बैठती, क्योंकि केवल अव्यय का विभक्ति आदि अर्थों के अतिरिक्त भी समास होना चाहिए, इसके लिए उत्तरकालीन पाणिनीय व्याख्याकारों ने अव्यय का योग-विभाग करके काम चलाया है, पर हेम ने अपने व्याकरण को इस झमेले से बचा लिया है। इन्होंने ३।१।२१ वाँ सूत्र "अव्ययम्" पृथक् लिखा है। इसके अतिरिक्त इन्होंने एक विशेषता और भी बतलायी है, वह यह है कि इसके द्वारा निष्पन्न समस्त शब्दों को बहुव्रीहि संज्ञा दी है।

(२) पाणिनि ने केशा-केशि, मुसला—मुसलि, दण्डा—दण्डि इत्यादि शब्दों में बहुव्रीहि समास माना है। उक्त प्रयोगों में "अनेकमन्यपदार्थे" २।२।२४ सूत्र द्वारा बहुव्रीहि समास हो जाने के बाद "इच् कर्मव्यतिहारे" ५।४।१२७ तथा "द्विदण्डयादिभ्यश्च" ५।४।१२८ सूत्रों द्वारा इच् प्रत्यय का विधान किया है। किन्तु हेम ने इसके विपरीत उपर्युक्त प्रयोगों में अव्ययीभाव

समास माना है। इस प्रक्रिया के लिए हेम ने "युद्धेऽव्ययीभावः" ३।१।२६ सूत्र की रचना की है। हेम की यह मौलिक विशेषता है कि इन्होंने उक्त स्थलों पर अव्ययीभाव का अनुशासन किया है।

(३) पाणिनीय व्याकरण में "अव्ययं विभक्ति" इत्यादि सूत्र में यथा शब्द आया है। वैयाकरणों ने उसके चार अर्थ किये हैं।

(१) योग्यता, (२) वीप्सा, (३) पदार्थानतिवृत्ति और (४) सादृश्य।

उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार ही पाणिनि का बाद में आया हुआ सूत्र "यथाऽसादृश्ये" २।१।७ संगत होता है। उसका अर्थ है यथा शब्द का समास सादृश्य अर्थ से भिन्न अर्थ में हो। इसका उदाहरण "यथा हरिस्तथा हरः" में समास को रोकना है। अर्थात् यथा के अर्थ में कई अव्यय हैं, जिसमें स्वयं यथा का समास सादृश्य-भिन्न अर्थ में होता है।

हेम ने "विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभाव—अव्ययम्" ३।१।३९ सूत्र से यथा को हटा दिया और "योग्यतावीप्सार्थानतिवृत्तिसादृश्ये" ३।१।४० अलग सूत्र लिखा, इसका तात्पर्य यह है कि इन चारों अर्थों में किसी अव्यय का समास हो जाता है। यथा—अनुरूपं, प्रत्यर्थं, यथाशक्ति, सशीलम् इत्यादि। इसके बाद "यथाऽथा" ३।१।४१ सूत्र द्वारा यथा हरिः तथा हरः प्रयोगों की सिद्धि भी हेम ने कर ली है। उपर्युक्त प्रकरण में हेम ने अपनी अत्यन्त कुशलता का परिचय दिया है। हेम के अनुसार यथा शब्द दो प्रकार के होते हैं—

(अ) प्रथम प्रकार का यथा शब्द यत् शब्द से "था" प्रत्यय लगाने पर बनता है।

(ब) द्वितीय प्रकार का यथा शब्द स्वयं सिद्ध है। यथा शब्द के इन दो रूपों के अनुसार समासस्थलीय और असमासस्थलीय ये दो भेद हैं। जिस यथा शब्द में "था" प्रत्यय नहीं है, ऐसे यथा शब्द का तो समास होता है जैसे—यथारूपं चेष्टते, यथासूत्रम् अधीते, किन्तु जहाँ यथा शब्द "था" प्रत्ययवाला है, वहाँ समास नहीं होता है। जैसे—यथा हरिस्तथा हरः यहाँ समास नहीं है। इसी प्रकार यथा चैत्रस्तथा मैत्रः में भी समास का अभाव है।

इस प्रकार हेम ने अव्ययीभाव समास में पाणिनि की अपेक्षा मौलिकता और नवीनता दिखलायी है। हेम ने यथा शब्द का व्याख्यान कर शब्दानुशासक की दृष्टि से अपनी सूक्ष्म प्रतिभा का परिचय दिया है। समास प्रकरण में हेम की प्रक्रिया पद्धति में लाघव और सरलता ये दोनों गुण विद्यमान हैं।

हेम का तत्पुरुष प्रकरण "गतिक्वन्यस्तत्पुरुषः" ३।१।४२ से आरम्भ होता है। इस सूत्र के स्थान पर पाणिनि ने "कुगति प्रादयः" २।२।१८ सूत्र लिखा। उनके यहाँ गति और प्रादि अलग-अलग हैं, किन्तु हेम ने दोनों का समावेश

गति में किया है। हेम की एक सूक्ष्म सूझ यहाँ यह है कि "कुत्सितः पुरुषो यस्य सः कुपुरुषः" इस स्थल पर बहुव्रीहि समास न हो इसके लिए उन्होंने अन्य पद लिखा है, जिसकी व्याख्या इन्होंने स्वयं कर दी है। "गतिक्वन्यस्तत्पुरुषः" ३।१।४२ सूत्र की लघुवृत्ति में हेम ने लिखा है—"अन्यो बहुव्रीह्यादिलक्षणहीनः" पाणिनि ने भी उक्त स्थल में अन्य पदार्थ की प्रधानता होने के कारण बहुव्रीहि समास होने में सन्देह नहीं किया है।

पाणिनीय तन्त्र के "प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया" "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया, अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया" आदि पाँच वार्तिकों को हेम ने प्रात्यवपरिनिरादयो गतक्रान्तक्रुष्टग्लानक्रान्ताद्यर्थाः प्रथमाद्यन्तैः ३।१।४७ सूत्र में ही समेट लिया है।

"कुम्भकारः" पाणिनि का उपपद समास है, जिसका विग्रह "कुम्भं करोति" और समास कुम्भ + ऊम् + कार में होता है। उक्त समास स्थल में पाणिनीय तन्त्र में कुछ द्रविड़ प्राणायाम करना पड़ता है, किन्तु हेम ने "ङस्युक्तं कृता" ३।१।४९ सूत्र द्वारा स्पष्ट अनुशासन कर दिया है। नञ् समास-विधायक नञ् ३।१।५१ सूत्र दोनों के यहाँ समान है।

पाणिनि ने द्विगु समास के लिए "संख्यापूर्वो द्विगुः" सूत्र लिखा है, जिसकी त्रुटिपूर्ति कात्यायन ने "**समाहारे चायमिष्यते**" वार्तिक द्वारा की है। इसी प्रकरण में पाणिनि ने तद्धितार्थ, उत्तरपद और समाहार में तत्पुरुष समास करने के लिए "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" २।१।५१ सूत्र लिखा है। हेम ने इस बृहत् प्रक्रिया के लिए एक ही "**संख्या समाहारे च द्विगुश्चानाम्न्ययम्**" ३।१।९९ **सूत्र रचा है। प्रायः यह देखा जाता है कि जहाँ पाणिनि ने संक्षिप्त शैली को अपनाया है, वहाँ हेम की शैली प्रसार प्राप्त है, किन्तु** उपर्युक्त स्थल में हेम का संक्षिप्तीकरण श्लाघ्य है। यहाँ एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ पाणिनीय तन्त्र में विस्तृत प्रक्रिया होने पर भी विश्लेषण नहीं हो पाया है। वहाँ हेम की संक्षिप्त शैली से भी पाठक को विषय समझने में अधिक सरलता होती है।

पाणिनि ने "चित्रा गावो यस्य स चित्रगुः" में बहुव्रीहि समास किया है, किन्तु साथ ही चित्रागो में कर्मधारय समास मानकर चित्रा का पूर्व निपात किया है। हेम ऐसे स्थलों में एक मात्र बहुव्रीहि समास मानते हैं, अतः चित्रा पद की व्यवस्था के लिए "तृतीयोक्तं वा" ३।१।५० सूत्र का पृथक निर्माण किया है। इससे ज्ञात होता है कि—बहुव्रीहि में विशेषण का पूर्व निपात करने के लिए पृथक् नियम बनाना आवश्यक है, क्योंकि बहुव्रीहि समास स्थल में विशेष्य-विशेषण पदों में अलग समास हेम के मत में नहीं होता है।

यदि होता तब तो चित्रा शब्द का पूर्व निपात हो ही जाता, किन्तु हेम के सिद्धान्तानुसार बहुव्रीहि समास हो जाने के उपरान्त विशेष्य-विशेषण समास का निषेध हो जाता है, पर इसमें यह संदेह नहीं रहता कि विशेषण का पूर्व निपात हो या विशेष्य का। इस सन्देह का निरसन करने के लिए हेम ने विशेषण का स्पष्ट रूप से पूर्व निपात करने का पृथक् विधान कर दिया है।

पाणिनि के उदीचों—उत्तरवासियों के मत में "मातरपितरौ" को शुद्ध माना है अर्थात् उसके अनुसार "मातरपितरौ" और "मातापितरौ" ये दोनों प्रयोग होने चाहिए। हेम ने भी मातरपितरं वा ३।२।४७ में वैसा ही विधान स्वीकार किया है, परन्तु इनके उदाहरणों में मतभिन्नता भी प्रकट होती है। पाणिनि ने द्वन्द्व समास की विभक्ति में ही "मातरपितर" रूप ग्रहण किया है। किन्तु हेम ने सभी विभक्तियों के योग में "मातरपितर" रूप ग्रहण किया है, जैसे—मातरपितरयोः आदि। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि हेम के समय में मातरपितर, यह वैकल्पिक रूप सभी विभक्तियों के योग में व्यवहृत होने लगा था।

संस्कृत में यह साधारण नियम है कि नञ् समास में दूसरा पद जहाँ व्यंजनादि होता है; वहाँ न के स्थान पर अ होता है। और उत्तरपद स्वरादि हो तो न के स्थान पर अन् होता है। पाणिनि ने इन प्रयोगों की सिद्धि के लिए क्लिष्ट प्रक्रिया दिखलायी है। उन्होंने व्यंजनादि शब्द के सम्पर्क में रहने वाले "न" के न् का लोप किया है और स्वरादि उत्तरपद के पूर्व स्थित न में न् का लोपकर अवशिष्ट अ के बाद नु का आगम कर अन् बनाया है। हेम ने इस प्रसंग में अत्यन्त सीधा एवं स्पष्ट तरीका अपनाया है। इन्होंने नञत् ३।२।१२५ सूत्र के द्वारा सामान्य रूप से न के स्थान में अ का विधान किया है और अन् स्वरे ३।२।१२९ सूत्र के द्वारा अपवाद स्वरूप स्वरादि उत्तरपद होने पर अन् का विधान किया है।

तिङन्त प्रकरण पर विचार करने से ज्ञात होता है कि—हेम के पूर्वकाल-सम्बन्धी प्रक्रिया के लिए दो विधियाँ प्रचलित थीं। प्रथम कातन्त्र प्रक्रिया की विधि, जिसमें वर्तमाना, सप्तमी, पंचमी, ह्यस्तनी, अद्यतनी, परोक्षा, आशीश्वस्तनी, भविष्यन्ती एवं क्रियातिपत्ति ये दश काल की अवस्थाएँ मान्य थीं। दूसरी पाणिनिकी प्रक्रिया, जिसमें लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ् एवं लृङ् ये दश लकार कालद्योतक मान गये थे। हेम ने कातन्त्र पद्धति को अपनाया है। इसका कारण यह है कि पाणिनीय तन्त्र में एक तो प्रक्रिया में अर्थ-ज्ञान के पूर्व एक मूल कोटि का ज्ञान आवश्यक था अर्थात् लकारों के स्थान में आदेशों को समझना पड़ता था और साथ ही अर्थों को भी; किन्तु

कातन्त्र तन्त्र में केवल अर्थों के अनुसार प्रत्ययों को समझना आवश्यक था। अतएव हेम ने सरलता की दृष्टि से कातन्त्र पद्धति को ग्रहण किया। हेम का यह सिद्धान्त समस्त शब्दानुशासन में पाया जाता है कि ये प्रक्रिया को जटिल नहीं बनाते। जहाँ तक संभव होता है, वहाँ तक प्रक्रिया को सरल और बोधगम्य बनाने का आयास करते हैं।

पाणिनि के लङ् (ह्यस्तनी हेम) का विधान अद्यतन सूत्र के लिए किया है और परोक्षा के लिए लिट् का। इसमें यह कठिनाई हो सकती है कि अनद्यतन परोक्ष में लिट् लकार का ही सर्वथा प्रयोग किया जाय। हेम ने उक्त कठिनाई का निराकरण "अनद्यतने ह्यस्तनी" के व्याख्यान में तथा "अविवक्षिते" ५।२।१४ सूत्र द्वारा कर दिया है अर्थात् इनके मत में परोक्ष होते हुए भी जो विषय दर्शन अविवक्षित शक्य हो वहाँ तथा परोक्ष—जहाँ परोक्ष की विवक्षा न हो, वहाँ ह्यस्तनी का ही प्रयोग होना चाहिए।

हेम के तिङन्त प्रकरण में पाणिनि की अपेक्षा निम्नांकित धातु नवीन मिलती हैं। धातुरूपों की प्रक्रिया पद्धति में दोनों शब्दानुशासकों का समान ही शासन उपलब्ध होता है।

धातु	अर्थ	रूप
अघुङ्	गत्याक्षेप	अङ्घते, अङ्घिष्ट, आनङ्घे।
अर्जण	प्रतियत्न	अर्जयति, आर्जिजत्, अर्जयाञ्चकार।
अठुङ्	गति	अण्ठते, आण्ठिष्ट, आनण्ठे।
आङ्शासूकि,	इच्छा	आशास्ते, आशासिष्ट, आशशासे।
इं	गति	अयति, अयेत्, अयतु, आयत्, ऐषीत्, इयाय, ईयात्, एता, एष्यति, ऐष्यत्।
इजुङ्	गति	ऐञ्जिष्ट, इञ्जाञ्चक्रे, इञ्जामास, इञ्जाम्बभूव।
उगु	गति	उङ्गाञ्चकार, उङ्गामास, उङ्गाम्बभूव।
उष	दाह	ओषति, ओषेत्, ओषतु, औषत्।
उर्दि	मान और क्रीडा	ऊर्दते, और्दिष्ट, ऊर्दाञ्चक्रे।
ओवै	शोषण	ओवयात्, ओवयास्ताम्, ओवयासुः।
कर्ज	व्यथन	कर्जति, चकर्ज, कर्ज्यात्, कर्जिता, कर्जिष्यति, अकर्जिष्यत्
किष्कण्	हिंसा	किष्कयते, अचिकिष्कत, किष्कयाञ्चक्रे।
कुत्सण्	अवक्षेप	कुत्सयते, अचुकुत्सत, कुत्सयाञ्चक्रे।
कूणिण	संकोचन	कूणयते, अचूकुणत, कूणयाञ्चक्रे।

धातु	अर्थ	रूप
कुख् , खुज्	स्तेय	खोजति, कोजति, खोजेत् , कोजेत् , खोजतु, कोजतु, अखोजत् , अकोजत् , अखोजीत् , अकोजीत् , खुखोज, कुकोज, खुज्यात् ।
कॄ	हिंसा	कृणाति, कृणीयात् , कृणातु, अकृणात् , अकारीत् , चकार, कीर्यात् ।
केवङ्	सेवन	केवते, अकेविष्ट, चिकेवे ।
क्नथ	हिंसा	क्नथति, अक्नाथीत् , अक्नथीत् , चक्नाथ ।
गड	सेचन	गडति, अगाडीत् , अगडीत् ।
गग्घ	हसन	गग्घति, गग्घेत् , गग्घतु, अगग्घत् , अगग्घीत् , गगग्घ ।
गुंत्	पुरीषोत्सर्ग	गुवति, गुवेत् , गुवतु, अगुवत् , अगुवीत् , जुगाव, गूयात् ।
जेषङ्	गति	जेषते, अजेषिष्ट, जिजिषे ।
टुड	निमज्जन	टुडति, अटुडीत् , टुटोड ।
डंपि, डिंपि	संघात	डम्पयते, डिम्पयते, अडडम्पत, अडीडिम्पत, डम्पयाञ्चक्रे, डिम्पयाञ्चक्रे ।
डबु, डिबुण	क्षेप	डम्बयति, डिम्बयति, अडडम्बत् , अडिडिम्बत् , डम्बयाञ्चकार ।
तुबुण्	मर्दन	तुम्बयति, अतुतुम्बत् , तुम्बयाञ्चकार ।
त्सर	छद्मगति	त्सरति, अत्सारीत् , तत्सार ।
नख	गति	नखति, नखेत् , नखतु, अनखत् , अनखीत् , ननाख, नख्यात् ।
नर्व	गति	नर्वति, अनर्वीत् , ननर्व ।
निबु	सेचन	निन्वति, अनिन्वीत् , निनिन्व ।
निषू	सेचन	नेषति, अनेषीत् , निनेष ।
पिच्चण्	कुट्टन	पिच्चयति, अपिपिच्चत् , पिच्चयाञ्चकार ।
क्लीश	वरण	क्लिनाति, अक्लैषीत् , चिक्लाय ।
क्लेष्कण्	दर्शन	क्लेष्कयति, अचिक्लेष्कण् , क्लेष्कयामास ।
भ्रुडत्	संघात	भ्रुडति, अभ्रुडीत् , बुभ्रडिम ।
मिथग्	मेधा और हिंसा	मेथति, अमेथीत् , मिमेथ, मेथते, अमेथिष्ट, मिमेथे ।
मेथग	संगमे	,, ,, ,, ,, ,,

धातु	अर्थ	रूप
वर्फ	गति	वर्फति अवर्फीत्, ववर्फ।
बाधङ्	रोटन	बाधते, अबाधिष्ट, बबाधे।
हेड	वेष्टन	हेडति, अहेडीत्, जिहेड।

पाणिनि और हेम के कृदन्त प्रकरण पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इन दोनों वैयाकरणों में इस प्रकरण को पर्याप्त विस्तार दिया है। दोनों अनुशासकों के प्रयोगों में समता रहने पर यत्र तत्र विशेषताएँ भी दिखलाई पड़ती हैं।

पाणिनि ने "वास्तव्यः" प्रयोग की सिद्धि के लिए कोई अनुशासन ही नहीं किया है। कात्यायन ने इसकी पूर्ति अवश्य की है, किन्तु उनका अनुशासन प्रकार पूर्ण वैज्ञानिक नहीं रहा है। उन्होंने उक्त प्रयोग की सिद्धि के लिए "वसेस्तव्यत् कर्तरि णिच्च" वार्तिक लिखा है, जिसका अभिप्राय है कि वस् धातु से कर्ता अर्थ में तव्यत् प्रत्यय होता है और वह स्वयं णित् भी होता है। णित् करने का लाभ यह है कि णित् करने से आदिम स्वर की वृद्धि भी हो जाती है। हेम ने उक्त प्रयोग की सिद्धि निपातन के द्वारा की है, यद्यपि निपातन की विधि अगतिक गति ही है, किन्तु हेम के यहाँ यह स्थिति मौलिक बन गई है। पाणिनि ने रूच्य और अव्यथ्य को निपातन के द्वारा ही सिद्ध किया है। हेम ने उक्त प्रयोग द्वय में वास्तव्यः को भी मिलाकर "रूच्याऽव्यथ्यवास्तव्यम्" ५।१।६ द्वारा नैपातनिक अनुशासन किया है। हेम के ऐसा करने से यह लाभ हुआ है कि वास्तव्यः की सिद्धि से अष्टाध्यायी के अभाव की पूर्ति तो हुई ही है, साथ ही कात्यायन की गौरवग्रस्त प्रक्रिया से बचाव भी हो गया है।

पाणिनि ने तव्य, तव्यत्, अनीयर्, यत्, क्यप् और घञ् इन प्रत्ययों की कृत्य संज्ञा देने के लिए एक अधिकार सूत्र "कृत्याः" ३।१।९५ की रचना की है, जिससे ण्वुल के पहले आने वाले उपर्युक्त प्रत्यय कृत्य बोधक हो जाते हैं। हेम ने इससे भिन्न शैली अपनायी है। पहले उन सभी प्रत्ययों का उल्लेख कर देने के बाद "ते कृत्याः" ५।१।४७ सूत्र के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि ऊपर के सभी प्रत्यय कृत्य कहे जाते हैं। ऐसा करने से इस सन्देह का अवसर ही नहीं आता कि आगे आनेवाले कितने प्रत्यय कृत्य कहे जा सकते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी का "कृत्याः" सूत्र इस बात को स्पष्ट करने में अक्षम है कि उसका अधिकार कहाँ तक रहे ? इसका स्पष्टीकरण उत्तरकालीन पाणिनीय वैयाकरणों के द्वारा ही हो सका है।

नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ३।१।१३४ सूत्र से पाणिनि ने नन्द्यादि से अन्, ग्रहादि से णिनि और पचादि से अच् प्रत्यय का विधान किया है,

किन्तु हेम ने इन तीनों प्रत्ययों के विधान के लिए पृथक् पृथक् तीन सूत्र रचे हैं। अच्-विधायक **अच् ५।१।४९** सूत्र, अन्-विधायक **नन्द्यादिभ्योऽनः ५।१।५२** और णिन् विधायक **ग्रहादिभ्यो णिन ५।१।५३** सूत्र हैं। हेम ने सरलता की दृष्टि रखकर तो विभाजन किया ही है, साथ ही अनुशासन शैली में मौलिकता भी स्थापित की है। यह स्पष्ट है कि अच् प्रत्यय-विधायक सूत्र का हेम ने सामान्यतः उल्लेख किया है, इसमें एक बहुत बड़ा रहस्य है। नन्दादि एवं ग्रहादि दोनों गणों में पठित शब्द परिगणित हैं, इसी कारण पाणिनि ने भी पचादि को आकृति-गण माना है। आकृतिगण का मतलब यह होता है कि परिगणितों के सदृश शब्द भी उसी तरह सिद्ध समझे जायें। यहाँ पचादि को आकृतिगण मानने से पाणिनि का तात्पर्य यह है कि—पचादिसंबन्धी अच कार्य पचादि गण में अनिर्दिष्ट धातुओं से भी सम्पन्न हो।

हैम व्याकरण में जैसा कि—ऊपर कहा जा चुका है कि—सामान्य रूप से सभी धातुओं से अच् प्रत्यय का विधान माना गया है। इससे फल यह निकलता है कि पचादि का नाम लेकर उसे आकृतिगण मानने की आवश्यकता नहीं होती। इस शैली में एक यह अड़चन अवश्य होती है कि क्या सभी धातुओं के आगे अच् प्रत्यय लगे? मालूम होता है कि विशेष रूप से अभिहित अण और णिन् प्रत्ययों में प्रकृति स्थलों को छोड़कर सर्वत्र अच प्रत्यय का अभिधान करना हेम को स्वीकार है। संभव है इनके समय में इस तरह के प्रयोग किये जाने लगे होंगे।

पाणिनि ने जृ धातु से अतन् प्रत्यय का विधान कर जरत् शब्द सिद्ध किया है, जिसका स्त्रीलिंग रूप जरती होगा। हेम ने जृष धातु से अत् प्रत्यय करके उक्त रूपों की सिद्धि की है।

संस्कृत भाषा की यह सामान्य विधि है कि इसमें परस्मैपदी धातुओं के साथ अत् और आत्मनेपदी धातुओं के साथ आन प्रत्यय (होता हुआ अर्थ में) लगते है। इसके विपरीत परस्मैपदी धातुओं से आन तथा आत्मनेपदी धातुओं से अत् प्रत्यय नहीं आ सकते। पाणिनीय व्याकरण में इस बात का पूर्ण निर्वाह किया गया है। पर हैम व्याकरण में पाणिनि की अपेक्षा प्रक्रिया की विशेषता है। हेम ने **अवस्था, शक्ति एवं शील अर्थ में गच्छमान** आदि प्रयोग भी सिद्ध किये हैं। यह भाषा शास्त्र की एक घटना ही कही जायगी। ऐसा मालूम होता है कि पाणिनि के बहुत दिनों के बाद उक्त अर्थों में गच्छमान आदि प्रयोगों का भी औचित्य मान लिया गया होगा। इसलिए हेम ने कुछ विशेष अर्थों में परस्मैपदी धातुओं से भी आन प्रत्यय का अनुशासन किया। कृदन्त प्रकरण में हेम और पाणिनि के अवशेष प्रत्ययों के अनुशासन में प्रायः

समता है। हेम ने अपने इस प्रकरण को पर्याप्त पुष्ट बनाने का प्रयास किया है।

कृदन्त के अनन्तर हेम ने तद्धित प्रत्ययों का अनुशासन किया है। यद्यपि पाणिनीय असुशासन में तद्धित प्रकरण कृदन्त के पहिले आ गया है। भट्टोजि दीक्षित ने पाणिनीय तन्त्र की प्रक्रिया को व्यवस्थित रूप देने के लिए सिद्धान्त कौमुदी का पाणिनीय संस्करण तैयार किया है। इसमें उन्होंने प्रतिपादित शब्दों के साधुत्व के अनन्तर उनके विकारी तद्धित रूपों की साधना प्रस्तुत की है। यह एक साधारण सी बात है कि सुबन्त शब्दों का विकार तद्धित-निष्पन्न शब्द हैं, और तिङन्त शब्दों का विकार कृदन्त शब्द हैं। अत: व्याकरण के क्रमानुसार वर्णमाला, सन्धि, सुवन्त शब्द, उनके स्त्रीलिंग और पुंल्लिंग विधायक प्रत्यय, अर्थानुसार विभक्तिविधान, सुबन्तों के सामासिक प्रयोग, सुबन्तों के विकारी तद्धित प्रत्ययों से निष्पन्न तद्धितान्त शब्द, तिङन्त, तिङन्तों के विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त प्रक्रिया रूप एवं तिङन्त के विकारी कृत् प्रत्ययों के संयोग से निष्पन्न कृदन्त शब्द आते हैं। हैम व्याकरण में तिङन्तों के अनन्तर कृदन्त शब्द और उनके पश्चात् विभिन्न अर्थों में, विभिन्न तद्धित प्रत्ययों से निष्पन्न सुबन्त विकारी तद्धितान्त शब्द आये हैं। हेम का क्रम इस प्रकार है कि पहले वे सुबन्त, तिङन्त की समस्त चर्चा कर लेते हैं, इसके पश्चात् उनके विकारों का निरूपण करते हैं। इन विकारों में प्रथम **तिङन्तविकारी कृन् प्रत्ययान्त** कृदन्तों का प्ररूपण है, अनन्तर सुबन्तों के विकारी तद्धितान्त शब्दों का कथन है। अत: हेम ने अपने क्रमानुसार तद्धित प्रत्ययों का सबसे अन्त में अनुशासन किया है। हम हेम और पाणिनि की तुलना में इस प्रकरण को इसलिए अन्त में रखते हैं कि हेम के प्रकरणानुसार ही हमें विवेचन करना है।

पाणिनि ने ण्य प्रत्यय के द्वारा दिति से दैत्य, अदिति और आदित्य दोनों से आदित्य तथा पत्यन्त बृहस्पति आदि शब्दों से बार्हस्पत्य आदि शब्दों की व्युत्पत्ति की है। हेम ने **अनिदम्यणपवादे च दित्यदित्यादित्ययमपत्युत्तर पदाञ्ञ्यः** ६।१।१५ द्वारा नवप्रयुक्त याम्य शब्द की भी व्युत्पत्ति उक्त शब्दों के साथ प्रदर्शित कर पाणिनि की अवशिष्ट-पूर्ति की है।

पाणिनि ने गोधा शब्द से गौधेरः, गौधारः और गौधेयः इन तीन तद्धितान्त रूपों की सिद्धि की है। हेम ने भी गौधारः और गौधेरः की सिद्धि **गोधाया दुष्टे णारश्च** ६।१।८१ के द्वारा की है। पाणिनीय तन्त्र में गौधारः और गौधेरः की सामान्यत: व्युत्पत्ति भर कर दी गयी है अर्थात् गोधा के अपत्य अर्थ में उक्त शब्दों का साधुत्व प्रदर्शित किया गया है। पर हेम ने आर्थिक दृष्टि से एक विशेष प्रकार की नवीनता दिखलायी है। इनके तन्त्र में ६।१।८१ के द्वारा

निष्पन्न गौधारः और गौधेरः शब्द मात्र गोधा के अपत्यवाची ही नहीं हैं, किन्तु दुष्ट अपत्यवाची हैं।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार मनोरपत्यम् अर्थ में अण् प्रत्यय कर मानव शब्द की सिद्धि की गयी है। हेम ने भी मानव शब्द की सिद्धि के लिए वही प्रयत्न किया है, किन्तु हेम ने इस प्रसंग में एक नवीन शब्द की उद्भावना भी की है। **माणवः कुत्सायाम्** ६।१।९५ सूत्र द्वारा कुत्सित अर्थ में मानव में णत्व विधान कर "मनोरपत्यं मूढः माणवः" की सिद्धि भी की है।

पाणिनीय तन्त्र में सम्राज शब्द से तद्धितान्त भाववाची साम्राज्य शब्द तो बन सकता है, पर कर्तृवाचक नहीं। हेम ने साम्राज्य शब्द को कर्तृवाचक भी माना है, जिसका अर्थ है क्षत्रिय। इसकी साधनिका **सम्राजः क्षत्रिये** ६।१।१०१ सूत्र द्वारा बतलायी गयी है। अर्थात् पाणिनीय व्याकरण के अनुसार "सम्राजः भावः या सम्राजः कर्म" इन विग्रहों में साम्राज्य शब्द निष्पन्न हो सकता है, जिसका अर्थ सम्राट् का स्वभाव या सम्राट् सम्बन्धी होगा। पर हेम के अनुसार "सम्राजः अपत्यं पुमान्" इस विग्रह में भी साम्राज्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ होगा सम्राट् की पुरुष सन्तान, इस प्रकार यहाँ यह देखा जाता है कि साम्राज्य शब्द के कर्तृवाचक स्वरूप की ओर या तो पाणिनि का ध्यान ही नहीं गया था अथवा उनके समय में इसका प्रयोग ही नहीं होता था। जो भी हो, पाणिनि की इस कमी की पूर्ति हेम ने अपने इस तद्धित प्रकरण में की है।

पाणिनीय शब्दानुशासन में वस धातु से ति प्रत्यय करने पर वसति रूप बनता है, हेम के यहाँ भी वसति रूप सिद्ध होता है। इस वसति शब्द से राष्ट्र अर्थ में अकञ् और अण् करने पर वासातक तथा वासात ये दो रूप बनते हैं। इन दोनों रूपों की सिद्धि के लिए हेम ने **वसातेर्वा** ६।२।६७ सूत्र की रचना की है, जिनके लिए पाणिनीयतन्त्र में कोई अनुशासन नहीं है।

पाणिनि ने "युवतिर्जाया यस्य" इस अर्थ में बहुव्रीहि समास का विधान करने के बाद जाया के अन्तिम आकार को निङ् आदेश करने का नियमन किया है। पश्चात् उसके पूर्ववर्ती य का लोपकर युवजानि प्रयोग बनाने का विधान है, यह एक बहुत क्लिष्ट प्रक्रिया मालूम पड़ती है, इसीलिए हेम ने सरलतापूर्वक उक्त प्रयोग की सिद्धि के लिए **जायाया जानिः** ७।३।१६४ के द्वारा जाया शब्द को जानि के रूप में आदिष्ट किया है। तद्धित का यह प्रयोग हेम के सरल अनुशासन का अच्छा परिचायक है।

हेम और पाणिनि दोनों ही महान हैं। दोनों ने संस्कृत भाषा का श्रेष्ठ व्याकरण लिखा है। हेम से पाणिनि बहुत पहले हुए हैं। अतः इन्हें

पाणिनि के शब्दानुशासन के अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ। पर हेम ने पाणिनि का पूर्ण अनुकरण ही नहीं किया है। जहाँ अनुकरण किया भी है, वहाँ उसमें मौलिकता का भी समावेश किया है। हेम ने एक नहीं अनेक स्थलों पर पाणिनि की अपेक्षा वैशिष्ट्य दिखलाया है। सरलता के लिए तो हेम प्रसिद्ध हैं ही। इन्होंने आरम्भ में विकार दिखलाया, पश्चात् उत्सर्ग और अपवाद के सूत्र लिखे। वास्तव में हेम ने शब्दानुशासन के क्षेत्र में बड़ी समझदारी और बारीकी से काम लिया है। जहाँ पाणिनि ने वैदिक भाषा का अनुशासन दिया है, वहाँ हेम ने प्राकृत भाषा का। दोनों के व्याकरण अष्टाध्याय प्रमाण हैं। हेम के प्रयोगों के आधार पर से संस्कृत भाषा की प्रवृत्तियों का मुकर इतिहास तैयार किया जा सकता है। शब्द सम्पत्ति की दृष्टि से हेम का भाण्डार अधिक समृद्धशाली है। अपने समय तक की संस्कृत भाषा में होनेवाले नवीन प्रयोगों को भी इन्होंने समेट लिया है। अत: यह निष्पक्ष कहा जा सकता है कि जिस काम को समस्त पाणिनि तन्त्र के आचार्यों ने मिलकर किया, उसको अकेले हेम ने कर दिखलाया। भाषा की विकसनशील प्रकृति का बहुत ही सुन्दर और मौलिक विश्लेषण इनके शब्दानुशासन में उपलब्ध होता है।

हेम और पाणिनि के इस तुलनात्मक विवेचन से ऐसा निष्कर्ष निकालना नितान्त भ्रम होगा कि पाणिनि हेम की अपेक्षा हीन हैं या उनमें कोई बहुत बड़ी त्रुटि पायी जाती है। सत्य यह है कि पाणिनि ने अपने समय में शब्दानुशासन का बहुत बड़ा कार्य किया है। संस्कृत भाषा को व्यवस्थित बनाने में इनके दिये गये अमूल्य सहयोग को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता है। हेम ने जहाँ अपनी मौलिक निष्पत्तियाँ उपस्थित की हैं, वहाँ उन्होंने पाणिनि से बहुत कुछ ग्रहण भी किया है। अनेक नियमन स्थलों में उनके ऊपर पाणिनि का ऋण है।

पञ्चम अध्याय

हेमचन्द्र और पाणिनि—इतर प्रमुख वैयाकरण

भ्रातः संवृणु पाणिनिप्रलपितं कातन्त्रकन्था वृथा
मा कार्षीः कटुशाकटायनवचः क्षुद्रेण चान्द्रेण किम् ।
किं कण्ठाभरणादिभिर्बठरयस्यात्मानमन्यैरपि
श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुराः श्रीसिद्धहेमोक्तयः ।।

पाणिनि के पश्चात् अनेक वैयाकरणों ने व्याकरण शास्त्र की रचनाएँ की हैं। उत्तरकालिक वैयाकरणों में से अधिकांश वैयाकरणों का उपजीव्य प्रायः पाणिनीय अष्टाध्यायी है। केवल कातन्त्र व्याकरण के सम्बन्ध में लोगों की यह मान्यता अवश्य है कि इसका आधार कोई अन्य प्राचीन व्याकरण है। इसी कारण कातन्त्र को प्राचीन माने जाने की बात का भी समर्थन होता है। व्याकरण शास्त्र के इतिहास-लेखक युधिष्ठिर मीमांसक ने पाणिनीतर वैयाकरणो में निम्न ग्रन्थकारों को स्थान दिया है[१]।

१ कातन्त्रकार	६ पाल्यकीर्त्ति	११ हेमचन्द्र
२ चन्द्रगोमी	७ शिवस्वामी	१२ क्रमदीश्वर
३ क्षपणक	८ भोजदेव	१३ सारस्वत व्याकरणकार
४ देवनन्दी	९ बुद्धिसागर	१४ वोपदेव
५ वामन	१० भद्रेश्वर सूरि	१५ पद्मनाभ

पं० गुरुपद हालदार ने अपने 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' नामक ग्रन्थ में पाणिनि के परवर्ती निम्न वैयाकरणों और उनकी कृतियों का उल्लेख किया है[२]।

१ द्वितीय व्याघ्रपाद कृत	दशपादी वैयाघ्रपद्य व्याकरण
२ यशोभद्र कृत	जैन व्याकरण
३ आर्यवज्रस्वामी कृत	जैन व्याकरण
४ भूतबली कृत	,,
५ बौद्ध इन्द्रगोमी कृत	ऐन्द्र व्याकरण
६ बप्पभट्ट कृत	,,
७ श्रीदत्त कृत	जैन व्याकरण
८ चन्द्रकीर्त्ति कृत	समन्तभद्र व्याकरण

१—देखें-संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास पृ० ३९५।

२—व्याकरण दर्शनेर इतिहास पृ० ४४८।

९ प्रभाचन्द्र कृत	जैन व्याकरण
१० अमरसिंह कृत	बौद्ध व्याकरण
११ सिंहनन्दी कृत	जैन व्याकरण
१२ भद्रेश्वर सूरिकृत	दीपक व्याकरण
१३ श्रुतपाल कृत	व्याकरण
१४ शिवस्वामी या शिवयोगी कृत	व्याकरण
१५ बुद्धिसागर कृत	बुद्धिसागर व्याकरण
१६ केशव कृत	केशवीय व्याकरण
१७ विनतिकीर्त्ति कृत	व्याकरण
१८ विद्यानन्द कृत	विद्यानन्द व्याकरण

इनके अतिरिक्त यम, वरुण, सौम्य आदि व्याकरण ग्रन्थों का उल्लेख और मिलता है; पर हमें इस अध्याय में [1]कातन्त्रकार, भोजदेव, सारस्वतव्याकरणकार और वोपदेव की तुलना हेमचन्द्र से करनी है। यतः जैन व्याकरणों का विचार छठे अध्याय में किया जायगा। पाणिनितर व्याकरणों में जिन व्याकरणों का प्रचार विशेषरूप से हो रहा है, उनमें उक्त चार वैयाकरणों के व्याकरण ग्रन्थ ही आते हैं।

सर्व प्रथम कातन्त्र व्याकरण के साथ हैम व्याकरण की तुलना की जाती है। यह सत्य है कि हेम ने कातन्त्र का सम्यक् अध्ययन किया है और यत्र-तत्र उसका सार भी ग्रहण किया है। हेम अपने शब्दानुशासन में जितने पाणिनि से प्रभावित हैं, लगभग उतने ही कातन्त्र व्याकरण से भी।

कातन्त्र में संज्ञाओं का कोई स्वतन्त्र प्रकरण नहीं है, सन्धि प्रकारण के पहले पाद में प्रायः सभी प्रमुख संज्ञाओं का उल्लेख कर दिया गया है। कातन्त्र व्याकरण की **"सिद्धो वर्णसमाम्नायः"** यह प्रथमसूत्रीय घोषणा अत्यन्त गम्भीर है। इस सूत्र में वर्णों की नित्यता स्वीकार की गयी है। इस व्याकरण में स्वर्गों की सवर्ण संज्ञा बतायी गयी है, स्व संज्ञा नहीं। पर हेम ने "तुल्यस्थानास्यप्रयत्नः स्वः" १।१।१७ द्वारा स्वरों की स्वसंज्ञा बतलायी है। कातन्त्र में "तत्र चतुर्दशादौ स्वराः" १।१।२ सूत्र में स्वरों को वर्णमाला के अनुसार गिना दिया है; हेम ने इस प्रकार स्वरों की संख्या को नहीं गिनाया है। हाँ, कातन्त्र के 'दश समानाः'

[1]—कातन्त्र व्याकरणके रचयिता शर्व वर्मा माने जाते हैं। इस व्याकरण पर कई जैन टीकाएँ उपलब्ध हैं, अतः कुछ विद्वान् इसे जैन व्याकरण मानते हैं। पर व्याकरण शास्त्र के इतिहास-लेखकों ने इसे जैनेतर व्याकरण ग्रन्थ माना है अतः हम हेम के साथ इस ग्रन्थ की तुलना इसी अध्याय में कर रहे हैं।

१।१।३ के निकट हेम का 'लृदन्ताः समानाः' सूत्र अवश्य है। कातन्त्र में 'अनुनासिका ङञणनमाः' १।१।१३ में पाणिनि की अनुनासिक संज्ञा को ही प्रश्रय दिया गया है, पर हैम व्याकरण में इसका कोई स्थान नहीं है। नामी, घोषवत्, अघोष, अन्तस्थ एवं व्यञ्जन संज्ञाएँ कातन्त्र की ही हैम व्याकरण में पायी जाती हैं। हैम की धुट्, शिट्, वाक्य, विभक्ति, अव्यय और संख्यावत् संज्ञाएँ कातन्त्र की अपेक्षा बिल्कुल नयी हैं।

कातन्त्र व्याकरण के 'लोकोपचाराद् ग्रहणसिद्धिः' सूत्र का प्रभाव 'हेम के 'लोकात्' १।१।३ पर है। व्यञ्जन शब्दों में पञ्चवर्णात्मक वर्गों की स्थापना हैम की कातन्त्र के तुल्य ही है। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि हैम व्याकरण के संज्ञा प्रकरण में सर्वाधिक कातन्त्र का अनुसरण विद्यमान है। दोनों व्याकरणों के संज्ञासम्बन्धी कथन बहुत अंशों में मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार हेम संज्ञाओं के लिए कातन्त्र के आभारी हैं, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। यदि यह कहा जाय कि हेमने संज्ञा प्रकरण में कातन्त्र का ग्रहण एवं पाणिनि का सर्वथा परित्याग किया है, तो अत्युक्ति नहीं होगी। इतना होने पर भी भाषा की प्रगतिशीलता और लोकानुसारिता का तत्त्व हेम में कातन्त्र की अपेक्षा अधिक है।

कातन्त्र और हेम व्याकरण के सन्धि प्रकरण पर विचार करने से ज्ञात होता है कि दोनों शब्दानुशासनों में दीर्घ सन्धि का प्रकरण समान रूप से आरम्भ हुआ है। कातन्त्र में, "समानः सवर्णे दीर्घी भवति परश्च लोपम्" १।२।१ सूत्र द्वारा समान संज्ञक वर्णों को सवर्ण परे रहने पर दीर्घ होता है और पर का लोप होता है, का विधान किया है। इस सूत्र में समान संज्ञक वर्णों को दीर्घ कर पर के लोप होने का विधान बताया गया है; जैसे दण्ड+अग्रम् में ण्ड को दीर्घ कर अग्रम् के अकार का लोप कर देने से दण्डाग्रम् बनता है। यहाँ अकार लोप की प्रक्रिया गौरव द्योतक है। हेम ने 'समानानां तेन दीर्घः' १।२।१ सूत्र द्वारा पाणिनि की तरह पूर्व वर्ण को पर के सहयोग से दीर्घ कर देने का नियमन किया है। अतः हेम अकार लोपवाली गौरव-प्रक्रिया से मुक्त हो गये हैं।

कातन्त्र के सन्धि प्रकरण में 'बालऋष्यः लृ ऋषभः' जैसी सन्धियों की सिद्धि का कोई विधान नहीं है; किन्तु हेमने "ऋलृति ह्रस्वो वा" १।२।२, १।२।३, १।२।४ और १।२।५ सूत्रों द्वारा उपर्युक्त प्रकार की अनेक सन्धियों का साधुत्व दिखलाया है। हेम के उक्त चारों सूत्र कातन्त्र की अपेक्षा सर्वथा नवीन हैं। कातन्त्र में इस प्रकार का कोई अनुशासन नहीं मिलता है।

गुणसन्धि के प्रकरण में कातन्त्र के २।२।२, २।२।३, २।२।४ तथा २।२।५ इन चार सूत्रों के स्थान पर हेमका **अवर्णस्येवर्णादिनैदोदरल्** १।२।६ सूत्र अकेला ही आया है तथा गुण सन्धि के समस्त कार्य इस अकेले ही सूत्र से सिद्ध हो जाते हैं। कातन्त्र में प्रार्णम्, दशार्णम, वसनार्णम, शीतार्तः, परमर्तः, प्रार्च्छति, प्रार्षभीयति आदि सन्धिरूपों की सिद्धि के लिए अनुशासन का अभाव है; परन्तु हेम ने अन्य सभी सन्धिरूपों के लिए अनुशासन किया है। जहाँ कातन्त्र के दीर्घ और गुणसन्धि में दोनों ही प्रकरण अधूरे हैं, वहाँ हेम के ये दोनों प्रकरण पुष्ट और पूर्ण हैं। वृद्धिसन्धि के कातन्त्र के **अवर्णस्येवर्णादिनैदादरल्** १।२।६ और १।२।७ सूत्र हेम के **ऐदौत् सन्ध्यक्षरैः** १।२।१२ में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

हेम ने वृद्धि सन्धि में **अनियोगे लुगेवे** १।२।१६ से १।२।२० सूत्रों तक अवर्ण के लुक् का विधान किया है और इहेव तिष्ठ, विम्बोष्ठी, अद्योढा, प्रोषति आदि रूपों के वैकल्पिक प्रयोग बतलाये हैं। कातन्त्र की अपेक्षा हेम का यह प्रकरण नवीन और मौलिक है। कातन्त्रकार ने सामान्यतः विकारों के लिए उत्सर्ग सूत्रों की ही रचना की है, अपवाद सूत्रों की नहीं। पर हेमने प्रत्येक विकार के लिए दोनों ही प्रकार के सूत्र लिखे हैं।

कातन्त्र में यणसन्धि विधायक चार सूत्र आये हैं, हेम ने इन चारों को इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम् १।२।२१ में समेट लिया है। इतना ही नहीं, बल्कि **नदी एषा-नद्येषा, मधु अत्र-मध्वत्र जैसे नवीन सन्धि प्रयोग भी १।२।२२ से सिद्ध किये हैं**। अयादि सन्धि के लिए कातन्त्र में चार सूत्र हैं, पर हेम ने उस संविधान का कार्य दो ही सूत्रों द्वारा चला दिया है। इस प्रकरण में हेम ने कातन्त्र की अपेक्षा गव्यूतिः, पित्र्यम्, गवाक्षः, गवाग्रम्, गवेन्द्रः आदि सन्धि प्रयोगों की सिद्धि अधिक ही है। **कातन्त्र में जिसे प्रकृतिभाव कहा गया है, हेम ने उसे असन्धि कहा है**। इस प्रकरण में भी हेम ने 'उ इति', 'उँ इति' आदि वैकल्पिक सन्धिरूपों की चर्चा की है, जिनका कातन्त्र में अत्यन्ताभाव है।

व्यञ्जन सन्धि प्रकरण में भी हेम का कातन्त्र की अपेक्षा लाघव दृष्टिगोचर होता है। हेम ने इस प्रकरण में भी नँ ≍ पाहि, नँ ≍ पाहि; कांस्कान, कँस्कान् आदि ऐसे अनेक सन्धि रूपों का अनुशासन किया है, जिनका कातन्त्र में अस्तित्व नहीं है। कातन्त्र के प्रथम अध्याय के पञ्चमपाद में विसर्ग सन्धि का निरूपण किया गया है; हेम ने विसर्गसन्धि का अनुशासन रेफ-प्रकरण द्वारा किया है और उसकी गणना व्यञ्जन सन्धि में ही कर ली है।

सन्धि के पश्चात् दोनों अनुशासनों में नाम प्रकरण आया है। कातन्त्रकार ने इस प्रकरण के आरम्भ में "धातुविभक्तिवर्जमर्थवल्लिङ्गम्" द्वारा लिङ्ग संज्ञा का

निर्देश किया है। हेम ने इसी अर्थ को लेकर **एदोतः पदान्तेऽस्य लुक्** १।२।२७ सूत्र में नाम संज्ञा का कथन किया है। कातन्त्र में 'भिसैसवा'' २।१।१८ सूत्र है, हेम ने इसके स्थान पर **एदापः** १।४।४२ सूत्र लिखा है। इसी प्रकार 'ङि-स्मिन्' २।१।२७ का रूपान्तर 'ङे स्मिन्' १।४।८ में उपलब्ध है। कातन्त्रकार ने षष्ठी विभक्ति बहुवचन में सुरागम एवं नुरागम किये हैं, पर हेम ने इस प्रपञ्च को स्वीकार नहीं किया इन्होंने सीधे 'आम्' को ही साम् बना दिया है। यह सत्य है कि हेम ने अपने नाम प्रकरण का क्रम कातन्त्र के अनुसार ही रखा है अर्थात् एक शब्द की समस्त विभक्तियों में एक साथ समस्त सूत्रों को न बतला कर सामान्य विशेष भाव से सूत्रों का सम्बन्ध बतलाया गया है और इस क्रम में अनेक शब्दों के रूप साथ—साथ चलते रहे हैं। एक ही विभक्ति में कई प्रकार के शब्दों का सामान्य कार्य जहाँ होता है, वहाँ कातन्त्र व्याकरण में एक सूत्र आ जाता है। जैसे ह्रस्व, नदी और श्रद्धा संज्ञक शब्दों के सम्बोधन तथा षष्ठी विभक्ति बहुवचन में एक ही साथ कार्य दिखलाये गये हैं। सम्बोधन में हे वृक्ष, हे अग्ने, हे धेनो, हे नदि, हे बधु, हे श्रद्धे, हे माले की सिद्धि के लिए 'ह्रस्वनदीश्रद्धाभ्यः सिर्लोपम्' २।१।७१ सूत्र लिखा गया है तथा इन्हीं शब्दों से षष्ठी बहुवचन की सिद्धि के लिए नुरागम का विधान कर वृक्षाणाम्, अग्नीनाम्, धेनूनाम्, नदीनाम्, बधूनाम्, श्रद्धानाम्, मालानाम् का साधुत्व प्रदर्शित किया है। हेम ने भी इन शब्दों की सिद्धि के लिए उक्त प्रक्रिया अपनायी है और '**ह्रस्वापश्च**' १।४।३२ द्वारा ह्रस्वान्त, आबन्त, स्त्री शब्द और ऊकारान्तों से परे आम् के स्थान पर नाम् का अनुशासन कर देवानाम्, मालानाम्, स्त्रीणाम् और बधूनाम् की सिद्धि की है। इस प्रकरण की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि हेम ने नदी और श्रद्धा जैसी संज्ञाओं को स्थान न देकर स्पष्ट रूप से नामों का उल्लेख कर दिया है।

कातन्त्र व्याकरण में '**त्रेस्त्रयश्च**' २।१।७३ सूत्र द्वारा त्रि के स्थान पर त्रय आदेश किया है और नुरागम भी। हेम ने भी '**त्रेस्त्रयः**' १।४।३४ सूत्र द्वारा त्रि के स्थान पर त्रय आदेश किया है, किन्तु आम् के स्थान पर **संख्यानां र्णाम्** १।४।३३ की अनुवृत्ति से ही नाम् कर दिया है; पृथक् नुरागम की आवश्यकता नहीं प्रकट की है। हेम ने जहाँ भी कातन्त्र का अनुकरण किया है, अपनी कोई मौलिकता अवश्य दिखलायी है।

कातन्त्रकारने "अन्यादेस्तुतः" २।२।१३ सूत्र द्वारा अन्यत्, अन्यतरत्, इतरत्, कतरद् आदि शब्दों के साधुत्व के लिए सि और अम् प्रत्यय का लोप कर नुरागम किया है; किन्तु हेम ने **पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः** १।४।५८ द्वारा सीधे सि और अम् प्रत्यय को ही त् बना दिया है।

हेम की युष्मद् और अस्मद् शब्दों की प्रक्रिया भी प्रायः कान्तत्र के समान है। कातन्त्रकार ने "त्वमहम् सविभक्त्योः" २।३।१० सूत्र लिखा है, हेम ने इसके स्थान पर "त्वमहंसिना प्राक् चाकः" २।१।१२ सूत्र का निर्माण किया है। दोनों ही सूत्रों का भाव प्रायः समान है। इस प्रकरण सम्बन्धी कातन्त्र के २।३।११, २।३।१२, २।३।१३, २।३।८, २।३।९, २।३।१५ और २।३।१६ सूत्र क्रमशः हैम व्याकरण के २।१।१३, २।१।१४, २।१।१५, २।१।१६, २।१।१७, २।१।१८ और २।१।२० सूत्रों से पूर्णतः मिलते हैं। जिस प्रकार कातन्त्रकार ने इनके साधुत्व के लिए प्रक्रिया न देकर सिद्धरूपों का ही विधान दिया है, उसी प्रकार हेम ने भी। यहाँ हेम की कोई मौलिकता दृष्टिगोचर नहीं होती।

कातन्त्रकार ने जरा शब्द को जरस् आदेश करने के लिए 'जराजरस् स्वरे वा' २।३।२४ सूत्र लिखा है, हेम ने इसी कार्य के लिए 'जराया जरस्वा' २।१।३ सूत्र रचा है। यद्यपि हेमका उक्त सूत्र कातन्त्र से मिलता जुलता है, तो भी हेम ने जरा के साथ अतिजरा शब्द को ग्रहण कर अपनी मौलिकता और वैज्ञानिकता का परिचय दिया है। वस् और नस् के आदेश का प्रकरण हैम व्याकरण में कातन्त्र की अपेक्षा विस्तृत है। हेम ने उनके अपवादों की भी चर्चा की है।

कारक प्रकरण के आरम्भ में हेम ने कारक की परिभाषा दी है, पर कातन्त्र में इसका सर्वथा अभाव है। कातन्त्रकार ने कर्म की परिभाषा देते हुए लिखा है "यत्क्रियते तत्कर्म" २।४।१३ अर्थात् कर्त्ता जिसे करता है उसकी कर्म संज्ञा होती है। जैसे कटं करोति, ओदनं पचति में कर्त्ता कट—चटाई को करता है, ओदन—भात को पकाता है; अतः इन उदाहरणों में कट और ओदन ही कर्त्ता के द्वारा किये जाने वाले हैं, इसलिए इनको कर्म कहा जायगा।

विचार करने पर कर्म की यह परिभाषा सदोष दिखलायी पड़ती है; क्योंकि बालकः तिष्ठति, रामः जीवति, नदी प्रवहति आदि अकर्मक प्रयोगों में भी कर्म की उक्त परिभाषा घटित होगी; यतः उक्त उदाहरणों मे बालक ठहरने रूप कार्य को करता है, राम जीता है में भी कर्मत्व विद्यमान है तथा नदी का प्रवहमान होना भी नदी का काय है, अतएव उपर्युक्त प्रयोगों में भी कर्मत्व मानना पड़ेगा; जिससे प्रायः सभी अकर्मक प्रयोग सकर्मक हो जायँगे। अतः कातन्त्र की कर्म परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष होने के कारण पर्याप्त शैथिल्य विद्यमान है। इसी शैथिल्य को दूर करने के लिए हेम ने 'कर्त्तुर्व्याप्यं कर्म' २।२।३ सूत्र में कर्त्ता क्रिया के द्वारा जिसे विशेष रूप से प्राप्त करने की अभिलाषा करता है, उसे कर्म बतलाया है तात्पर्य यह है कि हेम ने फलाश्रय को कर्म कहा है, फलाश्रयता ही कर्म का द्योतक है। यह तीन प्रकार का होता है—निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य। इस प्रकार हेम की कर्म परिभाषा कातन्त्र की अपेक्षा शुद्ध और विशिष्ट है।

कातन्त्र में 'येन क्रियते तत् करणम्' २।४।१२ सूत्र द्वारा करण की परिभाषा दी गई है। यहाँ येन शब्द से स्पष्ट नहीं होता कि कर्त्ता ग्रहण किया जाय या साधन। अतः इसका यह अर्थ है कि जिसके द्वारा कार्य किया जाता है, वह करण है। करण की इस परिभाषा में कर्त्ता और साधन दोनों का ग्रहण होने से अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों दोष हैं। यतः कुम्भकारेण घटः क्रियते, रामेण गम्यते, इन वाक्यों में कुम्भकार के द्वारा घट किया जा रहा है, राम के द्वारा जाया जा रहा है; में कुम्भकार और राम दोनों की करण संज्ञा हो जायगी; पर वस्तुतः कुम्भकार और राम करण कारक नहीं हैं; कर्त्ता कारक हैं; अतः यहाँ अतिव्याप्ति दोष विद्यमान है। 'गोत्रेण गर्गः' इस प्रयोग में गोत्रेण में तृतीया-विभक्ति है, पर उक्त सूत्र द्वारा यह सम्भव नहीं है; अतएव यहाँ अव्याप्ति दोष भी विद्यमान है क्योंकि उक्त सूत्र द्वारा प्रतिपादित करण कारक का लक्षण समस्त करण कारकीय प्रयोगों में घटित नहीं होता है। अतः हेम ने उक्त परिभाषा का परिमार्जन कर 'साधकतमम् करणम्'[1] २।२।२४ सूत्र लिखा है अर्थात् क्रिया के प्रकृष्टोपकारक को ही करण संज्ञा होती है।

कातन्त्रव्याकरण का कारक प्रकरण अपूर्ण है, पर हेम ने उसे सभी तरह से पूर्ण बनाने का प्रयास किया है। विनिमय—क्रय विक्रयार्थ और द्यूत विजय अर्थ में पणि और व्यवहृ धातुओं से हेम ने विकल्प रूप से कर्म संज्ञा करके शतस्य शतं वा पणयति, दशानां दशं वा व्यवहरति आदि प्रयोगों का अनुशासन किया है। कातन्त्र में इनका बिल्कुल अभाव है। इसी प्रकार हेम ने शतस्य शतं वा प्रदीव्यति की सिद्धि २।२।१७ सूत्र द्वारा; अक्षान् दीव्यति और अक्षैर्दीव्यति की सिद्धि २।२।१९ सूत्र द्वारा; ग्राममुपवसति, अधिवसति और आवसति की सिद्धि २।२।२१ सूत्र द्वारा; मासमास्ते, क्रोशं शेते 'गोदोहमास्ते और कुरूनास्ते की सिद्धि २।२।२३ द्वारा; स्तोकं पचति, सुखं स्थाता की सिद्धि २।२।४१ द्वारा; मासं गुडधानाः, कल्याणी अधीते वा, क्रोशं गिरिः, कुटिला नदी, क्रोशमधीते वा की सिद्धि २।२।४१ द्वारा; मासेन मासाभ्यां मासैर्वा आवश्यकमधीतं, क्रोशेन क्रोशाभ्यां क्रोशैर्वा प्राभृतमधीतम् की सिद्धि २।२।४३ द्वारा, पुष्येण पुष्ये वा पायसमश्नीयात् की सिद्धि २।२।४८ द्वारा, मात्रा मातरं वा सञ्जानीते की सिद्धि २।२।५१ द्वारा; द्विजाय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा की सिद्धि २।२।५६ द्वारा; गुरुवे प्रतिगृणाति, अनुगृणाति की सिद्धि २।२।५७ द्वारा एवं अधिको द्रोण खार्यां खार्या वा की सिद्धि २।२।१११ सूत्र द्वारा की है। इन समस्त प्रयोगों का कातन्त्र में अभाव है। कारक प्रकरण में हेम ने कातन्त्र की अपेक्षा सैकड़ों नये प्रयोग लिखे हैं। सिद्धान्त निरूपण

१—यही पाणिनि का सूत्र भी है।

की दृष्टि से हेम का यह प्रकरण कातन्त्र की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक और विस्तृत है।

कातन्त्र व्याकरण में द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, और सप्तमी विभक्तियों का पूर्णतः अनुशासन नहीं किया गया है। इन विभक्तियों का विभिन्न अर्थों और विभिन्न धातुओं के संयोग में व्याकरणिक नियमन का अभाव है। हेम ने समस्त विभक्तियों के नियमन की सर्वाङ्गीण और पूर्ण व्यवस्था की है। अतः संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि हेम का कारक प्रकरण कातन्त्र की अपेक्षा सर्वथा मौलिक, विस्तृत और नवीन है।

कारक प्रकरण के अनन्तर कातन्त्र और हैम दोनों व्याकरणों में रुत्व, षत्व और णत्व विधान उपलब्ध होता है। कातन्त्र का यह प्रकरण बहुत ही छोटा है, हैम में यह प्रकरण अति विस्तृत है। इसमें अनेक नये सिद्धान्तों का प्ररूपण हुआ है। इसके आगे दोनों व्याकरणों में स्त्री प्रत्यय का विधान है। कातन्त्र में जहाँ इस विषय के लिए २।४।४९–२।४।५२ तक कुल चार ही सूत्र मिलते हैं, वहाँ हैम में ११३ सूत्रों का एक समस्त पाद ही स्त्रीप्रत्ययों की व्यवस्था के लिए आया है। कातन्त्र की अपेक्षा हेम का यह अनुशासन विधान बहुत विस्तृत और मौलिक है। हैम व्याकरण के इस प्रकरण में कातन्त्र की अपेक्षा सैकड़ों नये प्रयोग और प्रत्यय आये हैं। कातन्त्र में यह प्रकरण जहाँ नवजात शिशु है; वहाँ हेम व्याकरण में यह पूर्ण प्रौढरूप में उपलब्ध होता।

कातन्त्र और हैम इन दोनों व्याकरणों के समास प्रकरण पर विचार करने से अवगत होता है कि कातन्त्र के इस प्रकरण का अनुशासन कुल २९ सूत्रों में किया गया है, जब कि हैम व्याकरण में इस प्रकरण को अनुशासित करने वाले दो पाद हैं; जिनमें क्रमशः १६३ तथा १५६ सूत्र आये हैं। अतः हैम व्याकरण में इस प्रकरण का पूर्ण विस्तार विद्यमान है। समास सम्बन्धी समस्त पहलुओं पर साङ्गोपाङ्ग विचार किया है। हेम ने तत्पुरुष, अव्ययी भाव, द्वन्द्व, द्विगु, कर्मधारय और बहुव्रीहि समासों की व्यवस्था का नियमन पूर्ण विस्तार के साथ किया है। समास निरूपण आरम्भ करने के पहले हेम ने गतिसंज्ञकों को गिनाया है। इसका तात्पर्य यह है कि आगे विभिन्न गतिसंज्ञकों में तत्पुरुष समास का अनुशासन करना है, इसके लिए यह पृष्ठ भूमि आवश्यक है, अतएव गतिसंज्ञकों को पूर्व में ही गिना देना इन्होंने आवश्यक समझा है।

कातन्त्र का समास विधायक सबसे पहला सूत्र 'नाम्नां समासो युक्तार्थः' २।५।१ है और हैम व्याकरण में भी प्रायः इसी आशय का "नाम नाम्नैकार्थे समासो बहुलम्" ३।१।१८ आया है। कातन्त्रकार ने समास के सामान्य नियमों के अनुशासन के उपरान्त कर्मधारय समास की व्यवस्था की है। इस व्याकरण में उक्त समास के अनुशासन के लिए केवल यही एक सूत्र है। कातन्त्र के वृत्तिकार दुर्गदेव ने इस सूत्र के उदाहरणों में निपातन से सिद्ध होने वाले मयूरव्यंसक, कम्बोजमुण्ड, शाकपार्थिव आदि प्रयोगों को भी रख दिया है। गोनागः, अश्वकुञ्जरः, कुमारश्रमणाः, भोज्योष्णम्, कनरकठः, गोगृष्टिः, युवपलितः, फलाफलिका आदि उदाहरणों को बलपूर्वक ही उक्त सूत्र में रखा है। यतः तुल्याधिकरण में कर्मधारय समास विधायक सूत्र उक्त प्रयोगों का नियमन करने में सर्वथा असमर्थ हैं। हेम ने उक्त उदाहरणों के साधुत्व के लिए विशिष्ट विशिष्ट सूत्रों का प्रणयन किया है। हैम व्याकरण में कर्मधारय समास की चर्चा ३।१।९६ सूत्र से ३।१।११६ सूत्र तक मिलती है।

समास के पश्चात् कातन्त्र व्याकरण में तद्धित प्रकरण है, पर हैम व्याकरण में धातु प्रकरण आता है। हेम ने धातु विकार और नाम विकारों के नाम और धातुओं के पश्चात् ही निबद्ध किया है। कातन्त्र के तद्धित प्रकरण की अपेक्षा हैम व्याकरण का तद्धित प्रकरण पर्याप्त विस्तृत है। हेम ने छठे और सातवें इन अध्यायों में तद्धित प्रत्ययों का निरूपण किया है। कातन्त्र व्याकरण में इस प्रकरण को आरम्भ करते ही अण्, यण्, आयनण्, एयण, इण् आदि प्रत्ययों का अनुशासन आरम्भ हो गया है, पर हैम व्याकरण में ऐसा नहीं किया है। इसमें 'तद्धितोऽणादि' ६।१।१ सूत्र द्वारा तद्धित प्रत्ययों के कथन की प्रतिज्ञा की है। अनन्तर तद्धित सम्बन्धी सामान्य विवेचन किया गया है।

कातन्त्र व्याकरण में सामान्य अर्थ में अण्, यण्, ष्यण् आदि प्रत्ययों का विधान किया है, पर हेम ने विशेषरूप से ही सभी सूत्रों का क्रम रखा है। तद्धित प्रत्ययों का लुक् प्रकरण हैम का कातन्त्र की अपेक्षा बिलकुल नवीन हैं। कातन्त्र में अण्, ण्य, आयनण्, एयण इण्, इकण्, य, ईय, यत्, वत्, त्व, ता, मन्तु, वन्तु, विन्, इन्, ड, य, तीय, था, तमट्, तस्, थमु, ह और दा प्रत्ययों का ही निर्देश किया गया है, पर हैम व्याकरण में ये प्रत्यय तो हैं ही साथ ही एकञ्, ईन, एत्य, णिक्, अञ्, ईनञ्, अ, इय, ण्य, तन, त्न, अकञ्, मयट्, इय, वय, यञ्, डामहट्, व्य, डुल्, वल्, इञ्, र, कीय, कण, क, त्यण्, अच्, त्यन्, णिक्, नञ्, ईयण्, तनट्, न, अक, इकट

इन, इक्, इण्, इट्, ईनञ्, लिदकञ्, शाकट, शाकिन, कट, कुण, जाह, ति, एलु, ऊल, आलु, टीकण्, टीट, नाट, भुट, चिक, विड, विरीय, ल, कट, पट, गोष्ठ, तैल, ठ, इत, तयट, तिथट्, इथट् थट्, तीय, श, इल, न, अन, ईर, इर, व, युस्, ऐयुस्, हिं, ध्यमञ्, मञ्, एध, धण्, पुर, अव्, अध्, डाच्, रूपप, ञ, कप्, इतर, डतम, द्रि, इच्, अत्, अट एवं इ प्रत्ययों का भी विधान किया है। हैम के इस तद्धित प्रकरण में सैकड़ों नये प्रयोग आये हैं।

हेमने उपर्युक्त प्रत्ययों का विधान अपत्य, गोत्र, रक्त, सास्यदेवता, तद्वेत्ति-तदधीते, राष्ट्रीय, समूह, काल, विकार, निकास, नक्षत्रार्थ, भाव, ग्राम, जात, व्रती, भक्ष्य, शेष, ग्रहणाति, तद्याति, योनिसम्बन्ध, तस्येदं, संसृष्ट, तरति, चरति, जीवति, निर्वृत, हरति, वर्तते, ध्नति, तिष्ठति, ग्रहणाति, गच्छति, धावति, पृच्छति, ब्रुवति, समुवेत, अवक्रम, शील, प्रहरण, नियुक्त, वसति, व्यवहरति, अभिगमार्ह, यजमान, अधीयमान, प्राससेय, शक्त, दक्षिणा, देय, कार्य, शोभमान, परिजय, भृत, भृत, अधीष्ट, ब्रह्मचर्य, चौर, प्रयोजन, मन्थ, दण्ड, प्राप्त, अहित, क्रीत, वाप, हेतु, ज्ञात, पचति, हरत्, मान, स्तोम आदि विभिन्न अर्थों में किया है। अतः हैम व्याकरण का तद्धित प्रकरण सभी दृष्टिकोणों से कातन्त्र की अपेक्षा समृद्धिशाली और महत्वपूर्ण है।

तिङन्त प्रकरण में कालवाची क्रियाओं का नामकरण हेम ने समान कातन्त्र के ही किया है। वर्तमाना, परोक्षा, सप्तमी, पञ्चमी, ह्यस्तनी, अद्यस्तनी, आशीः, श्वस्तनी, भविष्यन्ती और क्रियातिपत्ति इन दस अवस्थाओं को हेम ने कातन्त्र के आधार पर ही संभवतः स्वीकार किया है। इन अवस्थाओं के अर्थ भी हेम ने कातन्त्र के समान ही निरूपित किये हैं। किन्तु हैम का तिङन्त प्रकरण कातन्त्र से बहुत विस्तृत है। इसमें कातन्त्र की अपेक्षा कई सौ अधिक और नवीन धातुओं का प्रयोग हुआ है। धातुओं के विकार का अनुशासन तथा नकारान्त, पकारान्त, जकारान्त, चकारान्त, पकारान्त आदि धातुओं के विशिष्ट अनुशासनों का निरूपण हैम का कातन्त्र की अपेक्षा विशिष्ट है। धातु के अन्तिम वर्ण के विकार के प्रसंग में हेम ने ऐसी अनेक नयी बाते बतलायी हैं, जो कातन्त्र में नहीं हैं।

कृदन्त प्रकरण भी हैम का कातन्त्र की अपेक्षा कुछ विशिष्ट है। इसमें हेम ने कई ऐसे नये प्रत्ययों का अनुशासन किया है, जिनका कातन्त्र में नामोनिशान भी नहीं हैं। हेम ने "आतुमोऽत्यादिः कृत्' ५।१।१ सूत्र द्वारा कृत् प्रत्ययों के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा की है, इसके अनन्तर हेम ने प्रक्रिया पद्धति का प्रदर्शन किया है। कातन्त्र का क्रम भी हैम जैसा ही है।

कातन्त्र के कतिपय सूत्रों की छाया हैम में उपलब्ध है। कातन्त्रकार ने "प्यायः पीः स्वाङ्गे" ४।१।४३ सूत्र से प्या के स्थान पर पी आदेश किया है, हेम ने भी इस कार्य के लिए 'प्यायः पीः" ४।१।९१ सूत्र ग्रन्थित किया है। यहाँ ऐसा लगता है कि हेम ने कातन्त्र का उक्त सूत्र ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। एक बात यह भी है कि कातन्त्र व्याकरण का कृदन्त प्रकरण भी पर्याप्त विस्तृत है। अतः जहाँ-तहाँ हेम ने इसका अनुसरण किया है। इतना होने पर भी यह सत्य है कि हेम का कृदन्त प्रकरण कातन्त्र की अपेक्षा विशिष्ट है।

आचार्य हेमचन्द्र और भोजराज

जिस प्रकार हेम का व्याकरण गुजरात का माना जाता है, उसी प्रकार भोजराज का व्याकरण मालवा का। कहा जाता है कि सिद्धराज जयसिंह ने सरस्वती कण्ठाभरण को देखकर ही हेम को व्याकरण ग्रन्थ लिखने के लिए प्रेरित किया था। कालक्रमानुसार विचार करने से भी हेम और भोज में बहुत थोड़ा अन्तर मालूम पड़ता है, अतः भोज के व्याकरण की तुलना हैम व्याकरण के साथ करना भी आवश्यक है।

संज्ञा प्रकरण की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि हेम ने संक्षिप्त और सरलरूप में संज्ञाओं का विवेचन किया है। सच बात तो यह है कि वैयाकरणों में हेम ही एक ऐसे वैयाकरण हैं, जिन्होंने आवश्यक संज्ञाओं की चर्चा थोड़े में ही कर दी है। इसके प्रतिकूल भोजराज ने अपने 'सरस्वती कंठाभरण' नामक व्याकरण शास्त्र में सभी व्याकरणों की अपेक्षा संज्ञाओं का अधिक निर्देश किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन संज्ञाओं की अत्यन्त आवश्यकता नहीं है अथवा जिनसे काम संज्ञा नाम न देने का भी चल सकता है, हेम ने उनका निरर्थक संयोजन करना अच्छा नहीं समझा। हेमचन्द्र सबसे स्पष्ट अनुशासन के वक्ता हैं, पर भोजराज में इस गुण का अभाव है। उनके सामने शब्दान्वाख्यानक जितनी प्रक्रियाएँ विस्तार के साथ परिव्याप्त थीं, वे उनके व्यामोह में पड़ गये तथा सूत्र शैली में उन सबको समाविष्ट करने की असमर्थ चेष्टा उन्होंने की। पर वे यह भूल गये कि सूत्र शैली के द्वारा किसी भी शास्त्र को पूर्णरूप से समेटा नहीं जा सकता। फलतः उनका शब्दानुशासन व्याख्यात्मक हो गया है। हेम ने इस प्रवृत्ति से बचने के लिए अल्प शब्दावली में ही विभिन्न प्रवृत्तियों और विकारों का अनुशासन कार्य किया है।

भोजराजीय व्याकरण व्याख्यात्मक होने के कारण परिभाषाओं से अत्यन्त ग्रस्त है। यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि उक्त व्याकरण पाणिनीय व्याकरण के

ज्ञान बिना दुर्बोध्य है। कोई सुधरा हुआ पाणिनीय ही उसे भली भाँति समझ सकता है। परिभाषाओं के लिए तो यह अत्यन्त आवश्यकता प्रतीत होता है कि पहले पाणिनीय ज्ञान कर लिया जाय। पाणिनि ने भी परिभाषाओं का कोई बड़ा प्रकरण प्रस्तुत नहीं किया है, परन्तु पतञ्जलि आदि उत्तरकालीन पाणिनीय वैयाकरणों ने अनेक विभिन्न परिभाषाओं का संकलन तथा परीक्षण किया है। नागेश का परिभाषेन्दुशेखर नामक विशालकाय ग्रन्थ इन्हीं परिभाषाओं का विवरणात्मक संग्रह है। भोजराज ने अपने परिभाषा प्रकरण में उन सभी परिभाषाओं का यथा-तथा रूप में संग्रह कर दिया है। इस कारण इस ग्रन्थ में प्रारम्भिक जटिलता आ गयी है।

हेम ने परिभाषाओं की आवश्यकता नहीं समझी है। ये परिभाषाओं की व्यवस्था विशेष आवश्यकतानुसार विशिष्ट निर्देशों द्वारा ही करते गये हैं। इनके दो ही सूत्र परिभाषा के रूप में माने जा सकते हैं। प्रथम है 'सिद्धिः स्याद्वादात्' १।१।२ और द्वितीय है 'लोकात्' १।१।३। हेम ने इन दोनों को भी संज्ञा के रूप में ही ग्रहण किया है। इस प्रकार भोजराज ने जहाँ परिभाषाओं में अपने व्याकरण को उलझा दिया है, वहाँ हेम ने अपने व्याकरण को परिभाषा की उलझन से बिल्कुल मुक्त रखा है।

भोजराज का स्त्री प्रत्यय बहुत ही पेचीदा है। सर्व प्रथम उसमें टाप् की प्रक्रिया दिखलाई गई है। टाप् प्रत्यय के लिए सामान्य सूत्र 'अतष्टाप्' ३।४।२ है, जिससे सभी अकारान्त शब्दों के आगे स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिए टाप् प्रत्यय का विधान है। इससे आगे ३।४।२४ सूत्र तक सभी सूत्र टाप् प्रत्यय करने वाले आये हैं; किन्तु हेम ने अजादि गण मानकर एक ही सूत्र 'अजादेः' से आप प्रत्यय के द्वारा सभी निर्वाह कर लिया है।

भोजराज ने वृद्ध कुमारी शब्द बनाने के लिए 'कुमारश्चवृद्धायां' ३।४।३८ एक अलग सूत्र की रचना की है। उनको सन्देह था कि जो स्त्री कुमारी (कुँवारी) रह कर वृद्धा हो गई हो, वहाँ 'वयस्यचरमे' ३।४।३७ सूत्र से निर्वाह नहीं होगा। अतः अचरमावस्था में ही उक्त रूप द्वारा ङीप् का विधान किया गया है। वृद्धा कुमारी में तो वृद्धा कुमारी है, जिसकी अवस्था चरम (अन्तिम) है, अतः भोज ने ३।४।३८ एक विशेष सूत्र रचा है, जिसके द्वारा उक्त प्रयोग की सिद्धि की गई है। किन्तु हेमने ऐसा करना आवश्यक नहीं समझा। इन्होंने कुमार शब्द से सीधे ही कुमारी शब्द बना दिया है। यदि वृद्धा भी कुमारी बनी रह जायगी अर्थात् अविवाहिता रहेगी तो उसे कुमारी तो वास्तविक रूप में नहीं कहेंगे; क्योंकि कुमार शब्द अवस्थावाची तरुण शब्द की पूर्वकालीन अवस्था का द्योतन करता है। यह अवस्था है बालिका के विवाह करने के पूर्व की। यदि

किसी स्त्री का वृद्धावस्था तक भी विवाह नहीं हुआ हो तो इसका मतलब यह नहीं हो सकता वह कि कुमारावस्था में ही है। कुमारी उसे इसीलिए कहा जाता है कि वह अब भी (वृद्धावस्था में भी) विवाह की पूर्वतन अवस्था का पालन कर रही है। इस प्रकार वृद्धाकुमारी में कुमारीत्व का आरोप ही समझा जा सकता है; नहीं तो भला व्यवहार में ही वृद्धा कैसे कुमारी हो सकती है, यह सोचने की बात है। निष्कर्ष यह है कि कुमारी शब्द अवस्थावाची है, अतः अविवाहिता वृद्धा स्त्री में यह अवस्था विधान नहीं है। हेमचन्द्र अनुशासन शास्त्र के पूर्ण पण्डित थे, फलतः उक्त तथ्य को ही इन्होंने स्वीकार किया है। इसी कारण उक्त प्रयोग के लिए कोई पृथक् अनुशासन की व्यवस्था प्रस्तुत नहीं की। इससे हेम के शब्दार्थ व्यवहार की कुशलता का सहज में ही पता चल जाता है।

भोजराज ने आचार्य शब्द से एक ही स्त्रीलिङ्ग शब्द आचार्यानी बनाया है; किन्तु हेम ने मातुल एवं उपाध्याय के समकक्ष आचार्य शब्द से भी आचार्यानी तथा आचार्या इन दो रूपों की सिद्धि बतलाई है; यह इनके भाषा शास्त्रीय विशेष ज्ञान का ही द्योतक है। स्त्री प्रत्यय प्रकरण में हेम वैयाकरण के नाते भोजराज से बहुत आगे हैं।

भोजराज ने हेतु, कर्त्ता, करण तथा इत्थंभूत लक्षण में तृतीया करने के लिए चार सूत्रों की अलग-अलग रचना की है; किन्तु हेम ने एक ही "हेतुकर्तृकरणे-त्थं भूतलक्षणे" के द्वारा सुगमतापूर्वक चारों का काम चला दिया है। यह हेम की मौलिक शैली है कि ये कठिन एवं विस्तृत प्रक्रिया विधि को बहुत सरलता एवं संक्षेप के द्वारा उपस्थित करते हैं तथा इस शैली में इन्हें सर्वत्र सफलता भी मिली है।

पाणिनि ने अपने व्याकरण में वैदिक तथा लौकिक इन दोनों प्रकार के शब्दों का अनुशासन करना उचित समझा। पर भोजराज के समय में तो वैदिक भाषा बिल्कुल पुस्तकीय हो गई थी। हम ऐसा नहीं कहते कि इस अवस्था में किसी भाषा का व्याकरण ही नहीं लिखा जाना चाहिए; किन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि वैसी भाषा की समीक्षा तथा उसका अनुशासन जिसे दूसरी भाषा के साथ नहीं किया जा सकता। भोज के ध्यान में यह तथ्य नहीं आ सका और उन्होंने पाणिनि से स्वर मिलाकर वैसा करना अच्छा समझा। भोजने 'तित्स्वरितार्थ' तव्यत् प्रत्यय का भी विधान किया है।

हेमचन्द्र भाषा के व्यवहारिक विद्वान् तथा वर्णन शैली के महान् पण्डित थे। इनके समय में भाषा की स्थिति बदल चुकी थी। पाणिनि के युग में वैदिक तथा श्रेण्य संस्कृत का घनिष्ठ सम्बन्ध था। फलतः पाणिनि ने अपने अनुशासन में

दोनों को स्थान दिया। भोज और हेम के समय में भाषा की अगली कोटि भी उत्पन्न हो चली थी अर्थात् प्राकृत और संस्कृत के साथ अपभ्रंश भाषा भी आविर्भूत होने लगी थी। अतः हेम ने अपने व्याकरण को समयोपयोगी बनाने के लिए संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के व्याकरण के साथ अपभ्रंश भाषा का व्याकरण भी लिखा। इन्होंने अपभ्रंश को प्राकृत का ही एक भेद मान लिया और प्राकृत व्याकरण में उसका विस्तृत विवेचन किया। **अतः हेम का व्याकरण भोज के व्याकरण की अपेक्षा** अधिक उपयोगी, अधिक व्यावहारिक और अधिक सरल है। हेम व्याकरण के तिङन्त, कृदन्त और तद्धित प्रकरणों में भी भोज के व्याकरण की अपेक्षा अनेक विशेषताएँ विद्यमान हैं।

हेम और सारस्वत व्याकरणकार—

सारस्वत व्याकरण के विषय में प्रसिद्धि है कि अनुभूति स्वरूपाचार्य को सरस्वती से इन सूत्रों की प्राप्ति हुई और इसी कारण इस व्याकरण का नाम सारस्वत पड़ा। सारस्वत व्याकरण के अन्त में "अनुभूति स्वरूपाचार्यविरचितं" पाठ उपलब्ध होता है। कुछ विद्वान् इस व्याकरण का रचयिता अनुभूति स्वरूपाचार्य को नहीं मानते; किन्तु वे प्रमाण प्रमेय कलिका के रचयिता आचार्य नरेन्द्रसेन को बतलाते हैं। युधिष्ठिर मीमसेन ने भी इस बात की ओर संकेत किया है और अजितसेन के **शिष्य नरेन्द्रसेन को चान्द्र, कातन्त्र, जैनेन्द्र और पाणिनीय तन्त्र का अधिकारी विद्वान बतलाया है।** हम भी इस व्याकरण को देखने से ऐसा **लगता है कि यह जैन कृति है और इस पर जैनेन्द्र, शाकटायन और हेम का पूरा प्रभाव है।** इस व्याकरण पर जैन और जैनेतर सभी टीकाएँ मिलाकर लगभग बीस की संख्या में उपलब्ध हैं।

यह सत्य है कि सारस्वत व्याकरण हेम के पीछे का है, अतः **उसमें पाणिनीय, कातन्त्र और हेम का** छायायोग दिखलायी पड़ता है। सारस्वत की रचना प्रकरणानुसार की गयी है। इसमें भी प्रत्याहार के बखाड़े को स्वीकार न कर हेम के समान वर्णमाला ही स्वीकार की गयी है, अथवा यों कहा जाय कि कातन्त्र और हेम के समान वर्ण समाम्नाय को ही सारस्वत में स्थान दिया गया है। जिस प्रकार हेम ने "लृदन्ताः समानाः" १।१।७ सूत्र की वृत्ति में अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ को समान संज्ञक माना है, उसी प्रकार सारस्वत मे भी " अ इ उ ऋ समानाः" सूत्र द्वारा उक्त वर्णों को समान संज्ञक कहा है। सारस्वत में हेम की कुछ संज्ञाएँ ज्यों की त्यों विद्यमान हैं; जैसे नामी, सन्ध्यक्षर आदि। सारस्वत व्याकरण में एक नयी

बात यह आयी है कि संज्ञाओं का कथन आलंकारिक शैली में किया गया है। जैसे—

वर्णादर्शनं लोपः। वर्णविरोधो लोपश। मित्रवदागमः। शत्रुवदादेशः।

इस व्याकरण का यह अपना मौलिक ढंग कहा जायगा। हेम व्याकरण शास्त्र लिखते समय विशुद्ध वैज्ञानिक ही रहते हैं, अतः अपनी भाषा और शैली को भी आलंकारिक होने से बचाते हैं। सारस्वत व्याकरण के रचयिता ने पूर्ववर्ती समस्त तन्त्रों का सार लेकर इस ग्रन्थ की रचना की है। यदि यों कहा जाय कि पाणिनीय तन्त्र के सूत्रों का व्याख्यात्मक संकलन इस व्याकरण में है तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। वास्तव में यह भी एक व्याख्यात्मक व्याकरण है, इसके सूत्रों को ही व्याख्या की शैली में लिखा गया है। अतः संज्ञा प्रकरण पर भी उक्त शैली की छाया वर्तमान है। हेमका संज्ञा प्रकरण इससे कई गुना उपयोगी और वैज्ञानिक है।

सन्धि प्रकरण पर विचार करने से ज्ञात होता है कि हेम के 'लृत्लृत्वा' १।२।१ सूत्र की सारस्वत के 'लृदादौ नामधातौ वाङउ' ४३ स्व. सं. सूत्र पर पूर्णतया छाप है। व्याख्यात्मक शैली होने के कारण सारस्वतकार ने हेम के उक्त सूत्र को व्याख्या करके ही ग्रहण किया है। इसी प्रकार हेम के १।२।९ सूत्र की ४१ स्वा सं० सूत्र पर १।२।१० की ४० स्वा सं० सूत्र पर १।२।८ की ४२ स्वा सं० पर, १।२।४२ की ३० स्वर सं० सूत्र पर एवं १।२।१७ सूत्र की १६ स्वा सं० सूत्र पर पूर्णतया छाया विद्यमान है। व्यञ्जन सन्धि पर भी हेम के आठ-दस सूत्रों की छाया है। सारस्वतकार ने सूत्रों को ज्यों के त्यों रूप में नहीं ग्रहण किया है; किन्तु व्याख्यात्मक रूप से उन्हें अपनाया है।

सारस्वत व्याकरण में हैम व्याकरण की विभक्तियों को भी ग्रहण किया गया है। सि औ जस्; अम् औ शस्; टा भ्याम् भिस्; ङे भ्याम् भ्यस्; ङस् ओस् आम्; ङि ओस सुप् इन विभक्तियों का सारस्वत में विधान किया है। अतः यह निश्चित है कि सारस्वत में पाणिनि के समान विभक्तियाँ नहीं आयी है, बल्कि हेम के अनुसार ग्रन्थित हैं।

सारस्वत व्याकरण में अनेक स्थलों पर विसर्ग के स्थान में सत्व तथा षत्व करने के लिए वाचस्पत्यादि गण माना गया है और उस गण में निहित शब्दों में निपातन द्वारा सत्व एवं षत्व का अनुशासन किया है। इसमें विभिन्न प्रकार के प्रयोग आते हैं, जो किसी भी प्रकार सजातीय नहीं कहे जा सकते। यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि विसर्ग स्थानिक स तथा ष के लिए सारस्वत में एक ही सूत्र है—'वाचस्पत्यादयो निपातात्सिध्यन्ति' ५ वि. सं.। किन्तु हेम ने

इस विषय पर विशेष रूप से भी अनुशासन किया है। इन्होंने पाणिनीय शैली के अनुसार तत्तत्स्थानों पर विशेष अनुशासन की पद्धत्ति को अपनाते हुए कुछ प्रयोगों में नैपातनिक सत्व तथा षत्व का अनुशासन किया है। यद्यपि इन्होंने भी दोनों विधानों के लिए २।३।१४ सूत्र की रचना की है, तो भी हमें ऐसा नहीं लगता है कि हेम ने थककर ऐसा किया होगा। हेम ने एक ही सूत्र में बड़ी निपुणता के साथ भ्रातुष्पुत्रादि एवं कस्कादि दो गण मानकर प्रथम में षत्व एवं द्वितीय में सत्व का अनुशासन किया है। इस प्रकरण से मालूम होता है कि सारस्वतकार ने पाणिनि की अपेक्षा जहाँ मौलिकता लाने की चेष्टा की है, वहाँ उनका प्रकरण भले ही छोटा हो गया हो, किन्तु उन्हें विफलता ही हाथ लगी है; परन्तु हेम ने पाणिनि की अपेक्षा जहाँ कहीं भी नवीनता लाने की चेष्टा की है, वहाँ उनका मूलभूत आधार प्रयोगों का सरल एवं वैज्ञानिक साधन रहा है, इसी कारण हेम का व्याकरण पाणिन्युत्तर-कालीन समस्त व्याकरण ग्रन्थों में मौलिक सिद्ध हुआ है, सारस्वतकार तो पद-पद पर हेम से प्रभावित दिखलायी पड़ते हैं। इन पर जितन ऋण पाणिनिका है, उससे कम हेम का नहीं।

हेम ने कारक प्रकरण में 'आमन्त्र्ये' २।२।३२ सूत्र द्वारा सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का विधान किया है 'सारस्वत कारने भी' आमन्त्रणे च' सूत्र में हेम की बात को दुहराया है। हेम का कारक प्रकरण सर्वाङ्गपूर्ण है, पर सारस्वत व्याकरण में यह प्रकरण बहुत ही संक्षित है। व्याख्याओं के रहने पर भी इससे कारकीय ज्ञान पूर्वरूपेण नहीं हो सकता है।

समास प्रकरण में भी हेम की कई बातों को सारस्वत में ग्रहण किया गया है। जिस प्रकार हेम ने अव्ययी भाव के आरम्भ में 'अव्ययम्' ३।१।२१ सूत्र को अधिकार सूत्र बताया है, पश्चात् 'विभक्ति समीप' इत्यादि सूत्र से अव्ययी-भाव समास का विधान किया है, उसी प्रकार सारस्वत प्रकरण में अव्ययीभाव का प्रकरण आया है। हाँ, एक बात अवश्य ही ज्ञातव्य है कि सारस्वत में अव्ययीभाव समास विधायक सूत्र में पाणिनीय व्याकरण का ही अनुसरण किया है; पर उसके आगेवाला सम्बन्ध हेम के अनुसार है। अतः सारस्वत के समास प्रकरण पर हेम और पाणिनि दोनों वैयाकरणों की छाप विद्यमान है। एक दूसरी विशेषता यह भी है कि सारस्वत की अपेक्षा हैम व्याकरण का समास पूर्ण है। सारस्वत में बहुव्रीहि और तत्पुरुष समास का विवेचन कम हुआ है।

सारस्वत व्याकरण का तिङन्त प्रकरण हैम के तिङन्त प्रकरण के समान है। हैम की शैली के आधार पर ही अनुभूति स्वरूपाचार्य ने भी

वर्तमाना, आशीः, प्रेरणा, अद्यतनी, परोक्षा आदि क्रियावस्थाओं का ही जिक्र किया है और उन्होंने प्रत्यय भी हेम के समान ही बतलाये हैं। धातुरूपों के साधुत्व की प्रक्रिया बिल्कुल हेम से मिलती जुलती है तथा धातु प्रकरण का नाम तिङन्त न रखकर हेम के समान आख्यात रखा है। लकारार्थ निरूपक प्रक्रिया भी सारस्वत की हेम से बहुत कुछ अंशों में समता रखती है। कर्म-कर्तृ प्रक्रिया में हेम के कई सूत्रों का व्याख्यात्मक प्रयोग किया गया है। उदाहरण भी हेम के उदाहरणों से प्रायः मिलते-जुलते हैं।

सारस्वत व्याकरण का तद्धित प्रकरण बहुत छोटा है। हेम की तुलना में तो यह प्रकरण शिशु मालूम पड़ता है। इस प्रकरण में हेम को सारस्वत की अपेक्षा लगभग पाँच सौ प्रयोग अधिक हैं। शाकट, शाकन, कच्, जाह, कप्, डाच् आदि ऐसे अनेक तद्धित प्रत्यय हैं; जिनका संविधान सारस्वत में नहीं आया है। साक्षी, कर्मणः, सर्षपतैलम्, अद्यतनः, वार्द्धकम्, जनता, अधन्य आदि प्रयोगों की सिद्धि सारस्वत व्याकरण में ठीक हेम के समान उपलब्ध होती है। आलु प्रत्यय का नियमन सारस्वत में केवल हैम व्याकरण के अनुसार नहीं है, बल्कि इसमें पाणिनीय व्याकरण के भी उदाहरण संगृहीत किये गये हैं।

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि सारस्वत व्याकरणकार ने हेम से बहुत कुछ ग्रहण किया है। इन्होंने पाणिनि और कातन्त्र से भी बहुत कुछ लिया है, तो भी यह व्याकरण हेम के समान उपयोगी और वैज्ञानिक नहीं बन सका है। हेम ने अपनी मौलिक प्रतिभा के कारण सर्वत्र मौलिकताओं का स्फोटन किया है। जहाँ उन्होंने पूर्वाचार्यों से ग्रहण भी किया है, वहाँ पर भी ये अपनी नवीनता और मौलिकता को अक्षुण्ण बनाये रखे हैं।

हेम और बोपदेव—

पाणिन्युत्तरकालीन प्रसिद्ध वैयाकरणों में बोपदेव का नाम आदर के साथ लिया जाता है। इनका समय १३००–१३४० ईस्वी के लगभग माना जाता है। इसके द्वारा रचित 'मुग्धबोध व्याकरण बहुत प्रसिद्ध है। इस व्याकरण पर १३–१४ टीकाएँ भी उपलब्ध हैं।

मुग्धबोध व्याकरण बहुत जटिल है। इससे क, की, ङ, टी, ठी, ड, डी, ढी, त, ती, स्य, थ, थी, द, दा, दी, ध धि धु नि, नी, नु, प आदि प्रायः बीज-गणित के बीजाक्षरों के समान एकाक्षरी संज्ञाएँ आयी हैं। मुग्धबोधकार की संज्ञाएँ अपनी हैं, और इन्होंने इन संज्ञाओं को अन्वयार्थ नहीं माना

है। स्वेच्छया समास, कृत्य प्रत्यय, प्रत्यय, अव्ययी भाव, तद्धित प्रत्यय प्रभृति के लिए एकाक्षरी संज्ञाएँ लिखी हैं। हेम का यह प्रकरण मुग्धबोध से बिल्कुल भिन्न है। **संज्ञाओं के लिए बोपदेव जैनेन्द्र व्याकरण के तो कुछ अंशों में अवश्य आभारी हैं, पर हेम के नहीं।** हेम की संज्ञाएँ बोपदेव की संज्ञाओं से नितान्त भिन्न हैं। शब्दानुशासक की दृष्टि से हेम की संज्ञाएँ बेजोड़ हैं। हैम व्याकरण में जहाँ कुल बीस संज्ञाएँ उपलब्ध होती हैं, वहाँ मुग्धबोध में पूरी एक सौ सत्रह संज्ञाओं का जिक्र है। इन संज्ञाओं की जटिलता ने मुग्धबोध की प्रक्रिया को उलझन पूर्ण बना दिया है।

हैम व्याकरण में अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ आदि क्रम से वर्णमाला को ग्रहण किया गया है, पर मुग्धबोध में प्रत्याहार का क्रम है। अतः प्रत्याहार विचार की दृष्टि से बोपदेव हेम की अपेक्षा पाणिनि के अधिक आभारी हैं। यों तो यह व्याकरण अपने ढंग का है, इनमें दूसरे वैयाकरण की शैली का अनुकरण बहुत कम हुआ है फिर भी सन्धि प्रकरण में हेम शाकटायन और पाणिनि इन तीनों शब्दानुशासकों का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

मुग्धबोध में सि और जस् आदि विभक्तियों को हेम के अनुसार ही ग्रहण किया है। रूपसाधनिका भी प्रायः हेम और पाणिनि के समान है।

मुग्धबोध के स्त्री प्रत्यय में आप् विधायक ६–७ सूत्र आये हैं। 'स्त्रियामत आप्' ६४९ वें सूत्र द्वारा सामान्यतया आप का निर्देश किया गया है। हेम ने जिस कार्य को एक सूत्र द्वारा चलाया है, मुग्धबोध में उसी कार्य के लिए कई सूत्र आये हैं। मुग्धबोध में नारी, सखी, यवानी, यवनानी, हिमानी, अरण्यानी, मानवी, पतिवत्नी, अन्तर्वत्नी, पत्नी, भार्गी, गोणी, नागी, स्थली, कुण्डी, काली, कुशी, वायुकी, घटी, कबरी, अशिश्वी आदि स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों को निपातन द्वारा सिद्ध किया है। हैम व्याकरण में उक्तसमस्त प्रयोगों के लिए साधुत्व प्रक्रिया दिखलायी गयी है। मुग्धबोधकार ने प्रक्रिया का लाघव दिखलाने के लिए हेम और पाणिनि से अधिक शब्दों का निपातन किया है। **वास्तव में निपातन एक कमजोरी है; जब अनुशासन विधायक नियमन नहीं मिलता** तब थककर वैयाकरण निपातन का सहारा ग्रहण करते हैं।

हैम व्याकरण में दीर्घपुच्छी, मणिपुच्छी; उलूकपुच्छी, शूर्पनखी, चन्द्रमुखी, आदि स्त्री प्रत्ययान्त प्रयोगों का साधुत्व दिखलाया गया है, पर मुग्धबोध में उक्त प्रयोगों का अभाव है।

तिङन्त प्रकरण में जिस प्रकार हेम ने क्रिया की अवस्था विशेष के अनुसार वर्तमाना, अद्यतनी, ह्यस्तनी, आदि विभक्तियों के प्रत्यय बतलाये हैं, उसी

प्रकार मुग्धबोध में की, खी. गी, घी, टी, ठी, डी, ढी, ती और थी संज्ञाएँ रखकर हेमोक्त प्रत्ययों का ही निर्देश कर दिया है। धातु रूपों की साधनिका में भी हेम का पर्याप्त अनुकरण किया है। कृदन्त प्रकरण के प्रत्ययों में अ, अक्, अन्, अन. अनट्, अनि, अनीय, अन्त, अल्, अस्, आट्य, आस, आलु, इ, इक, इकवक, इत्नु, इष्णु, इस्, उ, उस्, अक्, क, कानि, कि, कुर, केलिम, क्त, क्तवतु, क्ति, क्त्वा, क्नु, कार, क्यप्, क्वु, क्लुक्, क्वनिप्, क्वसु, क्वि, क्विप्, क्वरप्, ख, खनट्, खल, खश्, खि, खिष्णु, खुकञ, घ, घञ्, घुर, ट्यन्, ट्यण्, ड, ड्यज्, चणम्, चतुम्, ट, टक्, ड, डर, डु, ण, णक्, णन्, णनट्, णिन्, तक, तिक्, तृन्, त्र, त्रसक्, थक, नङ्, नम्, य, र, स, वनिप्, वर, विच्, विट्, विण, श, शतृ, शान, षेक, षण्, षुक, सक्, स्नु, स्यतृ और स्यमान कृत् प्रत्ययों का समावेश किया है। ये सभी प्रत्यय हैम व्याकरण में भी आये हैं तथा साधन प्रक्रिया भी दोनों व्याकरणों में समान है। ऐसा लगता है कि बोपदेव ने कृत् प्रत्ययों के लिए पाणिनि से अधिक हेम को अपना आदर्श रखा है।

मुग्धबोध में अ, अयट्, अस्, आ, आल्, आरक, आलु, आहि, इल, इत्, इन, इभ, इम, इमन्, इय, इर, इल, इष्ठ, ईयसु, ईर, उर, ऊल, एधुस् एन, कट, कडङ्ग, कण्, कल्प, किन्, कुण, गोपुग, गोष्ठ, चक्रुत्वस्, चण, चतर्यां, चतरां, चन, चरट्, चशस्, चसात्, चित्, चञ्चु, च्वत्, च्वि, जातीय, जाह, ड, डट्, डतम, डतर, डति, डाच्, डिन्, ण, नायत्य, णीन, णीयत, तम, तयट्, तयट्, तर, तस्, ति, तिथट्, तु, तैल, त्य, त्यण्, च, चाच्, त्व, थट्, थाच्, दघ्नट्, दा, दानीं, देशीय, मट्, मयट्, मात्रट्, ष्णेय, ष्णीक, बल, विन् एवं रूप आदि तद्धित प्रत्यय आये हैं। मुग्धबोध के इन प्रत्ययों में हैम की अपेक्षा कुछ अधिक प्रत्ययों की संख्या हैं। मुग्धबोध कार के तद्धित प्रत्ययों की शैली पाणिनि की नहीं हैं, हैम की है। पाणिनीय तन्त्र में प्रथम एक प्रत्यय करते हैं, पश्चात् उसके स्थान पर दूसरे प्रत्यय का आदेश हो जाता है; किन्तु मुग्धबोध में यह बात नहीं है।

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि हेम का मुग्धबोध पर प्रभाव है, पर उसकी ग्रन्थन शैली हेम से भिन्न है।

षष्ठ अध्याय

हेमचन्द्र और जैन वैयाकरण

मुग्ध बोध के रचयिता पं० बोपदेव ने जिन आठ वैयाकरणों का उल्लेख किया[1] है, उनमें इन्द्र, शाकटायन और जैनेन्द्र भी शामिल है कुछ विद्वान् जैनेन्द्र और ऐन्द्र को एक ही व्याकरण मानते हैं। कहा जाता है कि—'भगवान् महावीर जब आठ वर्ष के थे, उस समय इन्द्र ने शब्द लक्षण सम्बन्धी कुछ प्रश्न उनसे किये और उनके उत्तर रूप यह व्याकरण बतलाया गया, जिससे इसका नाम जैनेन्द्र या 'ऐन्द्र'[2] पड़ा।

कल्प सूत्र की विनय विजय कृत सुबोधिका टीका में बताया गया है कि भगवान महावीर को उनके माता-पिता ने पाठशाला में गुरु के पास पढ़ने भेजा, जब इन्द्र को यह समाचार ज्ञात हुआ तो वह स्वर्ग से आया और पण्डित के घर जहां भगवान् थे, वहां गया। उसने भगवान् से 'पण्डित के मन में जो सन्देह था, उन सब प्रश्नों को पूछा'। अब सब लोग यह सुनने के लिये उत्कंठित थे कि—देखें यह बालक क्या उत्तर देता है, तब भगवान् वीर ने सब प्रश्नों के उत्तर दिये और उसके फल स्वरूप यह जैनेन्द्र व्याकरण बना।

हेमचन्द्राचार्य ने अपने योग शास्त्र के प्रथम प्रकाश में लिखा है[3] कि-इन्द्र के लिए जो शब्दानुशासन कहा गया, उपाध्याय ने उसे सुनकर लोक में 'ऐन्द्र' नाम से प्रकट किया अर्थात् इन्द्र के लिये जो व्याकरण कहा गया, उसका नाम 'ऐन्द्र हुआ। इन्द्र व्याकरण का उल्लेख शब्दार्णव की ताड़पत्र वाली प्रति जो तेरहवीं शताब्दी की लिखी हुई है-में वर्त्तमान है अत: जैनेन्द्र व्याकरण से भिन्न कोई व्याकरण ऐन्द्र था, जिसका अभाव प्राचीन काल में ही हो चुका है। संभवत: यह ऐन्द्र व्याकरण जैन रहा होगा।

जैन व्यकारण परम्परा के उपलब्ध समस्त व्याकरणों में सबसे प्रचीन शब्दानुशासन देवनन्दि या पूज्यपाद का जैनेन्द्र व्याकरण है। इसका रचना

---

१. इन्द्रश्चन्द्र: काशकृत्स्नापिशली शाकटायन: । पाणिन्यमरजैनेन्द्रा: जयन्त्यष्टौ च शाब्दिका: ।

२. आवश्यकसूत्र की हारीभद्रीयवृत्ति पृ० १८२ ।

३. मातापितृभ्यामन्येद्यु: प्रारब्धेऽध्यापनोत्सवे । आ: सर्वज्ञस्य शिष्यत्वमितीन्द्र-स्तमुपास्थित: ॥ ५६ ॥ उपाध्यायासने.........इतीरितम् ॥ ५७-५८ ॥

काल पांचवीं शताब्दी माना जाता है इस ग्रन्थ के दो सूत्र पाठ उपलब्ध हैं—एक में तीन सहस्र सूत्र हैं और दूसरे में लगभग तीन हजार सात सौ। श्री पं० नाथूराम प्रेमी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि देवनन्दि या पूज्यपाद का बनाया हुआ सूत्रपाठ वही है, जिस पर अभयनन्दि ने अपनी महावृत्ति लिखी है।

जैनेन्द्र व्याकरण में पाँच अध्याय हैं, और प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। हेमचन्द्र ने पञ्चाध्यायी रूप जैनेन्द्र का अध्ययन अवश्य किया होगा।

जैनेन्द्र व्याकरण का सबसे पहिला सूत्र **'सिद्धिरनेकान्तात्'** १।१।१ है। हेम ने इसी सूत्र को प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के द्वितीय **सूत्र में "सिद्धिः स्याद्वादात्"** १।१।२ रूप में लिखा है। अतः स्पष्ट है कि हेम ने जैनेन्द्र व्याकरण के अनुसार शब्दों की सिद्धि अनेकान्त द्वारा मानी है, क्योंकि शब्द में नित्यत्व, अनित्यत्व, उभयत्व, अनुभयत्व आदि विभिन्न धर्म रहते हैं। इन नाना धर्मों से विशिष्ट धर्मी रूप शब्द की सिद्धि अनेकान्त से ही संभव है। एकान्त सिद्धान्त से अनेक धर्म विशिष्ट शब्दों का साधुत्व नहीं बतलाया जा सकता।

जहाँ जैनेन्द्रव्याकरण के रचयिता देवनन्दी अनेकान्त से ही शब्दों की सिद्धि बतलाकर रुक गये, वहाँ हेम ने एक कदम और आगे बढ़ कर स्याद्वाद के साथ लोक को भी ग्रहण किया। हेम ने 'लोकात्' १।१।३ सूत्र की वृत्ति में बताया है **"उक्तातिरिक्तानां क्रियागुणद्रव्यजातिकाललिङ्गस्वाङ्गसंख्यापरिमाणापत्यवीप्सालुगऽवर्णादीनां संज्ञानां परान्नित्यनित्यादन्तरङ्गमन्तरङ्गाच्चानवकाशं बलीय इत्यादीनां न्यायानां लोकाद् वैयाकरणसमयविदः प्रामाणिकादेश्च शास्त्रप्रवृत्तये सिद्धिर्भवतीति वेदितव्यम् वर्णसमाम्नायस्य च"** इससे स्पष्ट है कि हेम लोक की उपेक्षा नहीं करना चाहते हैं, लोक की प्रवृत्ति उन्हें मान्य है। वैयाकरणों के द्वारा प्रतिपादित शब्द साधुत्व को तथा लोक प्रसिद्ध पर आश्रित शब्द व्यवहार को भी हेम ने साधुत्व के लिये आधार माना है। **शब्दानुशासन की दृष्टि से हेम इस स्थल में जैनेन्द्र से कुछ आगे हैं।**

जैनेन्द्रका संज्ञा प्रकरण सांकेतिक है। इसमें धातु, प्रत्यय, प्रातिपदिक, विभक्ति, समास, आदि अन्वर्थ महासंज्ञाओं के लिये बीज गणित जैसी अतिसंक्षिप्त संकेत पूर्ण संज्ञाएँ आई हैं। इस व्याकरण में उपसर्ग के लिए 'गि' अव्यय के लिये 'झि:', समास के लिए 'सः', वृद्धि के लिए 'ऐप्' गुण के लिए 'एप्', सम्प्रसारण के लिये जि:' प्रथमा विभक्ति के लिए 'वा', द्वितीया के लिये 'इप्', तृतीया विभक्ति के लिये 'भा', चतुर्थी के लिये 'अप' पंचमी के लिये 'का' षष्ठी

के लिये 'ता' सप्तमी के लिए 'ईप' और संबोधन के लिये 'कि:' संज्ञाएँ बतायी गयी हैं। निपात के लिए 'नि:' दीर्घ, के लिए 'दी:' प्रगृह्य के लिए 'दि:', उत्तरपद के लिये 'घु:', सर्वनाम स्थान के लिये 'धम्' उपसर्जन के लिये 'न्यक', प्लुत के लिये 'पा:', ह्रस्व के लिए प्र:, प्रत्यय के लिये 'त्य:' प्रातिपदिक के लिये 'मृत्', परस्मैपद के लिये 'मम्', आत्मनेपद के लिये 'द:' अकर्मक के लिये 'धि:' संयोग के लिये 'स्फ:' सवर्ण के लिए 'स्वम्', तद्धित के लिए 'हृत्', लोप के लिए 'खम्', लुप् के लिये 'उस्', लुक् के लिए 'उप', एवं अभ्यास के लिए 'च:' संज्ञा का विधान किया गया है। समास प्रकरण से अव्ययी भाव के लिये 'ह:', तत्पुरुष के लिये 'षम्' कर्म धारय के लिये 'य:' द्विगु के लिये र: और बहुब्रीहि के लिये 'बम्', संज्ञा बतलायी गयी है। जैनेद्र का यह संज्ञा प्रकरण अन्वर्थक नहीं है, यह इतना सांकेतिक है, कि उक्त संज्ञाओं के अभ्यस्त होने के उपरान्त ही विषय को हृदयंगम किया जा सकेगा। पर हेम की संज्ञाएँ अन्वर्थक है, उनमें रहस्यपूर्ण सांकेतिकता नहीं है। यों तो हेम में जैनेन्द्र की अपेक्षा काम ही संज्ञाओं का ही निर्देश किया गया है, पर जितनी भी संज्ञाएँ निर्दिष्ट हैं, सभी स्पष्ट हैं। हेम ने स्वर ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, नामी, समान, धुट्, अघोष, घोषवत्, शिट्, स्व, नाम, अव्यय, प्रथमादि विभक्ति संज्ञाएँ बतलायी हैं। समास, अव्यय, तद्धित, कृत्, सर्वनाम आदि के लिए पृथक रहस्यात्मक संज्ञाएं निर्दिष्ट नहीं हैं। समास के भेदों के लिए जिस प्रकार जैनेन्द्र में अलग संज्ञाएँ कही गई हैं, इस प्रकार हैम व्याकरण में नहीं। **संक्षेप में हम इतना कह सकते हैं कि जैनेन्द्र की संज्ञाओं में बीज गणितीय पाण्डित्य भले हो, स्पष्टता नहीं है।** उसकी संज्ञाओं में सरलता और स्पष्टता का जितना ही अभाव है, हेम की संज्ञाओं में सरलता और स्पष्टता उतनी ही अधिक है।

जैनेन्द्र व्याकरण में सन्धि के सूत्र जहाँ-तहाँ छिटके हुए हैं। देवनन्दी ने 'सन्धौ' ४।३।६० सूत्र को सन्धिका अधिकार सूत्र मानकर चतुर्थ अध्याय और पञ्चम अध्याय में सन्धि का निरूपण किया है। अधिकार सूत्र के अनन्तर छकार के परे सन्धि में तुगागम का विधान किया है। तुगागम करनेवाले ४।३।६१ से ४।३।६४ तक चार सूत्र हैं। इन सूत्रों द्वारा ह्रस्व, आङ्, माङ् तथा दी संज्ञकों से परे तुगागम किया है और त् को च् बनाकर इच्छति गच्छति, आच्छिनत्ति, माच्छिदत्, ह्रीच्छति, म्लेच्छति, कुवलीच्छाया आदि प्रयोगों का साधुत्व प्रदर्शित किया है। देवनन्दी की अपेक्षा हेम की प्रक्रिया में लाघव है। **देवनन्दी ने पाणिनि का अनुसरण किया है, पर हेम ने अपनी स्वतन्त्र विचार शैली का उपयोग कर** सरलता लाने की चेष्टा की है।

अनन्तर जैनेन्द्र में यण् सन्धि का प्रकरण आया है। देवनन्दी ने पाणिनि के समान 'अचीको यण्' ४।३।६५ सूत्रद्वारा इक्—इ, उ, ऋ, लृ को क्रमशः यणादेश—य, व, र, ल, का नियमन किया है। हेम ने उक्त कार्य का अनुशासन इवर्णादेरस्वेस्वरे यवरलम् १।२।२१ सूत्र द्वारा ही कर दिया है। किन्तु ह्रस्वोऽपदेवा १।२।२२ सूत्र में नदि एषा, नद्येषा जैसे नवीन प्रयोगों की सिद्धि का भी विधान किया है।

देवनन्दी ने अयादि सन्धिका सामान्य विधान एचोऽयवायावः ४।३ ६६ सूत्र में किया है। हेम ने इसी विधान के लिए दो सूत्र रचे हैं। जैनेन्द्र में यकारादि प्रत्ययों के परे अयादेश का विधान 'यित्ये' ४।३।६७ सूत्र द्वारा किया है। इसके लिए हेम का 'य्यक्ये' १।२।२५ सूत्र है। ऐसा लगता है कि हेम ने देवनन्दी के उक्त सूत्र के आधार पर ही य्यक्ये १।२।२५ को रचा हैं। यद्यपि स्थूलरूप से देखने पर देवनन्दी और हेम के सूत्र का एक ही भाव मालूम पड़ता है, परन्तु इस सूत्र की वृत्ति में विशेषता है, जिसका कथन इन्होंने स्वयं किया है "ओकारौकारयोः स्थाने क्यवर्जिते यकारादौ प्रत्यये परे यथासंख्यमवाव इत्येतावादेशौ भवतः"। अर्थात् क्य प्रत्यय भिन्न यकारादि प्रत्ययों के परे ही अवादिका विधान होता है। इससे गोयूति में अव् का निषेध हो गया। हेम ने गव्यूति शब्द को व्युत्पत्ति पक्ष में पृषोदरादित्वात् साधु कहा है और क्रोशद्वय के अर्थ में 'संज्ञा शब्दोऽयम्' कहकर साधुत्व मान लिया है।

हेम व्याकरण में क्षय्यं, जय्यः, क्रय्यः, लव्यम्, अवश्यलाव्यम् जैसे सार्थ प्रयोगों की सिद्धि के लिए अनुशासन नहीं किया गया है। पर जैनेन्द्र में इन सन्धिरूपों का अनुशासन विद्यमान है। गुण सन्धि और वृद्धि सन्धि का प्रकरण दोनों का मिलता-जुलता है। अन्तर इतना ही है कि हेम ने प्रयोगों के साधुत्व को सरल और स्पष्ट बनाने का आयास किया है। जैनेन्द्र में अकार का पररूप करने के लिये एङि पररूपम् ४।३।८१, ४।३।८२, ४।३।८३ और एप्यतोऽपदे सूत्र आये हैं। किन्तु हैम व्याकरण में अकार का पररूप न करके उसके लुक् करने का अनुशासन आया है। इससे पररूप करनेवाली प्रक्रिया बहुत सरल हो गई है। जैनेन्द्र व्याकरण में विभिन्न विकारी स्थितियों में पररूप का और भी कई सूत्रों में विधान किया गया है। किन्तु हैम ने लुक् में ही समेट लिया है। जैनेन्द्र के प्रकृतिभाव को हैम में असन्धि कहा गया है, पर प्रयोग सिद्धि की प्रक्रिया समान है।

व्यञ्जन सन्धि का नियमन जैनेन्द्र के पाँचवें अध्याय के चतुर्थ पाद में हुआ है। देवनन्दी और हैम में यहाँ कोई विशेष अन्तर नहीं है। 'सम्राट्'

शब्द का साधुत्व दोनों ही वैयाकरणों ने निपातन से माना है। विसर्ग सन्धि का जैनेन्द्र में पृथक रूप से कथन है, पर हेम ने रेफ के अन्तर्गत विसर्ग को मान कर व्यञ्जन संधि में ही उसे स्थान दिया है। यह सत्य है कि हैम की व्यञ्जन-सन्धि में जैनेन्द्र की व्यञ्जन और विसर्ग सन्धि के सभी उदाहरण नहीं आ पाये हैं।

सुबन्त की सिद्धि जैनेन्द्र और हैम में प्रायः समान है। पर दो चार स्थल ऐसे भी हैं जहाँ हेमचन्द्र ने अनुशासन संबंधी विशेषता दिखला दी है। पाणिनि के सामान देवनन्दी ने भी शब्दों का साधुत्व दिखलाया है। हेमचन्द्र ने अपने क्रम को बहुत अंशों में उक्त वैयाकरणों के समान रखते हुए भी अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में—पाणिनि और देवनन्दी दोनों ने ही 'जस्' के स्थान पर 'शी' आदेश किया है, पर हेम ने सीधे ही जस् के स्थान पर 'इ' आदेश कर दिया है। इसी प्रकार जहाँ देवनन्दी ने षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में सुट् और नुट् का आगम किया है, वहाँ हेम ने प्रक्रिया लाघव के लिए आम् को ही 'साम्' और 'नाम्' बना दिया है। जैनेन्द्र के समान ही हेम ने युष्मद् और अस्मद् शब्दों के रूपों का निपातन किया है। इदम् से पुल्लिग में 'अयम्' और स्त्रीलिंग में 'इयम्' रूप बनाने के लिए हैम व्याकरण में "अयमियं पुंस्त्रियोः सौ" २।१।३८ सूत्र आया है; किन्तु जैनेन्द्र में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग रूपों के लिए पृथक् यः सौ, पुंसीदोऽय् ५।१।१६८–१६९ ये दो सूत्र लिखे गये हैं। इस विधान से हैम का जैनेन्द्र की अपेक्षा लाघव सिद्ध होता है।

जैनेन्द्र में जरा शब्द से जरस् बनाने के लिये "जराया वाऽसङ्" ५।१।१६० सूत्र द्वारा जरा संबंधी अच् के स्थान पर असङा देश करने का नियमन किया गया है; किन्तु हेम ने सीधे ही जरा के स्थान पर जरस् आदेश कर दिया है और 'एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्' कह कर सीधे ही अतिजरसः, अतिजरसम् आदि प्रयोगों का साधुत्व बतला दिया है। इस प्रकार शब्द रूपों की साधनिका में हेम ने प्रायः सर्वत्र ही सारल्य प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। हेम की प्रक्रिया में स्पष्टता और वैज्ञानिकता ये दोनों गुण वर्तमान हैं।

स्त्री प्रत्यय प्रकरण में देवनन्दी ने पतिवत्नी और अन्तर्वत्नी प्रयोगों की सिद्धि पतिवत्न्यन्तर्वत्न्यौ ३।१।३२ सूत्र द्वारा निपातन से मानी है। हेम ने भी उक्त दोनों रूपों को पतिवत्न्यन्तर्वत्न्यौ भार्यागर्भिण्योः २।४।५३ सूत्र द्वारा निश्चित अर्थों में निपातन से सिद्ध माना है। अर्थात् हेम ने अविधवा अर्थ में पतिवत्नी शब्द का निपातन और गर्भिणी अर्थ में अन्तर्वत्नी शब्द का निपात-

न स्वीकार किया है। अनुशासक की दृष्टि से हेम का यह अनुशासन निश्चयतः—देवनन्दी की अपेक्षा वैज्ञानिक है।

जैनेन्द्र व्याकरण में पत्नी शब्द का साधुत्व निपातन द्वारा माना गया है; पर हेम इसी प्रयोग की सिद्धि प्रक्रिया द्वारा करते हैं। इन्होंने पति शब्द से 'ऊढायां' २।४।५१ सूत्र द्वारा 'ऊढा—विवाहिता' के अर्थ में ङी प्रत्यय तथा अन्त में 'न्' का विधान कर पत्नी प्रयोग की सिद्धि की है। जैनेन्द्र का 'पत्नी' ३।१।३३ सूत्र पत्नी शब्द का निपातन करता है। अभयनन्दी ने महावृत्ति में पत्नी शब्द का अर्थ **'अस्य पुंसः वित्तस्य स्वामिनी'** दिया है। महावृत्तिकार की दृष्टि में वित्तस्वामिनी ऊढा भार्या ही हो सकती है, अतः उन्होंने वित्तस्वामिनी कहकर विवाहिता अर्थ ग्रहण कर लिया है। जैनेन्द्रकार देवनन्दी ने इस पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है।

वय अर्थ में 'ङी' प्रत्यय विधायक सूत्र दोनों व्याकरणों में एक ही है। अतः किशोरी, वधूटी, तरुणी, तलुनी आदि स्त्री प्रत्ययान्त प्रयोगों की सिद्धि दोनों वैयाकरणों ने समान रूप से की हैं।

जैनेन्द्र व्याकरण में नख, मुख आदि खान्तवाले शब्दों से ङी प्रत्यय का निषेध किया गया है और शूर्पणखा, व्याघ्रणखा आदि प्रयोगों को साधु माना है! हेम ने **नखमुखादनाम्नि** २।४।४० सूत्र द्वारा उक्त शब्दों से वैकल्पिक ङी प्रत्यय करके शूर्पणखी, शूर्पणखा, चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा आदि प्रयोगों की साधनिका उपस्थित की है।

देवनन्दी ने स्त्री प्रत्यय का विधान करते समय सूर्याणी, सूर्या और सूरी के लिये कोई नियमन नहीं किया है। पर हेम ने **'सूर्याद्देवतायां वा'** २।४।६४ सूत्र द्वारा देवता अर्थ में विकल्प से ङी प्रत्यय का अनुशासन किया है और देवता अर्थ में सूर्याणी तथा सूर्या और मानुषी अर्थ में सूरी शब्द का साधुत्व दिखलाया है। जैनेन्द्र व्याकरण के महावृत्तिकार अभयनन्दी ने अपनी टीका में **'तेन सूर्याद्देवतायां ङी न भवति'** लिखकर 'सूर्यस्य भार्या सूर्या' रूप बतलाया है और देवता भिन्न अर्थ में **'सूर्यो नाम मनुष्यः तस्य सूरीति'** निर्देश किया है। अतः स्पष्ट है कि हेम का यह वैकल्पिक ङी विधान बिलकुल नया है, जिसका जिक्र न तो देवनन्दी ने किया है और न अभयनन्दी ने।

देवनन्दी ने मनुकी स्त्री मनावी और मनायी प्रयोगों के साधुत्व के लिए 'मनोरौ च' ३।१।४१ सूत्र लिखा है। हेम ने इन्हीं प्रयोगों के लिये 'मनोरौ च्वा' २।४।६१ सूत्र लिखा है। जैनेन्द्र और हेम के उक्त दोनों सूत्रों में केवल 'वा' का अन्तर है। अर्थात् हेम ने वैकल्पिक ङी का विधान कर मनुःशब्द का साधुत्व भी इसी सूत्र द्वारा कर लिया है। जैनेन्द्र के महावृत्तिकार ने 'केषाञ्चिन्मनुरित्यपि'

लिखकर बिना किसी अनुशासन के मनुः शब्द का साधुत्व मान लिया है। अतः हेम ने जैनेन्द्र का उक्त सूत्र ग्रहण कर भी एक नयी बात कह दी है, जिससे हेम की मौलिकता सिद्ध होती है।

जैनेन्द्र व्याकरण में 'कारके' १।२।१०९ को अधिकार सूत्र मान कर कारक प्रकरण का अनुशासन किया है। देवनन्दी ने पञ्चमी विभक्ति का अनुशासन सब से पहिले आरंभ किया है। पश्चात् चतुर्थी, तृतीया, सप्तमी, द्वितीया और षष्ठी विभक्ति का नियमन किया है। उनका यह कारक प्रकरण बहुत संक्षिप्त है। हेम ने कारक प्रकरण को सभी दृष्टियों से पूर्ण बनाने की चेष्टा की है। चतुर्थी का नाना अर्थों में विधान करने वाले विशेष सूत्र जैनेन्द्र में नहीं आये। इसी प्रकार मैत्राय श्रुतायते, हुते, तिष्ठते[१] शपते, पाकाय व्रजति, न त्वां तृणाय तृणं वा मन्ये आदि प्रयोग जैनेन्द्र की अपेक्षा हेम में अधिक हैं। हेम के कराक प्रकरण की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि हेम ने आरम्भ में ही कारक की परिभाषा दी है तथा कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण इन छहों कारकों की परिभाषाएँ भी दी हैं। स्पष्टीकरण और परिभाषा की दृष्टि से हेम इस विभक्त्यर्थ प्रकरण में जैनेन्द्र से अवश्य आगे हैं। महावृत्तिकार ने जो परिभाषाएं टीका के बीच में उद्धृत की हैं, हेम ने उन समस्त परिभाषाओं का उपयोग किया है।

जैनेन्द्र में समास प्रकरण प्रथम अध्याय के तीसरे पाद में आया है। इस प्रकरण में सबसे पहले 'समर्थः पदविधिः' १।३।१ सूत्र द्वारा परिभाषा उपस्थित की गई है। सामान्यतया समास विधायक सूत्र 'सुप सुपा' १।३।२ है। हेमने 'नाम नाम्नैकार्थे समासो बहुलम्' सूत्र द्वारा स्यादियों का स्यादियों के साथ समास किया है। जैनेन्द्र में "हः" १।३।४ को अव्ययीभाव का अधिकार सूत्र मानकर 'कि विभक्त्यभ्यास...इत्यादि १।३।५ द्वारा विभक्ति, अभ्यास, ऋद्धि, अर्थाभाव, अति,ति असंप्रति, प्रति, व्यृद्धि, शब्दप्रभव, पश्चात् , यथा आनुपूर्वी, यौगपद्य, सम्पत् , साकल्य और अन्तोक्ति इन सोलह अर्थों में अव्ययीभाव समास का संविधान किया है। हेम ने भी—'अव्ययम्' ३।१।२१ को अधिकार सूत्र बताकर विभक्ति समीप समृद्धिव्यृद्धयर्था भावात्ययाऽसंप्रति पश्चात् क्रमख्याति युगपत् सदृक् सम्पत्साकल्यान्तेऽव्ययम् ३।१।३९ सूत्र से उक्तार्थों में अव्ययीभाव की व्यवस्था की है।

जैनेन्द्र व्याकरण में 'स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः' १।१।१०० सूत्र द्वारा बताया गया है कि शब्द स्वभाव से ही एक शेष की अपेक्षा न कर

---

१. स्थानेनऽऽत्मानं ज्ञापयति–प्रकाशयति–इत्यर्थः।

एकत्व, द्वित्व और बहुत्व में प्रवृत्त होते हैं अतः एक शेष मानना निरर्थक है। पर हेमचन्द्र ने 'समानामर्थे नैकः शेषः ३।१।११८ में एक शेष का उल्लेख किया है। हैम का समासान्त प्रकरण भी जैनेन्द्र की अपेक्षा विस्तृत है। हेम ने अम्, लुक्लुक् और ह्रस्व का विधान ही प्रमुख रूप में किया है यद्यपि जैनेन्द्र में भी उक्त प्रकरण है, पर हेम में ये प्रकरण अधिक विस्तृत हैं।

तिङन्त प्रकरण पर विचार करने से अवगत होता है कि जैनेन्द्र में पाणिनि की तरह नव लकारों का विधान है। हेम ने लकारों के स्थान पर क्रिया की अवस्था द्योतक ह्यस्तनी श्वस्तनी, वर्त्तमाना, पञ्चमी आदि विभक्तियों को रखा है। तिङन्त प्रकरण में हैम की शैली जैनेन्द्र से बिलकुल भिन्न है।

देवनन्दी ने 'लस्य' सूत्र द्वारा लकार का अधिकार माना है और दश लकारों जैसे लेट् को छोड़ शेष नव लकारों को ही ग्रहण किया है। इनमें पांच लकार टित्संज्ञक और अन्तिम चार ङित्संज्ञक हैं। उनके यहाँ सर्वप्रथम धातु से लकार होता है, पश्चात् लकार के स्थान पर 'मिप वस्, मस्, सिप्, थस्, थ, तिप्, तस्, झि ये प्रत्यय परस्मैपदियों में और इड, वहि, महि, थास, आथास्, ध्वम्, त, आताम्, झ ये प्रत्यय आत्मनेपदियों में होते हैं। पश्चात् भिन्न भिन्न लकारों में भिन्न भिन्न प्रकार के आदेश किये जाते हैं। जैसे लट् लकार में आत्मनेपदी धातुओं में रूपसिद्ध करने के लिए टित् लकारों में आकार को एत्व किया गया है और मध्यमपुरुष एक वचन में थास् के स्थान पर २।४।६६ सूत्र द्वारा स आदेश किया है। लिट लकार में मिप् वस् मस् आदि नव प्रत्ययों के स्थान पर णल्, व, म, था, थुस्, अण्, णल्, अतुस्, उस्' इन नव प्रत्ययों का आदेश किया है। लोट लकार में २।४।७३ द्वारा इकार के स्थान पर उकार, सि के स्थान पर 'हि' और मि के स्थान पर 'नि 'हो' जाता है। इसी तरह सभी लकारों के प्रत्ययों में विशेष-विशेष आदेश किये हैं।

हेम की प्रक्रिया देवनन्दी की प्रक्रिया से विपरीत है। इन्होंने वर्त्तमाना (लट् लकार) में तिप्, तस्, अन्ति, सिप्, थस्, थनि, व्, वस्, मस्, ते, आते, अन्ते, से, आथे, ध्वे, ए, वहे, महे प्रत्यय किये हैं। परोक्षा (लिट लकार) के प्रत्ययों में णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्, अ, णल्, व, म, ए, आते, इरे, थे, आथे, ध्वे, ए, वहे, महे, प्रत्ययों की गणना की है। पञ्चमी (लोट् लकार) में तुप्, तां, अन्तु, हि, तं त, आनिव्, आवव्, आमव्, तां, आतां, अन्तां, स्व, आथां, ध्वं, ऐव, आवहैव, आमहैव इन प्रत्ययों का विधान किया है, इसी प्रकार ह्यस्तनी, अद्यतनी, श्वस्तनी आदि विभक्तियों में पृथक पृथक् प्रत्ययों का विधान किया है इन प्रत्ययों के विधान से हेम उस

आदेश वाली गौरव पूर्ण प्रक्रिया से बच गये हैं। जिस प्रकार जैनेन्द्र में पहिले धातु से लकार का विधान होता है पश्चात् मिप्, वस्, मस् आदि प्रत्यय किये जाते हैं, तत्पश्चात् इन प्रत्ययों के स्थान पर विभिन्न लकारों में विशेष विशेष आदेश किये जाते हैं, उस प्रकार हेम ने आदेश न कर, आदेश-निष्पन्न प्रत्ययों की ही गणना कर दी है। अतः हेम गौरवपूर्ण उक्त बोझिल प्रक्रिया से मुक्त हैं। इस तिङन्त प्रकरण में हेम ने जैनेन्द्र की अपेक्षा प्रायः सर्वत्र लाघवपूर्ण सरल प्रक्रिया उपस्थित की है। **यद्यपि यह सत्य है कि हेम ने जैनेन्द्र से बहुत कुछ ग्रहण किया है, पर इस ग्रहण को ज्यों के त्यों रूप में नहीं रखा है। उसमें अपनी मौलिक प्रतिभा का योगकर उसे नया और विशिष्ट बना दिया है।**

तद्धित प्रकरण जैनेन्द्र व्याकरण में पर्याप्त विस्तार के साथ आया है। हेम ने भी इस प्रकरण का निरूपण छठे और सातवें दोनों अध्यायों में किया है। जैनेन्द्र की तद्धित प्रक्रिया प्रणाली में फण्, ढञ्, ठण्, छ, फ आदि प्रत्ययों का विधान विद्यमान है; पश्चात् फण के स्थान में आयन्, ढण् के स्थान पर एय, ठण् के स्थान पर इक, छ के स्थानपर ईय आदेश करके तद्धितान्त प्रयोगों की सिद्धि की है। पर हेम ने 'पहले प्रत्यय कुछ किया और अनन्तर उसके स्थान पर कुछ आदेश कर दिया' यह प्रक्रिया नहीं अपनायी है। अतः जहाँ जैनेन्द्र में ढण् प्रत्यय किया गया है, वहाँ हेम ने एयण्; जहाँ जैनेन्द्र में ठण् प्रत्यय किया गया है वहाँ हेम ने इकण् और जहाँ जैनेन्द्र में छ प्रत्यय का विधान है, वहाँ हेम ने ईय प्रत्यय किया है। इस प्रकार हेम की प्रक्रिया अधिक सरल और स्पष्ट है।

हेम ने तद्धित प्रकरण में जैनेन्द्र के कुछ सूत्रों को ज्यों का त्यों अपना लिया है; किन्तु उन सूत्रों के अर्थ में इन्होंने विस्तार किया है। जैसे 'कुलटाया वा' ६।१।७८ सूत्र जैनेन्द्र का ३।१।११६ है। हेम ने कुलटा शब्द से अपत्यार्थ में एयण प्रत्यय का संविधान करते हुए इस शब्द के अन्त में इन् के संयोग का भी निर्देश किया है। जब कि जैनेन्द्र में इस सूत्र द्वारा वैकल्पिक रूप से केवल इनङादेश किया है और 'स्त्रीभ्यो ढण्' ३।१।१०९ ढण् प्रत्यय का अनुशासन किया गया है, पश्चात् ढण् के स्थान पर एय आदेश कर कौलटिनेयः, कौलटेयः आदि तद्धितान्तरूपों की सिद्धि की है। अतः स्पष्ट है कि हेम ने जिस सूत्र को ज्यों का त्यों अपनाया भी है तो भी उसमें अपनी प्रतिभा को उड़ेल दिया है। जैनेन्द्र में पीला शब्द से अपत्यार्थ में वैकल्पिक अण् कर पैलः और पैलेयः रूपों का साधुत्व बतलाया है; वहाँ हेम ने पीला के साथ साल्वा और मण्डूका को भी ग्रहण किया है, तथा इन तीनों शब्दों से वैकल्पिक अण

विधान कर पैल:, पैलेय:, साल्व:, साल्वेय:, माण्डूक: मण्डूकि: आदि शब्दों की साधुत्व प्रक्रिया लिखी है। जैनेन्द्र में साल्वेयगान्धारिभ्याम् ३।१।१५१ में साल्वा और गान्धारी शब्द से ढण् प्रत्यय करके साल्वेय: आदि रूप बनाये हैं, किन्तु साल्व: प्रयोगका निर्देश नहीं किया है।

गोधा' शब्द से अपत्यार्थ में जैनेन्द्रकार ने णार और ढ्रण प्रत्यय करके गौधार: और गौधेर: प्रयोगों की सिद्धि की है; किन्तु हेम ने गोधा शब्द से दुष्ट अपत्यार्थ में णार और एरण प्रत्यय का विधान किया है। हेम ने इस प्रकरण में जैनेन्द्र के अनेक सूत्र और भावों को ग्रहण किया है।

कृत्प्रत्ययों का अनुशासन हेम ने पांचवें अध्याय में किया है। जैनेन्द्र में ये प्रत्यय जहाँ तहाँ विद्यमान हैं। 'ण्वोर्घ्याः' २।१।८२ सूत्र को कृत्प्रत्ययों का अधिकारीय सूत्र माना है और तव्य, अनीय आदि प्रत्ययों का विधान किया है। इस प्रकरण के अन्तर्गत यत्, क्यप्, ण्वुल, तृच्, अच्, अन्, णिन्, क, उ, श, ण, निक्, क्ति, अण्, शतृ, शानच्, क्त्वा, आसु, यु, य आदि प्रत्ययों का जैनेन्द्र में अनुशासन विद्यमान है। हेम के यहाँ णवुल के स्थान पर अक् और ल्युट् के स्थान पर अन प्रत्यय का संविधान है। अत: हैम व्याकरण का कृत् प्रकरण जैनेन्द्र के समान होते हुए भी विशिष्ट है।

हेमचन्द्राचार्य और शाकटायनाचार्य

यह सत्य है कि हेमचन्द्र के व्याकरण के ऊपर शाकटायन व्याकरण का सर्वाधिक प्रभाव है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण की रचना में पाणिनि, कातन्त्र, जैनेन्द्र, शाकटायन और सरस्वती कण्ठाभरण का आधार ग्रहण किया है। यत: उक्त व्याकरण ग्रन्थों के कतिपय सूत्र तो ज्यों के त्यों हैम में उपलब्ध हैं और कतिपय सूत्र कुछ परिवर्त्तन के साथ मिलते हैं।

हेम के सिद्ध हैम शब्दानुशासन की शैली उक्त समस्त व्याकरणों की मिश्रित शैली का प्रतिबिम्ब है, पर यह ऐसा प्रतिबिम्ब है, जो बिम्ब के अभाव में भी अपना प्रकाश बिम्ब की अपेक्षा कई गुना अधिक रखता है। हैम व्याकरण के अध्ययन से ऐसा लगता है कि हेम ने अपने समय में उपलब्ध समस्त व्याकरण वाङ्मय का आलोडन–विलोडन कर समुद्र-मन्थन के अनन्तर प्राप्त हुए रत्नों के समान तत्त्व ग्रहण कर अपने शब्दानुशासन की रचना की। इसी कारण हैम व्याकरण में वे त्रुटियां नहीं आने पायी हैं, जो उपर्युक्त वैयाकरणों के पृथक् पृथक् ग्रन्थों में यत्किंचित् रूप में विद्यमान हैं। हेम ने शक्ति भर अपने शब्दानुशासन को सर्वाङ्ग पूर्ण बनाने का प्रयास किया है।

शाकटायन व्याकरण की शैली और भाव को हेम ने एकाध जगह तो ज्यों के त्यों रूप में ग्रहण कर लिया है। उदाहरण के लिये 'पारेमध्ये षष्ठ्यावा' (पाणिनि), 'पारेमध्ये षष्ठ्यावा' (जैनेन्द्र) और 'पारे मध्येऽन्तः षष्ठ्यावा' (शाकटायन) का सूत्र है। हेम ने उक्त सूत्र के स्थान पर 'पारे मध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा' सूत्र लिखा। उपर्युक्त प्रसिद्ध वैयाकरणों के सूत्र की हेम के सूत्र के साथ तुलना करने पर अवगत होता है कि हेम ने शाकटायन का सर्वाधिक अनुकरण किया है। आदरणीय प्रोफेसर पाठक ने "Jain Shakatayan-contemporary with Amoghvars शीर्षक निबन्ध में हेम के ऊपर शाकटायन का सर्वाधिक प्रभाव सिद्ध किया[१] है।

शाकटायन के "न नृ पूजार्थध्वजचित्रे" ३।३।३४ सूत्र पर "नरि मनुष्ये पूजार्थे ध्वजे चित्रे चित्रकर्मणि चाभिधेये कः प्रत्ययो न भवति। 'संज्ञा प्रतिकृत्योरिति यथासम्भव प्राप्तिः नरि चञ्चासदृशः। चञ्चामनुष्यः वर्द्रिका, करकुटी, दासी। पूजार्थे—अर्हन् शिवः स्कन्दः। पूजार्थाः प्रतिकृतयः उच्यन्ते। ध्वजे गरुडः। सिंहः। तालः। ध्वजः। चित्रे दुर्योधनः। भीमसेनः। चिन्तामणि लघुवृत्ति लिखी गई है।

हेमचन्द्र ने 'न नृ पूजार्थ ध्वज चित्रे' ७।१।१०९ सूत्र पर अपनी बृहद् वृत्ति में लिखा है नरि मनुष्ये पूजार्थे ध्वजे चित्रे च चित्रकर्मणि अभिधेये कः प्रत्ययो न भवति। तत्र सोऽयमित्येवाभिसम्बन्धः। संज्ञाप्रतिकृत्योरिति यथासंभवं प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम्। नृ चञ्चा तृणमयः पुरुषः। यः क्षेत्र रक्षणाय क्रियते। चञ्चातुल्यतुरुषः चञ्चा। एवं वर्द्धिनका। खरकुटी। पूजार्थे अर्हन्। शिवः स्कन्दः पूजार्थाः प्रतिकृतय उच्यन्ते। ध्वजे गरुडः सिंहः तालो ध्वजः। चित्रे दुर्योधनः भीमसेनः।

उपर्युक्त शाकटायन के उद्धरण के साथ हेम के उद्धरण की तुलना करने से ऐसा मालूम पड़ेगा कि हेम ने शाकटायन की प्रतिलिपि ग्रहण की है। पर सूक्ष्म दृष्टि से ऊहापोहपूर्वक विचार करने से यह ज्ञात होता है कि हेम में शाकटायन की अपेक्षा पद पद पर नवीनता और मौलिकता विद्यमान है। यद्यपि इस सत्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता है कि हेम ने शाकटायन व्याकरण से बहुत कुछ ग्रहण किया है, तो भी प्रक्रिया और प्रयोग साधना की दृष्टि से हेम अवश्य ही शाकटायन से आगे हैं। हेम ने अपने समय में प्रचलित समस्त व्याकरणों का अध्ययन अवश्य किया है और विशेषतः पाणिनि,

---

१. देखें Indian Antiquary : October 1914 Vol XLIII P. 208

कातन्त्र, जैनेन्द्र और शाकटायन का खूब मन्थन किया है, इसी कारण हेम पर जैनेन्द्र और शाकटायन व्याकरणों का प्रभाव इतना अधिक है कि जिससे साधारण पाठक को यह भ्रम हो जाता है कि हेम ने शाकटायन की प्रतिलिपि कर ली है। हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि हेम ने जहाँ भी पाणिनि, कातन्त्र, जैनेन्द्र या शाकटायन का अनुसरण किया है, वहाँ अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। उदाहरण में आये हुए प्रयोगों में भी एक नहीं अनेक नये प्रयोग आये हैं तथा प्रक्रिया लाघव भी अपने ढंग का है।

शाकटायन व्याकरण ने प्रत्याहार शैली को अपनाया है। इस व्याकरण में "तत्रादौ शास्त्रे संव्यवहारार्थं संज्ञासंग्रहः कथ्यते" लिखकर 'अइउण्, ऋक्, एओङ्, ऐऔच्, हयवरलण्, ञमङणनम्, जबगडदश्, झभघढधष्, ख फ छ ठ थ ट्, चटतव्, कपय्, श ष स अं अः ≍क≍ पर और हल् इन तेरह प्रत्याहार सूत्रों का निरूपण किया है। यहाँ एक विशेषता यह है कि शाकटायन में प्रत्याहार सूत्रों का संग्रह पाणिनि जैसा ही नहीं है, बल्कि उनके सूत्रों में संशोधन और परिवर्द्धन किया है। उदाहरणार्थ शाकटायन में लृकार स्वर को माना ही नहीं गया है। इसी तरह अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय की गणना व्यञ्जनों के अन्तर्गत कर ली गयी है। पाणिनि ने अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को विकृत व्यञ्जन माना है। वास्तव में अनुस्वार मकार या नकार जन्य है, विसर्ग कहीं सकार से और कहीं रेफ से स्वतः उत्पन्न होता है, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय दोनों क्रमशः 'क, ख' तथा 'प, फ' के पूर्व विसर्ग के ही विकृत रूप हैं। पाणिनि ने इन सभी अक्षरों का अपने प्रत्याहार सूत्रों में—जो उनकी वर्णमाला कही जायगी स्वतंत्र रूप से कोई स्थान नहीं दिया। बाद के पाणिनीय वैयाकरणों में से कात्यायन ने उक्त चारो को स्वर और व्यञ्जन दोनों में ही परिगणित करने का निर्देश किया। शाकटायन व्याकरण में अनुस्वार विसर्ग आदि के मूल रूपों को ध्यान में रखकर ही उन्हें प्रत्याहार सूत्रों में रखकर उनके व्यञ्जन होने की घोषणा कर दी गई है।

शाकटायन व्याकरण के प्रत्याहार सूत्रों की दूसरी विशेषता यह है, कि इसमें लण् सूत्र को स्थान नहीं दिया है और लृवर्ण को पूर्व सूत्र में ही रख दिया गया है। इसमें सभी वर्ण के प्रथमादि अक्षरों के क्रम से अलग अलग प्रत्याहार सूत्र दिये गये हैं। केवल वर्गों के प्रथम वर्णों के ग्रहण के लिये दो सूत्र हैं। 'पाणिनीयवर्णसमाम्नाय' की भाँति शाकटायन व्याकरण में भी हकार दो बार आया है। पाणिनीय व्याकरण में ४१, ४३, या ४४ प्रत्याहार रूपों की उपलब्धि होती है, किन्तु शाकटायन में सिर्फ ३८ प्रत्याहार ही उपलब्ध हैं।

शाकटायन व्याकरण में सामान्य संज्ञाएं बहुत अल्प हैं। इत्संज्ञा और स्व (सवर्ण) संज्ञा करने वाले, बस ये दो ही संज्ञाविधायक सूत्र हैं और इस व्याकरण में अवशेष दो सूत्र ग्राहक सूत्र कहे जायँगे। ग्राहकसूत्रों में प्रथम सूत्र वह है जो स्वर (व्यञ्जन भी) से उसके जातीय दीर्घादि वर्णों का बोध कराता है और दूसरा प्रत्याहार बोधक 'सात्मेतत्' १।१।१ सूत्र है यहां प्रत्याहारबोधक सूत्र इतना अस्पष्ट है कि इसकी आत्मा दबी सी जान पड़ती है। यदि उसके शब्दों के अनुसार समझना हो तो उसके पूर्व पाणिनि का "आदि-रन्त्येन सहेता" सूत्र कण्ठस्थ कर लेना पड़ेगा।

शाकटायन में लृवर्ण को ग्रहण नहीं किया है, किन्तु शाकटायन के टीकाकारों ने "ॠवर्ण ग्रहणे लृवर्ण स्यापि ग्रहणं भवति.......ॠलृवर्णयोरैकत्वम्[१]" द्वारा लृकार के ग्रहण की सिद्धि की है।

यह स्पष्ट है कि शाकटायन व्याकरण में संज्ञा सूत्रों की बहुत कमी है। शाक-टायनकार ने कारिकाओं में भी व्याकरण के प्रमुख सिद्धान्तों का सन्निवेश किया है। इस व्याकरण के संज्ञा प्रकरण में कुल छः सूत्र हैं—उन में भी दो ही सूत्र ऐसे हैं; जो संज्ञा विधायक कहे जा सकते हैं।

हैम और शाकटायन व्याकरण के संज्ञा प्रकरण की तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि हैम का संज्ञा प्रकरण शाकटायन की अपेक्षा पुष्ट और सर्वाङ्ग-पूर्ण है। हेम प्रत्याहार के झमेले में नहीं पड़े हैं। इन्होंने वर्णमाला का सीधा क्रम स्वीकार किया और स्वर तथा व्यञ्जनों का विचार एवं उनकी संज्ञाओं का प्रतिपादन शाकटायन से अच्छा किया है। हेम की संज्ञाएं शाकटायन की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक और व्यावहारिक हैं, अतः यह निश्चय है कि हेम संज्ञा प्रकरण के लिए शाकटायन के बिलकुल आभारी नहीं हैं। इन्होंने पूर्वाचार्यों से जो भी ग्रहण किया है, उसे अपनी प्रतिभा के साँचे में ढालकर मौलिक बना दिया है।

शाकटायन में 'न' १।१।७० सूत्र के द्वारा विराम में सन्धि कार्य का निषेध करते हुए अविराम में सन्धि का विधान मानकर....सूत्र को अधिकार सूत्र बताया है। अच् सन्धि के आरम्भ में सब से पहिले अयादि सन्धि का विधान एक ही एचोऽच्ययवायाव् १।१।६९ सूत्र द्वारा कर दिया है। पश्चात् अस्वे १।१।७३ द्वारा यण सन्धि का निरूपण किया है। हेम ने भी अपने शब्दानुशासन में उक्त दोनों सन्धियों का विधान शाकटायन जैसा ही किया है। हां, अयादि सन्धि के लिये जहां शाकटायन में एक ही सूत्र है वहाँ हेम ने दो सूत्रों द्वारा

---

१. रूपसिद्धि वृत्ति पृ० ३।

उक्त सन्धि कार्य का अनुशासन किया है। क्रम में अन्तर है। हेम ने सर्वप्रथम दीर्घ सन्धि का अनुशासन किया है, तत्पश्चात् गुण, वृद्धि, यण् और अयादि सन्धियों यण् सन्धि के विधान के प्रसंग में शाकटायन में 'ह्रस्वो वाऽपदे' १।१।७४ सूत्र है इसके द्वारा दधि अत्र, दध्यत्र; नदि एषा, नद्येषा; मधु अपनय, मध्वपनय आदि सन्धि प्रयोगों की सिद्धि की है। इस सूत्र द्वारा वैकल्पिक रूप से इकों—ई ऊ का ह्रस्व किया गया है। हेम ने भी 'ह्रस्वोऽपदे वा' १।२।२२ सूत्र ज्यों का त्यों शाकटायन का ग्रहण कर लिया है और इसके द्वारा ईवर्णादि को असमान संज्ञक वर्ण परे रहने पर ह्रस्व होने का नियमन किया है। यह हेम का अनुकरण मात्र ही नहीं कहा जायगा; बल्कि ज्यों के त्यों रूप में ग्रहण करने की बात स्वीकार की जायगी, अच् सन्धि प्रकरण के शाकटायन के १।१।८५, १।१।८६, १।१।८८, १।१।९७ सूत्र हेम के स्वरसन्धि प्रकरण में १।२।१५, १।२।१८, १।२।१७ और १।२।३० में ज्यों के त्यों उपलब्ध हैं। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा लगता है कि हेम स्वर सन्धि के लिए जैनेन्द्र और पाणिनि की अपेक्षा शाकटायन के अधिक ऋणी हैं।

प्रकृति भाव प्रकरण को शाकटायन ने निषेध सन्धि प्रकरण कहा है। हेम ने इसे असन्धि प्रकरण कह दिया है। अतः उक्त नामकरण के लिये भी हेम के ऊपर शाकटायन का ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। हैम व्याकरण में असन्धि प्रकरण ११ सूत्रों में वर्णित है, जब कि शाकटायन में यह प्रकरण केवल चार सूत्रों में आया है। पर यह स्पष्ट है कि—शाकटयान के उक्त चार सूत्रों में से तीन सूत्रों को हेम ने थोड़े से फेर फार के साथ ग्रहण का लिया है। जैसे शाकटायन के 'नप्लुतस्यानितौ" १।१।९६ को 'प्लुतो नि तौ' १।२।३२ में 'चादेरचोऽनाङ' १।१।१०१। को 'चादिः स्वरोऽनाङ्' १।२।३६ में और ओतः' १।१।१०२ को 'ओदन्त' १।२।३७ में ग्रहण किया है।

शाकटायन में स्वर सन्धि के अन्तर्गत द्वित्व सन्धि को भी रखा गया है। और इसका अनुशासन ९ सूत्रों में किया गया है किन्तु हैम व्याकरण में व्यञ्जन सन्धि में ही उक्त प्रकरण के लिये बारह सूत्र आये हैं। शाकटायन में जिस कार्य के लिये दो सूत्र हैं हेम ने उस कार्य को एक ही सूत्र में कर दिखाया है। जैसे शाकटायन में छकार के द्वित्व विधान के लिये 'दीर्घाच्छो वा' १।१।१२४ और 'अजाङ्माङ' १।१।१२६ ये दो सूत्र आये हैं, पर हेम ने इन दोनों को 'अनाङ्माङो दीर्घाद्वाच्छः' १।३।२८ सूत्र में ही समेट लिया। द्वित्व प्रकरण का अनुशासन हेम का शाकटायन की अपेक्षा विस्तृत और उपयोगी है।

शाकटायन में जिसे हल् सन्धि कहा गया है, हेम ने उसे व्यञ्जन सन्धि माना है। शाकटायन में झलों का जश् होने का विधान किया है, पर हेम ने

इसके लिये सीधे ही पदान्त पञ्चम के परे वर्ग के तृतीय वर्ण को पञ्चम होने का अनुशासन किया है। हेम ने प्रत्यय के परे होने पर तृतीय वर्ण के लिये नित्य ही पञ्चम होने का विधान 'प्रत्यये च' १।३।२ सूत्र द्वारा किया है। यही अनुशासन शाकटायन में 'प्रत्यये' १।१।१०७ द्वारा किया गया है। दोनों व्याकरणों में एक ही सूत्र है। हेम ने उक्त सूत्र में केवल 'च' शब्द अधिक जोड़ दिया है, जिसकी सार्थकता वृत्ति में 'चकार उत्तरत्र विकल्पानुवृत्त्यर्थः' अर्थात् चकार यहाँ इस बात को बतलाने के लिये आया है कि आगे भी विकल्प से अनुशासन होगा; यतः इस सूत्र के पहले भी वैकल्पिक कार्य विधान किया गया है और इसके आगे का अनुशासन कार्य भी वैकल्पिक ही है। यही सूत्र नित्य विधान करता है; अतः इसमें चकार का रखना अत्यावश्यक था अन्यथा आगे का कार्य भी नित्य माना जाता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हेम ने शाकटायन का सूत्र ग्रहण कर भी उसमें एक चकारमात्र के योग से ही अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर दिया है, जिसकी आवश्यकता एक कुशल वैयाकरण के लिये थी।

सम्राट् शब्द की सिद्धि शाकटायन और हेम दोनों ने ही समान रूप से की है तथा दोनों का सूत्र भी एक ही है। परन्तु समान सूत्र और समानकार्य होने पर भी विशेषता यह है कि जहां शाकटायन की वृत्ति में 'समोमकारो निपात्यते क्विबन्ते राजिपरे' कहा गया है, वहां हेम ने 'समो मकारस्य राजतौ क्विबन्ते परेऽनुस्वाराभावो निपात्यते' लिखा है। अर्थात् हेम ने पूर्व से चले आए हुए अनुस्वार प्रकरण का बाध कर मकार का अस्तित्व निपातनात् माना है, वहाँ शाकटायन ने मकार को निपातन से ही ग्रहण कर लिया है। यद्यपि शाकटायन में भी इस सूत्र के पूर्व वैकल्पिक अनुस्वार का अनुशासन विद्यमान है; पर उन्होंने उसके अभाव का जिक्र नहीं किया है। हमें ऐसा लगता है कि निपातन कह देने से ही शाकटायन ने इसलिये संतोष कर लिया क्यों कि निपातन का अर्थ ही है, 'अन्य विकार्य स्थितियों का अभाव'। उन्हें अनुस्वाराभाव कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई और न उनके टीकाकारों ने ही इसकी आवश्यकता समझी। हेम ने मात्र स्पष्टीकरण के लिए अनुस्वाराभाव का जिक्र कर दिया है।

हल्सन्धि में हेम ने शाकटायन के 'उदः स्थास्तम्भः' १।१।१३४ 'न शात्' १।१।१३९ 'लिलः' १।१।१४२ सूत्रों को क्रमशः १।३।४४, १।३।६२ में ज्यों का त्यों रख दिया है। केवल 'लिलः' के स्थान में 'लि लौ' पाठ कर दिया है। हैम व्याकरण में विसर्जनीय सन्धि का अभाव है, इसका अन्तर्भाव व्यञ्जन-

सन्धि में ही कर लिया है। इस सन्धि में आये हुए शाकटायन के सूत्रों का हेम ने उपयोग नहीं किया है। हेम की विवेचन-प्रक्रिया अपने ढंग की है। जहाँ तक हमारा ख्याल है कि रेफ और सकारजन्य विसर्गसन्धि के विकार को व्यञ्जन मे परिगणित करना हेम की अपनी निजी विशेषता है। इससे इन्होंने लाघव तो किया ही, साथ ही अनावश्यक विस्तार से भी अपने को बचा लिया है।

शब्द साधुत्व की प्रक्रिया में हेम और शाकटायन इन दोनों ने दो दृष्टिकोण अपनाये हैं। शाकटायन ने एक एक शब्द को लेकर उसका सभी विभक्तियों में साधुत्व प्रदर्शित किया है। पर हेम ने ऐसा नहीं किया। हेम ने सामान्य विशेषभाव मे सूत्रों का मन्थन कर एक से ही अनुशासन में चलने वाले कई शब्दों की सिद्धि बतलायी है जैसे देवम्, मालाम्, मुनिम् नदीम्, साधुम् और वधूम् की सिद्धि के लिये समान कार्य विधायक एक ही 'समानादमोऽतः' १।४।४६ सूत्र रचा है। इस प्रक्रिया के कारण ही हेम स्वरान्त और व्यञ्जनान्त शब्दों की सिद्धि साथ-साथ करते चले हैं। इसका यह क्रम लाघव की दृष्टि से अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है। शाकटायनकार ने पाणिनि की प्रक्रिया पद्धति का अनुसरण किया है, पर हेम ने अपनी प्रक्रिया पद्धति भिन्न रूप से स्वीकार की है। हेम का एक ही सूत्र स्वरान्त और व्यञ्जनान्त दोनों ही प्रकार के शब्दों का नियमन कर देता है। इस प्रकरण में शाकटायन के कई सूत्रों को हेम ने ग्रहण कर लिया है।

स्त्रीप्रत्यय प्रकरण में शाकटायन ने स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों का साधुत्व छोड़ दिया है। जैसे दीर्घपुच्छी, दीर्घपुच्छा, कबरपुच्छी, मणिपुच्छी, विषपुच्छी, उलूकपक्षी, अश्वक्रीती, मनसाक्रीती आदि प्रयोगों का शाकटायन में अभाव है, पर हेम ने उक्त प्रयोगों की सिद्धि के लिये 'पुच्छात्' २।४।४१ 'कबरमणि-विषशरादेः' २।४।४२ 'पक्षाच्चोपमानादेः' २।४।४३ एवं 'क्रीतात् करणादेः' २।४।४४ सूत्रों का मन्थन किया है। इसी प्रकार शूर्पणखी, शूर्पणखा, चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा आदि स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों के साधुत्व के लिये शाकटायन में किसी भी प्रकार का अनुशासन नहीं है; किन्तु हेम ने 'नखमुखादनाम्नि' २।४।४० सूत्र द्वारा उक्त प्रयोगों का अनुशासन किया है।

स्त्रीप्रत्यय में शाकटायन के 'वयस्यनन्त्ये', १।३।१७ 'पाणिगृहीति पत्नी, १।३ २५ 'पतिवत्न्यन्तर्वत्न्याववधिवा गर्भिण्योः' १।३।४२, 'सपत्न्यादौ' १।३।४१, 'नारी सखीपङ्गुश्वश्रूः' १।३।७५ सूत्र हेम में क्रमशः २।४।५१, २।४।५२, २।४।५३, २।४।५० और २।४।७६ सूत्र हैं, उदाहरण इन सूत्रों के वे ही हैं,

जिनका प्रयोग शाकटायन में किया गया है। कुछ सूत्र ऐसे भी हैं, जो कुछ हेर फेर के साथ हैम व्याकरण में आये हैं। लौहित्यायनी, शाकल्यायनी, पौतिमाष्यामणी, पौतिमाष्या, आवट्यायनी, आवट्या, कौरव्यायणी, माण्डूकायनी, आसुरायणी, सौतंगयी आदि प्रयोगों के साधुत्व का शाकटायन में कोई अनुशासन नहीं है, पर हेम ने २।४।६८, ३।४।६९, २।४।७० और २।४।७१ द्वारा सम्यक् प्रकार अनुशासन किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शाकटायन की अपेक्षा हेम का स्त्री प्रत्यय अवश्य महत्वपूर्ण है। हेम ने इस प्रकरण में अनेक नवीन स्त्री प्रत्ययान्त प्रयोगों को दिखलाया है।

शाकटायन व्याकरण में कारक की कोई परिभाषा नहीं दी गई है और न कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण कारक के लक्षण ही बताये गये हैं। इस प्रकरण में केवल अर्थानुसारिणी विभक्तियों की ही व्यवस्था मिलती है। किन्तु इसके विपरीत हेम व्याकरण में कारक की सामान्य परिभाषा तथा कर्त्ता, कर्म आदि भिन्न भिन्न कारकों की भिन्न भिन्न परिभाषाएँ भी दी गयी हैं। कारक व्यवस्था की दृष्टि से हेम का यह प्रकरण शाकटायन की अपेक्षा अधिक समृद्धिशाली है। सैद्धान्तिक दृष्टि से हेम ने इसमें कारकीय सिद्धान्त को पूर्णतया रखने का प्रयास किया है।

विभक्त्यर्थ के आरम्भ में शाकटायन की शैली हैम व्याकरण से भिन्न मालूम होती है जैसे १।३।१०० सूत्र द्वारा हा, धिक्, समया, निकषा, उपर्युपरि, अध्यधि अधोऽधो, अत्यन्त, अन्तरा, अन्तरेण, पीतः, अभितः, और उभयतः शब्दों के योग में अनभिहित अर्थ में वर्त्तमान से अम्, औट्; और शस् का विधान किया है। यहां सीधे द्वितीया विभक्ति का कथन न कर द्वितीया विभक्ति के प्रत्ययों का निर्देश कर दिया है। यह शैली एक विचित्र प्रकार की मालूम होती है। यद्यपि इस शैली का शाकटायन स्वयं निर्वाह नहीं कर सके हैं और आगे चलकर उन्हें विभक्तियों का नाम लेना ही पड़ गया है तो भी १।३।१२७, १।३।१५२ तथा १।३।१७१ आदि सूत्रों में विभक्तियों का निर्देशन कर उनके प्रत्ययों का निरूपण कर दिया गया है। हेम ने इस बोझिल शैली को नहीं अपनाया है और स्पष्ट रूप से विभक्तियों का निरूपण किया है। चतुर्थी विभक्ति के अनुशासन में द्विजाय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा; गुरवे प्रतिगृणाति, अनुगृणाति, मैत्राय राध्यति ईक्षते वा विप्रणष्ट पन्थान पथे वा याति, शताय शतेनवा परिक्रीतः आदि कारकीय प्रयोगों का अनुशासन नहीं किया है। किन्तु हेम ने उक्त प्रयोगों के साधुत्व के लिए विभक्ति विधायक सूत्रों का निरूपण किया है। शाकटायन में तुल्यार्थ में तृतीया करने के लिये १।३।१८८ तथा इसी अर्थ में षष्ठी के लिए १।३।१८९ ये दो सूत्र उपलब्ध

हैं। हेम ने तुल्यार्थैस्तृतीया षष्ठ्यौ २।२।११६ द्वारा दोनों ही विभक्तियों का विधान तुल्यार्थ में कर दिया है।

शाकटायन में ऋत के योग में द्वितीया और पंचमी का विधान करने वाले 'पञ्चमी चर्ते' १।३।१९१ सूत्र में पंचमी का उल्लेख कर चकार से द्वितीया विभक्ति का उल्लेख किया गया है पर हेम ने 'ऋते द्वितीया च' सूत्र में द्वितीया का उल्लेख कर चकार से पञ्चमी का ग्रहण कर लिया है।

उत्कृष्ट अर्थ में अनु और उप के योग में द्वितीया विभक्ति विधायक दोनों व्याकरणों में एक ही सूत्र है। जहाँ शाकटायन में इसके उदाहरण में अनुसमन्त-भद्रं तार्किकाः, उपशाकटायनं वैयाकरणाः जैसे दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य प्रयोग उपस्थित किये गये हैं, वहां हेम ने अनुसिद्धसेनं कवयः और उपोमास्वातिं संग्रहीतारः प्रयोगों को रखा हैं।

उत्पातद्वारा ज्ञाप्य में चतुर्थी विभक्ति का विधान करने वाला दोनों व्याकरणों में एक ही सूत्र है तथा हेम ने उदाहरण में भी शाकटायन की निम्नकारिका को ज्यों का त्यों रख दिया है :—

वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥

इस प्रकरण में शाकटायन के १।३।१२५, १।३।१०२, १।३।१०४, १।३।१२७ १।३।१२९, १।३।१३०, १।३।१३२, १।३।१३७, १।३।१४२, १।३।१७९ १।३।१८०, १।३।१८३, १।३।१८६, १।३।१४८, १।३।१४७, १।३।१५७, १।३।१९२, तथा १।३।१६७ संख्यक सूत्र, हैम व्याकरण में क्रमशः २।२।२३, २।२।२७, २।२।२९, २।२।४२, २।२।४५, २।२।४६, २।२।४९, २।२।२७, २।२।६८, २।२।९८, २।२।१०६, २।२।१०८, २।२।११०, २।२।६०, २।२।५९, २।२।७३, २।२।११३ और २।२।९१ संख्यक सूत्रों के रूप में ग्रहण किये गये हैं।

शाकटायन में समास प्रकरण आरम्भ करते ही बहुव्रीहि समास विधायक सूत्र का निर्देश किया है। पश्चात् कुछ तद्धित प्रत्यय आ गये हैं जिनका संयोग प्रायः बहुव्रीहि समास में होता है। जैसे नञ्, दुस्, सु इनसे परे प्रजा शब्दान्त बहुव्रीहि से अम् प्रत्यय, नञ्, दुस् तथा अल्प शब्द से परे मेधा शब्दान्त बहुव्रीहि से अम् प्रत्यय, जाति शब्दान्त बहुव्रीहि से छ प्रत्यय, एवं धर्म शब्दान्त बहुव्रीहि से अन् प्रत्यय होता है। इसके बाद बहुव्रीहि समास में में पुंवद्भाव, ह्रस्व आदि अनुशासनों का नियमन है। सुगन्धि, पूतिगन्धि, सुर-भिगन्धि, घृतगन्धि, पद्मगन्धि आदि सामासिक प्रयोगों के साधुत्व के लिये इत्

प्रत्यय का विधान किया गया है। हेम ने भी समास प्रकरण के आरम्भ में अपनी उत्थानिका इसी प्रकार आरम्भ की है। पर शाकटायन व्याकरण में बहुव्रीहि समास का अनुशासन समास होने के बाद ही अव्ययीभाव प्रकरण आरम्भ होता है तथा युद्धवाच्य में ग्रहण और प्रहरण अर्थ में केशाकेशि और दण्डादण्डि को अव्ययीभाव समास माना है, यतः शाकटायन के मतानुसार अव्ययीभाव समास के तीन भेद हैं। अन्य पदार्थ प्रधान, पूर्व पदार्थ प्रधान और उत्तर पदार्थ प्रधान। अतः 'केशाश्च केशाश्च परस्परस्य ग्रहणं यस्मिन् युद्धे' जैसे विग्रह-वाक्य साध्य प्रयोगों में अन्य पदार्थ प्रधान अव्ययीभाव समास होता है। हैम व्याकरण में बहुव्रीहि का प्रकरण बीच में रुक गया है और अव्ययीभाव का आरम्भ हो गया है। हेम ने समास प्रकरण के आरम्भ में गति संज्ञा विधायक सूत्रों का संकलन किया है और गतिसंज्ञकों में होने वाले तत्पुरुष समास का विधान आरम्भ करने के पहिले ही पीठिका सूत्रों का संग्रह कर दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हैम व्याकरण का समास प्रकरण शाकटायन की अपेक्षा विस्तृत और पूर्ण है। यद्यपि इस प्रकरण में भी हेम ने अपनी प्रतिभा का पूरा उपयोग किया है, तो भी शाकटायन के कई सूत्र हैम व्याकरण के इस प्रकरण में विद्यमान हैं।

शाकटायन व्यारण में समास के पश्चात् तद्धित प्रकरण आरम्भ होता है। इस प्रकरण का पहला सूत्र है "प्रागजितादण्" २।४।४, हैम में यह सूत्र प्रागजितादण् ६।१।१३ में आया है। हेम ने शाकटायन का सब से अधिक अनुसरण तद्धित प्रकरण में किया है। यों तो हैम व्याकरण की शैली शाकटायन से भिन्न है। शाकटायन में जहाँ 'फण' प्रत्यय करण कारक का अनुबन्ध कर फ के स्थान पर आयन, आदेश किया है वहां हेम ने आयन प्रत्यय का ही अनुशासन किया है। इसी प्रकार शाकटायन के फण्, ढण, छ, ख, घ, ण्ण्, वुज् और ढकञ् प्रत्ययों के स्थान पर हैम व्याकरण में क्रमशः एयण, एरण्, ईय, ईन, इय, इकण्, अकम् और एयकञ् प्रत्यय होते हैं। हेम ने प्रक्रिया लाघव के लिए ढण्, ढ्ण्, आदि प्रत्ययों के स्थान पर पुनः आदेश न कर सीधे ही प्रत्ययों की व्यवस्था कर दी है। इस प्रकरण में शाकटायन की अपेक्षा हेम ने डायट्ट, टापनाण्, शाकट, शाकिन आदि अनेक नवीन प्रत्ययों का अनुशासन किया है।

शाकटायन का तिङन्त प्रकरण 'क्रियार्थो धातुः' से आरम्भ होता है तथा इसी धातु संज्ञक सूत्र को अधिकार सूत्र कहा गया है। हैम व्याकरण में भी इसी सूत्र को अधिकार सूत्र के रूप में ग्रहण कर लिया गया है। जहाँ शाकटायन में पाणिनि की लकार प्रक्रिया के अनुसार क्रिया रूपों का साधुत्व दिखलाया गया है,

वहाँ हैम में क्रियावस्थाओं को ग्रहण कर धातुरूपों की प्रक्रिया लिखी गयी है। अतः शैली की दृष्टि से दोनों व्याकरणों में मौलिक अन्तर है। शाकटायन की अपेक्षा हैम व्याकरण में अधिक धातुओं का भी प्रयोग हुआ है।

कृदन्त प्रकरण में हेम पर शाकटायन का प्रभाव लक्षित होता है, किन्तु यह सत्य है कि अपनी अद्भुत प्रतिभा के कारण हेम ने इस प्रकरण में भी अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए 'घ्यण' प्रत्यय के प्रकरण को लिया जा सकता है। शाकटायन में ४।३।६०, ४।३।५१, ४।१।१७९ सूत्रों द्वारा घ्यण प्रत्यय का अनुशासन किया गया है। हेम ने सामान्यतः घ्यण प्रत्यय के लिये 'ऋवर्णे व्यञ्जनान्ताद् घ्यण्' ५।१।१७ सूत्र का ग्रथन किया है। पश्चात् विशेष धातुओं से इस प्रत्यय का नियमन किया है। अनन्तर आसाव्यम्, याव्यम्, वाप्यम्, राप्यम्, अपत्राप्यम्, डेप्यम्, दाम्यम् प्रभृति कृदन्त प्रयोगों का साधुत्व "आसुयुवपिरपिलपित्रपिडिपिदभिचम्यानमः" ५।१।२० द्वारा किया गया है। शाकटायन में उक्त प्रयोगों सम्बन्धी अनुशासन का अभाव है। हेम ने संचाय्यः कुण्डपाय्यः, प्रणाय्यः, पाय्यं, मानम्, सन्नाय्यं हविः, निकाय्यो निवासः इत्यादि घ्यणन्त प्रयोगों का निपातन माना है। शाकटायन में इनका जिक्र भी नहीं है। अतः स्पष्ट है कि हेम का कृदन्त प्रकरण शाकटायन की अपेक्षा विशिष्ट है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हेम ने अपने शब्दानुशासन में जैनेन्द्र और शाकटायन से बहुत कुछ ग्रहण किया है। जैनेन्द्र की महावृत्ति और शाकटायन की अमोघवृत्ति तथा लघुवृत्ति से भी हेम ने अनेक सिद्धान्त लिये हैं। सूत्रों की वृत्ति में भी हेम ने उक्त वृत्तियों से पर्याप्त सहायता ली है। इतना होने पर भी हेम की मौलिकता क्षुण्ण नहीं होती है, क्योंकि हेम ने अपनी विशिष्ट प्रतिभा द्वारा उक्त व्याकरणों में कतिपय सूत्र और सिद्धान्तों को ग्रहण कर भी उन्हें पचाकर अपने रूप में उपस्थित किया है। सूत्रों में यत्किञ्चित् परिवर्त्तन से ही इन्होंने विलक्षण चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।

हेम का प्रभाव उत्तरकालीन जैन वैयाकरणों पर पर्याप्त पड़ा है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तो इस व्याकरण के पठन-पाटन की व्यवस्था भी रही है। अतः इस पर अनेक टीका-टिप्पण लिखे गये हैं। विवरण निम्नप्रकार है।—

नाम	कर्त्ता	संवत्
लघुन्यास	हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र गणी	
लघुन्यास	धर्मघोष	
न्यासोद्धार	कनकप्रभ	
हैम लघुवृत्ति	काकल कायस्थ	हेमचन्द्र के समकालीन

हैमबृहद्वृत्ति ढुंढिका	सौभाग्य सागर	१५९१
हैम ढुंढिका वृत्ति	उदय सौभाग्य	
हैम लघुवृत्ति ढुंढिका	मुनिशेखर	
हैम अवचूरि	धनचन्द्र	
प्राकृतदीपिका	द्वितीय हरिभद्र	
प्राकृत अवचूरि	हरिप्रभ सूरि	
हैम चतुर्थपाद वृत्ति	हृदय सौभाग्य	१५९१
हैम व्याकरण-दीपिका	जिन सागर	
हैम व्याकरण अवचूरि	रत्नशेखर	
हैम दुर्गपदप्रबोध	ज्ञानविमल शिष्यवल्लभ	१६६१
हैम कारक समुच्चय	श्रीप्रभ सूरि	१२८०
हैम वृत्ति	,,	,,

हैम व्याकरण से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थ

नाम	कर्त्ता	संवत्
लिङ्गानुशासन वृत्ति	जयानन्द	
धातुपाठ (स्वरवर्णानुक्रम)	पुण्यसुन्दर	
क्रियारत्नसमुच्चय	गुणरत्न	१४६६
हैम विभ्रम सूत्र	गुणचन्द्र	
हैम विभ्रम वृत्ति	जिनप्रभ	
हैम लघुन्यास प्रशस्ति अवचूरि	उदयचन्द्र	
न्यायमंजूषा	हेमहंस	१५१५
न्याय मंजूषा न्यास	,,	,,
स्यादि शब्द समुच्चय	अमरचन्द्र	

हैम व्याकरण के ऊपर लिखे गये अन्य व्याकरण

नाम	कर्त्ता	संवत्
हैम कौमुदी (चन्द्रप्रभा)	मेघविजय	१७५८
हैम प्रक्रिया	महेन्द्रसुतवीरसी	
हैम लघु प्रक्रिया	विनय विजय	

इस प्रकार हैम व्याकरण के आधार पर अनेक ग्रन्थ रचे गये हैं। आज भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के कई आचार्य हैम के आधार पर व्याकरण ग्रन्थ लिख रहे हैं। अभी हाल में हमने आचार्य तुलसी गणी के संघ में 'भिक्खु व्याकरण' देखा था, जिसका ग्रथन हेम के आधार पर किया गया है। कालकौमुदी नामक व्याकरण भी हैम व्याकरण के ढंग का ही है।

सप्तम अध्याय

हैमप्राकृत शब्दानुशासन : एक अध्ययन

अष्टम अध्याय : प्रथमपाद

प्रथमपाद का पहला सूत्र '**अथ प्राकृतम्**' ८।१।१ है' इस सूत्र में अथ शब्द को अनन्तर और अधिकारार्थवाची माना गया है। संस्कृत शब्दानुशासन के अनन्तर प्राकृत शब्दानुशासन का अधिकार आरम्भ होता है। महाराष्ट्री प्राकृत-भाषा की प्रकृति संस्कृत को स्वीकार किया है तथा "**प्रकृतिः संस्कृतम् तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्**" द्वारा यह व्यक्त किया है कि प्राकृत की प्रकृति संस्कृत है, इससंस्कृत से विकार रूप में निष्पन्न प्राकृत है।

प्राकृत भाषा का बोध करानेवाला 'प्राकृत' शब्द प्रकृति से बना है। प्रकृति का अर्थ स्वभाव भी है, अतः जो भाषा स्वाभाविक है, वह प्राकृत शब्द द्वारा व्यवहृत की जाती है अर्थात् मनुष्य को जन्म से मिली हुई बोलचाल की स्वाभाविक भाषा प्राकृत भाषा कही जाती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने उपर्युक्त सूत्र में प्राकृत शब्द के मूल 'प्रकृति' शब्द का अर्थ संस्कृत किया है और बताया है कि संस्कृत—प्रकृति से आये हुए का नाम प्राकृत है। इस उल्लेख का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि प्राकृत भाषा का उत्पत्ति-कारण संस्कृत भाषा है; किन्तु इसका अर्थ इतना ही है कि प्राकृत भाषा सीखने के लिए संस्कृत शब्दों को मूलभूत रखकर उनके साथ उच्चारणभेद के कारण प्राकृत शब्दों का जो साम्य-वैषम्य है, उसको दिखाना अर्थात् संस्कृत भाषा के द्वारा प्राकृत भाषा को सीखने का यत्न करना है। इसी आशय से हेमचन्द्र ने सस्कृत को प्राकृत की योनि कहा है। वस्तुतः प्राकृत और संस्कृत भाषा के बीच में किसी प्रकार का कार्य-कारण या जन्य-जनक भाव है ही नहीं; किन्तु जैसे आजकल भी एक ही भाषा के शब्दों में भिन्न भिन्न उच्चारण होते हैं—यथा एक ग्रामीण व्यक्ति जिस भाषा का प्रयोग करता है, उसी भाषा का प्रयोग संस्कारापन्न नागरिक भी करता है, पर दोनों के उच्चारण में अन्तर रहता है, इस अत्यल्प अन्तर के कारण उन दोनों को भिन्न-भिन्न भाषा बोलनेवाला नहीं कहा जा सकता; इसी तरह समाज में प्राकृत लोग—जन साधारण प्राकृत का उच्चारण करते हैं और नागरिक लोग संस्कृत का; किन्तु इतने मात्र से ही दोनों प्रकार के व्यक्तियों को भाषाएँ भिन्न-भिन्न नहीं कही जा सकती।

यह सत्य है कि स्वाभाविक उच्चारण के अनन्तर ही संस्कृत उच्चारण उत्पन्न होता है, जैसे आरम्भ में गाँव ही गाँव थे; पश्चात् कुछ गाँवों ने सुसंस्कृत होकर नगर का रूप धारण किया। यही बात भाषाओं के साथ भी लागू होती है। यत: आरम्भ में कोई एक ऐसी भाषा रही होगी, जिसके ऊपर व्याकरण का अनुशासन नहीं था और जो स्वाभाविक रूप में बोली जाती थी। कालान्तर में यही संस्कारापन्न होकर संस्कृत कहलाने लगी होगी; जैसा कि इसके नाम से प्रकट है। इतिहास और भाषा-विज्ञान दोनों ही इस बात के साक्षी हैं कि किसी भी साहित्यिक भाषा का विकास जन-भाषा से ही होता है; पर जब यह भाषा लिखी जाने लगती है और इसमें साहित्य-रचना होने लगती है, तो यह धीरे-धीरे स्थिर हो जाती है और परिमार्जित रूप प्राप्त करने के कारण संस्कृत कही जाने लगती है। आज की भाषा और बोलियों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि आधुनिक हिन्दी संस्कृत है तो भोजपुरी, मैथिली और मगही प्राकृत। अत: हेमचन्द्र का संस्कृत को योनि कहने का तात्पर्य यही है कि शब्दानुशासन से पूर्णतया अनुशासित संस्कृत भाषा के द्वारा प्राकृत को सीखना। इस व्याकरण के सात अध्याय संस्कृत भाषा का अनुशासन करते हैं, अत: इन्होंने इस अनुशासित संस्कृत भाषा के माध्यम में ही प्राकृत भाषा को सीखने का क्रम रखा और संस्कृत को प्रकृति कहा।

प्राकृत का शब्द-भाण्डार तीन प्रकार के शब्दों से युक्त है—(१) तत्सम (२) तद्भव और देश्य। तत्सम वे संस्कृत शब्द हैं, जिनकी ध्वनियों में नियमित रूप से कुछ भी परिवर्तन नहीं होता; जैसे नीर, दाह, धूलि, माया, वीर, धीर, कंक, कण्ठ, तल, ताल, तीर, तिमिर, कल, कवि, दावानल, संसार, कुल, केवल, देवी, तीर, परिहार, दारुण, हल एवं मन्दिर आदि।

जो शब्द संस्कृत के वर्णलोप, वर्णागम, वर्णविकार अथवा वर्णपरिवर्तन के द्वारा उत्पन्न हुए हैं, वे तद्भव कहलाते हैं; जैसे—अग्र=अग्ग, इष्ट=इट्ठ, ईर्ष्या=ईसा, उद्गम=उग्गम, कृष्ण=कसण, खर्जूर=खज्जूर, गज=गअ, धर्म=धम्म, चक्र=चक्क, क्षोभ=छोह, यक्ष=जक्ख, ध्यान=झाण, नाथ=णाह, त्रिदश=तिअस, धार्मिक= धाम्मिअ, पश्चात=पच्छा, स्पर्श=फंस, भार्या=भारिआ, मेघ=मेह, लेश=लेस, शेष= सेस, भवति=हवइ, पिबति=पिअइ आदि। प्राकृत में तद्भव शब्दों की संख्या अत्यधिक है। इस भाषा का व्याकरण प्राय: उक्त प्रकार के शब्दों का ही नियमन करता है।

जिन प्राकृत शब्दों की व्युत्पत्ति अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय का विभाग नहीं हो सकता है और जिन शब्दों का अर्थ मात्ररूढ़ि पर अवलम्बित है, ऐसे शब्दों को देश्य या देशी कहते हैं। हेमचन्द्र ने इन शब्दों को अव्युत्पन्न कोटि में रखा है,

जैसे अगय (दैत्य), आकासिय (पर्याप्त), इराव (हस्ती), ईस (कीलक), ऊसअ (उपधान), एलविल (धनाढ्य), कंदोह (कुमुद), गयसाउल (विरक्त), डाल (शाखा), विच्छड्ड (समूह), भुण्ड (शूकर), भड्डा (बलात्कार) एवं रक्कि (आशा) आदि।

हेम ने उपर्युक्त सूत्र में दो ही प्रकार के शब्द बतलाये हैं—तत्सम और देश्य। यहाँ तत्सम से हेम का अभिप्राय है, संस्कृत के समान उच्चरित होने वाली शब्दावली। अतः इन्होंने तद्भव की गणना भी तत्सम में ही कर ली है। तत्सम शब्दों के सिद्ध और साध्यमान भेदों से हेम का तात्पर्य पूर्वोक्त तत्सम और तद्भव से है। इन्होंने विशुद्ध तत्सम शब्दों की गणना सिद्ध शब्दों में और तद्भव शब्दों की गणना साध्यमान शब्दों में की है। उक्त प्रकार के तत्सम शब्दों को ही हेम ने अनुशासनीय माना है। देश्य शब्द अनुशासन के बहिर्भूत हैं। यों तो आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में देशी धातुओं का संस्कृत धातुओं के स्थान में आदेश स्वीकार किया है तथा उन्होंने बताया है "एते चान्यैर्देशीयेषु पठिता अपि अस्माभिर्धात्वादेशीकृता विविधेषु प्रत्ययेषु प्रतिष्ठन्तामिति।" अर्थात् जिन्हें अन्य वैयाकरणों ने देशी कहा है, उन्हें हेम ने धात्वादेश द्वारा सिद्ध किया है। अतएव हम इतना ही कह सकते हैं कि इस प्रथम सूत्र में हेम ने अनुशासित होने वाले शब्द-प्रकारों का स्वरूप से निर्देश कर दिया है।

'अथ प्राकृतम्' सूत्र की वृत्ति में प्राकृत वर्णमाला का स्वरूप भी निर्धारित किया गया है यथा—"ऋ-ॠ-लृ-ॡ-ऐ-औ-ङ-ञ-श-ष-विसर्जनीय-प्लुत-वर्जो वर्णसमाम्नायो लोकाद् अवगन्तव्यः। ङ ञौ स्ववर्ग्यसंयुक्तौ भवत एव। ऐदौतौ च केषाञ्चित्"। अर्थात् ऋ ॠ लृ ॡ ऐ औ ङ ञ श ष विसर्ग और प्लुत को छोड़ अवशेष वर्ण प्राकृत वर्णमाला में होते हैं। किसी-किसी के मत में ऐ और औ का प्रयोग भी वर्णमाला में माना गया है। अतएव हेम के उक्त सूत्रानुसार प्राकृत वर्णमाला का स्वरूप निम्न प्रकार माना जायगा।

स्वर—

अ, इ, उ (ह्रस्व)

आ ई ऊ ए ओ (दीर्घ)

व्यंजन—

क ख ग घ ङ (कवर्ग)

च छ ज झ (चवर्ग)

ट ठ ड ढ ण (टवर्ग)

त थ द ध न (तवर्ग)
प फ ब भ म (पवर्ग)
य र ल व (अन्तःस्थ)
स ह (ऊष्माक्षर) तथा ं अनुस्वार।

द्वितीय सूत्र द्वारा हेम ने प्राकृत के समस्त अनुशासनों को वैकल्पिक स्वीकार किया है। इस पद का तृतीय सूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है और इसमें आर्ष प्राकृत की अनुशासन-विधियों के वैकल्पिक होने का कथन किया गया है। तात्पर्य यह है कि हेम ने प्राकृत और आर्षप्राकृत ये दो भेद प्राकृत के किये हैं। **जो प्राकृत अधिक प्राचीन है, उसे आर्ष कहा गया है,** और इसकी उपपत्ति के लिए समस्त व्याकरण में आर्षम् ८।१।३ का अधिकार बताया है। स्थान-स्थान पर उसके उदाहरण भी जैन आगमों से दिये गये हैं।

चतुर्थ सूत्र समास में स्वरों का परस्पर में वैकल्पिक रूप से दीर्घ और ह्रस्व होने का विधान करता है। संस्कृत का ह्रस्व स्वर प्राकृत में दीर्घ और संस्कृत का दीर्घ स्वर प्राकृत में ह्रस्व हो जाता है; जैसे अन्तर्वेदि का ह्रस्व इकार प्राकृत शब्द अन्नावेई में दीर्घ ईकार के रूप में हो गया है। कहीं यह नियम भी नहीं लगता है; जैसे जुवइ-अणो। कहीं उक्त विधि विकल्प से होती है—जैसे वारिमतिः = वारी-मई, वारिमई; पतिगृहं = पईहरं, पइ-हरं आदि।

'पदयोः सन्धिर्वा' ८।१।५ से ८।१।१० सूत्र तक सन्धि-नियमों का विश्लेषण किया गया है। सन्धि दो पदों में विकल्पक से होती है; जैसे—वास + इसी = वासेसी, विसम + आयवो = विसमायवो, दहि + ईसरो = दहीसरो आदि। इवर्ण और उवर्ण के परे असवर्ण स्वर रहने पर सन्धि का निषेध किया गया है; जैसे वंदामि अज्ज-वइरं। एकार और ओकार के परे स्वर रहने पर भी सन्धि नहीं होती है; जैसे अहो अच्छरियं। उद्वृत्त और तिङन्त से परे स्वर रहने पर भी सन्धि का निषेध किया गया है; जैसे निसाअरो; रयणी अरो एवं होइ इह आदि। प्राकृत में व्यञ्जन सन्धि और विसर्ग सन्धि का अभाव है; अतः हेम ने उक्त दोनों सन्धियों का अनुशासन नहीं किया है। हेम का स्वर-सन्धि का प्रकरण वररुचि के प्राकृतप्रकाश की अपेक्षा विस्तृत है।

'अन्त्यव्यञ्जनस्य' ८।१।११ सूत्र से ८।१।२४ सूत्र तक शब्दों के अन्त्य-व्यञ्जनसम्बन्धी विकारों का नियमन किया गया है। इस विधान में शब्दों के अन्त्य व्यंजन का लोप, श्रद् और उद् के अन्त्य व्यंजन का लोपाभाव, निर् और दुर् के अन्त्यव्यञ्जन का वैकल्पिक लोप; निर् , अन्तर् और दुर के अन्त्यव्यंजन का स्वर के परे रहने पर लोपाभाव; विद्युत् शब्द को छोड़ स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान

शेष शब्दों के अन्त्य व्यञ्जन को आत्त्व; स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान अन्त्य व्यञ्जन रेफ को रा-आदेश; क्षुध शब्द के अन्त्य व्यञ्जन को ह शरदादि शब्दों के अन्त्य व्यञ्जन को अत् ; दिक् और प्रावृष् शब्दों के अन्त्य व्यञ्जन को स; आयुस् और अप्सरस् शब्दके अन्त्य व्यञ्जन को वैकल्पिक स; ककुभ शब्द के अन्त्य व्यञ्जन को ह, अन्तिम प्रकार को अनुस्वार एवं अन्त्य मकार को वैकल्पिक अनुस्वार होता है।

ङ–ञ–ण–नो व्यञ्जने ८।१।२५ सूत्र से ८।१।३० तक के सूत्रों में अनुस्वारसम्बन्धी आदेशों की विवेचना की गयी है। व्यञ्जन के परे रहने से ङ ञ ण न के स्थान पर अनुस्वार होता है, जैसे पङ्क्ति,=पंती, पराङ्मुख= परंमुहो, उत्कण्ठा=उक्कंठा, सन्ध्या=संझा आदि।

वक्रादि गण में प्रथमादि स्वरों के अन्त में आगम रूप अनुस्वार होता है। संस्कृत शब्दानुशासन में इस वक्रादि गण को आकृतिगण कहा गया है; जैसे—वंकं, तंसं, असुं, मंसू, पुंछं, गुंछं आदि। क्त्वा और स्यादि के स्थान पर जो णस् आदि आदेश होते हैं, उनके अन्त में अनुस्वार होता है; जैसे—काऊणं, काऊण, वच्छेणं, वच्छेण। विंशति आदि शब्दों के अनुस्वार का लुक् होता है, जैसे वीसा तीसा आदि। मांसादि शब्दों के अनुस्वार का विकल्प से लोप होता है; जैसे मासं, मंसं, मासलं, मंसलं आदि। अनुस्वार का कवर्गादि वर्ग के परे रहने पर सम्बन्ध विशेष के कारण उसी वर्ग का अन्तिम वर्ण भी हो जाता है; जैसे—पङ्को, पंको आदि।

प्रावृट्-शरत्तरणयः पुंसि। ८।१।३१-८।१।३६ सूत्र तक शब्दों की लिङ्ग-सम्बन्धी व्यवस्था का वर्णन है। प्रावृट् , शरत् और तरणि शब्दों का पुँल्लिङ्ग में व्यवहार करने का विधान है, जैसे पाउसो, सरओ, एस तरणि आदि। यों तो साधारणतया संस्कृत शब्दों का लिङ्ग ही प्राकृत में शेष रह जाता है।

दामन् , शिरस् और नभस् शब्दों को छोड़ शेष सकरान्त और नकारान्त शब्दों को पुँल्लिङ्ग में प्रयुक्त होने का अनुशासन किया है; जैसे जसो, पओ, तमो, तेओ, जम्मो, नम्मो एवं कम्मो आदि। अक्षि के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग पुँल्लिङ्ग में होता है; किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि अक्षि शब्द का अञ्जल्यादि गण में पाठ होने से स्त्रीलिङ्ग में भी व्यवहार होता है; जैसे एसा अच्छी, चक्खू, चक्खूइं, नयणा, नयणाइं, लोअणा लोअणाइं, आदि। गुणादि शब्दों की गणना नपुंसक लिङ्ग में और अञ्जल्यादिगण-पठित इमान्त शब्दों की वैकल्पिकरूप से स्त्रीलिङ्ग में की गयी है। बाहोरात् ८।१।३६ सूत्र स्त्रीलिङ्ग में बाहु शब्द से अकार का अन्तादेश करता है।

अतो डो विसर्गस्य ८।१।३७ सूत्र द्वारा संस्कृत लक्षणोत्पन्न अत के परे विसर्ग के स्थान पर ओ आदेश किया गया है, जैसे—सर्वतः=सव्वओ, पुरतः=

पुरओ, अग्रतः = अग्गओ, मार्गतः = मग्गओ आदि । ३८ वें सूत्र में बताया गया है कि माल्य शब्द के पूर्व निर् उपसर्ग आवे तो उसके स्थान पर ओ होता है तथा स्था धातु के पूर्व प्रति उपसर्ग आवे तो उसके स्थान पर परि आदेश होता है; जैसे ओमल्लं निम्मल्लं (निर्माल्यं); परिट्ठा, पइट्ठा (प्रतिष्ठा) परिट्ठिअं पइट्ठिअं (प्रतिष्ठितम्) । आगे के दोनों सूत्रों में भी अव्यय-सम्बन्धी विशेष विकार का निर्देश किया गया है ।

लुप्त—य—र—व—श—ष—सां श-ष-सां दीर्घः ८।१।४३ सूत्र द्वारा प्राकृत लक्षण-वश लुप्त हुए य र ल व श ष स की उपधा को दीर्घ होने का नियमन किया है; जैसे पासदि (पश्यति), कासवो (कश्यपः), वीसमयि (विश्राम्यति), वीसामो (विश्रामः), संफासं (संस्पर्शः), आसो (अश्वः), वीससइ (विश्वसिति) वीसासो (विश्वासः), दूसासणो (दुश्शासनः), पूसो (पुष्य), मनूसो (मनुष्यः) आदि ।

अतः समृद्धयादौ वा ८।१।४४ सूत्र समृद्धि आदि शब्दों के मकार को विकल्प से दीर्घ होने का विधान करता है; जैसे—सामिद्धी, समिद्धी (समृद्धिः), पाअडं, पअडं (प्रकटं), पासिद्धी, पसिद्धी (प्रसिद्धिः), पाडिवआ, पडिवआ (प्रतिपत्) पासुत्तं, पसुत्तं (प्रसुप्तं), आहिजाई अहिजाई (अभिजाति), आदि । ४५ वें सूत्र में दक्षिण शब्द के आदि अकार को हकार के परे रहने पर दीर्घ होने का विधान किया है, जैसे दाहिणो ।

इः स्वप्नादौ ८।१।४६ सूत्र से लेकर ८।१।१७५ सूत्र तक स्वर विकार का नियमन किया है । स्वप्न आदि शब्दों के आदि अकार को इत्व और पक्वाङ्गार एवं ललाट शब्द के आदि अकार को विकल्प से इत्व होता है; जैसे सिविणो, सिमिणो तथा पिक्कं, पक्कं, इङ्गालो, अँगारो, णिडालं, णडालं आदि । मध्यम और कतम शब्द के द्वितीय अकार का इत्व तथा सतपर्ण शब्द में द्वितीय अकार का इत्व विकल्प से होता है । मयट् प्रत्ययान्त शब्दों में आदि अकार के स्थान पर अइ आदेश होता है; जैसे विसमइओ, विसमओ, हर शब्द के आदि अकार को ईकार होने का विधान है तथा ध्वनि और विश्व शब्द के आदि अकार को उत्व होता है ।

चण्ड और खण्डित शब्दों में आदि अकार को णकार सहित विकल्प से उत्व होता है, जैसे चुडं, चण्डं; खुडिओ, खण्डिओ; गवय शब्द के वकार को उत्व, प्रथम शब्द के पकार, थकार और रकार को युगपत् तथा क्रम से उत्व एवं ज्ञ और अभिज्ञ आदि शब्दों के ज्ञ के स्थान पर ण तथा ज्ञ के अकार के स्थान पर उत्व होता है; जैसे गउओ, गउआ; पुढुमं, पुढमं, पढुमं, पढमं; अहिण्णू, सव्वण्णू, कयण्णू, आगमण्णू आदि ।

शय्यादि शब्दों में आदि अकार के स्थान पर एकार, पद्म शब्द के आदि अकार के स्थान पर ओकार, अर्प धातु के अकार के स्थान पर ओकार एवं स्वप् धातु में आदि अकार के स्थान पर ओकार आदेश होने का नियमन किया गया है।

नञ् परे पुनः शब्द के आदि अकार के स्थान पर आ और आइ आदेश होते हैं, जैसे न उणा, न उणाइ। अव्यय तथा उत्खातादि शब्दों में आदिम आकार को विकल्प से अकार आदेश होता है, जैसे जह, जहा, (यथा); तह, तहा, (तथा), अहव, अहवा (अथवा), उक्खयं उक्खायं (उत्खातं), चमरं, चामरं (चामरं), कलओ, कालओ, (कालकः), ठविअं, ठाविअं (स्थापितं,); पययं, पाययं (प्राकृतं) आदि।

जिन संस्कृत शब्दों में घञ् प्रत्यय के कारण वृद्धि होती है, उनके आदि आकार के स्थान पर वैकल्पिक रूप से अकार आदेश होता है; जैसे पवहो, पवाहो, पहरो, पहारो, पयरो, पयारो आदि। महाराष्ट्र शब्द के आदि अकार के स्थान पर आकार होता है, जैसे मरहट्टं, मरहट्टो। मांस आदि शब्दों में अनुस्वार के स्थान पर अत् आदेश होता है, जैसे मंसं, पंसणो, कंसं, कंसिओ आदि। श्यामाक शब्द में मकारोत्तरवर्ती आकार के स्थान पर अत् आदेश होता है, जैसे सामओ। सदादि शब्दों में आकार के स्थान पर विकल्प से इकार आदेश होता है, जैसे सइ, सया, निसि-अरो, निसा-अरो, कुप्पिसो, कुप्पासो।

आचार्ये चोच्च ८।१।७३ सूत्र द्वारा आचार्य शब्द के आकार को इकार और अकार आदेश होने का विधान किया है, जैसे आइरिओ, आयरिओ। स्त्यान और खल्वाट शब्दों में आदि अकार के स्थान पर ईकार आदेश होता, है, जैसे ठीणं, थीणं, थिण्णं, खल्लीडो आदि।

सास्ना, स्तावक और आसार शब्दों में आदि आकार के स्थान पर उकार-ऊकार आदेश होता है; जैसे सुण्हा, थुवओ, ऊसारो आदि। आर्या शब्द के श्वश्रू वाची होने पर र्यकार के आकार को ऊकार आदेश होता है, जैसे अज्जू तथा श्वश्रू भिन्न अर्थ में अज्जा रूप बनता है।

हेम ने ग्राह्य शब्द में आकार को एत्व, द्वार शब्द में आकार को वैकल्पिक एत्व, पारावत शब्द में रेफोत्तरवर्ती आकार को एत्व एवं आर्द्र शब्द के आकार को विकल्प से उत् और ओत् का विधान किया है; जैसे गेज्झं, देरं, पारेवओ, पारावओ आदि।

मात्रटि वा ८।१।८१ सूत्र में मात्रट प्रत्यय के आकार को विकल्प से एकार आदेश करने का नियमन किया गया है, जैसे एत्तिअमेत्तं एत्तिअमत्तं बहुलाधिकार

होने से क्वचित् मात्र शब्द में भी यह अनुशासन लागू होता है; जैसे भोअण-मेत्तं। आर्द्र शब्द में आदि के आकार को विकल्प से उत् और ओत् होता है, जैसे उल्लं, ओल्लं आदि। पंक्तिवाची आली शब्द में आकार के स्थान पर ओकार आदेश हेता है—जैसे ओली।

हेम का **ह्रस्वः संयोगे** ८।१।८४ सूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह संयुक्त वर्णों से पूर्ववर्त्ति दीर्घ स्वरों को ह्रस्व होने का अनुसान करता है, जैसे अंबं (आम्रम्), तंबं (ताम्रम्), विरहग्गी (विरहाग्निः), अस्सं (आस्यम), मुणिंदो (मुनीन्द्रः), तित्थं (तीर्थम्), गुरुल्लावा (गुरुलापाः), चुण्णं (चूर्णं) णरिंदो (नरेन्द्रः), मिलिच्छो (म्लेच्छः), अहरुट्ठं (अधरोष्ठं), नीलुप्पलं (नीलोत्पलं) आदि।

इन एद्वा ८।१।८५ सूत्र संयोग में आदि इकार के स्थान पर विकल्प से एकार आदेश करने का नियमन करता है, जैसे पेण्डं पिण्डं; धम्मेल्लं, धम्मिल्लं; सिन्दूरं सेन्दुरं; वेण्हू, विण्हू; पेट्ठं; पिट्ठं; बेल्लं, बिल्लं आदि। किंशुक शब्द में आदि इकार के स्थान पर एकार तथा मिरा शब्द में इकार के स्थान पर एकार आदेश होता है; जैसे केसुअं, किंसुअं, मेरा आदि। पथि, पृथिवी, प्रतिश्रुत्, मूषिक, हरिद्रा और बिभीतक शब्दों में इकार के स्थान पर ओकार आदेश होता है; जैसे पहो, पुहई, पुढवी, पडंसुआ, मूसओ, हलद्दी, बहेडओ आदि। शिथिल और इङ्गुदी शब्दों में आदि इकार के स्थान पर विकल्प से आकार आदेश होता है, जैसे सिढिलं, पसढिलं, अङ्गुअं, इङ्गुअं। तित्तिरि शब्द में रकारोत्तरवर्ती इकार के स्थान पर अकार होता है; जैसे तित्तिरो।

इतौ तो वाक्यादौ ८।१।९१ सूत्र द्वारा वाक्य के आदि में आने वाले इति शब्द के तकारोत्तरवर्ती इकार के स्थान पर अकारादेश किया है; जैसे इअ जंपिअवसाणे (इति यत् प्रियावसाने)। यहाँ यह विशेषता है कि यह नियम वाक्य के आदि में इति के आने पर ही लागू होता है; मध्य या अन्त में इति के आने पर नहीं लगता है; जैसे पिओत्ति (प्रिय इति), पुरिसोत्ति (पुरुष इति) आदि।

जिह्वा, सिंह, त्रिंशत् और विंशति आदि शब्दों में ति शब्द के साथ इकार के स्थान पर ईकारादेश होता है; जैसे जीहा, सीहो, तीसा, बीसा आदि। बहुलाधिकार होने से एकाध स्थल पर यह नियम लागू भी नहीं होता; जैसे सिंहदत्तो, सिंहराओ आदि। निर् उपसर्ग के रेफ का लोप होने पर इकार के स्थान पर ईकारादेश होता है, नीसरइ, नीसासो आदि।

द्वि शब्द और नि उपसर्ग के इकार के स्थान पर उकार होता है; जैसे दुमत्तो, दुआई, दुविहो, दुरेहो आदि। प्रवासी और इक्षु शब्द में इकार के स्थान पर

उत्व आदेश होता है; जैसे पावासुओ (प्रावासिकः), उच्छू (इक्षुः) । युधिष्ठिर शब्द में आदि इकार को उकारादेश होता है; जैसे जहुट्ठिलो, जहिट्ठिलो ।

द्विधा शब्द के साथ कृग धातु का प्रयोग होने पर इकार के स्थान पर ओकार तथा ८।१।९७ सूत्र में चकार ग्रहण होने से उत्वादेश भी होता है; जैसे दोहा-किज्जइ, दुहा-किज्जइ आदि । निर्झर शब्द में नकार सहित इकार के स्थान पर विकल्प से ओकारादेश होता है; जैसे ओज्झरो, निज्झरो । हरीतकी शब्द में आदि ईकार के स्थान पर अकार और कश्मीर शब्द में ईकार के स्थान पर आकार आदेश होता है; जैसे हरडई, कम्हारा आदि । पानीय आदि शब्दों में ईकार के स्थान पर ८।१।१०१ सूत्र द्वारा हेम ने इकारादेश का संविधान किया है; जैसे पाणिअं, अलिअं, जिअइ, जिअउ, करिसो, सरिसो, दुइअं, तइअं आदि ।

जीर्ण शब्द में ईकार के स्थान पर उकार; हीन और विहीन शब्दों में ईकार के स्थान पर विकल्प से ऊकार; तीर्थ शब्द में ह परे रहने पर ईकार के स्थान पर उकार; पीयूष, आपीड, बिभीतक, कीदृश और ईदृश शब्दों में ईकार के स्थान पर एकार, नीड और पीठ शब्दों में ईकार के स्थान पर एकार; नीड और पीठ शब्दों में ईकार के स्थान पर एकार; मुकुलादि शब्दों में आदि उकार को अकार; उपरि शब्द के उकार के स्थान पर अकार; स्वार्थिक गुरु के उकार को अकार; भ्रुकुटि शब्द में उकार के स्थान पर इकार; पुरुष शब्द में रेफोत्तरवर्ती उकार के स्थान पर इकार; क्षुत शब्द में आदि उकार के स्थान पर ईकार; सुभद्रा और मुसल शब्द में उकार के स्थान पर ऊकार एवं उत्साह और उत्सन्न शब्दों का छोड़ अवशेष त्स और च्छ वर्णवाले शब्दों में उकार के स्थान पर ऊकार आदेश होता है ।

दुर उपसर्ग के रेफ का लोप होने पर उकार के स्थान पर विकल्प से ऊकारादेश होता है; जैसे दूसहो, दुसहो (दुस्सह); दूहओ, दुहओ (दुर्भगः) । यहाँ इतनी विशेषता और समझनी चाहिए कि रेफ के लोपाभाव में ऊकार का विधान नहीं होता है; जैसे दुस्सहो, विरहो आदि ।

ओत्संयोगे ८।१।११६ सूत्र द्वारा हेम ने संयोग परे रहने पर आदि उकार को ओकार का नियमन किया है, जैसे तोण्डं (तुण्डं); मोण्डं (मुण्डं), पोक्खरं (पुष्करं), कोट्टिमं (कुट्टिमम्); पोत्थअं (पुस्तकं), लोद्धओ (लुब्धकः), मोत्ता (मुत्ता), वोक्कंतं (व्युत्क्रान्तं), कोंतलो (कुन्तलः) आदि । कुतूहल शब्द में उकार के स्थान पर विकल्प से अकार तथा लकार को द्वित्व; उद्व्यूढ शब्द में ऊकार के स्थान पर ईकार; हनूमत् , कण्डूय और वातूल शब्द में

ऊकार के स्थान पर उकार; मधूक शब्द में विकल्प से अकार के स्थान पर उकार; नूपुर शब्द में ऊकार के स्थान पर ओकार एवं स्थूला और तूण शब्दों में ऊकार के स्थान पर विकल्प से ओकार आदेश होता है।

ऋतोत् ८।१।१२६ सूत्र से ८।१।१४४ सूत्रों तक ऋकार के स्थान पर होने वाले स्वरों का निरूपण किया है। हेम ने ८।१।१२६ सूत्र द्वारा ऋकार के स्थान पर अकार आदेश होने का संविधान किया है, जैसे घयं (घृतं), तणं (तृणम्), कदं (कृतं), वसहो (वृषभः) मओ (मृगः), घट्ठो (घृष्टः) आदि उदाहरणों में संस्कृत ऋ के स्थान पर अकारादेश किया गया है।

आत्कृशा मृदुक-मृदुत्वे वा ८।१।१२७ सूत्र कृशा, मृदुत्व और मृदुक शब्दों में ऋकार के स्थान पर विकल्प से आकार का नियमन करता है; जैसे कासा, किसा (कृशा), माउक्कं, मउअं (मृदुकः); माउक्कं, मउत्तणं (मृदुत्वं) आदि।

इत्कृपादौ ८।१।१२८ सूत्र कृपा, सृष्टि आदि शब्दों में ऋकार के स्थान पर इकार का अनुशासन करता है। प्राकृत प्रकाश में ऋष्यादि गण पठित शब्दों में अकार के स्थान पर इकार का आदेश किया है। हेम के कृपादि गण और प्राकृत-प्रकाश के ऋष्यादि गण में कतिपय शब्दों की न्यूनाधिकता का ही अन्तर है। हेम ने कृपादि गण में ऋष्यादि गण की अपेक्षा अधिक शब्द पठित किये हैं। उक्त सूत्र के उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

किवा = कृपा, दिट्ठं = दृष्टं, सिट्ठि = सृष्टिः, मिअ = मृगः, सिङ्गारो = शृंगारः, घुसिणं = घुसृणं, इड्ढी = ऋद्धिः, किसाणू = कृशानुः, किवणो = कृपणः, किई = कृतिः, तिप्पं = तृप्तं, किच्चं = कृत्यं, दिट्ठी = दृष्टिः, गिट्ठी = गृष्टिः, भिंगो = भृङ्ग आदि।

हेम ने सामासिक और गौण संस्कृत शब्दों में ऋ के स्थान पर उत्वादेश का अनुशासन किया है, जैसे पिउ-घरं = पितृ गृहम्, पिउवई = पितृपतिः, पिउवणं = पितृवनम्, पिउसिआ = पितृष्वसा, माउमंडलं = मातृमण्डलम्, उऊ = ऋतुः आदि। वृषभ शब्द में व सहित ऋकार के स्थान पर उकारादेश किया है तथा मृष शब्द में उकार, ऊकार और ओकारादेश का नियमन किया है, जैसे मुसा, मूसा, मोसा, मुसावाओ, मूसावाओ, मोसावाओ (मृषावाद)। वृष्ट, वृष्टि, पृथक्, मृदङ्ग और नप्तृक शब्दों में ऋकार के लिए इकार और उकार का नियमन किया गया है, जैसे विट्ठो, वुट्ठो, विट्ठी, वुट्ठी, पिहं, पुहं, मिइङ्गो, मुइङ्गो, नत्तिओ, नत्तुओ। बृहस्पति और वृन्त शब्द में ऋकार के लिए क्रमशः इकार, उकार तथा इकार, एकार और ओकार आदेश करने का संविधान किया है।

हेम ने रिः केवलस्य ८।१।१४० सूत्र में व्यञ्जन रहित अकेले ऋकार के स्थान पर रि आदेश किया है जैसे—रिच्छो=ऋक्षः, रिद्धी=ऋद्धिः आदि। ऋण, ऋजु, ऋषभ, ऋतु, ऋषि शब्दों में ऋकार के स्थान पर विकल्प से 'रि' आदेश होता है; जैसे—रिणं, अणं (ऋणम्) रिज्जू, उज्जू (ऋजुः) रिसहो, उसहो (ऋषभः), रिसी, इसी (ऋषिः) आदि।

आदृते ढिः ८।१।१४३ सूत्र में आदृत शब्द में दकारोत्तरवर्ती ऋकार के स्थान पर ढि आदेश किया है; जैसे आढिओ। दृप्त शब्द में ऋकार के स्थान पर इद् आदेश होता है; जैसे दरिओ (दृप्तः), दरिअ-सीहेण=दृप्तसिंहेन।

हेम ने लृत इलिः क्लृप्त-क्लृन्ने ८।१।१४५ सूत्र द्वारा लृ के स्थान पर इलि आदेश करने का अनुशासन किया है; जैसे किलिन्न-कुसुमोवयारेसु, धाराकिलिन्न-वत्तं आदि उदाहरणों में क्लृन्न के स्थान पर किलिन्न आदेश किया गया है।

वेदना, चपेटा, देवर और केसर शब्दों में विकल्प से इकार और एकार होते हैं, जैसे वेअणा, विअणा, चविड, चवेडा आदि। स्तेन शब्द में एकार के स्थान पर एकार और ऊकार विकल्प से होते हैं; जैसे थूण, थेणो मे स्तेन शब्द के अन्तर्गत एकार को ऊकार और एकार आदेश किये गये हैं।

हेम ने संस्कृत के ऐकार के स्थान पर प्राकृत में एकार होने का विधान ८।१।१४८ सूत्र के द्वारा किया है; जैसे एरावणो (ऐरावणः), केढवो (कैटभः), केलासो (कैलासः) सेला (शैलाः), तेलुक्कं (त्रैलोक्यम्), वेज्जो (वैद्यः) वेहव्वं आदि शब्दों में ऐकार एकार के रूप में परिवर्तित हो गया है। हेम ने ८।१।१४९ और १५० सूत्र द्वारा सैन्धव, शनैश्चर और सैन्य शब्दों में ऐकार के स्थान पर इकार आदेश किया है। १५१ वें सूत्र द्वारा सैन्य और दैत्य इत्यादि शब्दों के ऐकार के स्थान पर अइ आदेश किया है। वैरादि शब्दों में ऐकार के स्थान पर विकल्प से अइ आदेश होता है; जैसे वइरं, वेरं; कइलासो केलासो; कइरवं, केरवं वइसवणो, वेसवणो; वइसम्पायणो; वे सम्पायणो, वइआलिओ; वेआलिओ; वइसिअं, वेसिअं, चइत्तो, चेत्तो आदि।

उच्चैः और नीचैः शब्दों में ऐकार के स्थान पर अअ आदेश होता है, जैसे उच्चैः के स्थान पर उच्चअं और नीचैः के स्थान पर नीचअं होता है। हेम ने १५५ वें सूत्र द्वारा धैर्य शब्द में ऐकार के स्थान पर ईकार आदेश किया है।

'औत ओत्' ८।१।१५९ द्वारा संस्कृत शब्दों के औकार के स्थान पर प्राकृत में ओकार आदेश होता है; जैसे कोमुई=कौमुदी, जोव्वणं=यौवनं, कोत्थुहो=

कौस्तुभः, कोसंबी = कौशाम्बी, कोंचो = क्रौञ्चः, कोसिओ = कौशिकः, सोहग्गं = सौभाग्यं, दोहग्गं = दौर्भाग्यं, गोदमो = गौतमः। सौन्दर्यादि शब्दों में औकार के स्थान पर उद् होता है; जैसे सुंदेरं, सुंदरिअं = सौन्दर्यम् , सुंडो = शौण्डः; सुद्दोअणी = शौद्धोदनिः, दुवारिओ = दौवारिकः, मुंजाअणो = मौञ्जायणः, सुगंधत्तणं = सौगन्ध्य, पुलोमी = पौलोमी, सुवण्णिओ = सौवर्णिकः।

कौक्षेयक और पौरादिगण पठित शब्दों में औकार के स्थान पर अउ आदेश होता है; जैसे कउच्छेअयं = कौक्षेयकः, पउरो = पौरः, कउरवो = कौरवः, कउसलम् = कौशलम्, सउहं = सौधम्, गउडो = गौडः, मउली (मौलिः), मउणं = मौनं, सउरा = सौराः एवं कउला = कौला आदि।

गौरव शब्द में गकार सहित औकार के स्थान पर आकार और अउरादेश तथा नौ शब्द में औकार के स्थान पर आवादेश होता है। त्रयोदश के समान संख्यावाची शब्दों में आदिस्वर का पर स्वर और व्यंजन के साथ एकारादेश होता है। स्थविर, विच, किल, अयस्कर, कदल और कर्णिका आदि शब्दों में आदि स्वर का पर स्वर और व्यंजन के साथ एत् आदेश होता है।

पूतर, बदर, नवमालिका, नवफलिका, पूगफल, मयूख, लवण, चतुर्गुण, चतुर्थ, चतुर्दश, चतुर्वार, सुकुमार, कुतूहल, उदूखल, उलूखल, अजाप, निषण्ण एवं प्रावरण शब्दों में आदि स्वर का पर स्वर और व्यंजन के साथ एत्व, ओत्व, और उत् आदेश होता है।

इस प्रकार हेम ने इस पाद में १७४ सूत्रों द्वारा स्वर-विकार का विस्तारपूर्वक नियमन किया है। हेम का यह विधान प्राकृत के समस्त वैयाकरणों की अपेक्षा नवीन और विस्तृत है। वररुचि ने स्वर-विकार का निरूपण ५०–६० सूत्रों में ही कर दिया है। त्रिविक्रम ने विस्तार करने की चेष्टा की है, पर हेम की सीमा से बाहर नहीं निकल सके हैं।

स्वरादसंयुक्तस्यानादेः ८।१।१७६ सूत्र से ८।१।२७१ सूत्र तक व्यंजन-विकार का विचार किया गया है। '**स्वरादसंयुक्तस्यानादेः**" सूत्र को व्यञ्जन-परिवर्तन का अधिकार सूत्र कहा है। ८।१।१७७ सूत्र में बताया गया है कि एक ही शब्द के भीतर रहे हुए असंयुक्त क ग च ज त द प ब य और व का लोप होता है और इनके लोप हो जाने के उपरान्त केवल स्वर शेष रह जाता है। हेम ने '**अवर्णो यश्रुतिः**' ८।१।१८० सूत्र द्वारा यह भी बतलाया है कि बचा हुआ स्वर अ और आ से परे हो तो प्रायः उसके स्थान में य का प्रयोग होता है। इस सूत्र द्वारा निरूपित भाषा की प्रवृत्ति 'य' श्रुति कहलाती है। जैसे—

क—तित्थयरो (तीर्थंकरः), लोओ (लोकः), मउलो (मुकुलः) णउलो (नकुलः)

ग—नओ (नगः), नयरं (नगरम्), मयंको (मृगाङ्कः)

च—कयग्गहो (कचग्रहः), सई (शची)
ज—गओ (गजः), पयावई (प्रजापतिः), रययं (रजतम्)
त—धाई (धात्री), जई (यतिः), रसायलं (रसातलम्), राई (रात्रिः)
द—गया (गदा), मयणो (मदनः), नई (नदी), मयो (मदः), वयणं (वदनं)
प—रिऊ (रिपुः), सुउरिसो (सुपुरुषः)
ब—विउहो (विबुधः)
य—विओओ (वियोगः), नयणं (नयनम्), वाउणा (वायुना)
व—वल्याणलो (वडवानलः), लायण्णं (लावण्यम्), जीओ (जीवः)

हेम ने १८७ वें सूत्र में यमुना, चामुण्डा, कामुक और अतिमुक्तक शब्दों के मकार का लोप कहा है तथा लुप्त मकार के स्थान पर अनुनासिक होता है। जैसे जउँणा, चाँउण्डा, काँउओ अणिउँतयं आदि शब्दों में मकार का लोप हुआ है और लुप्तमकार का अवशिष्ट स्वरों के ऊपर अनुनासिक हो गया है। १७९ वें सूत्र में पकार के लोप का निषेध किया गया है। कुब्ज, कर्पर और कील शब्द के ककार को खकार आदेश होता है। मरकत, मदकल और कन्दुक के ककार केस्थान पर गकार; किरात शब्द में ककार के स्थान पर चकार, शीकर शब्द में ककार के स्थान पर मकार तथा हकार; चन्द्रिका शब्द में ककार के स्थान पर मकार एवं निकष, स्फटिक और चिकुर शब्द में ककार के स्थान पर हकार आदेश होता है।

ख घ थ ध फ भ ये व्यञ्जन अनुक्रम से क्+ह, ग्+ह, त्+ह, द्+ह, प्+ह, ब्+ह से बने हुए हैं। प्राकृत में विजातीय संयुक्त व्यञ्जनों का प्रयोग निषिद्ध है; अतः शब्द के आदि में नहीं आये हुए और असंयुक्त ऐसे उपर्युक्त सभी अक्षरों के आदि अक्षर का प्राकृत में प्रयोग नहीं होता है। अतएव हेम ने उक्त सभी व्यंजनों के स्थान पर हकार आदेश का विधान किया हैं, जैसे महो (मखः), मुहं (मुखं), मेहला (मेखला), लिहइ (लिखति), पमुहेण (प्रमुखेन), सही (सखी), आलिहिया (आलिखिता), मेहो (मेघः), जहणं (जघनं), माहो (माघः), लाहअं (लाघवं), नाहो (नाथः), गाहा (गाथा), मिहुणं (मिथुनं), सवहो (शपथः), कहेहि (कथय), कहइस्सं (कथयिष्यामि), साहु (साधुः), राहा (राधा), बाहो (बाधः) बहिरो (बधिरः), बाहइ (बाधते), इंदहणू (इन्द्रधनुः), माहवीलदा (माधवीलता), सहा (सभा), सहावो (स्वभावः), णहं (नभः), घणहरो (घनभरः), सोहइ (शोभते), आहरयं (आभरणं), दुल्लहो (दुर्लभः) आदि।

हेम ने पृथक् शब्द में थको विकल्प से धकारादेश, शृंखला शब्द में खको ककारादेश, पुन्नाग और भगिनी शब्द में गकार के स्थान पर मकारादेश, छाग शब्द में गकार के स्थान पर लकारादेश, दुर्भग और सुभग शब्द में गकार के स्थान पर वकारादेश, खचित और पिशाच शब्द में स और ल्ल आदेश, जटिल शब्द में जकार के स्थान पर विकल्प से झकारादेश, स्वर से परे असंयुक्त टकार के स्थान पर डकारादेश, सटा, शकट और कैटभ शब्दों में टकार के स्थान पर ढकारादेश, स्फटिक शब्द में टकार के स्थान पर लकारादेश एवं ण्यन्त चपेटा शब्द में तथा पटि धातु में टकार के स्थान पर लकारादेश का विधान किया है।

हैम व्याकरण के ठो ढः ८।१।१९९ २०२, २०३, २३१, २३६ और २३७ सूत्रों के अनुसार स्वर से परे आये हुए असंयुक्त ट ठ ड न प फ और ब के स्थान से अनुक्रम में ड, ढ, ल, ण, व, भ, और व का आदेश होता है; जैसे घट = घड, पीठ = पीढ, गुड = गुल, गमन = गमण, कूप = कूव, रेफ = रेभ, अलाबु = अलावु। हेम ने वेणु शब्द में गकार के स्थान पर विकल्प से लकारादेश; तुच्छ शब्द में तकार के स्थान पर च और छ का आदेश; तगर, त्रसर और तूवर शब्द में तकार के स्थान पर टकारादेश; प्रत्यादि में तकार के स्थान पर डकारादेश; वेतस शब्द में तकार के स्थान पर टकारादेश, गर्भित और अतिमुक्तक शब्दों में तकार के स्थान पर णकारादेश; रुदित शब्द में दिसहित तकार के स्थान पर ण्ण आदेश, सप्तति के तकार के स्थान पर 'रा' आदेश, अतसी और सातवाहन शब्दों में तकार के स्थान पर लकारादेश, पलित के तकार के स्थान पर विकल्प से लकारादेश; पीत शब्द में तकार के स्थान पर लकारादेश; वितस्ति, वसति, भरत, कातर और मातुलिंग शब्दों में तकार के स्थान पर हकारादेश; मेथ, शिथिर, शिथिल और प्रथम शब्दों से थकार के स्थान पर ढकारादेश; निशीथ और पृथिवी शब्दों में थकार के स्थान पर ढकारादेश; दशन, दष्ट, दग्ध, दोला, दण्ड, दर, दम्भ, दर्भ, कदन और दोहद शब्दों में दकार के स्थान पर डकारादेश; दंश और दह धातुओं में दकार के स्थान पर डकारादेश; संख्यावाची शब्दों तथा गद्गद् शब्द में दकार के स्थान पर रेफादेश; अद्रुमवाची कदली शब्द में दकार के स्थान पर रेफादेश एवं प्रपूर्वक दीपि धातु तथा दोहद शब्द में दकार के स्थान पर लादेश का संविधान किया है।

कदम्ब शब्द में दकार के स्थान पर विकल्प से लकारादेश; दीपि धातु में दकार के स्थान पर विकल्प से धकारादेश, कदर्थित शब्द में दकार के स्थान पर वकारादेश; ककुद शब्द में दकार के स्थान पर हकारादेश, निषध शब्द में

धकार के स्थान पर ढकारादेश, एवं औषध शब्द में धकार के स्थान पर विकल्प से ढकारादेश होता है। हेम ने ८।१।२२८–२२९ में स्वर से परे शब्द के मध्य, अन्त और आदि में आनेवाले नकार के स्थान पर णकारादेश का संविधान किया है; जैसे कणयं, मयणो, वयणं, नयणं, माणइ प्रयोगों में मध्यवर्ती और अन्तिम नकार का णकार हुआ है। णयरं, णरो, णई, णेइ आदि में आदि नकार के स्थान पर णकारादेश हुआ है। निम्ब और नापित शब्द में नकार के स्थान पर ल और ण्ह आदेश होते हैं।

यदि, परुष, परिघ, परिखा, पनस, पारिभद्र शब्दों में पकार के स्थान पर फकारादेश होता है तथा प्रभूत शब्द में पकार के स्थान पर वकारादेश होता है। नीप और पीड शब्द में पकार के स्थान पर विकल्प से मकारादेश, पापर्द्धि शब्द में पकार के स्थान पर रेफादेश; बिसिनी शब्द में बकार के स्थान पर भकारादेश, कबन्ध शब्द में बकार क स्थान पर मकार और यकारादेश, कैटभ शब्द में भकार के स्थान पर बकारादेश; विषम शब्द में मकार के स्थान पर ढकारादेश; मन्मथ शब्द में मकार के स्थान पर वकारादेश; अभिमन्यु शब्द में मकार के स्थान पर वकारादेश एवं भ्रमर शब्द में मकार के स्थान पर विकल्प से सकारादेश होता है। हेम का यह संविधान वररुचि के समान ही है।

हेम ने आदेर्यो जः ८।१।२४५ सूत्र द्वारा शब्द के आदि में आये हुए यकार के स्थान पर जकारादेश करने का नियमन किया है, जैसे जसो = यशः, जमो = यमः, जाइ = याति आदि। युष्मद् शब्द में यकार के स्थान पर तकारादेश किया है; जैसे—तुम्हारिसो, तुम्हकेरो आदि। यष्टि शब्द में यकार के स्थान पर लकारादेश; उत्तरीय शब्द में तथा अनीय और तीय इन कृत्य प्रत्ययों में यकार के स्थान पर ज्जादेश; अकान्त–कान्ति–भिन्न अर्थ वाची छाया शब्द में यकार के स्थान पर विकल्प से हकारादेश; किरि और भेर शब्द में रकार के स्थान पर डकारादेश; पर्याण शब्द में रेफ के स्थान पर डा–आदेश एवं करवीर शब्द में प्रथम रकार के स्थान पर णकारादेश होने का अनुशासन हेम ने किया है। हेम ने इस प्रकरण में वररुचि की अपेक्षा अधिक शब्दों का अनुशासन किया है।

'हरिद्रादौ लः' ८।१।२५४ सूत्र द्वारा हरिद्रादि गण पठित असंयुक्त शब्दों में रेफ के स्थान पर लकारादेश होता है; जैसे हलिद्दी, दलिद्दाइ, दलिद्दो, दालिद्दं, हलिद्दो, जहुट्ठिलो, सिढिलो, मुहलो, चलणो, वलुणो, कलुणो आदि शब्दों में रेफ के स्थान पर लकारादेश किया गया है। हरिद्रादि गणपठित शब्द हेम के प्रायः वही हैं जिनकी लक्ष्मीधर ने 'षड्भाषाचन्द्रिका' में गणना की है।

अनुशासक दृष्टि से हेम इन शब्दों के संविधान में वररुचि से आगे नहीं बढ़ सके हैं।

स्थूल शब्द में लकार के स्थान पर रेफादेश; लाहल, लाङ्गल और लाङ्गूल शब्दों में आदिके लकार के स्थान पर णकारादेश विकल्प से होता है। ललाट-शब्द में आदि लकार के स्थान पर णकार, शबर शब्द में बकार के स्थान पर मकार; स्वप्न और नीव्य शब्दों में वकार के स्थान पर विकल्प से यकार; सामान्यतः श और ष के स्थान में सकार; स्नुषा शब्द में षकार के स्थान पर ण्ह, दशन् और पाषाण शब्दों में श और ष के स्थान पर हकार; दिवस शब्द में सकार के स्थान पर हकार; अनुस्वार से परे हकार के स्थान पर विकल्प से घ, षट्, शमी; शाव, सुधा और सप्तपर्ण शब्दों में आद्य वर्ण के स्थान पर छकार एवं शिरा शब्द में आदिम वर्ण को विकल्प से छकारादेश होता है।

भाजन, दनुज और राजकुल शब्दों में सस्वर जकार का विकल्प से लुक होता है; जैसे भाणं, भायणं (भाजनं), दणु-वहो, दणुअ-वहो (दनुजवधः) और रा-उलं, राय-उलं (राजकुलं) मे सस्वर जकार का लोप किया है। यहाँ हेम के वैकल्पिक प्रयोग वररुचि की अपेक्षा बिल्कुल नवीन हैं। ऐसा लगता है कि हेम के समय में भाषा का प्रवाह बहुत आगे बढ़ गया था।

व्याकरण, प्रकार और आगत शब्दों में ककार, गकार का सस्वर लोप होता है; यथा वारणं, वायरणं, पारो, पायारो, आओ, आगओ आदि। हेम का यह अनुशासन भी वररुचि से नवीन है। प्राकृत प्रकाश में लुक् प्रकरणका जिक्र नहीं है।

किसलय, कालायस और हृदय शब्द में सस्वर यकार का विकल्प से लुक होता है; जैसे किसलं, किसलयं; कालासं, कालायसं; महण्णव समा सहिआ, जाला ते सहि अएहिं घोप्पन्ति, निसमणुप्पिअ-हिअस्स हिअयं।

हेम ने दुर्गादेवी, उदुम्बर, पादपतन और पादपीठ शब्दों में विकल्प से मध्यवर्ती दकार का सस्वर लोप करके दुग्गा-वी, दुग्गा-एवी, उम्बरो, उउम्बरो, पा-वडणं, पाय-वडणं, पा-वीढं, पाय-वीढं आदि शब्दों का अनुशासन किया है। यद्यपि वररुचि ने भी उदुम्बरादि शब्दों में मध्यवर्ती दकार के लोप का अनुशासन किया है, तो भी हेम ने प्रक्रिया में वररुचि की अपेक्षा अधिक शब्दों का अनुशासन किया है।

यावत्, तावत्, जीवित, वर्तमान, अवट, प्रावारक और देवकुल शब्दों में अन्तर्वर्तमान वकार का सस्वरलोप होता है। जैसे जा, जाव; ता, ताव; जीअं, जीविअं; उत्तमाणो, अवत्तमाणो; अडो, अवडो; पारओ, पावारओ; दे उलं, देव-

उलं; एमेव, एवमेव आदि। हैम व्याकरण का यह अनुशासन प्राकृत प्रकाश के समान है। हाँ, हेम ने कुछ अधिक शब्दों का अनुशासन अवश्य किया है।

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि हेम ने इस प्रथम पाद में स्वर और व्यंजन विकारका विस्तार सहित प्रतिपादन किया है। विभिन्न शब्दों की विभिन्न परिस्थितियों में होने वाले स्वर और व्यञ्जनों के विकारी रूप का वर्णन किया है। व्यञ्जनों में असंयुक्त व्यंजनों का विचार ही इस पाद में अनुशासित किया गया है। प्राकृत प्रकाश के संकीर्ण प्रकरण में, जिन अनुशासनों को बतलाया गया है, वे सभी अनुशासन हेम ने इसी पाद में बतलाये हैं। वर्ण लोप, वर्णागम, वर्णविकार और वर्णादेश आदि के द्वारा स्वर और व्यञ्जनों के विभिन्न विकारों को इस पाद में लक्षित किया गया है। हेम ने इसमें भाषा की विभिन्न स्थितियों का साङ्गोपाङ्ग अनुशासन प्रदर्शित किया है। अपने पूर्ववर्ती सभी प्राकृत वैयाकरणों से वह इस क्षेत्र में आगे हैं।

द्वितीय पाद

इस पाद में प्रधानत: संयुक्त व्यंजनों के विकार का निर्देश किया है। हेम ने १–७६ सूत्र तक संयुक्त व्यंजनों के आदेश का नियमन और ७७–८८ सूत्र तक संयुक्त व्यंजनों में से आदि, मध्य और अन्त के किसी एक व्यंजन के लोप का विधान किया गया है। ८९–९९ सूत्र तक विशेष परिस्थितियों में वर्णों के द्वित्व का निर्देश किया है। ११०–११५ सूत्र तक स्वरव्यत्यय—स्वरभक्ति के सिद्धान्तों का प्ररूपण किया है; यह प्रकरण भाषा-विज्ञान के कतिपय सिद्धान्तों को अपने में आत्मसात् करने की पूर्ण क्षमता रखता है। ११६–१२४ सूत्र तक वर्ण-व्यत्यय के नियम बतलाये गये हैं। इस प्रकरण में हेम ने उच्चारण सूत्र के उन सिद्धान्तों की ओर संकेत किया है, जिनके कारण बारह-कोश की दूरी की भाषा में अन्तर आता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शारीरिक सम्पत्ति की विभिन्नता के कारण—उच्चारणोपयोगी अवयवों की विभिन्नता के कारण, उच्चारण में अपनी निजी विशेषता रखता है; जिससे अनेक व्यक्ति वर्ण व्यत्यय का प्रयोग कर देते हैं। हेम ने उक्त सूत्रों में वर्ण व्यत्यय के सिद्धान्तों का बड़े सुन्दर ढंग से ग्रंथन किया है। १२५–१४४ सूत्र तक पूरे शब्द के प्राकृत आदेशों का नियमन किया है। १३०–१३७ सूत्र तक प्राकृत में विभक्तियों की व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है। इसे हम हेम का प्राकृत भाषा सम्बन्धी कारक प्रकरण कह सकते हैं। १३९ वे सूत्र से १४४ वें तक वचन सम्बन्धी आदेशों की व्यवस्था की गई है। १४५–१७३ सूत्र तक भिन्न-भिन्न अर्थों में प्राकृत प्रत्ययों के आदेश बतलाये गये हैं। १७४–२१८ सूत्र तक प्राकृत अव्ययों का अर्थ सहित निर्देश किया गया है।

हेम ने बतलाया है कि शक्त, मुक्त, दष्ट, रुग्ण और मृदुत्व के संयुक्त व्यंजनों को विकल्प से ककारादेश होता है, जैसे शक्त से सक्क और मुक्त से मुक्क आदि, क्षवर्ण की व्यवस्था करते हुए हेम ने "क्षः खः क्वचित्तु छ झौ ८।२।३ सूत्र द्वारा बतलाया है कि क्ष के स्थान पर खवर्ण होता है, पर क्वचित् छ और झ भी आदिष्ट होते हैं; जैसे खओ (क्षयः), लक्खणं (लक्षणं), खीणं (क्षीणं), छीणं, झीणं आदि शब्दों में क्ष के स्थान पर ख, छ और झ का आदेश किया है। संज्ञा में ष्क और स्क के स्थान पर ख आदेश की व्यवस्था बतलायी गयी है और उदाहरणों में पोक्खरं (पुष्करं), पोक्खरिणी (पुष्करिणी), निक्खं (निष्कं), खंधावारो (स्कन्धावारः), अवक्खन्दो (अवस्कन्दः) आदि शब्द उपस्थित किये गये हैं। शुष्क और स्कन्द शब्दों में ष्क और स्क के स्थान पर खादेश होता है। क्ष्वेटकादि शब्दों में संयुक्त वर्ण को खा देश किया है, जैसे खेडुओ (क्ष्वेटकाः), खोडओ (क्ष्वोटकः), खोडओ (स्फोटकः), खेडिओ (स्फेटिकः) आदि।

स्थाणु शब्द में स्था के स्थान पर खादेश; स्तम्भ शब्द में स्त के स्थान पर विकल्प से खादेश; रक्त शब्द में संयुक्त 'क्त' के स्थान पर जादेश, शुल्क शब्द में संयुक्त ल्क के स्थान पर ङ्गादेश; कृत्ति और चत्वर शब्द में संयुक्त के स्थान पर चादेश; चैत्य शब्द को छोड़ शेष 'त्य' वाले शब्दों में त्य के स्थान पर चादेश; प्रत्यूष शब्द में त्य के स्थान पर च और ष के स्थान पर हादेश; त्व, थ्व, द्व और ध्व के स्थान पर क्रमशः च, छ, ज और झ आदेश एवं वृश्चिक शब्द में सस्वर श्चि के स्थान पर ञ्चु आदेश होता है।

हेम ने "छोक्ष्यादौ" ८।२।१७ के द्वारा एक नियम बताया है कि अक्ष्यादि शब्दों में संयुक्त शब्द के स्थान पर 'च्छ' आदेश होता है; जैसे अच्छि (अक्षि), उच्छु (इक्षुः), लच्छी (लक्ष्मीः), कच्छो (कक्षः), छीरं (क्षीरं), सरिच्छो (सदृक्षः), वच्छो (वृक्षः), मच्छिआ (मक्षिका), छेत्तं (क्षेत्रं), छुहा (क्षुधा), दच्छो (दक्षः), कुच्छी (कुक्षिः), आदि उदाहरणों में क्ष के स्थान पर च्छ आदेश का विधान किया है, वररुचि की अपेक्षा हेम का यह एक विशेष नियम है, इसके द्वारा इन्होंने भाषा की एक नयी प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है। इनके समय में उच्चारण-सौकर्य बढ़ रहा था और भाषा एक नयी मोड़ ले रही थी।

'क्षमायां कौ' ८।२।१८ सूत्र द्वरा हेम ने पृथ्वी वाची क्षमा शब्द में क्ष के स्थान पर छ आदेश का विधान किया है। इससे इनकी एक विशेषता यह दृष्टिगोचर होती है कि संस्कृत में एक ही क्षमा शब्द पृथ्वी और क्षमा (माफी) के अर्थ में व्यवहृत होता था, पर इन्होंने इस अनुशासन द्वारा पृथ्वी अर्थ में

छमा और क्षमा (माफी) अर्थ में खमा शब्द का निर्देश किया है। इससे हेम की सूक्ष्म सूझ का पता लगता है।

ऋक्ष शब्द में विकल्प से क्ष के स्थान पर च्छ का आदेश होता है; जैसे रिच्छं, रिक्खं, रिच्छो, रिक्खो इत्यादि शब्दों में क्ष के स्थान पर च्छ आदेश हुआ है।

संस्कृत का एक ही क्षण शब्द द्वय अर्थवाची है। क्षण शब्द का एक अर्थ समय होता है और दूसरा अर्थ उत्सव होता है। संस्कृत में क्षण ही शब्द के दो अर्थ होने से पर्याप्त भ्रान्तियाँ हुई हैं; किन्तु प्राकृत भाषा में उक्त भ्रान्तियों को दूर करने का यत्न किया गया है। हेम ने उक्त तथ्य को लेकर ही उत्सव वाची क्षण शब्द में क्ष के स्थान पर छ आदेश किया है। जब क्षण शब्द समयवाची रहता है, उस समय क्ष के स्थान पर ख आदेश होता है। अतः उत्सव अर्थ में छणो (क्षणः) और समय अर्थ में खणो (क्षणः) रूप बनते हैं। हेम का यह अनुशासन उन्हें संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं के वैयाकरणों में महत्त्व-पूर्ण स्थान प्रदान करता है।

अनिश्चित अर्थ में ह्रस्व स्वर से परे थ्य, श्च, त्स और प्स के स्थान पर च्छ आदेश होता है; जैसे पथ्य के स्थान पर पच्छं, पथ्या के स्थान पर पच्छा, मिथ्या के स्थान पर मिच्छा, पश्चिमं के स्थान पर पच्छिमं, आश्चर्य के स्थान पर अच्छेरं, पश्चात् के स्थान पर पच्छा, उत्साह के स्थान पर उच्छाहो, मत्सर के स्थान पर मच्छलो, मच्छरो; संवत्सर के स्थान पर संवच्छलो, संवच्छरो; लिप्सति के स्थान पर लिच्छइ, जुगुप्सति के स्थान पर जुगुच्छइ, अप्सरा के स्थान पर अच्छरा रूप बनते हैं। सामर्थ्य, उत्सुक और उत्सव शब्दों में संयुक्त वर्ण के स्थान पर विकल्प से छ आदेश होता है; जैसे सामच्छं, सामत्थं (सामर्थ्य); उच्छुओ, ऊसुओ (उत्सुकः) तथा उच्छवो, ऊसवो (उत्सवः) आदि। स्पृहा शब्द में संयुक्तवर्ण के स्थान पर छ आदेश होता है; जैसे छिहा (स्पृहा) आदि।

द्य, य्य और र्य के स्थान पर ज आदेश होता है; जैसे मज्जं (मद्यं), अवज्जं (अवद्यं), वेज्जो (वैद्यः), जुई (द्युतिः), जोओ (द्योतः), जज्जो (जय्यः), सेज्जा (शय्या), भज्जा (भार्या), कज्जं (कार्यं), वज्जं (वज्रं), पज्जाओ (पर्यायः) पज्जत्तं (पर्याप्तम्), मज्जाया (मर्यादा) आदि। अभिमन्यु शब्द में संयुक्त के स्थान पर विकल्प से ज और ज्ज आदेश होते हैं; जैसे अहिमज्जू, अहिमजू (अभिमन्युः)। ध्वज शब्द में संयुक्त के स्थान पर विकल्प से झ आदेश होता है; जैसे झओ, धओ (ध्वजः) आदि। इन्ध धातु में संयुक्त के स्थान पर 'झा आदेश एवं वृत्त, प्रवृत्त, मृत्तिका, पत्तन और कदर्थित शब्दो में संयुक्त के स्थान पर टकारादेश होता है।

धूर्तादि को छोड़ शेष र्त वाले शब्दों में र्त के स्थान पर ट आदेश होता है; जैसे केवट्टो, वट्टी, जट्टो, पयट्टइ, वट्टुलं; रायवट्टयं, नट्टई, संवट्टिअं आदि।

हेम ने उपर्युक्त जितने भी नियम बतलाये हैं, वे शायद ही निरपवाद होंगे। वस्तुतः भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उच्चारण का मुखसौकर्य ही नियम बन गया है। हेम ने भविष्य में भाषा का क्या रूप होना चाहिए, इस पर प्रकाश नहीं डाला है, बल्कि उन्हें जो शब्द जिस रूप में प्राप्त हुए हैं, उन्हीं का शास्त्रीय विवेचन कर दिया है। इन्होंने भविष्यत्कालीन भाषा को पाणिनि की तरह नियमों में जकड़ने का अनुशासन नहीं किया है। हेम के समस्त नियम वर्तमानकालीन भाषा के अनुशासन के लिए हैं; अत; प्रायः सभी नियमों में वैकल्पिक विधान वर्तमान है।

हेम ने वृन्त शब्द में संयुक्त के स्थान पर ण्ट; अस्थि और विसंस्थुल शब्दों में संयुक्त के स्थान पर ठ; उष्ट्रादिवर्जित ष्ट के स्थान पर ठ; गर्त शब्द में संयुक्त के स्थान पर ड; संमर्द, वितर्दि, विच्छर्द, छर्दि, कपर्द और मर्दित शब्दों में 'र्द' के स्थान पर ड; गर्दभ शब्द में र्द के स्थान पर ड, कन्दलिका और भिन्दपाल शब्दों में संयुक्त के स्थान पर ण्ड; स्तब्ध शब्द में दोनों संयुक्तों के स्थान पर क्रमशः ठ, ढ; दग्ध, विदग्ध, वृद्धि और वृद्ध शब्दों में संयुक्त के स्थान पर ढ; श्रद्धा, ऋद्धि, मूर्धा और अर्ध शब्दों में संयुक्त के स्थान पर विकल्प से ढ; म्न और ज्ञ शब्दों में संयुक्त के स्थान पर ण; पञ्चाशत्, पञ्चदश और दत्त शब्दों में संयुक्त के स्थान पर ण, मन्यु शब्द में संयुक्त के स्थान पर विकल्प से न्त; पर्यस्त शब्दों में स्त के स्थान पर थ और ट; उत्साह शब्द में संयुक्त के स्थान पर विकल्प से थ तथा ह के स्थान पर रेफ; समस्त और स्तम्ब शब्दों को छोड़ शेष स्त वाले शब्दों में संयुक्त के स्थान पर थ; स्तव शब्द में स्त के स्थान पर विकल्प से थ; भस्म और आत्मन् शब्दों में संयुक्त के स्थान पर प; ष्प और स्प के स्थान पर फ; भीष्म शब्द में ष्म के स्थान पर फ; श्लेष्म ह्व के स्थान पर भ; शब्द में ष्म के स्थान पर फ; ताम्र और आम्र शब्द में संयुक्त के स्थान पर ब; विह्वल शब्द में ह्व के स्थान पर विकल्प से भ; ब्रह्मचर्य, तूर्य, सौन्दर्य और शौण्डीर्य शब्दों में र्य के स्थान पर र, धैर्य शब्द में र्य के स्थान पर विकल्प से र, पर्यन्त शब्द में र्य के स्थान पर र तथा पकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर एकार; आश्चर्य शब्द में र्य के स्थान पर र तथा आश्चर्य शब्द में अकार से परे र्य के स्थान पर रिअ; अर, रिज्ज और रीअ आदेश होते हैं।

पर्यस्त, पर्याण और सौकुमार्य शब्दों में र्य के स्थान पर ल्ल; बृहस्पति और वनस्पति शब्दों में संयुक्त के स्थान पर स; बाष्प शब्द में संयुक्त के स्थान पर ह; कार्षापण में संयुक्त के स्थान पर ह; दुःख, दक्षिण और तीर्थ शब्दों में

संयुक्त के स्थान पर ह; कुष्माण्ड शब्द में ष्मा के स्थान पर ह तथा ण्ड के स्थान पर ल; पक्ष्म, श्म, ष्म, स्म और ह्म शब्दों में संयुक्त के स्थान पर मकार सहित ह; सूक्ष्म, श्न, ष्ण, स्न, ह्न, ह्ण और क्ष्ण शब्दों में संयुक्त के स्थान पर णकाराक्रान्त ह एवं ह्ल के स्थान पर ल्ह आदेश होता है।

संयुक्त शब्दों में रहने वाले क ग ट ड त द प श ष और स प्रथम वर्ण हों तो इनका लोप होता है; जैसे भुत्तं (भुक्तं), सित्थं (सिक्त्थं), दुद्धं, मुद्धं, छप्पओ, कप्फलं, खग्गो, सज्जो, उप्पाओ, मम्गू, सुत्तो, गुत्तो, गोट्ठी, छट्ठो, निट्ठुरो आदि।

यदि म, न और य संयुक्त वर्णों में से द्वितीय वर्ण हों तो उनका लोप हो जाता है; जैसे रस्सी (रश्मि), जुग्गं (युग्मं) इत्यादि।

ल, व और र का, चाहे ये संयुक्त वर्णों के पहले हों या दूसरे—सर्वत्र लोप हो जाता है, जैसे उक्का = उल्का, वक्कलं = वल्कलम्, सद्दो = शब्द:, अद्दो = अब्द:, लोद्धओ = लुब्धक:, अक्को = अर्क:, वग्गो = वर्ग:, विक्कवो = विक्लव:, पक्कं, पिक्कं = पक्कम्, धत्थो = ध्वस्त:, चक्कं = चक्रम्, गहो = ग्रह:, रत्ती = रात्रि: इत्यादि।

द्र वाले संस्कृत शब्दों के द्र के र का विकल्प से लोप होता है; जैसे चंदो = चन्द्र:, दवो = द्रव:, दहो = द्रुह:, दुमो द्रुम:, भद्दं = भद्रम्, रुद्दो = रुद्र:, समुद्दो = समुद्र:।

धात्री शब्द के र का; तीक्ष्ण शब्द के ण का; ज्ञ शब्द के ञ का; मध्याह्न शब्द के ह का और दशार्ह शब्द में ह का विकल्प से लोप एवं श्मश्रु और श्मशान शब्द के आदि वर्ण का लोप होता है।

हरिश्चन्द्र शब्द में श्च का और रात्रि शब्द में संयुक्त का लोप होता है, जैसे हरिञ्चन्दो = हरिश्चन्द्र:, राई, रत्ती = रात्रि:।

संयुक्त व्यञ्जनों में पहले आये हुए क्, ग्, ट्, ड्, त्, द्, प्, श्, स्, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का लोप होने पर जो अवशेष रह जाता है, वह यदि शब्द के आदि में न हो तो उसकी द्विरुक्ति हो जाती है; जैसे भुत्तं (भुक्तं), दुद्धं (दुग्धं), उक्का (उल्का), नग्गो (नग्न:), अक्को (अर्क:)

हेम ने ८।२।९० में बतलाया है कि द्वितीय और चतुर्थ में द्वित्व का अवसर आने पर द्वितीय के पूर्व प्रथम और चतुर्थ के पूर्व तृतीय हो जाता है; जैसे वक्खाण, मुच्छ, कट्ठं, तित्थं, गुप्फं आदि शब्दों में द्वित्व के समय वर्ग के द्वितीय वर्ण के पूर्व प्रथम वर्ण हो गया है और वग्घो, निज्झरो, निब्भरो आदि में चतुर्थ वर्ण के पूर्व तृतीय वर्ण हो गया है।

हेम का यह द्वित्व प्रकरण ८।२।९९ सूत्र तक चलता है। इन्होंने इस प्रकरण में सामासिक शब्दों में विकल्प से द्वित्व किया है तथा रेफ और हकार के द्वित्व का निषेध किया है।

१०० सूत्र से ११५ सूत्र तक स्वरभक्ति के सिद्धान्तों का प्ररूपण किया गया है। इस प्रकरण में अकार आगम कर स्नेह से सणेहो, नेहो; अग्नि से अगणी और अग्गी, क्ष्मा से छमा, श्लाघा से सलाहा; रत्न से रयणं; प्लक्ष से पलक्खो तथा र्ह, श्री, ह्री, कृत्स्न, क्रिया आदि शब्दों में संयुक्त के अन्त्य व्यञ्जन के पूर्व इकार आगम करने का नियमन किया है। जैसे र्ह में इकार आगम होने से अरिहइ, अरिहा, गरिहा, बरिहो; श्री में इकार आगम होने से सिरी; ह्री में इकार का आगम से हिरी, ह्रिरिओ, कृत्स्न में इकार का आगम होने से कसिणो; क्रिया में इकार का आगम होने से किरिआ आदि शब्द बनते हैं।

र्श, र्ष, तप्त और वज्र शब्दों में संयुक्त के अन्त्य व्यंजन के पूर्व विकल्प से इकार का आगम होता है; जैसे र्श में इकार का आगम होने से आयरिसो, आयंसो, सुदरिसणो, सुंदसणो, दरिसणं, दंसणं; र्ष में इकार का आगम होने से वरिसं, वासं, वरिसा, वासा, वरिस-सयं, वास-सयं, आदि एवं संयुक्त अन्त्य व्यंजन लकार के पूर्व इद् आदेश होने से; किलिन्नं, किलिन्न किलिलहं, सिलिट्टं, पिलुट्टं, पिलिसो आदि शब्दों का साधुत्व दिखलाया है।

स्यात्, भव्य, चैत्य, और चौर्य आदि शब्दों में संयुक्त यकार के पूर्व इकार का आगम होता है; जैसे सिया, सिआ-वाओ, भविओ, चेइअं, चोरिअं, थेरिअं, भारिआ, गहीरिअं, आयरिओ, सोरिअं, वीरिअं, वरिअं, सूरिओ, किरिअं, बम्हचरिअं आदि। स्वप्न शब्द में नकार के पूर्व इकार का आगम होता है, जैसे सिविणो; स्निग्ध शब्द में संयुक्त नकार के पूर्व अकार और इकार आदेश होते हैं; जैसे सणिद्धं, सिणिद्धं; वर्णवाची कृष्ण शब्द में संयुक्त अन्त्य व्यञ्जन के पूर्व अकार और इकार आदेश होते हैं; जैसे कसणो, कसिणो; अर्हत् शब्द में संयुक्त अन्त्य व्यञ्जन के पूर्व उत्, अत और इत ये तीनों ही आदेश होते हैं; जैसे अरुहो, अरहो, अरिहो, अरुहंतो, अरिहंतो, अरहंतो आदि; पद्म, छद्म, मूर्ख और द्वार शब्द में अन्त्य व्यञ्जन के पूर्व विकल्प से उत् होता है; जैसे पउमं, पोम्मं, छउमं, छोम्मं, मुरुक्खो, दुवारं; उकारान्त और ङी प्रत्ययान्त तन्वी, तुल्या आदि शब्दों में संयुक्त अन्त्य व्यञ्जन के पूर्व उकार होता है; जैसे तणुवी, गरुवी, बहुवी, पुहुवी, मउवी एवं ज्या शब्द में अन्त्य व्यञ्जन के पूर्व इकारागम होता है, जैसे जिआ। हेम का यह प्रकरण वररुचि की अपेक्षा बिल्कुल नवीन है। उत्तरकालीन प्राकृत वैयाकरणों ने हेम के इस प्रकरण के आधार पर स्वर भक्ति और स्वरागम के सिद्धान्तों का कुछ प्ररूपण किया है।

८।२।११६ से ८।२।१२४ सूत्र तक वर्ण व्यत्यय निरूपित है। रेफ और णकार में स्थान-परिवर्तन होता है, जैसे करेणू और वाणारसी में रकार और णकार का व्यत्यय होने से करेणू और वाराणसी शब्द बनते हैं।

हेम ने इस प्रकरण में आगे बतलाया है कि आलान शब्द में ल और न का व्यत्यय, अचलपुर में च और ल का व्यत्यय, महाराष्ट्र शब्द में ह और र का व्यत्यय, ह्रद शब्द में ह और द का व्यत्यय, हरिताल में र और ल का व्यत्यय; लघुक में घ के स्थान पर ह हो जाने के उपरान्त ल और ह का व्यत्यय; ललाट शब्द में लकार और डकार का व्यत्यय एवं ह्य शब्द में हकार और यकार का व्यत्यय होता है। जैसे आणालो (आलानः), अलचपुरं (अचलपुरं), मरहट्ठं (महाराष्ट्र) द्रहो (ह्रदः), हलिआरो, हरिआलो (हरिताल), हलुअं, लहुअं (लघुकं), णडालं, णलाडं (ललाटं), गुय्हं, गुज्झं (गुह्यं) आदि।

८।२।१२५ से ८।२।१४४ सूत्र तक संस्कृत के पूरे-पूरे शब्दों के स्थान पर प्राकृत के पूरे शब्दों के आदेश का नियमन किया है। जैसे स्तोक के स्थान पर थोकं, थोवं और थेवं दुहिता के स्थान पर धूआ, भगिनी के स्थान पर बहिणी; वृक्ष के स्थान पर रुक्ख, क्षिप्त के स्थान पर छूढ; वनिता के स्थान पर विलया; अधस् के स्थान पर हेट्ठं, त्रस्तम् के स्थान पर हित्थं, तट्ठं; द्रहः के स्थान पर हरो; द्रहकः के स्थान पर हरओ; ईषत् के स्थान पर कूर; उत के स्थान पर ओ; स्त्री के स्थान पर इत्थी, थी; मार्जार के स्थान पर मञ्जर, वञ्जर; वैडूर्य के स्थान पर वेरुलिय, अस्य के स्थान पर एण्हिं, एत्ताहे; इदानीं के स्थान पर इआणिं; पूर्व के स्थान पर पुरिमं; बृहस्पति शब्द में बृह के स्थान पर भय (भयस्पई), मलिनं के स्थान पर मइलं; गृहं के स्थान पर घर; क्षुत के स्थान पर छिक्को; तिर्यक के स्थान पर तिरिआ, तिरिच्छि; पदाति के स्थान पर पाइक्को, प्रावृष के स्थान पर पाउसो; पितृष्वसा के स्थान पर पिउच्छा, पिउसिआ, बहिस के स्थान पर बाहिं, बाहिरं, मातृष्वसा के स्थान पर माउच्छा, माउसिआ; वैडुर्यम् के स्थान पर वेरुलिअं, वेउज्जं; शुक्ति के स्थान पर सिप्पी, सुत्ती, श्मशान के स्थान पर सीआणं, सुसाणं एवं मसाणं होने का अनुशासन किया है।

हेम ने १४५ सूत्र से १७३ सूत्र तक प्राकृत के कृत् और तद्धित प्रत्ययों का निर्देश किया है। यों तो इस प्रकरण में मुख्यता तद्धित प्रत्ययों की ही है; तथापि क्त्वा के स्थान पर आदेश होनेवाले कृत् प्रत्ययों का भी निरूपण किया है। क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर तुम्, अत्, तूण और तुआण आदेश होते हैं, कृ + तुं = काउं, कृ+तूण = काऊण, काऊणं; कृ+तु आण = काउआणं, त्वर + तुं = तुरिउं, तुरेउं; त्वर+अ = तुरिअ, तुरेअ; ग्रह+तुम् = घेत्तुं, ग्रह+तूण = घेत्तूण, घेत्तूणं; ग्रह+तुआण= घेत्तुआण, घेत्तुआणं आदि।

शील, धर्म और साध्वर्थ में विहित प्रत्ययों के स्थान पर इर प्रत्यय का आदेश होता है। धातु में इस प्रत्यय के जुड़ने से कर्तृसूचक कृदन्त रूप बनते हैं। संस्कृत में शीलादि अर्थ प्रकट करने वाले तृन्, इन् और निन् आदि प्रत्यय माने गये हैं। प्राकृत भाषा में हेम ने उक्त शीलादि अर्थवाची प्रत्ययों के स्थान पर इर प्रत्यय आदेश करने का विधान किया है; जैसे हस+इ=हासिरो (हसन शील); रोव+इर=रोविर (रोदनशील), लज्जा+इर=लज्जिरो (लज्जा-शील) आदि।

इदं अर्थक तद्धित प्रत्यय के स्थान पर केर प्रत्यय जोड़ने का हेम ने अनुशासन किया है। यथा—

अस्मद्+केर=अम्हकेरं (अस्माकमिदम् अस्मदीयम्)।
युष्मद्+केर=तुम्हकेरं (युष्माकमिदम् युष्मदीयम्)।
पर+केर=परकेरं (परस्य इदम् परकीयम्)।
राज+केर=रायकेरं (राज्ञ इदं राजकीयम्)।

भव अर्थ में इल्ल और उल्ल प्रत्यय लगते हैं। यथा—

इल्ल—

गाम+इल्ल=गामिल्लं (ग्रामे भवम्), स्त्री० गामिल्ली
पुर+इल्ल=पुरिल्लं (पुरे भवम्) स्त्री० पुरिल्ली
अधस्+इल्ल=हेट्ठिल्लं (अधो भवम्) स्त्री० हेट्ठिल्ली
उपरि+इल्ल=उवरिल्लं (उपरि भवम्)

उल्ल—

आत्म+उल्ल=आप्पुल्लं (आत्मनि भवम्)
तरु+उल्ल=तरुल्लं (तरौ भवम्)
नगर+उल्ल=नयरुल्लं (नगरे भवम्)

इव अर्थ प्रकट करने के लिए हेम ने व्व प्रत्यय जोड़ने का अनुशासन किया है जैसे—महुरव्व पाडलिपुत्ते पासाया (मथुरावत् पाटलिपुत्रे प्रासादाः)

पन अर्थ प्रकट करने के लिए इमा, त्त और त्तण प्रत्यय लगाने का विधान हैम व्याकरण में किया गया है। यथा—

पीण+इमा=पीणिमा (पीनत्वम्)

पीण+त्तण=पीणत्तणं; पीण+त्त=पीणत्तं; पुप्फिमा (पुप्फ+इमा)= पुष्पत्वम्; पुप्फ+त्तण=पुप्फत्तणं, पुप्फ+त्त=पुप्फत्तं।

वार अर्थ में हुत्त प्रत्यय तथा आर्ष प्राकृत में उक्त अर्थ में खुत्त प्रत्यय लगता है। यथा—

एक+हुत्त=एगहुत्तं (एककृत्वः=एकवारम्)।

द्वि + हुत्त = दुहुत्तं (द्विवारम्); त्रि + हुत्त = तिहुत्तं (त्रिवारम्); शत + हुत्त = सयहुत्तं (शतवारम्); सहस्र + हुत्त = सहस्सहुत्त (सहस्रवारम्)

वाला अर्थ प्रकट करने के लिए संस्कृत में मत् और वत् प्रत्यय होते हैं; किन्तु हेम ने इनके स्थान पर आल, आलु, इत्त, इर, इल्ल, उल्ल, मण, मंत और वंत प्रत्यय जोड़ने का अनुशासन किया है। यथा—

आल—

रस + आल = रसालो (रसवान्); जटा + आल = जडालो (जटावान्); ज्योत्स्ना + आल = जोण्हालो (ज्योत्स्नावान्), शब्द + आल = सद्दालो (शब्दवान्)।

आलु—

ईर्ष्या + आलु = ईसालू (ईर्ष्यावान्), दया + आलु = दयालू (दयावान्); नेह + आलु = नेहालू (स्नेहवान्); लज्जा + आलु = लज्जालू (लज्जावान्) स्त्री० लज्जालुआ।

इत्त—

काव्य + इत्त = कव्वइत्तो (काव्यवान्), मान + इत्त = माणइत्तो (मानवान्)

इर—

गर्व + इर = गव्विरो (गर्ववान्), रेखा + इर = रेहिरो (रेखावान्)

इल्ल—

शोभा + इल्ल = सोहिल्लो (शोभावान्); छाया + इल्ल = छाइल्लो (छायावान्)।

उल्ल—

विचार + उल्ल = वियारुल्लो (विचारवान्), विकार + उल्ल = वियारुल्लो (विकारवान्)।

मण—

धन + मण = धणमणो (धनवान्), शोभा + मण = सोहामणो (शोभावान्)

मंत—

हनु + मंत = हणुमंतो (हनुमान्), श्री + मंत = सिरिमंतो (श्रीमान्)

वंत—

धन + वंत = धणवंतो (धनवान्), भक्ति + वंत = भत्तिवंतो (भक्तिमान्)

संस्कृत के तस् प्रत्यय के स्थान पर प्राकृत में त्तो और दो प्रत्यय विकल्प से होते हैं यथा—सर्व + तस् = सव्वत्तो, सव्वदो, सव्वओ (सर्वतः), एक + तस=

एकत्तो, एकदो, एकओ (एकतः); अन्य + तस् = अन्नतो, अन्नदो, अन्नओ (अन्यतः); किम् + तस् = कत्तो, कुदो, कुओ (कुतः) ।

संस्कृत के स्थानवाची 'त्र' प्रत्यय के स्थान पर प्राकृत में हि, ह और त्थ प्रत्यय जुड़ते हैं; यथा यत् + त्र = जहि, जह, जत्थ (यत्र); तद् + त्र = तहि, तह; तत्थ (तत्र); किम् + त्र = कहि, कह, कत्थ (कुत्र); अन्य + त्र = अन्नहि, अन्नह, अन्नत्थ, (अन्यत्र) ।

हेम ने संस्कृत के अङ्कोठ शब्द को छोड़ शेष बीजवाची शब्दों में जुड़ने वाले तैल प्रत्यय के स्थान पर एल्ल प्रत्यय का संविधान किया है। जैसे कटु + तैलं = कडुएल्लं ।

स्वार्थवाची संज्ञा शब्दों में अ, इल्ल और उल्ल प्रत्यय विकल्प से लगते हैं—यथा—चन्द्र + आ = चंदओ, चंदो (चन्द्रकः), हृदय+अ=हिअयअं, हिअअं (हृदयकम्) । पल्लव + इल्ल = पल्लविल्लो, पल्लवो (पल्लवः), पुरा + इल्ल = पुरिल्लो । पितृ + उल्ल = पिउल्लो, पिआ (पिता), हस्त + उल्ल = हत्थुल्लो, हत्थो (हस्तः) ।

हेम ने कतिपय ऐसे तद्धित प्रत्ययों का भी उल्लेख किया है; जिन्हें एक प्रकार से अनियमित कहा जा सकता है। यथा—

एक + सि = एक्कसि; एक + सिअं = एक्कसिअं; एक + इआ = एक्कइआ (एकदा); भ्रू + मया = भुमया (भ्रूः); शनैः + इअ = सणिअं (शनैः); उपरि + ल्ल=अवरिल्लो; ज+एत्तिअ=जेत्तिअं, ज + एत्तिल = जेत्तिलं, ज + एद्दह जेद्दहं (यावत्); त + एत्तिअ = तेत्तिअं; त + एत्तिल = तेत्तिलं; त + एद्दह = तेद्दहं (तावत्); एत + एत्तिअ = एत्तिअं, एत + एत्तिल = एत्तिलं; एत + एद्दह = एद्दहं (एतावत् , इयत्); क + एत्तिअ=केत्तिअं, क + एत्तल + केत्तिलं; क + एद्दह = केद्दहं (कियत्), पर+क्क = परक्कं (परकीयम्); राय + क्क = राइक्कं (राजकीयम्); अम्ह + एच्चय = अम्हेच्चयं (अस्मदीयम्); तुह्म+एच्चय= तुम्हेच्चयं (युष्मदीयम्); सव्वंग + इअ=सव्वंगिओ (सर्वाङ्गीणः); पह + इअ = पहिओ (पान्थाः); अप्प + णय = अप्पणयं (आत्मीयम्)

कुछ वैकल्पिक भी तद्धित प्रत्यय होते हैं; यथा नव + ल्ल = नवल्लो, नवो (नवकः) एक + ल्ल = एकल्लो, एक्को (एककः); मनाक् + अयं = मणयं; मनाक् + इय = मणियं, मणा (मनाक्); मिश्र + आलिअ = मीसालिअं; मीसं (मिश्रम्); दीर्घ + र = दीहरं, दीहं (दीर्घम्); विद्युत् + ल = विज्जला, विज्जू (विद्युत्); पत्र + ल = पत्तलं, पत्तं (पत्रम्); पीत + ल = पीअलं, पीअं (पीतम्); अन्ध + ल = अंधलो, अंधो (अन्धः) ।

हेम ने ८।१।१७४ में कुछ प्राकृत शब्दों की निपातन से सिद्धि की है; जैसे गोणो, गावी, गावः, गावीओ (गौः), बइल्लो (बलीवर्दः); पञ्चावण्णा, पणपन्ना (पञ्चपञ्चाशत्), तेवण्णा (त्रिपञ्चाशत्); तेआलीसा (त्रिचत्वारिंशत्); विउसग्गो (व्युत्सर्गः); वोसिरणं (व्युत्सर्जनम्); कत्थइ (क्वचित्); मुव्वहइ (उद्वहति); बम्हलो (अपस्मारः) कुंदुट्ठं (उत्पलम्); छिछि, धिद्धि (धिक् धिक्); धिरत्थु (धिगस्तु); पडिसिद्धी, पाडिसिद्धी (प्रतिस्पर्धी); चच्चिक्कं (स्थापकः); निहेलण (निलयः); मघोणो (मघवान्); सक्खिणो (साक्षी); जम्मणं; महंतो (महान्); आसीसा (आशीः); वड्डुयरं (बृहत्तरम्), भिमोरो (हिमोरः); खुड्डुओ (क्षुल्लकः) घायणो (गायनः), वढो (वडः), कुड्डं (कुतूहलम्), माहिओ (विष्णुः), करसी (श्मशानम्); अगमा (असुराः); तिङ्गिच्छि (पौष्पं रजः); अल्लं (दिनम्); पक्कलो (समर्थः) इत्यादि ।

८।२।१७५ सूत्र से ८।२।२१८ सूत्र तक 'अव्ययम्' का अधिकार है, 'हेम ने इस प्रकरणिका में प्रायः समस्त प्रधान-प्रधान अव्ययों का निर्देश कर दिया है। तद्धित प्रत्ययों के अनन्तर अव्ययों की चर्चा कर लेना आवश्यक है। अतः अव्ययो का प्रतिपादन क्रमानुसार ही किया है। हेम द्वारा निर्दिष्ट अव्यय निम्न प्रकार हैं—

अव्यय	संस्कृत रूप	अर्थ
तं	तत्	वाक्यारम्भ
आम	ओम्	स्वीकार
णवि		विपरीतता
पुणरुत्तं	पुनरुक्त	कृतकरण
हन्दि	हन्त	खेद, विकल्प, पश्चात्ताप, निश्चय सत्य ग्रहण ।
हन्द	हन्त	गृहाण
मिव	मा + इव	जैसा, इव
पिव	अपि + इव	सरीखा, जैसा, इव
विव	इव	जैसा
व्व	इव	,,
व	वा	विकल्प; जैसा
विअ	इव	जैसा
जेण	येन	लक्षण
तेण	तेन	,,

अव्यय	संस्कृत रूप	अर्थ
णइ		अवधारण
चेअ	चैव	,,
चिअ	चैव	,,
बले	बले	निर्धारण, चोटी काढना
बल	बल	निश्चय
पिर	किल	किलार्थ
हिर	किल	,,
इर		निश्चय
णवर		केवल
णवरि		अनन्तर
अलाहि	अलं हि	निवारण, निषेध
अण (नञ)	अन	निषेध
णाइं	नैव	निषेध
माइं	माऽति	निषेध
हद्धी	हाधिक	निर्वेद, खेद
वेव्वे		भय-वारण, विषाद
वेव्व, बेव्वे		आमन्त्रण
मामि		सखीका सम्बोधन
हला		,,
हले	हाऽऽले	,,
दे		समुखीकरण
हुं		दान-पृच्छा-निवारण
हु तथा खु		निश्चय, वितर्क, संभावना, विस्मय
ऊ		गर्हा, आक्षेप, विस्मय
थू	थूत्	कुत्सा अर्थ (तिरस्कार)
रे		संभाषणे
अरे	,,	रतिकलह
हरे	हारे	क्षेप, संभाषण, रतिकलह
ओ		सूचना, पश्चात्ताप
अव्वो		सूचना, दुःख, संभाषण, अपराध, विस्मय, आनन्द, आहार, भय, खेद, विषाद, पश्चात्ताप ।
अइ	अपि	संभावना

अव्यय	संस्कृत रूप	अर्थ
वणे	वने	निश्चय, विकल्प, अनुकम्पा
मणे	मने	विमर्श
अम्मो		आश्चर्य
अप्पणो	आत्मनः	स्वयं अर्थ में, अपने
पाडिक्क, पाडिएक्कं	प्रत्येकम्	एक-एक
उअ	उत	पश्य, जो
इहरा	इतरथा	इतरथा, अन्यथा
एक्कसरिअं	एकसृतम्	सम्प्रति
मोरउल्ला	मुधा	व्यर्थ
दर	दर	अर्धाल्प, हीनता
किणो	किन्नु	प्रश्न, ध्रुव
इ, जे, र		पादपूर्त्यर्थ में
पि और वि		अपि अर्थ में

हेम का यह अव्यय प्रकरण वररुचि की अपेक्षा बहुत विस्तृत और महत्त्वपूर्ण है। प्राकृत प्रकाश में कुछ ही अव्ययों का जिक्र है; किन्तु हेम ने अव्ययों की पूरी तालिका दी है।

तृतीय पाद—

इस पाद में प्रधान रूप से शब्द रूप, क्रिया रूप और कृत प्रत्ययों का वर्णन किया है। ८।३।१ से ८।३।५७ तक संज्ञा और विशेषण शब्दों की साधनिका बतलायी गयी है। प्राकृत में अवर्णान्त, इवर्णान्त, उवर्णान्त ऋवर्णान्त और व्यञ्जनान्त इन पाँच प्रकार के शब्दरूपों का निरूपण किया गया है। इस भाषा में तीन लिङ्ग और दो वचन होते हैं; द्विवचन का अभाव है। ५८–१२४ सूत्र तक सर्वनाम रूप १२५–१३० सूत्र तक अपवाद रूप विशेष नियम; १३१–१३७ सूत्र तक विभक्त्यर्थ विधायक अनुशासन एवं १३८–१८२ सूत्र तक धातुविकार, धातुरूप साधनिका और कृत् प्रत्ययों का नियमन किया गया है। प्राकृत भाषा में व्यंजनान्त शब्दों का अभाव होने से इन शब्दों के रूप भी प्रायः स्वरान्त शब्दों के समान ही चलते हैं।

हेम ने ८।३।१ में बताया है कि वीप्सार्थक पद से परे सि आदि के स्थान में विकल्प से 'म्' आदेश होता है; जैसे एकैकम् के स्थान पर एक्कमेक्कं, एक्कमेक्केण; अङ्गे अङ्गे के स्थान पर अंगमङ्गम्मि आदि।

अकारान्त संज्ञा शब्दों से परे 'सि' के स्थान में डो आदेश होता है; एतद् और तद् शब्द से परे 'सि' के स्थान पर विकल्प से डो आदेश होता है।

अकरान्त संज्ञा शब्दों से परे जस और शस का लोप होता है तथा अकारान्त शब्दों के परे अम् के अकार का लोप होता है।

अकारान्त संज्ञा शब्दों से परे टा प्रत्यय तथा षष्ठी विभक्ति बहुवचनविधायक आम् प्रत्यय के स्थान पर ण आदेश होता है। उक्त शब्दों से भिस् के स्थान पर हि, हिँ और हिं ये तीन आदेश होते हैं। भ्यस् प्रत्यय के स्थान पर त्तो, दो, दुहि, हिन्तो और सुन्तो ये आदेश होते हैं। षष्ठी विभक्ति एकवचन में ङस् के स्थान पर स्स आदेश होता है। सप्तमी विभक्ति एक वचन में ङि के स्थान पर ए और म्मि ये दो आदेश होते हैं।

८।३।१२ सूत्र द्वारा जस् , शस् , ङसि, त्तो, दो और दु में अकार को दीर्घ करने का अनुशासन किया है और १३ वें सूत्र द्वारा भ्यस् के परे रहने पर विकल्प से अकार को दीर्घ किया है। टा के स्थान पर आदिष्ट ण तथा शस् के पूर्ववर्ती अकार को एकार आदेश होता है। भिस् , भ्यस् और सुप् परे हुए इकार और उकार को दीर्घ होता है। चतुर और उकारान्त शब्दों में भिस् भ्यस और सुप् परे हुए विकल्प से दीर्घ होता है। इकारान्त और उकारान्त शब्दों में शस् प्रत्यय के लोप होने पर दीर्घ होता है।

इकारान्त और उकारान्त शब्दों में नपुंसक से भिन्न अर्थात् स्त्रीलिंग और पुँल्लिङ्ग में सि प्रत्यय के परे रहने पर दीर्घ होता है। इकारान्त और उकारान्त शब्दों से परे जस् के स्थान पर पुँल्लिङ्ग में विकल्प से अउ, अओ तथा डित होते हैं। उकारान्त शब्दों से परे पुँल्लिङ्ग में जस् के स्थान पर डित् और अव् आदेश होते हैं। इकारान्त और उकारान्त शब्दों से परे पुँल्लिङ्ग में जस् और शस् के स्थान पर ण आदेश होता है।

इकारान्त और उकारान्त शब्दों से परे पुँल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग में ङसि और ङस् के स्थान पर विकल्प से ण आदेश होता है। पुँल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग में इकारान्त और उकारान्त शब्दों से परे 'टा' के स्थान पर णा आदेश होता है। नपुंसकलिङ्ग में संज्ञावाची स्वरान्त शब्दों से परे 'सि' के स्थान में म् आदेश होता है। नपुंसकलिङ्ग में वर्तमान संज्ञावाची शब्दों से परे जस् और शस् के स्थान पर सानुनासिक और सानुस्वार इकार तथा णि आदेश होते हैं और पूर्व स्वर को दीर्घ होता है।

स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान संज्ञावाची शब्दों से परे जस् और शस् के स्थान में विकल्प से उत् और ओत् आदेश होते हैं और पूर्व को दीर्घ होता है। स्त्रीलिंग ईकारान्त शब्दों से परे सि, जस् और शस् के स्थान में विकल्प से आकार आदेश होता है। स्त्रीलिङ्ग में संज्ञावाची शब्दों से परे टा, ङस् और ङि इन प्रत्ययों में से प्रत्येक के स्थान पर अत् , आत् , इत् और एत् ये चार

आदेश होते हैं और पूर्व वर्ण को दीर्घ होता है। स्त्रीलिङ्ग में संज्ञा शब्दों से परे टा, ङस्, ङसि के स्थान पर आत् आदेश नहीं होता है। हेम ने ३१ सूत्र से ३६ सूत्र तक स्त्रीलिङ्ग विधायक ङी और डा प्रत्ययों के साथ-साथ ह्रस्व विधायक नियम का भी उल्लेख किया है। ३७ वें और ३८ वें सूत्र में सम्बोधन के रूपों का अनुशासन किया है।

ऋतोद्वा ८।३।३९ सूत्र द्वारा ऋकारान्त शब्दों का अनुविधान किया है। इन शब्दों के सम्बोधन एक वचन में विकल्प से अकार और ऊद् का आदेश होता है और अकारान्त शब्दों में अकार के स्थान पर एकार आदेश होता है। ईकारान्त और उकारान्त शब्दों में तथा क्विबन्त ऊकारान्त शब्दों में सम्बोधन एकवचन में ह्रस्व होता है। ऋकारान्त शब्दों में सि, अम् और औ प्रत्यय को छोड़ शेष विभक्तियों से परे ऋदन्त विकल्प से उदन्त हो जाते हैं। मातृ शब्द में ऋ के स्थान पर सि आदि विभक्तियों से आ और अर आदेश होते हैं। ऋदन्त संज्ञावाची शब्द सि आदि के परे रहने पर अदन्त हो जाते हैं। ऋदन्त शब्दों में सि के परे रहने पर विकल्प से आकार आदेश होता है।

व्यञ्जनान्त शब्दों की साधनिका बतलाते हुए हेम ने राजन् के नकार का लोप कर अन्त्य का विकल्प से आत्वविधान किया है। राजन् शब्द से परे जस्, शस्, ङसि और ङस् के स्थान पर विकल्प से णो आदेश होता है। राजन् शब्द से परे टा के स्थान पर ण तथा णो और णं परे होने से जकार के स्थान पर वैकल्पिक इकार होता है। राजन् शब्द सम्बन्धी जकार के स्थान पर अम् और आम् सहित इणम् आदेश होता है। भिस्, भ्यस्, आम् और सुप् प्रत्ययों में राजन् शब्द के जकार को इकार आदेश होता है। टा, ङसि और ङस विभक्तियों में णा, णो आदेश हो जाने पर राजन् शब्द के आज के स्थान पर विकल्प से अण् होता है।

आत्मन् शब्द से परे टा विभक्ति के स्थान पर णिआ, णइआ विकल्प से आदेश होते हैं। सर्वादि शब्दों में डित् हो कर ए आदेश होता है। ङि के स्थान पर स्सिं, म्मि और त्थ आदेश होते हैं।

इदम् और एतत् शब्दों को छोड़ शेष सर्वादि शब्दों के अदन्त से परे ङि के स्थान पर विकल्प से हिं आदेश होता है। सर्वादि शब्दों में आम् के स्थान पर सिं आदेश होता है। किम् और तद् शब्द से परे आम् के स्थान पर डास आदेश होता है। कियत् और तद् शब्द से परे ङस् के स्थान पर स्स तथा से और काल कथन में कियत् और तद् शब्द से परे ङे के स्थान में आहे, आला और इआ आदेश होते हैं। इन्हीं शब्दों से परे ङसि के स्थान में विकल्प से म्हा आदेश होता है।

तद् शब्द से परे ङसि के स्थान में विकल्प से डो, किम् शब्द से परे ङसि के स्थान में डिणो और डीस तथा इदम्, एतत्, किम्, यत् और तत् शब्दों से परे टा के स्थान पर विकल्प से इणा आदेश होता है। तद् शब्द के स्थान पर सि आदि विभक्तियों के परे रहने पर ण आदेश होता है। किम् शब्द के स्थान पर सि आदि विभक्ति, त्र और तस् प्रत्यय के परे रहने पर क आदेश होता है। इदम् शब्द से सि विभक्ति के परे रहने पर पुँल्लिङ्ग में अयं और स्त्रीलिङ्गमें इमिआ आदेश होते हैं। स्सि और स्स परे रहने पर इदम् के स्थान पर विकल्प से अद् आदेश होता है। इदम् के स्थान में अम्, शस् टा और भिस् प्रत्यय के परे रहने से विकल्प से ण आदेश होता है। नपुंसकलिंग में सि और अम् विभक्तियों से परे इदं, इणमो और इणं का नित्य आदेश किया है। नपुंसकलिङ्ग में सि और अम् के सहित किम् शब्द के स्थान पर किं आदेश होता है।

इदम्, तद् और एतद् शब्द के स्थान में ङस् और आम् विभक्ति के सहित से तथा सिमका विकल्प से आदेश होता है। एतद् शब्द से परे ङसि के स्थान पर त्तो और त्ताहे विकल्प से आदिष्ट होते हैं। सप्तमी एकवचन में एतद् शब्द के स्थान पर विकल्प से अत् और ईय आदेश होते हैं। हेम ने ८५-सूत्र से ८९ सूत्र तक एतद्, तद्, अदस् शब्दों की विभिन्न विभक्तियों में होने वाले आदेशों का कथन किया है।

८।३।९० से ८।३।११७ सूत्र तक युष्मद् और अस्मद् शब्द के विभिन्न रूपों का निर्देश किया है। इन दोनों शब्दों के अनेक वैकल्पिक रूप लिखे गये हैं। इन्हें देखने से ऐसा लगता है कि हेम के समय में प्राकृत भाषा के रूपों में पर्याप्त विकल्प आ गया था। देश विशेष के प्रभावों के कारण ही उक्त शब्दों की रूपावली में अनेकरूपता आ गयी है।

त्रेस्ती तृतीयादौ ८।३।११८ सूत्र द्वारा हेम ने तृतीयादि अर्थों में त्रि के स्थान पर ती और ११९-१२० वें सूत्र द्वारा द्वितीयादि अर्थ में द्वि के स्थान पर दो, दुवे, दोण्णि, दो, वे आदेश होने का विधान किया है। जस्, शस् सहित त्रि के स्थान पर तिण्णि तथा चतुर के स्थान पर चत्तारो, चउरो और चत्तारि आदेश होने का नियमन किया है। संख्यावाची शब्दों से परे आम् के स्थान पर ण्ह, ण्हँ ये आदेश होते हैं। इस प्रकार व्यञ्जनान्त शब्दों के साधुत्व के सम्बन्ध में कतिपय विशेषताओं का कथन करने के उपरान्त शेष कार्य स्वरान्त शब्दों के समान ही समझ लेने का संकेत किया है। हेम ने विभक्तियों के लोप या आदेश के सम्बन्ध में १२५-१२९ सूत्र तक एक प्रकार से विशेष कथन किया है।

हेम ने वाक्य-रचना को सुव्यवस्थित बनाने के लिए विभक्त्यर्थ का निरूपण ८।३।१३० से ८।३।१३७ तक किया है। चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी; तादर्थ्य में विहित चतुर्थी के स्थान पर विकल्प से षष्ठी; वध शब्द से परे तादर्थ्य में चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी विभक्ति; द्वितीयादि विभक्तियों के स्थान पर षष्ठी; द्वितीया और तृतीया के स्थान पर सप्तमी; पञ्चमी के स्थान पर तृतीया, सप्तमी एवं क्वचिद् सप्तमी के स्थान पर द्वितीया विभक्ति होती है। हेम का यह प्रकरण प्राकृतप्रकाश से बहुत अंशों में समता रखने पर भी विशिष्ट है। त्यादीनामाद्य० ८।३।१३९ सूत्र से त्यादि प्रकरण का आरम्भ होता है। इस प्रकरण में धातु रूपों का पूर्णतया निर्देश किया है। अन्य पुरुष एकवचन में ति के स्थान पर इच् और आत्नेपद में ते के स्थान पर एच्; मध्यम पुरुष एकवचन में सि और से तथा उत्तम पुरुष एकवचन में मि आदेश होते हैं। अन्य पुरुष बहुवचन में परस्मैपद और आत्मनेपद में न्ति, न्ते और इरे; मध्यम पुरुष बहुवचन में इत्था और हच् एवं उत्तम पुरुष में मो, मु और म आदेश होते हैं। इस प्रकार हेम ने इस प्रकरण में विभिन्न धातुओं के संयोग से त्यादि विभक्तियों के स्थान पर भिन्न भिन्न प्रत्यय होने का अनुशासन किया है। काल की अपेक्षा से हेम ने इस प्रकरण में वर्तमाना, पञ्चमी, सप्तमी, भविष्यन्ती और क्रियातिपत्ति इन क्रिया-वस्थाओं में धातुओं के रूपों का विवेचन किया है।

इस प्रकरण में क्त, क्त्वा, तुम्, तव्य और शतृ इन संस्कृत कृत् प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत कृत् प्रत्ययों का निर्देश किया है। धातुसम्बन्धी अन्य कतिपय आदेश भी इस प्रकरण में विद्यमान हैं। संक्षेप में इस पाद में शब्द रूप और धातुरूपों की प्रक्रिया, उनके विभिन्न आदेश, कारकव्यवस्था, धातुविकार स्वरूप कृत् प्रत्ययान्त शब्द एवं सर्वनामवाची शब्दों के विभिन्न आदेश निबद्ध किये गये हैं।

सामान्यतया इस पाद का विषय और उसकी प्रक्रिया प्राकृत प्रकाश के समान ही है। हाँ, कारक अवश्य विशिष्ट है। प्राकृतप्रकाश में चतुर्थी के स्थान पर केवल षष्ठी का निर्देश भर ही किया है, अन्य विभक्तियों की चर्चा नहीं; किन्तु हेम ने कारक व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश डाला है।

चतुर्थ पाद

यह पाद महत्त्वपूर्ण है। इसमें शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची, और अपभ्रंश प्राकृतों का अनुशासन लिखा गया है। हेमने लगभग ३॥ पाद में केवल महाराष्ट्री प्राकृत का अनुशासन निरूपित किया है। हम देखते हैं कि हेम ने अपने समय की सभी प्रमुख भाषा और बोलियों का सर्वाङ्गपूर्ण अनुशासन

लिखा है। इनका धात्वादेश वररुचि, हृषीकेश आदि प्राकृत वैयाकरणों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। चतुर्थपाद का श्री गणेश ही धात्वादेश से होता है। इसमें संस्कृत धातुओं के स्थान पर देशी या अपभ्रंश धातुओं का आदेश किया गया है। हेम ने इस आदेश में संस्कृत धातुओं के वर्णानुक्रम को आधार माना है। इस का संक्षिप्त सार निम्न प्रकार है—

धातु	आदेश
संस्कृत् कथ् प्रा० कह	वज्जर, पज्जर, उप्पाल, पिसुण, संघ, बोल्ल, चव, जंप सीस, साह और विञ्चर (केवल दुःख कथन में)।
सं० जुगुप्स प्रा० जुउच्छ	झुण, दुगुच्छ और दुगुञ्छ
सं० बुभुक्ष् प्रा० बुहुक्ख	णीरव
	वोज्ज, वीज
सं० ध्य प्रा० झा	झा
सं० गै	गा
सं० ज्ञा प्रा० झा	जाण और मुण
उत् + ध्मा	उद्धुमा
श्रत् + धा	सद्दह
सं० पा, प्रा० पि	पिज्ज, उल्ल, पट्ट, घोट्ट
सं० उत् + वा, प्रा० उव्वा	ओरुम्मा, वसुआ
निद्रा, प्रा० निद्दा	ओहीर, उंघ
आ + घ्रा, प्रा० आघा	आइग्घ
स्ना० प्रा० ण्हा	अब्भुत्त
सम + त्या	संखा
स्था	ठा, थक्क, चिट्ठ और निरप्प
उत् + स्था	उट्ठ, उक्कुक्कुर
म्लौ प्रा० मिला	वा, पव्वाय
निर + मा	निम्माण, निम्मव
क्षि प्रा० झि	णिज्झर
छाद प्रा० छाय	णुम, नूम, णूम, सन्नुम, ढक्क, ओम्बाल, पव्वाल,
नि + वृ=निवार प्रा० निवार	णिहोड
पात प्रा० पाड	,,
दू	दूम
धवल	दुम, दूम

धातु	आदेश
विरेच प्रा० विरेअ	ओलुंड, उल्लंड, पल्हत्थ
ताड	आहोड, विहोड
मिश्र प्रा० मीस और मीस्स	वीसाल, मेलव
उत्+धूल प्रा० उद्धूल	गुंठ
भ्राम प्रा० भाम	तालिअंट, तमाड
नश प्रा० नास	विउड, नासव, हारव, विप्पगाल, पलाव
दृश् प्रा० दरिस	दाव, दंस, दक्खव
उत्+घाट प्रा० उग्घाड	उग्ग
स्पृह	सिह
सम्+भाव	आसंघ
उत्+नम प्रा० उन्नाव	उत्थंघ, उल्लाल, गुलगुंछ, उप्पेल
प्र+स्था प्रा० पट्ठव	पट्ठव, पेण्डव
वि+ज्ञप, प्रा० विण्णव	वोक्क, अवुक्क
याप प्रा० जाव	जव
अर्प प्रा० अप्प	अल्लिव, चच्चुप्प, पणाम
विकोश प्रा० विकोस	पक्खोड
प्लाव प्रा० पाव	ओम्वाल, पव्वाल
रोमन्थ	ओग्गाल, वग्गोल
कम प्रा० काम	णिहुव
प्र+काश प्रा० पयास	णुव्व
कम्प	विच्छोल
आ+रोप प्रा० आरोव	वल
दोल	रंखोल
रंज	राव
घट प्रा० घड	परिवाड
वेष्ट प्रा० वेढ	परिआल
क्री	किण
वि+क्री प्रा० विक्की	विक्के, विक्किण
भी	भा, बीह
आ+ली	अल्ली
नि+ली	णिलीअ, णिलुक्क, णिरिग्घ, लुक्क, लिक्क, लिहक्क
वि+ली	विरा

धातु	आदेश
रु+प्रा० रव	रुंज, रुंट
श्रु प्रा० सुण	हण
धू प्रा० धुण	धुव
भू	हो, हुव, णिव्वड (पृथग्भवने, स्पष्टभवने च) हुप्प (प्रभवने)
कृ प्रा० कर	कुण, णिआर (काणेक्षितकरणे), णिट्ठुह (निष्टम्भे), संदाण (अवष्टम्भे), वावंफ (श्रमकरणे), णिव्वोल (क्रोधपूर्वं ओष्ठमालिन्ये), पयल्ल (शैथिल्य-करणे, लम्बने च), णीलुंछ (निष्पाते, आच्छोटने च), कम्म (क्षुरकरणे), गुलल (चाटुकरणे)
स्मर प्रा० सर	झर, झूर, भर, भल, लढ विम्हर, सुमर, पयर, पम्हह,
वि+स्मृ	पम्हुस, विम्हर, वीसर
व्या०+हृ० प्रा० वाहर	कोक्क, कुक्क, पोक्क
प्र+सृ, प्रा० नीसर	णीहर, नील, धाड, बरहाड
प्र+सृ प्रा० पसर	पयल्ल, उवेल्ल, महमह, (गन्धप्रसरणे)
जागृ प्रा० जागर	जग्ग
व्या+पृ प्रा० वावर	आअड्ड
सं+वृ प्रा० संवर	साहर, साहट्ट
आ+दृ प्रा० आदर	सन्नाम
प्र+हृ प्रा० पहर	सार
अव+तृ प्रा० ओअर	ओह, ओरस
शक	चय, तर, तीर, पार
फक्क	थक्क
श्लाघ	सलह
खच	वेअड
पच	सोल्ल, पउल्ल
मुच	छड्ड, अवहेड, मेल्ल, उस्सिक्क, रेअव, णिल्लंछ, धंसाड; णिव्वल (दुःखमोचने)
वञ्च	वेहव, वेलव, जूरव, उमच्छ
रच	उग्गह, अवह, विडविड्ड
समा+रच	उवहत्थ, सारव, समार, केलाय
सिच	सिंच, सिंप

धातु	आदेश
प्रच्छ	पुच्छ
गर्ज	बुक्क, ढिक्क (वृषगर्जने)
राज	अग्घ, छज्ज, सह, रीर, रेह
मस्ज	आउड्ड, णिउड्ड, बुड्ड, खुप्प
पुञ्ज	आरोल, वमाल
लस्ज	जीह
तिज	ओसुक्क
मृज प्रा० मज्ज	उग्घुस, लुंछ, पुंछ, पुंस, फुस, पुस, लुह, हुल, रोसाण
भञ्ज	वेमय, मुसुमूर, मूर, सूर, सूड, विर, पविरंज, करंज, नीरंज
अनु + व्रज, प्रा० अणुव्वच्च	पडिअग्ग
अर्ज	विढव
युज	जुंज, जुज्ज, जुप्प
भुज	भुंज, जिम, जेम, कम्म, अण्ह, समाण, चमढ, चड्ड
उप + भुंज	कम्मव
घट	गढ
सम + घट	संगल
स्फुट	मुर (हासस्फुटिते)
मण्ड	चिंच, चिंचअ, चिंचिल्ल, रीड, टिविडिक्क
तुड	तोड, तुट्ट, खुट्ट, खुड, उक्खुड, उल्लुक्क, णिलुक्क लुक्क, उल्लूर
घूर्ण	घुल, घोल, घुम्म, पहल्ल
वि + वृत् प्रा० विवट्ट	ढंस
क्वथ प्रा० कढ	अट्ट
ग्रन्थ	गण्ठ
मन्थ	घुसल, विरोल
ह्लाद	अवअच्छ
नि + सद	णुमज्ज
छिद प्रा० छिद	दुहाव, णिच्छल्ल, णिज्झोड, णिव्वर, णिल्लूर, लूर
आ + छिद् प्रा० आछिद्	ओअंद, उद्दाल
मृद	मल, मढ, परिहट्ट, खड्ड, चड्ड, मड्ड, पन्नाड
स्पन्द प्रा० फंद	चुलचुल
निर् + पद प्रा० निप्पज्ज	निव्वल

धातु	आदेश
विसं + वद	विअट्ट, विलोट्ट, फंस
शद	झड, पक्खोड
आ + क्रन्द	णीहर
खिद	जूर, विसुर
रुध प्रा० रुंध	उत्थंघ
नि + षेध	हक्क
क्रुध प्रा० कुज्झ	जूर
जन	जा, जम्म
तन	तड, तड्ड, तड्डव, विरल्ल
तृप	थिप्प
उप + सृप	अल्लिअ
सं + तप	झंख
वि + आप	ओअग्ग
सम् + आप	समाण
क्षिप	गलत्थ, अड्डक्ख, सोल्ल, पेल्ल, णोल्ल, छुह, हुल, परी, घत्त,
उत् + क्षिप	गुलगुञ्छ, उत्थंघ, अल्लत्थ, उब्भुत्त, उस्सिक्क, हक्खुव,
भ्रम	टिरिटिल्ल, ढुंढुल्ल, ढंढल्ल, चक्कम, भम्मड, भमड, भमाड, तलअंट, झंट, झंप, भुम, गुम, फुम, फुस, ढुम, ढुस, परी, पर
गम्	अई, अइच्छ, अणुवज्ज, अवज्जस, उक्कुस, अक्कुस, पच्चड्ड, पच्छंद, णिम्मह, णी, णीण, णीलुक्क, पदअ, रंभ, परिअल्ल, वोल, परिअल, णिरिणास, णिवह, अवसेह, अवहर
रम	संखुड्ड, खेड्ड, उब्भाव, किलिकिंच, कोट्टुम, मोट्टाय, णीसर, वेल्ल
पूर	अग्घाड, अग्घव, उद्धुमा, अंगुम, अहिरेम
क्षर	खिर, झर, पज्झर, पच्चड, णिच्चल, णिट्टुअ
भ्रंश	फिड, फिट्ट, फुड, फुट्ट, चुक्क, भुल्ल
नश	णिरणास, णिवह, अवसेह, पडिसा, अवहर
दश	निअच्छ, पेच्छ, अवयच्छ, अवयज्झ, वज्ज, सव्वव, देक्ख, ओअक्ख, अवक्ख, अवअक्ख, पुलोअ, पुलअ, निअ, अवपास, पास

धातु	आदेश
स्पृश	फास, फंस, फरिस, छिव, छिह, आलुंख, आलिह
पिष	णिवह, णिरिणास, णिरिणिज्ज, रोञ्च, चड्ड
कृष	कड्ढ, साअड्ढ, अंच, अणच्छ, अयञ्छ, आइञ्छ अक्खोड (असिकर्षणे)
गवेष	ढुंढुल्ल, ढंढोल, गमेस, घत्त
श्लिष प्रा० सिलेस	सामग्ग, अवयास, परिअंत
काङ्क्ष	आह, अहिलंघ, अहिलंख, वच्च, वंफ, मह, सिह, विलुंप
तक्ष	तच्छ, चच्छ, रम्प, रम्फ
उत्+लस	ऊसल, ऊसुंभ, णिल्लस, पुलआअ, गुञ्जोल्ल, आरोअ
ग्रह	बल, गेण्ह, हर, पंग, निरुवार, अहिपच्चुअ
परि+अस्	पलोट्ट, पल्हत्थ
त्वर	तुवर, जअड
मुह	गुम्म, गुम्मड, मुज्झ

हेम ने ८।४।२६० सूत्र से ८।४।२८६ सूत्र तक शौरसेनी भाषा की प्रमुख विशेषताओं का निरूपण किया है। इस भाषा की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

१—त और थ यदि आदि में न हों तो द् या ध् और ह में परिणत हो जाते हैं; यथा महन्तः = महन्दो, निश्चिन्तः = निश्चिन्दो अन्तःपुरम् = अन्देउरं, यथा = जधा, नाथ = णाध, णाह, तावत् = दाव।

२—आमन्त्रण में सि प्रत्यय के परे रहने पर इन् के नकार के स्थान में अकार आदेश होता है; जैसे भो कञ्चुकिन् = भो कञ्चुइआ, सुखिन् = सुहिआ

३—आमन्त्रण अर्थ में सि परे रहते हुए नकार के स्थान पर विकल्प से मकार आदेश होता है; जैसे भो राजन् = भोरायं।

४—भवत् और भगवत् शब्दों में सि परे नकार के स्थान में मकार होता है; जैसे समणे भगवं महावीरे।

५—र्य के स्थान पर य्य या ज्ज हो जाता है, जैसे आर्यपुत्र = अय्यउत्त, सूर्य = सूय्य या सुज्ज।

६—क्त्वा के स्थान में इय, दूण तथा त्ता आदेश होते हैं; जैसे भुक्त्वा = भविय, भोदूण, भोत्ता अथवा हाविय, होदूण, होत्ता।

७—कृ और गम धातु से परे क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर अडुअ आदेश होता है—कृत्वा = कडुअ, गत्वा = गडुअ आदि।

८—अन्य पुरुष एकवचन में ति के स्थान पर दि होता है, जैसे भवति = भोदि या होदि, अस्ति = अच्छदे अच्छदि; गच्छति = गच्छदे, गच्छदि।

९—भविष्यत्काल में स्सि चिह्न का प्रयोग होता है; यथा भविष्यति=भविस्सिदि।

१०—अत के परे ङसि के स्थान पर आदो और आदु आदेश होते हैं—जैसे दूरादो, दूरादु।

११—इदानीयम्, तस्मात् और एव के स्थान में दाणिं, ता और य्येव हो जाते हैं।

१२—दासी को पुकार ने के लिए हञ्जे, शब्द का प्रयोग किया जाता है।

१३—आश्चर्य और निर्वेद सूचित करने के लिए 'हीणामहे' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

१४—संस्कृत के ननु के स्थान पर णं का प्रयोग होता है।

१५—प्रसन्नता सूचित करने के लिए अम्महे का प्रयोग होता है।

१६—विदूषक आनन्द प्रकट करने के लिए ही ही शब्द का प्रयोग करता है।

अन्य बातों में शौरसेनी महाराष्ट्री के समान होती है। स्वर और व्यञ्जन परिवर्तन के सिद्धान्त महाराष्ट्री के समान ही हैं।

८।४।२८७ सूत्र से ८।४।३०२ सूत्र तक हेम ने मागधी की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। मागधी भाषा में शौरसेनी की अपेक्षा निम्न विशेषताएँ हैं—

१—पुँल्लिङ्ग में 'सि' प्रत्यय के परे अकार के स्थान पर एकार होता है; जैसे एष मेषः = एशे मेशे; एष पुरुषः = एशे पुलिशे, करोमि भदन्त = करेमि भंते।

२—मागधी में ष और स के स्थान पर श होता है; जैसे एषः=एशे, पुरुषः=पुलिशे।

३—मागधी में र ल में परिवर्तित हो जाता है; जैसे पुरुषः = पुलिशे, सारसः = शालशे, नरः = नले, कर = कले।

४—मागधी में ज, घ और य के स्थान में य होता है, जैसे जानासि=याणासि जानपदे = यणवदे, अर्जुनः = अय्युने; अद्य = अय्य

५—संस्कृत के अहं के स्थान पर हके, हगे और अहके शब्दों का आदेश होता है। वयं के स्थान पर भी हगे आदेश होता है।

६—न्य, ण्य, ज्ञ और ञ्ज के स्थान पर ञ्ञ होता है; जैसे अभिमन्युकुमारः = अहिमञ्ञुकुमाले, कन्यकावरणं = कञ्ञकावलणं, पुण्यं=पुञ्ञं, प्रज्ञा = पञ्ञा।

७—तिष्ठ के स्थान पर चिष्ठ का प्रयोग होता है।

८—स्थ और र्थ के स्थान पर स्त आदेश होता है; जैसे = उपस्थितः = उवशितदे; सार्थवाहः = शास्तवाहे।

९—ट्ट तथा ष्ठ के स्थान पर स्ट आदेश होता है; जैसे भट्टारिका = भस्टालिका, सुष्ठु = शुस्टु।

१०—व्रज के जकार के स्थान पर ञ्ञ आदेश होता है; जैसे व्रजति = वञ्ञदि।

११—छ के स्थान पर श्च होता है, उच्छलति = उश्चलदि, गच्छ = गश्च, आपन्नवत्सलः = आवन्नवश्चले।

१२—प्रेक्ष और आचक्ष के क्षकार के स्थान पर स्क आदेश होता है; जैसे प्रेक्षति = पेस्कदि, आचक्षते = आचस्कदि।

१३—अवर्ण से परे ङस् के स्थान पर विकल्प से आह आदेश होता है—ईदृशस्य = एलिशाह, शोणितस्य = शोणिदाह।

१४—क्त्वा के स्थान पर दाणि का आदेश होता है; जैसे कृत्वा = कारिदाणि, कृत्वा आगतः = कारिदाणि आअडे।

८।४।३०२ सूत्र से ३२४ सूत्र तक पैशाची भाषा की निम्नाङ्कित विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है।

१—ज्ञ के स्थान पर ञ्ञ होता है; जैसे प्रज्ञा = पञ्ञा, संज्ञा = सञ्ञा, सर्वज्ञः = सव्वञ्ञो।

२—वर्ग के तृतीय, चतुर्थ वर्ण संयुक्त न हों और पदों के आदि में न हों तो उनके स्थान पर वर्गों के प्रथम और द्वितीय अक्षर होते हैं; जैसे मेघः = मेखो, राजा = राचा, सरभसम् = सरफसं, शलभः = सलफो; मदन=मतन।

३—न्य और ण्य के स्थान पर ञ्ञ आदेश होता है; जैसे कन्यका = कञ्ञका-अभिमन्युः = अभिमञ्ञू, पुण्यकर्म = पुञ्ञकम्मो, पुण्याहं = पुञ्ञाहं।

४—णकार के स्थान पर पैशाची में नकार होता है; जैसे तरुणी = तलुनी, गुण-गण-युक्तः = गुनगनयुत्तो।

५—लकार के स्थान पर पैशाची में ळकार होता है; जैसे कुलं = कुळं, जलं = जळं।

६—श और ष के स्थान पर सकार होता है; जैसे शोभति = सोभति, शोभनं = सोभनं, विषमः = विसमो।

७—हृदय शब्द में यकार के स्थान पर पकार; यादृश शब्द में दृ के स्थान पर ति तथा टु के स्थान पर तु आदेश होता है।

८—क्त्वा के स्थान पर तून तथा ष्ट्वा के स्थान पर द्धून और थून आदेश होते हैं; जैसे, गत्वा = गन्तून, पठित्वा = पठितून, नष्ट्वा = नद्धून, नत्थून आदि।

९—ष्ट के स्थान पर सट और स्नान के स्थान पर सन आदेश होते हैं, यथा—कष्ट=कसट, स्नान=सनान।

चूलिका पैशाची की विशेषताएँ हेम ने निम्न प्रकार बतलाई हैं।

१—वर्गों के तृतीय और चतुर्थ अक्षर क्रमशः प्रथम और द्वितीय वर्णों में परिवर्तित हो जाते हैं। जैसे—नगरं=नकरं, मार्गणः=मक्कनो; गिरितटं=किरितटं, मेघः=मेखो, व्याघ्रः=वक्खो, घर्मः=खम्मो, राजा=राचा, जर्जरम्=चच्चरं, जीमूतः=चीमूतो।

२—रकार के स्थान पर चूलिका पैशाची में लकार आदेश होता है; जैसे—गोरी=गोली, चरण=चलन, इरं=इलं।

हेमने अपभ्रंश भाषा का अनुशासन ३२९ सूत्र से ४४८ सूत्र तक किया है। इसमें अपभ्रंश भाषा के सम्बन्ध में पूरी जानकारी दी गयी है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं।

१—अपभ्रंश में एक स्वर के स्थान पर प्रायः दूसरा स्वर हो जाता है, जैसे कञ्चित्=कच्चु और काच, वेणी = वेण और वीणा, बाहु = बाह, बाहा आदि।

२—अपभ्रंश में संज्ञा शब्दों के अन्तिम स्वर विभक्ति लगाने के पूर्व कभी ह्रस्व या कभी दीर्घ हो जाते हैं; जैसे—ढोल्ल=ढोल्ला, सामल=सामला, स्वर्ण-रेखा=सुवण्णरेह।

३—अपभ्रंश में किसी शब्द का अन्तिम अ कर्ता और कर्म की एकवचन विभक्तियों के पूर्व उ में परिवर्तित हो जाता है; जैसे—दहमुहु, मयंकरु, चउमुहु, भयंकरु, आदि।

४—अपभ्रंश में पुंलिङ्ग संख्याओं का अन्तिम अ कर्त्ता कारक एकवचन में प्रायः ओ में परिवर्तित हो जाता है।

५—अपभ्रंश में संज्ञाओं का अन्तिम अ करणकारक एकवचन में इ या ए; अधिकरण कारक एकवचन में इ या ए में परिवर्तित होता है। इन्हीं संज्ञाओं के करण कारक बहुवचन में विकल्प से अ के स्थान पर ए होता है। अकारान्त शब्दों में अपादान एकवचन में हे या हु विभक्ति; अपादान बहुवचन में हुँ विभक्ति; सम्बन्ध कारक एकवचन में सु, होस्सु विभक्तियाँ और सम्बन्ध बहुवचन में हें विभक्तियाँ जोड़ी जाती है।

६—अपभ्रंश में इकारान्त और उकारान्त शब्दों के परे षष्ठी विभक्ति के बहुवचन 'आम्' प्रत्यय के स्थान पर हुं और हें; पञ्चमी एकवचन में हें; बहुवचन में हुँ; सप्तमी एकवचन में हि और तृतीया विभक्ति एकवचन मे एँ और ण विभक्ति चिह्नों का आदेश होता है।

७—अपभ्रंश भाषा में कर्ता और कर्म कारक की एकवचन और बहुवचन विभक्तियों का तथा सम्बन्ध कारक की विभक्तियों का प्रायः लोप होता है।

८—अपभ्रंश में सम्बोधन कारक के बहुवचन में हो अव्यय का प्रयोग होता है। अधिकरण कारक बहुवचन में हिं विभक्त का प्रयोग होता है।

९—स्त्रीलिङ्गी शब्दों में कर्ता और कर्म बहुवचन में उ और ओ; करण कारक एकवचन में ए; अपादान और सम्बन्ध कारक के एकवचन में हे, हु और सप्तमी विभक्ति एकवचन में हि विभक्ति का प्रयोग होता है।

१०—नपुंसकलिंग में कर्त्ता और कर्म कारकों में ई विभक्ति लगती है।

इसके आगे हेम ने सर्वनाम और युष्मद्–अस्मद् शब्दों की विभक्तियों का निर्देश किया है। हेम ने ८।४।३८२ से ३९५ सूत्र तक अपभ्रंश धातुरूपों और धात्वादेशों का निरूपण किया है।

१—ति आदि में जो आद्य त्रय हैं, उनमें बहुवचन में विकल्प से हिं आदेश, ति आदि में जो मध्य त्रय हैं, उनमें से एकवचन के स्थान में हि आदेश, बहुवचन में हु आदेश तथा अन्त्य त्रय में एकवचन में उँ और बहुवचन में हुँ आदेश होता है।

२—अपभ्रंश में अनुज्ञा में संस्कृत के हि और स्व के स्थान पर इ, उ और ए ये तीन आदेश होते हैं। भविष्यत्काल में स्य के स्थान पर विकल्प से सो होता है। क्रिये के स्थान पर अपभ्रंश में कीसु होता है।

३—भू के स्थान पर हुच्च, ब्रू के स्थान पर ब्रुन, व्रज के स्थान पर वुञ और तक्ष के स्थान पर छोल्ल आदेश होता है।

इसके आगे वर्णविकार का प्रकरण है, अपभ्रंश में अनादि और असंयुक्त क ख त थ प फ के स्थान में क्रमशः ग घ द ध ब और भ हो जाते हैं। अनादि और असंयुक्त मकार का विकल्प से अनुनासिक वकार होता है। संयुक्ताक्षरों में अधोवर्ती रेफ का विकल्प से लोप होता है। आपद्, संपद् और विपद् का द प्रायः इ में परिणत हो जाता है। कथं, यथा और तथा के स्थान में केम (कव), किम (किवँ), किह, किध, जेम (जेवँ), जिह, जिध, तेम (तेवँ), तिह, तिध आदि रूप होते हैं। यादृश, तादृश, कीदृश और ईदृश के स्थान पर जइसो, तइसो, कइसो और अइसो हो जाते हैं। यत्र का जेत्थु और जत्तु; तत्र का तेत्थु और तत्तु हो जाते हैं। कुत्र और अत्र के स्थान पर केत्थु और एत्थु; यावत् के स्थान पर जाय (जावँ) जाउँ और जामहिं तथा तावत् के स्थान

पर ताम (ताँव), ताउँ और तामहिं आदेश होते हैं। इस प्रकार हेम ने अपभ्रंश के तद्धित प्रत्ययों का विवेचन किया है।

इसके आगे पश्चात्, शीघ्र, कौतुक, मूढ, अद्भुत, रम्य, अवस्कन्द, यदि, माभैषीः आदि शब्दों के स्थान पर विभिन्न अपभ्रंश शब्दों का निर्देश किया है। कतिपय संस्कृत के तद्धित प्रत्ययों के स्थान पर अपभ्रंश प्रत्ययों का कथन भी वर्तमान है।

हेम ने इस प्रकरण में उदाहरणों के लिए अपभ्रंश के प्राचीन दोहों को रखा है, इससे प्राचीन साहित्य की प्रकृति और विशेषताओं का सहज में पता लग जाता है। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि विभिन्न साहित्यिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों के कारण भाषा में किस प्रकार मोड़ उत्पन्न होते हैं।

अष्टम अध्याय

हेमचन्द्र और अन्य प्राकृत वैयाकरण

प्राकृत भाषा का व्याकरण प्राकृत में उपलब्ध नहीं है। इस भाषा का अनुशासन करनेवाले सभी व्याकरण संस्कृत भाषा में ही विद्यमान हैं। यद्यपि व्याकरण के कतिपय सिद्धान्त प्राकृत साहित्य में फुटकर रूप में उपलब्ध हैं, तो भी पाली के समान स्वतन्त्र व्याकरण ग्रन्थ प्राकृत में अभी तक नहीं मिले है। प्रो० श्री हीरालाल रसिकलाल कापड़िया का Grammatical Topics in Paiya" शीर्षक निबन्ध[1] पठनीय है। इस निबन्ध में जैन आगम ग्रन्थों के उद्धरण संकलित कर उच्चारण विधि, वर्णविकार, वर्णागम, स्वरभक्ति, सम्प्रसारण, शब्दरूप आदि सिद्धान्तों का निरूपण किया है। कोई भी व्यक्ति इन सिद्धान्तों को देखकर सहज में अनुमान लगा सकता है कि प्राकृत भाषा में भी शब्दानुशासन सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे गये होंगे। यशस्तिलक चम्पू और षट्प्राभृत के टीकाकार श्रुतसागर सूरि ने यशस्तिलक की टीका में "प्राकृतव्याकरणाद्यनेकशास्त्ररचनाचञ्चुना" लिखा है इससे अनुमान होता है कि इनका कोई शब्दानुशासन-सम्बन्धी ग्रन्थ प्राकृत भाषा में भी रहा होगा।

संस्कृत भाषा में लिखे गये प्राकृत भाषा के अनेक शब्दानुशासन उपलब्ध है। उपलब्ध व्याकरणों में भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में संक्षिप्त रूप से दिये हुए प्राकृत व्याकरण का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। भरत ने नाट्यशास्त्र के १७ वें अध्याय में विभिन्न भाषाओं का निरूपण करते हुए ६–२३ वें पद्य तक प्राकृत व्याकरण के सिद्धान्त बतलाये हैं और ३२ वें अध्याय में प्राकृत भाषा के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। पर भरत के ये अनुशासन-सम्बन्धी सिद्धान्त इतने संक्षिप्त और अस्फुट हैं कि इनका उल्लेख मात्र इतिहास के लिए ही उपयोगी है।

कुछ विद्वान् पाणिनि का प्राकृत लक्षण नाम का प्राकृत व्याकरण बतलाते हैं। डा० पिशल ने भी अपने प्राकृत व्याकरण में इस ओर संकेत किया है; पर यह

---

१. 'पाइय' साहित्य के व्याकरण-वैशिष्ट्य सार्वजनिक सं० ४३ (अक्तूबर १९४१) तथा वर्णी-अभिनन्दन ग्रन्थ के अन्तर्गत 'पाइय' साहित्य का सिंहावलोकन' शीर्षक निबन्ध।

ग्रन्थ न तो आज तक उपलब्ध ही हुआ है और न इसके होने का कोई सबल प्रमाण ही मिला है। उपलब्ध समस्त शब्दानुशासनों में वररुचि का प्राकृत प्रकाश ही सबसे पुराना और उपयोगी व्याकरण है। प्राकृतमञ्जरी की भूमिका में वररुचि का गोत्र नाम कात्यायन कहा गया है। डा० पिशल का अनुमान है कि प्रसिद्ध वार्तिककार कात्यायन और वररुचि दोनों एक व्यक्ति हैं। यदि ये दोनों एक न भी हों, तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वररुचि पुराने वैयाकरण हैं।

प्राकृत व्याकरणों का यदि ऐतिहासिक ढंग से विचार किया जाय, तो ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी का समय बड़े महत्त्व का मालूम होता है। इन शताब्दियों में बड़े-बड़े आचार्यों ने अनेक प्रकार के विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। इसी समय में रचा गया आचार्य हेमचन्द्र का व्याकरण अपने ढंग का अनोखा है तथा यह संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का पूर्णतया ज्ञान कराने में सक्षम है। हेम के सूत्रों के अनुकरण पर कई प्राकृत व्याकरण लिखे गये हैं। प्राकृत शब्दानुशासन के तीन-चार ग्रन्थ ऐसे मिलते हैं, जिनके सूत्र अविकल हेमचन्द्र के ही हैं; पर सूत्रों की व्याख्या भिन्न-भिन्न ढंग और भिन्न-भिन्न क्रम से की गयी है, इसीलिए सूत्रों के एक रहने पर भी ये ग्रन्थ एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न-से हो गये हैं। सबसे पहली टीका त्रिविक्रम देव की बतायी जाती है. इन्होंने १०३६ सूत्रों पर पाण्डित्यपूर्ण वृत्ति लिखी है। इनकी वृत्ति को षड्भाषा चन्द्रिका के लेखक लक्ष्मीधर ने गूढ कहा है—

> वृत्तिं त्रैविक्रमीं गूढां व्याचिख्यासन्ति ये बुधाः।
> षड्भाषाचन्द्रिका तैस्तद् व्याख्यारूपा विलोक्यताम् ॥

अर्थात्—जो विद्वान् त्रिविक्रम की गूढवृत्ति को समझना और समझाना चाहते हों, वे उसकी व्याख्यारूप षड्भाषा चन्द्रिका को देखें।

त्रिविक्रम की व्याख्या सूत्र-क्रमानुसारी है, अतः इसे पाणिनीय अष्टाध्यायी की टीका काशिकावृत्ति के ढंग की कहा जा सकता है। इसके पश्चात् उक्त सूत्रों पर ही प्रकरणबद्ध टीकाएँ लक्ष्मीधर, सिंहराज और अप्पयदीक्षित की उपलब्ध हैं। लक्ष्मीधर ने षड्भाषा चन्द्रिका की रचना त्रिविक्रम के अनन्तर और अप्पय दीक्षित के पूर्व लिखी है। अप्पय दीक्षित ने अपने प्राकृत मणिदीप में अन्य लोगों के साथ इनका भी नाम लिया है।

लक्ष्मीधर की टीका विषयानुसारिणी है। इसकी तुलना हम भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्त कौमुदी से कर सकते हैं। प्राकृत भाषा का ज्ञान करने के लिए इस ग्रन्थ की उपयोगिता विद्वज्जगत् में प्रसिद्ध है।

उक्त सूत्रो के चौथे व्याख्याता सिंहराज हैं। इनके ग्रन्थ का नाम प्राकृत रूपावतार है, इन्होंने समस्त सूत्रों १०८५ पर व्याख्या नहीं लिखी है, बल्कि इनमें से चुनकर ५७५ सूत्रों पर ही अपनी उक्त टीका लिखी है। इस ग्रन्थ को एक प्रकार से षड्भाषा चन्द्रिका का संक्षिप्त रूप कहा जा सकता है। इसकी तुलना वरदराज की मध्य कौमुदी या लघु कौमुदी से की जा सकती है। कुछ लोग षड्भाषा चन्द्रिका को ही प्राकृत रूपावतार का विस्तृत रूप मानते हैं।

ऊपर जिन चार टीका ग्रन्थों का उल्लेख किया है, उनमें सूत्र वे ही हैं, जो त्रिविक्रम के प्राकृत व्याकरण में उपलब्ध हैं। कुछ विद्वान् इन सूत्रों के रचयिता वाल्मीकि को मानते हैं तथा प्रमाण में 'शम्भुरहस्य' के निम्न श्लोकों को उद्धृत करते हैं।

तथैव प्राकृतादीनां षड्भाषाणां महामुनिः।
आदिकाव्यकृदाचार्यो व्यकर्ता लोकविश्रुतः॥
यथैव रामचरितं संस्कृतं तेन निर्मितम्।
तथैव प्राकृतेनापि निर्मितं हि सतां मुदे॥

प्राकृत मणिदीप के सम्पादक ने सूत्रों का मूल रचयिता वाल्मीकि को ही माना है। लक्ष्मीधर के निम्न श्लोक से भी वाल्मीकि इन सूत्रों के रचयिता सिद्ध होते हैं।

वाग्देवी जननी येषां वाल्मीकिर्मूलसूत्रकृत।
भाषाप्रयोगा ज्ञेयास्ते षड्भाषाचन्द्रिकाऽध्वना॥

पर उक्त मान्यता का खण्डन भट्टनाथ स्वामी ने इण्डियन एंटीक्वेरी के ४० वें भाग (१९११ ई०) में "Trivikrama and his followeso" नामक निबन्ध में किया है। के० पी० त्रिवेदी, हुल्श और डा० ए० एन० उपाध्ये उक्त सूत्रों का मूल रचयिता त्रिविक्रम को ही मानते हैं। निम्न श्लोक में स्वयं त्रिविक्रम ने अपने को सूत्रों का रचयिता प्रकट किया है।

प्राकृतपदार्थसार्थप्राप्त्यै निजसूत्रमार्गमनुजिगमिषताम्।
वृत्तिर्यथार्थसिद्धयै त्रिविक्रमेणागमक्रमात्क्रियते॥

डा० ए० एन० उपाध्ये ने पूर्णरूप से विचार-विनिमय के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला है कि मूलसूत्रों के रचयिता वाल्मीकि नहीं, अपितु त्रिविक्रम देव ही हैं। हमें भी यही उचित प्रतीत होता है कि प्राकृत शब्दानुशासन के सूत्र और वृत्ति के रचयिता त्रिविक्रम देव ही हैं। उक्त आचार्यों की समय-सारिणी निम्न प्रकार है--

त्रिविक्रम (१२३६–१३०० ई०), सिंहराज (१३००–१४०० ई०) लक्ष्मीधर (१५४१–१५६५) ई० और अप्पय दीक्षित (१५५४–१६२६ ई०)।

हेमचन्द्र के साथ तुलना करने के लिए इनके पूर्ववर्ती वररुचि के प्राकृत प्रकाश, और चण्ड के *प्राकृत-लक्षण आदि ग्रन्थों* को और उत्तरकालीन ग्रन्थों में त्रिविक्रमदेव के प्राकृत शब्दानुशासन और मार्कण्डेय के प्राकृत-सर्वस्व प्रभृति ग्रन्थों को लिया जायगा तथा समता और विषमता के आधार पर हेम की प्रमुख विशेषताओं को निबद्ध करने की चेष्टा की जायगी।

हेम और वररुचि—

वररुचि ने प्राकृत (महाराष्ट्री), पैशाची, मागधी और शौरसेनी इन चार प्राकृत भाषाओं का नियमन किया है। इन्होंने पैशाची और मागधी को शौरसेनी की विकृति कहा है; अतः उक्त दोनों ही भाषाओं के लिए शौरसेनी को ही प्रकृति माना है तथा शौरसेनी के लिए प्राकृत के समान संस्कृत को ही प्रकृति कहा है। प्राकृत से इनका अभिप्राय महाराष्ट्री प्राकृत से है। यह महाराष्ट्री प्राकृत संस्कृत के नियमों के आधार पर सिद्ध होती है अर्थात् संस्कृत के शब्दों में विभक्तियों, प्रत्यय आदि के स्थान पर नयी विभक्तियाँ, नये प्रत्यय तथा वर्णागम, वर्णविपर्यय आदि के होने पर महाराष्ट्री प्राकृत सिद्ध होती है। यह भाषा नियमानुगामिनी और अत्यन्त व्यवस्थित है।

प्राकृत प्रकाश में द्वादश परिच्छेद हैं; इनमें आदि के नौ परिच्छेदों में महाराष्ट्री प्राकृत का अनुशासन, दशवें में पैशाची का, ग्यारहवें में मागधी का और बारहवें में शौरसेनी का अनुशासन किया गया है। हेमचन्द्र ने सिद्धहेम शब्दानुशासन के आठवें अध्याय में प्राकृत भाषाओं का अनुशासन किया है। इन्होंने महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश के साथ आर्ष प्राकृत का भी अनुशासन किया है। आर्ष प्राकृत से हेम का अभिप्राय जैनागमों की अर्धमागधी भाषा से है; अतः इन्होंने जहाँ-तहाँ आर्ष प्राकृत का भी नियमन किया है।

अपभ्रंश और चूलिका पैशाची का अनुशासन तो हेम का वररुचि की अपेक्षा नया है। वररुचि ने अपभ्रंश की चर्चा बिल्कुल छोड़ दी है। इसका कारण यह नहीं कि वररुचि के समय में अपभ्रंश भाषा थी नहीं; यतः पतञ्जलि ने गावी, गौणी आदि उदाहरण देकरर अपभ्रंश का अपने समय में अस्तित्व स्वीकार किया है। हेम ने अपभ्रंश भाषा का व्याकरण १२० सूत्रों में पर्याप्त विस्तार के साथ लिखा है। उदाहरणों के लिए, जैन दोहों को उद्धृत किया गया है, वे साहित्य और भाषा विज्ञान की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अपभ्रंश का व्याकरण लिख कर हेम ने उसे अमर बना दिया है। हेम ही सबसे

पहले ऐसे वैयाकरण हैं, जिन्होंने अपभ्रंश भाषा के सम्बन्ध में इतना विस्तृत अनुशासन उपस्थित किया है। लक्ष्यों में पूरे पूरे दोहे दिये जाने से लुप्तप्राय बड़े भारी साहित्य के नमूने सुरक्षित रह गये हैं। अपभ्रंश भाषा के अनुशासक की दृष्टि से हेम का महत्त्व वररुचि की अपेक्षा अत्यधिक है। अपभ्रंश व्याकरण के रचयिता होने से हेम का महत्त्व आधुनिक आर्य भाषाओं के लिए भी है। भाषा की समस्त नवीन प्रवृत्तियों का नियमन, प्ररूपण और विवेचन इनके अपभ्रंश व्याकरण में विद्यमान है। यतः अपभ्रंश से ही हिन्दी के परसर्ग, धातुचिह्न, अव्यय, तद्धित और कृत् प्रत्ययों का निर्गमन हुआ है। उपभाषा और विभाषाओं की अनेक प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश से निस्यूत हैं। अतः जहाँ वररुचि ने पुस्तकीय प्राकृत भाषा का अनुशासन लिखा, वहाँ हेम ने पुस्तकीय प्राकृत के साथ-साथ अपने समय में विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित उपभाषा और विभाषाओं का संविधान भी उपस्थित किया है। इसीलिए वररुचि की अपेक्षा हेम अधिक उपयोगी और ग्राह्य हैं। विषय-विस्तार और विषय-गाम्भीर्य जितना हेम में उपलब्ध है, उतना वररुचि में नहीं।

शैली की अपेक्षा से दोनों ही वैयाकरण समान हैं। वररुचि ने प्रथम परिच्छेद में अच् विकार—स्वरविकार, द्वितीय परिच्छेद में असंयुक्त व्यञ्जन विकार, तृतीय में संयुक्त व्यञ्जन विकार, चतुर्थ में मिश्रित वर्ण विकार, पञ्चम में शब्दरूप, षष्ठ में सर्वनाम विधि, सप्तम में तिङन्त विचार, अष्टम में धात्वादेश, नवम में निपात, दशवें में पैशाची, ग्यारहवें में मागधी और बारहवें में शौरसेनी भाषा का अनुशासन किया है। हेम ने अष्टम अध्याय के प्रथम पाद में साधारणतः १७५ सूत्रों में स्वर-परिवर्तन; १७७–२७१ सूत्र तक असंयुक्त व्यञ्जन-परिवर्तन; द्वितीय पाद के आरम्भिक १०० सूत्रों में संयुक्त व्यञ्जन परिवर्तन, व्यञ्जनादेश, व्यंजनलोप, द्वित्व प्रकरण; ११०–११५ तक स्वरभक्ति के सिद्धान्त; ११६–१२४ सूत्र तक वर्णव्यत्यय के सिद्धान्त एवं इस पाद के अवशेष सूत्रों में समस्त शब्द के स्थान पर आदेश, अव्यय आदि का निरूपण किया है। तृतीय पाद में शब्दरूप, धातुरूप, तद्धित प्रत्यय और कृत् प्रत्ययों का कथन है। चतुर्थ पाद में धात्वादेश, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश भाषाओं का अनुशासन किया है। अतएव विषयक्रम और वर्णनशैली दोनों ही हेम की वररुचि के समान हैं। इस सत्य से कोई इनकार नहीं कर सकता है कि जिस प्रकार संस्कृत शब्दानुशासन में हेम, पाणिनि, शाकटायन और जैनेन्द्र के ऋणी हैं, उसी प्रकार प्राकृत शब्दानुशासन के लिए उन पर वररुचि का ऋण है। वररुचि से हेम ने शैली तो ग्रहण की ही है, साथ ही कुछ सिद्धान्त ज्यों के त्यों और कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार किये हैं।

वररुचि का स्वरविकार-सम्बन्धी पहला सूत्र है 'आ समृद्ध्यादिषु वा' १।२। इसमें बताया है कि समृद्धि आदि शब्दों में विकल्प से दीर्घ होता है; अतः सामिद्धि, समिद्धी ये दो रूप बनते हैं। हेम ने स्वरविकार के कथन का आरम्भ सामान्य व्यवस्था से किया है। इन्होंने पहले सामान्य शब्दों में स्वरों के विकार का निरूपण कर पश्चात् विशेष-विशेष शब्दों में स्वरविकार के सिद्धान्त बतलाये हैं। जहाँ वररुचि ने आरम्भ ही विशेष-विशेष शब्दों में स्वरविकार से किया है, वहाँ हेम ने "दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ" ८।१।४ द्वारा सामान्यतया शब्दों में ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ और दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व कर देने की व्यवस्था बतलायी है। वैज्ञानिकता की दृष्टि से आरम्भ में ही हेम वररुचि से बहुत आगे हैं। यतः सामान्य शब्दों में दीर्घ-ह्रस्व की शासन व्यवस्था अवगत हो जाने पर ही समृद्धि आदि विशेष शब्दों में स्वरविकार का नियमन करना उचित और तर्कसंगत है। आरम्भ में ही विशेष शब्दों की अनुशासन व्यवस्था बतलाने का अर्थ है, सामान्य व्यवस्था की उपेक्षा। यतः सामान्य शब्दों के अनुशासन के अभाव में विशेष शब्दों का अनुशासन करना वैज्ञानिकता में त्रुटि का परिचायक है।

हेम ने समृद्धि आदि शब्दों में दीर्घ होने की शासन-व्यवस्था ८।१।४४ सूत्र में बतलायी है। समृद्धिगण को वररुचि ने आकृतिगण कहा है, पर हेम ने इसको समृद्धिगण ही कहा है। हेम ने वररुचि की अपेक्षा अनेक नये उदाहरण दिये हैं।

प्राकृत-प्रकाश में ईषत् आदि शब्दों में आदि अकार के स्थान पर इकारादेश करके सिविणो, वेडिसो आदि रूप सिद्ध किये हैं, हेम ने यही कार्य ८।१।४६ द्वारा कुछ विशेष ढंग से सम्पादित किया है।

वररुचि ने स्त्रीलिङ्गी व्यञ्जनों में आत्व का विधान 'स्त्रियामात्' ७।४ द्वारा और विद्युत् शब्द में आत्व का निषेध 'न विद्युति' ६।४ द्वारा किया है। हेम ने इन दोनों कार्यों को 'स्त्रियामादविद्युतः' ८।१।१५ इस एक ही सूत्र में समेट लिया है। हेम की अनुशासनसम्बन्धी वैज्ञानिकता यहाँ वररुचि से आगे है। प्रायः सर्वत्र ही हेम ने लाघव प्रवृत्ति का अनुसरण किया है। लोप-प्रकरण में वररुचि ने 'लोपोऽरण्ये' १।४ सूत्र द्वारा अरण्य शब्द के आदि अकार का नित्य लोप करके 'रण्णं' रूप बनाया है, पर हेम ने इसके स्थान पर 'वालाब्वरण्ये लुक्' ८।१।६६ सूत्र में अलाबु और अरण्य दोनों ही शब्दों में आदि अकार का विकल्प से लोप कर लाउं, अलाउं, रण्णं अरण्णं आदि रूपों का नियमन किया है। हेम का यह सूत्र वररुचि की अपेक्षा अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त से एक नवीन निष्कर्ष यह भी निकलता है

कि हेम के समय में रण्णं और अरण्णं ये दोनों प्रयोग होते थे, अतः हेम ने अपने समय की प्रचलित भाषा को आधार मान कर अकार लोप का वैकल्पिक अनुशासन किया है।

हेम ने छत्तिवण्णो, छत्तवण्णो, झुणी, पावासुओ, जहुट्ठिलो, जहिट्ठिलो आदि अनेक ऐसे शब्दों का अनुशासन प्रदर्शित किया है, जिनका वररुचि के प्राकृत-प्रकाश में बिल्कुल अभाव है। प्राकृत भाषा का सर्वाङ्गीण अनुशासन हेम ने लिखा है, अतः इन्होंने इसे सभी दृष्टिकोणों में पूर्ण बनाने की चेष्टा की है।

प्राकृत-प्रकाश की अपेक्षा हैम व्याकरण में निम्न विशेष कार्य दृष्टिगोचर होते हैं—

१—हेम ने स्त्रीलिंग के प्रत्ययों का निर्देश करते हुए बताया है कि संज्ञा-वाची शब्दों में विकल्प से ङी प्रत्यय होता है, अतः ८।३।३१, ८।३।३२, ८।३।३३ सूत्रों द्वारा ङी का वैकल्पिक रूप से विधान किया है, जैसे नीली, नीला; काली, काला; हसमाणी, हसमाणा; सुप्पणही, सुप्पणहा, इमीए, इमाए; साहणी, साहणा; कुरुचरी, कुरुचरा आदि। वररुचि ने इसका निर्देशन नहीं किया है।

२—'धातवोऽर्थान्तरेऽपि' ८।४।२५९ सूत्र हेम का बिल्कुल नया है, वररुचि ने धातुओं के अर्थान्तरों का संकेत भी नहीं किया है। इस सूत्र में हेम ने धातुओं के बदले हुए अर्थों का निर्देश किया है। बलि धातु प्राणन अर्थ में पठित है, पर यह खादन अर्थ में भी आता है; जैसे बलइ—खादति प्राणनं करोति वा। कलि, गणना के अर्थ में पठित है, पर पहिचानने के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जैसे कलइ—जानाति संख्यानं करोति वा। रिगिः धातु गति अर्थ में पठित है, पर प्रवेश अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है; जैसे रिगइ प्रविशति, गच्छति वा। कांक्ष के स्थान पर बम्फ आदेश होता है, इसका अर्थ इच्छा करना और मारना दोनों है। यद्यपि इसका मुख्य अर्थ इच्छा करना ही है, तो भी इसका प्रयोग मारने के अर्थ में होता है। फक्क धातु के स्थान पर थक्क आदेश होता है; इसका अर्थ नीचे गमन करना है, पर इसका प्रयोग बिलम्ब करने के अर्थ में भी होता है। इस प्रकार हेम ने ऐसे अनेक धातुओं का निरूपण किया है, जो अपने पठित अर्थ के अतिरिक्त अर्थान्तर में प्रयुक्त होते हैं।

३—हेम ने 'लुप्त-यरवशषसां दीर्घः' ८।१।४३ द्वारा प्राकृत लक्षण वश लुप्त यकार, रकार, वकार, शकार, षकार और सकार के पूर्व स्वर को दीर्घ होने का नियमन किया है; जैसे पश्यति = पासइ, कश्यपः = कासवो, आवश्यकं आवासयं, विश्राम्यति = वीसमइ, विश्रामः = वीसामो, मिश्रम् = मीसं, संस्पर्शः = संफासो, अश्वः = आसो, विश्वसिति = वीससइ, विश्वासः = वीसासो; दुश्शासनः =

दूसासणो, शिष्यः = सीसो, मनुष्यः = मणूसो, कर्षकः = कासओ, वर्षा = वासा, वर्षः = वासो, कस्यचित् = कासइ । प्राकृत-प्रकाश में इस अनुशासन का अभाव है ।

४—हेम ने क ग च ज त द प य और व का लोप कर अवशिष्ट स्वर के स्थान पर 'अवर्णो यश्रुतिः' ८।१।१८० द्वारा यश्रुति का विधान किया है। यह यश्रुति महाराष्ट्री प्राकृत की प्रमुख विशेषता है। वररुचि के प्राकृत-प्रकाश में यश्रुति का अभाव है; इसी कारण कुछ लोग हेम की महाराष्ट्री को जैन महाराष्ट्री कहते हैं; पर हमारी समझ से यह बात नहीं है। यश्रुति सेतुबन्ध और गउडवहो जैसे महाराष्ट्री के काव्यों में विद्यमान है। हेम द्वारा प्रदत्त उदाहरणों में से कुछ को उद्धत किया जाता है।

तीर्थंकरः=तित्थयरो, शकटं = सयडं, नगरं = नयरं, मृगाङ्कः = मयङ्को, कचग्रहः = कयग्गहो, काचमणिः = कायमणी, रजतं = रययं, प्रजापतिः = पयावई, रसातलं = रसायलं, पातालं=पायालं, मदनः=मयणो, गता = गया, नयनं = नयणं, लावण्यं = लायण्णं ।

५—वररुचि ने यमुना शब्द के ककार का २।३ द्वारा लोप कर जउणा रूप सिद्ध किया है, पर हेम ने 'यमुना-चामुण्डा-कामुकातिमुक्तके मोऽनुनासिकश्च' ८।१।१७८ सूत्र द्वारा यमुना, चामुण्डा, कामुक और अतिमुक्तक शब्दों के यकार के स्थान पर अनुनासिक करने का विधान किया है; अतः यमुना = जउँणा, चामुण्डा = चाउँण्डा, कामुकः—काउँओ, अतिमुक्तकः = अणिउँतयँ । इस सिद्धान्त के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि वररुचि की अपेक्षा हेम का उक्त अनुशासन मौलिक और वैज्ञानिक है तथा यह प्रवृत्ति भाषा की परिवर्तनशीलता का सूचक है।

६—वररुचि ने प्राकृत-प्रकाश में गद्गद् और संख्यावाची के दकार के स्थान पर रकारादेश करने के लिए 'गद्गदेरः' २।१३ और 'संख्यायाश्च' २।१४ ये दो सूत्र ग्रन्थित किये हैं; हेम ने उक्त दोनों कार्यों के लिए 'संख्यागद्गदेरः' इस एक ही सूत्र का निर्माण कर अपना लाघव दिखलाया है।

७—वररुचि ने २।३५ द्वारा दोला, दण्ड और दशन आदि शब्दों के आद्यवर्ण के स्थान पर डकारादेश किया है; हेम ने इसी सूत्र को विकसित कर दशन, दष्ट, दग्ध, दोला, दण्ड, दाह, दम्भ, दर्भ, कदन, दोहद और दर शब्दों के दकार के स्थान पर डकारादेश किया है। हेम का यह स्पष्टीकरण शब्दानुशासक की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

८—३।३१ द्वारा वररुचि ने क्षमा, वृक्ष और क्षण शब्द के क्षकार के स्थान में विकल्प से छकार आदेश किया है; किन्तु हेम ने 'क्षमायां कौ' ८।२।१८

सूत्र से पृथ्वीवाचक क्षमा शब्द के क्षकार के स्थान पर छकार तथा 'क्षणे उत्सवे' ८।२।२० द्वारा उत्सववाची क्षण के क्षकार के स्थान पर छकार आदेश किया है। उक्त अर्थों से इतर अर्थ होने पर उपर्युक्त दोनों ही शब्दों के स्थान पर ख आदेश किया है। अर्थ विशेष की दृष्टि से भाषा का इस प्रकार अनुशासन करना हेम की मौलिकता का परिचायक है।

९—जहाँ प्राकृत-प्रकाश में तीन-चार तद्धित प्रत्ययों का ही उल्लेख है, वहाँ हैम में सैकड़ों प्रत्ययों का नियमन आया है। विषय-विस्तार और सर्वाङ्गीणता की दृष्टि से हेम वररुचि से बहुत आगे हैं। हमें ऐसा लगता है कि जिस प्रकार चक्रवृद्धि सूद की दर से ऋण लेने पर एक का दश गुना अदा करना पड़ता है, उसी प्रकार हेम ने वररुचि से कतिपय सिद्धान्त ग्रहण किये; पर उनको दशगुने ही नहीं, शतगुने विकसित, संशोधित और परिमार्जित कर उपस्थित किया है।

अब यहाँ उन सूत्रों की तालिका दी जा रही है, जो हैम व्याकरण और प्राकृत-प्रकाश में समान रूप से या थोड़े से परिवर्तन के साथ उपलब्ध हैं।

प्राकृत-प्रकाश	हेम शब्दानुशासन
आ समृद्ध्यादिषु वा १।२	अतः समृद्ध्यादौ वा ८।१।४४
ईदीषत्पक्व १।३	इः स्वप्नादौ ८।१।४६
लोपेऽरण्ये १।४	वालाब्वरण्ये लुक् ८।१।६६
ए शय्यादिषु १।५	एच्छय्यादौ ८।१।५७
ओ च द्विधा कृञः १।१६	ओच्च द्विधाकृगः ८।१।९७
ईत् सिंहजिह्वयोश्च १।१७	ईर्जिह्वासिंहत्रिंशद्विंशतौ त्या ८।१।९२
इदीतः पानीयादिषु १।१८	पानीयादिष्वित् ८।१।१०१
एन्नीडापीडकी १।१९	एत्पीयूष...८।१।१०५ तथा ८।१।१०६
अन्मुकटादिषु १।१२	उतो मुकुलादिष्वत् ८।१।१०७
इत्पुरुषे रोः १।२३	पुरुषे रोः ८।१।१११
उदूत मधुके १।२४	मधुके वा ८।१।१२२
अद् दुकूले वा लस्य द्वित्वम् १।२५	दुकूले वा लश्च द्विः ८।१।११९
एन्नूपुरे १।२६	इदेतौ नूपुरे वा ८।१।१२३
ऋतोऽत् १।२७	ऋतोत् ८।१।१२६
उदृत्वादिषु १।२९	उदृत्वादौ ८।१।१३१
लृतः क्लृतइलिः १।३३	लृतः इलिक्लृप्त क्लृन्ने ८।१।१४५
ऐत इद्वेदनादेवरयोः १।३४	एत इद्वा वेदना...८।१।१४६
ऐत एत् १।३५	ऐत् एत् ८।१।१४८

दैवे वा १।३७	एच्च दैवे ८।१।१५३
उत्सौन्दर्यादिषु १।४४	उत्सौन्दर्यादौ ८।१।१६०
पौरादिष्वउ १।४२	अउः पौरादौ च ८।१।१६२
आ च गौरवे १।४३	आच्च गौरवे ८।१।१६३
कगचजतदपयवां प्रायो लोपः २।२	कगचजतदपयवां प्रायो लुक् ८।१।१७७
स्फटिकनिकषचिकुरेषु कस्य हः २।४	निकष-स्फटिक-चिकुरे हः ८।१।१८६
शीकरे भः २।५	शीकरे भ-हौ वा ८।१।१८४
चन्द्रिकायां मः २।६	चन्द्रिकायां मः ८।१।१८५
गर्भिते णः २।१०	गर्भितातियुक्तके णः ८।१।२०८
प्रदीप्तकदम्बदोहदेषु दोलः २।१२	प्रदीपि-दोहदे लः; कदम्बे ८।१।२२१-२२२
गद्गदेरः २।१३	संख्यागद्गदे रः ८।१।२१९
पो वः २।१५	पो वः ८।१।२३१
छायायां ह २।१८	छयायां होकान्तो वा ८।१।२४९
कबन्धे बो मः २।१९	कबन्धे मयौ ८।१।२३९
टो डः २।२०	टो डः ८।१।१९५
सटाशकटकैटभेषु ढः २।२१	सटाशकटकैटभे ढः ८।१।१९६
स्फटिके लः २।२२	स्फटिके लः ८।१।१९७
डस्य च २।२३	डो लः ८।१।२०२
ठो ढः २।२४	ठो ढः ८।१।१९९
अङ्कोले ल्लः २।२५	अङ्कोठे ल्लः ८।१।२००
फो भः २।२६	फो भ-हौ ८।१।२३६
खघथधभां हः २।२७	खघथधभाम् ८।१।१८७
कैटभे वः २।२९	कैटभे भो वः ८।१।२४०
हरिद्रादीनां रोलः २।३०	हरिद्रादौ लः ८।१।२५४
आदेर्यो जः २।३१	आदेर्यो जः ८।१।२४५
यष्ट्यां लः २।३२	यष्ट्यां लः ८।१।२४७
विसिन्यां भः २।३८	विसिन्यां भः ८।१।२३८
मन्मथे वः २।३९	मन्मथे वः ८।१।२४२
✓नो णः सर्वत्र २।४२	✓नो णः ८।१।२२८
शषोः सः २।४३	शषोः सः ८।१।२६०
दशादिषु हः २।४४	दशपाषाणे हः ८।१।२६२
दिवसे सस्य २।४६	दिवसे सः ८।१।२६३
स्नुषायां ण्हः २।४७	स्नुषायां ण्हो न वा ८।१।२६१

किरति चः २।३३	किरति चः ८।१।१८३
स्तम्भे खः ३।१४	स्तम्भे स्तो वा ८।२।८
स्थाणावहरे ३।१५	स्थाणावहरे ८।२।७
युक्तस्य ३।९	संयुक्तस्य ८।२।१
नधूर्तादिषु ३।२४	र्तस्याधूर्तादौ ८ २।३०
गर्ते डः ३।२५	गर्ते डः ८।२।३५
चिन्हे न्धः ३।३४	चिन्हे न्धो वा ८।२।५०
ष्पस्य फः ३।३५	ष्पस्पयोः फः ८।२।५३
कार्षापणे ३।३९	कार्षापणे ८।२७१
वृश्चिके ञ्छः ३।४१	वृश्चिकेश्चेञ्चुर्वा ८।२।१६
न्मो मः ३।४३	न्मो मः ८।२।६१
तालवृन्ते ण्टः ३।४५	वृन्ते ण्टः ८।२।३१
मध्याह्ने ह्रस्य ३।७	मध्याह्ने हः ८।२।८४
द्रे रो वा ३।४	द्रे रो न वा ८।२।८०
श्मश्रुश्मशानयोरादेः ३।६	आदेः श्मश्रुश्मशाने ८।२।८६
आम्रताम्रयोर्वः ३।५३	ताम्राम्रे म्ब ८।२।५६
समासे वा ३।५७	समासे ८।२।९७
सेवादिषु ३।५८	सेवादौ वा ८।२।९९
कृष्णे वा ३।६१	कृष्णे वर्णे वा ८।२।११०
ज्यायामीत् ३।६६	ज्यायामीत् ८।२।११५
अन्त्यहलः ४।६	अन्त्यव्यञ्जनस्य ८।१।११
रोरा ४।८	रोरा ८।१।१६
शरदो दः ४।१०	शरदादेरत् ८।१।१८
दिक्प्रावृषोः सः ४।११	दिक्प्रावृषोः सः ८।१।१९
मो बिन्दुः ४।१२	मोऽनुस्वारः ८।१।२३
अचिमश्च ४।१३	वा स्वरे मश्च ८।१।२४
वक्रादिषु ४।१५	वक्रादावन्तः ८।१।२६
मांसादिषु वा ४।१६	मांसादेर्वा ८।१।२९
नसान्तप्रावृट्शरदः पुंसि ४।१८	प्रावृट्शरत्तरणयः पुंसि ८।२।३१
न शिरो नभसी ४।१९	स्नमदामशिरोनभः ८।२।३२
आलाने लनोः ४।२९	आलाने लनोः ८।२।११७
बृहस्पतौ बहोर्भऔ ४।३०	बृहस्पतौ बहोर्भऔ ८।२।१३७
जश्शसोर्लोपः ५।२	जशशसोर्लुक् ८।३।४

अत ओत्सोः ५।१	अतः सेर्डोः ८।३।२
अतो मः ५।३	अमोस्य ८।३।५
टामोर्णः ५।४	टा-आमोर्णः ८।३।६
भिसो हि ५।५	भिसो हि हिँ हिं ८।३।७
स्सो ङसः ५।८	ङस स्सः ८।३।१०
ङेरेम्मी ५।९	ङेम्मि ङे ८।३।११
मातुरात् ५।३२	आअरा मातुः ८।३।४६
आ च सौ ५।३५	आ सौ न वा ८।३।४८
राज्ञश्च ५।३६	राज्ञः ८।३।५०
टाणा ५।४१	टो णा ८।३।५१
सर्वादेर्जस एत्त्वम् ६।१	अतः सर्वादेर्डेर्जसः ८।३।५८
ङेः स्सिम्मित्थाः ६।२	ङेः स्सिं-म्मि-त्थाः ८।३।५९
आम एसिं ६।४	आमो डेसिं ८।३।६७
किं यत्तद्भ्यो ङस आसः ६।५	किंयत्तद्भ्यो ङसः ८।३।६३
इद्भ्यः स्सा से ६।६	ईद्भ्यः स्सासे ८।३।६४
किमः कः ६।१३	किमः किं ८।३।८०
इदम इमः ६।१४	इदम इमः ८।३।७२
स्सस्सिमोरद्वा ६।१५	स्सिं स्समोरत् ८।३।७४
ङे र्देन डः ६।१६	ङेर्मेन हः ८।३।७५
नत्थः ६।१७	नत्थः ८।३।७६
द्वेर्दो ६।५४	द्वेर्दो वा ८।३।११९
श्रोत्ति ६।५५	त्रेस्ती तृतीयादौ ८।३।११८
चतुरश्चत्तारो चत्तारि ६।५८	चतुरश्चत्तारो चउरो चत्तारि ८।३।१२२
शेषेऽदन्तवद् ६।६०	शेषेऽदन्तवत् ८।३।१२४
चतुर्थ्याः षष्ठी ६।६४	चतुर्थ्याः षष्ठी ८।३।१३१
न्तुहमो बहुषु ७।१९	बहुषु न्तु ह्मो ८।३।१७६
वर्तमान...७।२०	वर्तमाना...८।३।१७७
मध्ये च ७।२१	मध्ये च स्वरान्ताद्वा ८।३।१७८
क्के ७।३२	क्के ८।३।१५६
ए च ७।३३	एच्च....८।३।१५७
भुवो हो उवो ८।१	भुवेर्हो हुव-हवाः ८।४।६०
क्के हुः ८।२	क्के हूः ८।४।६४
दृशो दूमः ८।८	दूङो दूमः ८।४।२३

कृञ का....८।१७	आ कृञो ८।४।२१४
क्त्वस्तूनं १३।११	क्त्वस्तूनः ८।४।३१२
हृदयस्य हितअकं ७।१४	हृदये यस्य पः ८।४।३१०
शस्य ञ्ञः १०।९	शोञ्ञः पैशाच्याम् ८।४।३०३
क्षस्य स्कः ११।८	क्षस्य><कः ८।४।९६
जो यः ११।४	जद्ययां यः ८।४।२९२
चिट्ठस्य चिष्ठः ११।१४	तिष्ठश्चिष्ठः ८।४।२९२
क्त्व इअः १२।९	क्त्व इय दूणी ८।४।२७१ ✓
कृगमोदुअः १२।१०	कृगमोऽडुअः ८।४।२७२
भो भुवस्तिङि १२।१२	भुवो भः ८।४।२६९

चण्ड और हेमचन्द्र

डॉ हार्नले चण्डको पर्याप्त प्राचीन मानते हैं। पिशल ने भी इन्हें वररुचि और हेम से प्राचीन स्वीकार किया है। चण्ड ने प्राकृत लक्षण नाम का एक छोटासा आर्ष प्राकृत का व्याकरण लिखा है। इन्होंने प्राकृत शब्दों को तीन भागों में बाँटा है—(१) संस्कृतयोनि—संस्कृत शब्दों के आधार पर निष्पन्न शब्द; जैसे यज्ञः = जन्नो, नित्यं = निच्चं आदि; (२) संस्कृतसम – संस्कृत भाषा के शब्द ज्यों के त्यों रूप में गृहीत; जैसे शूरः = सूरो, सोमः = सोमो, जालं = जालं आदि तथा (३) देशी शब्द; जैसे हर्षितं = लहासिअं, स्पष्टं = पुट्ठं आदि।

प्राकृत लक्षण में तीन प्रकरण हैं = विभक्तिविधान, स्वरविधान और व्यञ्जन-विधान। इसमें कुल १९५ सूत्र आये हैं। इस ग्रन्थ में अत्यन्त संक्षेपपूर्वक प्राकृत भाषा का व्याकरण लिखा गया है। इस अकेले ग्रन्थ के अध्ययन से प्राकृत भाषा का ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता है। हाँ, आर्ष प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ अवश्य इस व्याकरण द्वारा जानी जा सकती हैं। हेमचन्द्र ने भी 'आर्षम्' ८।१।३ सूत्र द्वारा आर्ष प्राकृत के अनुशासनों को बहुलं कहा है तथा जहाँ—तहाँ आर्ष प्राकृत के उदाहरण भी दिये हैं। हेमचन्द्र ने आद्य नकार के स्थान पर विकल्प से नकार माना है, यह आर्ष प्राकृत का ही प्रभाव है।

प्राकृत लक्षण और हैम व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन करने से ऐसा ज्ञात होता है कि प्राकृत लक्षण के कतिपय नियमों को हेम ने अपने प्राकृत शब्दानुशासन में स्थान दिया है। प्राकृत लक्षण के १।७, १।८, १।९, २।३, २।४ सूत्र हैम व्याकरण में ८।३।२४, ८।३।७, ८।३।९, ८।१।८, ८।१।१६ सूत्र के रूप में उपलब्ध हैं। हैम आर्ष प्राकृत के उदाहरण वे ही हैं, जो प्राकृत लक्षण में आये हैं। स्वर और व्यञ्जन-परिवर्तन के सिद्धान्त प्राकृत लक्षण में

अत्यन्त संक्षिप्त हैं, हेम ने इनका अधिक विस्तार किया है। तद्धित और कृत् प्रत्यय, धात्वादेश आदि का प्राकृत लक्षण में बिल्कुल अभाव है, पर हैम व्याकरण में इतना खूब विस्तार विद्यमान है। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि प्राकृत लक्षण केवल आर्ष भाषा का अनुशासन करता है और उसका यह अनुशासन भी अपूर्ण है, पर हैम व्याकरण सभी प्रकार के प्राकृतों का पूर्ण और सर्वाङ्गीण अनुशासन करता है। **हाँ, यह सत्य है कि हेम प्राकृत लक्षण से प्रभावित हैं।** चण्ड ने एक ही सूत्र में अपभ्रंश का लक्षण बतलाते हुए लिखा है कि अधःस्थित रेफ का लोप नहीं होता है। अपभ्रंश भाषा की अन्य विशेषताओं का जिक्र इन्होंने नहीं किया।

हेम और त्रिविक्रम—

जिस प्रकार हेम ने सर्वाङ्गपूर्ण प्राकृत शब्दानुशासन लिखा है, उसी प्रकार त्रिविक्रम देव ने भी। स्वोपज्ञ वृत्ति और सूत्र दोनों के ही उपलब्ध हैं। हेम ने अष्टम अध्याय के चार पादों में ही समस्त प्राकृत शब्दानुशासन के नियम लिखे हैं, त्रिविक्रम ने तीन अध्याय और प्रत्येक अध्याय के चार-चार पाद; इस प्रकार कुल १२ पादों में अपना शब्दानुशासन लिखा है। हेम के सूत्रों की संख्या १११९ और त्रिविक्रम के सूत्रों की संख्या १०३६ है। दोनों शब्दानुशासकों का वर्ण्य विषय प्रायः समान है। त्रिविक्रम ने हेम के सूत्रों में ही कुछ फेर-फार कर के अपना शब्दानुशासन लिखा है। त्रिविक्रम और हेम की तुलना करते हुए डॉ. पी. एल. वैद्य ने त्रिविक्रमदेव के प्राकृत शब्दानुशासन की भूमिका में लिखा है—"The Subject matter Covered by both is almost the same. Trivikrama has newly added the following Sūtras : 1.1.1-16; 1.1.38; 1.1.45; 1.2.109 (पुआद्याद्याः); 1.3.14; 1.3.77; 1.3.100; 1.3.105 (गोणाद्याः); 1.4.83; 1.4.85; 1.4.107; 1.4.120; 1.4.121 (गहिआद्याः); 2.1.30 (वरइत्तगाः); 2.2.9; 3.1.129; 3.4.65-67 and 3.4.72 (झाडगाः); in all 32. of these, 17 Sūtras relate to new technical terms used by Trivikrama; four sūtras relate to the groups of Desi words for which Hemachandra has only one sūtra in his gramamar and an entire work, the देशीनाममाला and the remaining sutras add a few new words not treated by Hemachandra. Thus the subject-matter of

1119 sūtras of Hemachadra has been compressed by Trivikrama in about 1000 sūtras.*

त्रिविक्रम ने क्रम-विपर्यय और सूत्रच्छेद द्वारा पूरी तरह से हेमचन्द्र का अनुकरण किया है। कुछ संज्ञाएँ ह, दि स और ग आदि त्रिविक्रम ने नये रूप में लिखी हैं; किन्तु इन संज्ञाओं से विषय-निरूपण में सरलता की अपेक्षा जटिलता ही आ गई है। त्रिविक्रम ने अपने व्याकरण में हेम की अपेक्षा देशी शब्दों का संकलन अधिक किया है। हेम विशुद्ध वैयाकरण हैं, अतः इन्होंने वैज्ञानिकता में त्रुटि आ जाने के भय से देशी शब्दों का उल्लेख भर ही किया है। देशज शब्दों का पूरी तरह संकलन देशी नाममाला कोश में है।

त्रिविक्रम ने देशी शब्दों का वर्गीकरण कर हेम की अपेक्षा एक नयी दिशा को सूचित किया है। यद्यपि अपभ्रंश के उदाहरण हेमचन्द्र के ही हैं, तो भी उनकी संस्कृत छाया देकर अपभ्रंश पद्यों को समझने में पूरा सौकर्य प्रदर्शित किया गया है।

त्रिविक्रम ने अनेकार्थ शब्द भी दिये हैं। इन शब्दों के अवलोकन से तत्कालीन भाषा की प्रवृत्तियों का परिज्ञान तो होता ही है, पर इनसे अनेक सांस्कृतिक बातें भी सहज में जानी जा सकती हैं। यह प्रकरण हेम की अपेक्षा विशिष्ट है, यहाँ इनका यह कार्य शब्दशासक का न होकर अर्थ शासक का हो गया है। कुछ शब्द निम्न प्रकार हैं—

ऊसरी = उष्णजल, स्थली
केडु = फैलना, फेन, श्याल और दुर्बल
तोल, तोडु = पिशाच और शलभ
डिंखा = आतंक और त्रास
लुबी = लाल और स्तबक
अमार = नदी के बीच का टीला, कछुआ
करोड = कौआ, नारियल और बैल

ओहम = नीवी और अवगुण्ठन
वमार = गुफा और संवरत
उप्फल = बब्बरी
कादिल्ली = व्याकरण और भ्राष्ट
काण्ड = सिंह और कौआ
झाड = लतागहन और वृक्ष
गोपी = सम्पत्ति और बाला

हेम ने अपने व्याकरण में धात्वादेश या वर्णादेश में संस्कृत धातुओं के वर्णों का या अकारादि वर्णों का क्रम रखा है; जैसे—कथ्, गम्, जुगुप्स् आदि, पर त्रिविक्रम ने विभिन्न अध्यायों के दो पादों में धात्वादेश दिया है; किन्तु उनके चयन का कोई भी वैज्ञानिक क्रम नहीं है।

त्रिविक्रम ने हेमचन्द्र के सूत्रों की संख्या को घटाने का पूरा प्रयास किया है।

* See Introduction of Trivikrama's prakrit grammar P. xxvii.

इन्होंने ११११ सूत्रों के विषय को १००० सूत्रों में ही लिखने की सफल चेष्टा की है। यह सही है कि हेम की अपेक्षा त्रिविक्रम में लाघव प्रवृत्ति अधिक है। हेम के प्रायः सभी सूत्र त्रिविक्रम ने सूत्रच्छेद या क्रमभंग द्वारा ग्रहण कर लिये हैं। कुछ गणपाठ त्रिविक्रम के हेम की अपेक्षा नये हैं तथा कतिपय गणों की नामावली भी हेम से भिन्न है।

लक्ष्मीधर, सिंहराज और हेमचन्द्र

लक्ष्मीधर और सिंहराज त्रिविक्रमदेव के सूत्रों के व्याख्याता ही हैं। लक्ष्मीधर ने बताया है—

> वृत्तिं त्रैविक्रमीं गूढां व्याचिख्यासन्ति ये बुधा।
> षड्भाषाचन्द्रिका तैस्तद्व्याख्या रूपा विलोक्यताम् ॥

लक्ष्मीधर ने सिद्धान्तकौमुदी का क्रम रख कर उदाहरण सेतुबन्ध, गउडवहो, गाहासत्तशती, कर्पूर मंजरी आदि ग्रन्थों से दिये गये हैं और छहों प्रकार की प्राकृत भाषाओं का अनुशासन प्रकरणानुसार लिखा गया है। षड्भाषा चन्द्रिका के देखने से यही कहा जा सकता है कि हेम कुशल वैयाकरण हैं तो लक्ष्मीधर साहित्यकार। अतः दोनों की दो शैलियाँ होने से रचनाक्रम और प्रतिपादन में मौलिक अन्तर है। कतिपय उदाहरण तो दोनों के एक ही हैं; पर कुछ उदाहरण लक्ष्मीधर के हेम से बिल्कुल भिन्न हैं। इतने पर भी लक्ष्मीधर पर हेम का प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है।

सिंहराज भी कुशल वैयाकरण हैं। लघुसिद्धान्त कौमुदी के ढंग का इनका 'प्राकृत रूपावतार' नाम का ग्रन्थ है। इसमें संक्षेप से सन्धि, शब्दरूप, धातुरूप, समास, तद्धित आदि का विचार किया है। हेम यदि पाणिनि हैं तो सिंहराज वरदाचार्य। शब्दानुशासन के सिद्धान्तों की दृष्टि से हैम व्याकरण विस्तृत और पूर्ण है। हाँ, व्यवहार की दृष्टि से आशुबोध कराने के लिए प्राकृत रूपावतार अवश्य उपयोगी है।

मार्कण्डेय और हेमचन्द्र

मार्कण्डेय का प्राकृतसर्वस्व एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसका रचनाकाल १७वीं शती माना गया है। मार्कण्डेय ने प्राकृत भाषा के भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाची ये चार भेद किये हैं। भाषा के महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी; विभाषा के शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरिकी और शाक्की; अपभ्रंश के नागर, व्राचड और उपनागर एवं पैशाची के कैकयी, शौरसेनी और पाञ्चाली ये भेद बतलाये हैं और इन सभी प्रकार की भाषा और उपभाषाओं का अनुशासन उपस्थित किया गया है। उदाहरणों में

बृहत्कथा, सप्तशती, सेतुबन्ध, गौडवहो, शाकुन्तल, रत्नावली, मालतीमाधव, मृच्छकटिक, वेणीसंहार, कर्पूरमञ्जरी एवं विलासवती सट्टक आदि साहित्यिक ग्रन्थों तथा भरत, कोहल, भट्टि, भोजदेव और पिंगल आदि लेखकों की रचनाओं से दिये गये हैं।

हेमचन्द्र ने जहाँ पश्चिमीय प्राकृत भाषा की प्रवृत्तियों का अनुशासन उपस्थित किया है, वहाँ मार्कण्डेय ने पूर्वीय प्राकृत की प्रवृत्तियों का नियमन प्रदर्शित किया है। यह सत्य है कि हेम का प्रभाव मार्कण्डेय पर पर्याप्त है। अधिकांश सूत्रों पर हेम की छाया दिखलाई पड़ती है परन्तु उदाहरण साहित्यिक कृतियों से संगृहीत होने के कारण हेम की अपेक्षा नये हैं।

हेम ने यष्टि से लट्ठी शब्द बनाया है, पर मार्कण्डेय ने यष्टि से जट्ठी शब्द का साधुत्व दिखलाया है। मार्कण्डेय में पूर्वी प्रवृत्तियाँ हेम की अपेक्षा अधिक वर्तमान हैं।

हेमचन्द्र का प्रभाव उत्तरकालीन सभी प्राकृत वैयाकरणों पर गहरा पड़ा है। शतावधानी मुनिश्री रत्नचन्द्र का 'जैनसिद्धान्त कौमुदी' नामक अर्द्धमागधी व्याकरण, पं० बेचरदास दोशी के प्राकृत व्याकरण और प्राकृतमार्गोपदेशिका; पटना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रो० श्री जगन्नाथराम शर्मा का अपभ्रंश दर्पण, डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल का प्राकृत विमर्श एवं प्रो० श्री देवेन्द्रकुमार का अपभ्रंश प्रकाश आदि रचनाएँ हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के आधार पर ही लिखी गयी हैं।

नवम अध्याय

हैम व्याकरण और आधुनिक भाषाविज्ञान

भाषाविज्ञान के द्वारा ही भाषाओं का वैज्ञानिक विवेचन किया जाता है। प्रधानतः इसके अन्तर्गत ध्वनि, शब्द, वाक्य और अर्थ इन चारों का विचार और गौणरूप से भाषा का आरम्भ, भाषाओं का वर्गीकरण, भाषा की व्युत्पत्ति, शब्द समूह, भाषाविज्ञान का इतिहास, प्रागैतिहासिक खोज, लिपि प्रभृति विषयों का विचार किया जाता है।

भाषा का मुख्य कार्य विचार-विनिमय या विचारों, भावों, और इच्छाओं का प्रकट करना है। यह कार्य वाक्यों द्वारा ही किया जाता है, अतः वाक्य ही भाषा का सबसे स्वाभाविक और महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। इन्हीं वाक्यों के आधार पर हम भाषा का रचनात्मक अध्ययन करते हैं।

वाक्य का निर्माण शब्दों से होता है, अतः शब्दों के रूप पर विचार करना (morphology) तत्त्व कहलाता है। इसके प्रधान दो तत्त्व हैं—प्रकृति और प्रत्यय। प्रकृति या धातु शब्द का वह प्रधान रूप है, जो स्वयं स्वतन्त्र रहकर अपने साथ वाले प्रत्ययरूपों को अपने सेवार्थ या सहायतार्थ अपने आगे, पीछे या मध्य में जहाँ भी आवश्यकता होती है, उपयोग कर लेता है। प्रत्यय शब्दों का वह रूप है, जो धातु के सहायतार्थ धातु के आगे, पीछे या मध्य में प्रयुक्त होता है।

जिस प्रकार वाक्य शब्दों के संयोग से बनते हैं, उसी प्रकार शब्द ध्वनियों के संयोग से। तात्पर्य यह है कि भाषा की सबसे पहली इकाई ध्वनि है; जिसके आधार पर भाषा का सम्पूर्ण प्रासाद खड़ा हुआ है। ध्वनियों पर विचार करने के लिए ध्वनियन्त्र, ध्वनि उत्पन्न होने की क्रिया, ध्वनिवर्गीकरण, ध्वनियों की श्रवणीयता प्रभृति बातों पर विचार किया जाता है। यही विचार ध्वनिविज्ञान (Phonetics) कहलाता है।

अर्थ भाषा का आन्तरिक अवयव है; जबकि वाक्य, शब्द और ध्वनिबाह्य; अथवा यों कहा जा सकता है कि वाक्य, शब्द और ध्वनि भाषा का शरीर है तो अर्थ उसकी आत्मा।

हैम व्याकरण में हमें ध्वनिपरिवर्तन की समस्त दिशाएँ उपलब्ध होती हैं। आचार्य हेम ने ध्वनिविकारों का विवेचन बड़ी स्पष्टता के साथ किया है। इस विवेचन के आधार पर उन्हें आधुनिक भाषाविज्ञानी के पद पर अधिष्ठित

किया जा सकता है। यों तो हैम में शब्दविज्ञान, प्रकृति-प्रत्यय विज्ञान, वाक्यविज्ञान आदि सभी भाषा वैज्ञानिक तत्त्व उपलब्ध हैं; किन्तु हम यहाँ हैम-व्याकरण की ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी दिशाओं का निर्देश करेंगे और उनके भाषाविज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों का विश्लेषण भी।

ध्वनिपरिवर्तन मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं—स्वयम्भू (Unconditional phonetic changes) और परोद्भूत (Conditional phonetic Changes), भाषा के प्रवाह में स्वयम्भू परिवर्तन किसी विशेष अवस्था या परिस्थिति की अपेक्षा किये बिना कहीं भी घटित हो जाते हैं। अकारण अनुनासिकता नाम का ध्वनि परिवर्तन इसी में आता है। यद्यपि अकारण संसार में कोई कार्य नहीं होता, पर अज्ञात कारण होने से इसे अकारण कहा जाता है। हेम ने यमुना, चामुण्डा आदि शब्दों में अकारण अनुनासिकता का निरूपण किया है। वररुचि ने मात्र मकारलोप की चर्चा की है; किन्तु हेम ने भाषा के प्रवाह में अनुनासिकता के आ जाने से कतिपय शब्दों में स्वयम्भू परिवर्तन की ओर संकेत किया है।

परोद्भूत ध्वनि परिवर्तन पर हेम ने पर्याप्त लिखा है। इस परिवर्तन में सर्वप्रथम लोप (Elision) आता है। कभी-कभी बोलने में शीघ्रता या स्वराघात के प्रभाव से कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है। लोप दो प्रकार का संभव है—स्वरलोप और व्यंजन लोप। पुनः इन दोनों के तीन-तीन भेद हैं—आदिलोप, मध्यलोप और अन्तलोप।

आदि स्वर-लोप (Aphesis)—

हेम ने 'वालाब्वरण्ये लुक्' ८।१।६६ द्वारा अलाबु और अरण्य शब्द के आदि स्वर अकार का लोपकर आदि स्वरलोप सिद्धान्त का निरूपण किया है। जैसे अलाबु = लाउं, अलाबु = लाऊ, अरण्यं = रण्णं आदि।

मध्यस्वर लोप—(Syncope)

मध्यस्वर लोप का सिद्धान्त हेम ने 'लुक्' ८।१।१० में बहुत स्पष्टरूप से निरूपित किया है और बताया है कि स्वर के परे स्वर का लोप होता है। 'दीर्घह्रस्वौमिथो वृत्तौ ८।१।४ में भी मध्यस्वर लोप का सिद्धान्त निहित है। यथा—

राजकुलं = राअउलं = राउलं
तवार्द्धं = तुह अद्धं = तुहद्धं
ममार्द्धं = मह अद्धं = महद्धं
पादपतनं = पाअवडणं = पावडणं
कुम्भकारः = कुंभ आरो = कुंभारो
पवनोद्धतम् = पवणोद्धअं = पवणुद्धअं
सौकुमार्यं = सोअमल्लं = सोमल्लं
अन्धकारः = अंध आरो = अंधारो
स्कन्धावारः = खंद आरो = खंदारो
पादपीठं = पाअवीढं = पावीढं

अन्त्यस्वर लोप के उदाहरण प्राकृत में नहीं मिलते; अतः हेम ने अन्तस्वर-लोप पर विचार नहीं किया है।

आदि व्यञ्जनलोप—

हेम ने सीधे आदि व्यञ्जन के लोप की चर्चा नहीं की है, पर संयुक्त वर्णों के परिवर्तन के प्रकरण में आदि व्यञ्जन के लोप की बात आ ही गयी है। इन्होंने ८।२।६, ८।२।७, ८।२।८ और ८।२।९ में आदि व्यञ्जन के लोप का कथन किया है। यथा—

क्ष्वोटकः = खोडओ	स्तम्भ = खम्भ
स्फोटकः = खोडओ	स्तम्भ = ठम्भ
स्थाणु = थाणु	स्तम्भ्यते = थम्भिज्जइ, ठम्भिज्जइ

मध्यव्यञ्जन लोप—

मध्य व्यञ्जन लोप का प्रकरण तो हेम व्याकरण में विस्तारपूर्वक आया है। प्राकृत भाषा की भी यह एक प्रमुख विशेषता है कि उसके मध्य व्यञ्जन का लोप अधिक होता है। आचार्य हेम ने ८।१।१७७ द्वारा मध्यवर्ती क, ग, च, ज, त, द, प, य और व का लोप विधान किया है। यथा—

शकटं = सअडं	सूचकं = सूअअं
मुकुलः = मुउलो	रजकः = रअओ
नकुलः = णउलो	रजतं = रअदं
मुकुलिता = मुउलिदा	कृतं = किअं
नगरं = णअरं	रसातलं = रसाअलं
मृगाङ्कः = मअंको	वदनं = वअणं
सागरः = साअरो	विपुलं = विउलं
भागीरथी = भाईरही	नयनं = णअणं
भगवता = भअवदा	वियोगः = विअओ
कचग्रहः = कअग्गहो	दिवसः = दिअहो
रोचते = रोअदि	तीर्थकर = तित्थअर
उचितं = उइदं	प्रजापतिः = पआवई

यह सिद्धान्त ८।१।१६५-१७१ सूत्र तक भी मिलता है। यों तो प्राकृत भाषा का स्वभाव ही मध्यवर्ती व्यञ्जनों के विकार का है, अतः मध्यम व्यञ्जन का लोप प्रायः सभी प्राकृत व्याकरणों में मिलता है। पर हेम ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन विस्तार के साथ किया है।

अन्त्य व्यञ्जन लोप

अन्त्य व्यञ्जन के लोप सम्बन्धी सिद्धान्त का कथन हेम ने ८।१।११, ८।१।१५, ८।१।१९ और ८।१।२० सूत्र में स्पष्टरूप से किया है। प्राकृत भाषा की यह प्रकृति है कि उसमें अन्त्य हल् व्यञ्जन का लोप हो जाता है। यतः इस भाषा में हलन्त्य शब्दों का अभाव है। इसमें सभी शब्द स्वरान्त होते हैं। यथा—

यावत् = जाव
तावत् = ताव
यशस् = जसो
नभस् = नहं
सरस् = सरो
कर्मन् = कम्मो
जन्मन् = जम्मो

सरित् = सरिआ
प्रतिपत् = पडिवआ
संपत् = संपआ
वाच् = वाआ
शरत् = सरओ
भिषक् = भिसओ
प्रावृट् = पाउसो

लोप का उल्टा आगम है। इसमें नयी ध्वनि आ जाती है। लोप की भाँति इसके भी कई भेद हैं—

आदि स्वरागम

शब्द के आरम्भ में कोई स्वर आ जाता है। प्रायः यह स्वर ह्रस्व होता है। हेम ने आदेश द्वारा आदि स्वरागम के सिद्धान्त का निरूपण किया है। इन्होंने ८।२।१३०, ८।१।४६, ८।१।४७ सूत्रों द्वारा आदि स्वरागम के सिद्धान्त पर पूर्ण प्रकाश डाला है। यथा—

स्त्री = इत्थी
स्वप्न = सिविणो

पक्वं = पिक्कं

मध्य स्वरागम

मध्य स्वरागम का सिद्धान्त ८।१।४८, ८।१।४९ और ८।१।५० में उपलब्ध होता है। हेम ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन स्वरभक्ति के सिद्धान्त द्वारा विशेषरूप से किया है। यह स्वर भक्ति (Anaptyxis) का सिद्धान्त ८।२।१०८ से ८।२।११५ तक मिलता है। अज्ञान, आलस्य या बोलने के सुभीते के लिए कभी-कभी बीच में ही स्वर आ जाते हैं, इसी को स्वरभक्ति या स्वरविश्लेष का सिद्धान्त कहा जाता है।

स्निग्ध, कृष्ण, अर्हत, पद्म, छद्म, उकारान्त ङी प्रत्ययान्त शब्द, श्वस्, ज्या एवं स्वप्न शब्दों में संयुक्त के पूर्ववर्ती वर्ण को इकार या उकार होत है। यथा—

स्वप्न = सिविणो
स्निग्ध = सणिद्धं, सिणिद्धं
कृष्णः = कसणो, कसिणो
अर्हत् = अरहो, अरहो, अरिहो
पद्मं = पउमं, पोम्मं
मूर्खः = मुरुक्खो, मुक्खो
द्वारं = दुवारं, देरं
तन्वी = तणुवी
लघ्वी = लहुवी
गुर्वी = गरुवी
बह्वी = बहुवी
पृथ्वी = पुहुवी
मध्वी = मउवी
श्वः कृतम् = सुवे कयं
स्वजनाः = सुवे जना
ज्या = जीआ

आदि व्यञ्जनागम—

प्राकृत में आदि व्यञ्जनागम के भी पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध हैं। प्रयत्न लाघव या मुख-सुख को ध्यान में रखते हुए मनुष्य की उच्चारण प्रवृत्ति कार्य करती है, अतः नये व्यञ्जनों को आदि में लाने से प्रयत्न लाघव या मुख-सुख में विशेष सुविधा नहीं मिलती। इतना होने पर भी प्राकृत में आदि व्यञ्जन आगम की प्रवृत्ति संस्कृत या हिन्दी की अपेक्षा अधिक है। आचार्य हेम ने ८।१।१४० और ८।१।१४१ सूत्रों द्वारा असंयुक्त ऋ के स्थान पर रि आदेश होने का नियमन किया है।

ऋद्धिः = रिद्धी
ऋक्षः = रिच्छो
ऋणं = रिणं
ऋजुः = रिज्जू
ऋषभः = रिसहो
ऋतुः = रिऊ
ऋषिः = रिसि

मध्य व्यञ्जनागम—

मध्य व्यंजन आगम के उदाहरण प्रायः सभी भाषाओं में पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं; क्योंकि शब्द के मध्य भाग को बोलने में ही अधिक कठिनाई आया करती है; जिसे आगम और लोप द्वारा ही बड़ी सरलता से समाप्त किया जा सकता है। हेम ने ८।१।१६७, ८।२।१६८-१७४ सूत्रों में मध्य व्यञ्जनागम का सिद्धान्त निरूपित किया है। यथा—

भ्रू = भुमया, भमया
मिश्रः = मीसालिअं
दीर्घः = दीहरं
पत्रं = पत्तलं
पीतं = पीवलं
जन्म = जम्मणं
मृदुकत्वेन = मउअत्तयाइ

अन्त्य व्यञ्जनागम —

अन्त्य व्यञ्जनागम के सिद्धान्त भी हेम ने ८।२।१६३-१६६ सूत्रों तक इल्ल, उल्ल और स्वार्थिक ल्ल प्रत्ययों का अनुशासन करके प्रतिपादित किये हैं। यथा—

पुरः = पुरिल्लं | एकः = एकल्लो
उपरि = उवरिल्लं | मधु = मुहुल्लं
नवः = नवल्लो | अन्धः = अन्धल्लो

विपर्यय (Metathesis)

हेम ने विपर्यय या स्थिति-परिवृत्ति के सिद्धान्त और उदाहरण भी अपने व्याकरण में लिखे हैं। विपर्यय को कुछ लोग 'परस्पर विनिमय' भी कहते हैं। किसी शब्द के स्वर, व्यञ्जन अथवा अक्षर जब एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं और उस दूसरे स्थान के प्रथम स्थान पर आ जाते हैं, तो इनके परस्पर परिवर्तन को विपर्यय कहा जाता है। हेम ने ८।२।११६-१२४ तक वर्ण विपर्यय का कथन किया है। इन्होंने आलान शब्द के ल-न में; अचलपुर शब्द के च-ल में; महाराष्ट्र शब्द के ह-र में, ह्रद शब्द के ह-द में; हरिताल शब्द के र-ल में; लघुक शब्द के ल-ह में; ललाट शब्द के ल-ड में एवं गुह्य शब्द के ह-य में विपर्यय होने का नियमन किया है। जैसे—

आलानः = आणालो | हरिताल = हलिआरो
अचलपुरं = अलचपुरं | लघुकः = हलुअं
महाराष्ट्र = मरहट्ठं | ललाटः = णडालं
ह्रद = द्रह | गुह्यम् = गुय्हं, गुज्झं

समीकरण (Assimilation)

हैम व्याकरण में समीकरण के सिद्धान्त प्रथम और द्वितीय पाद के प्रायः सभी सूत्रों में विद्यमान हैं। इस सिद्धान्त में एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित कर अपना रूप दे देती हैं; जैसे संस्कृत चक्र से प्राकृत में चक्क हो जाता है। समीकरण प्रधानतः दो प्रकार का होता है—(१) पुरोगामी (२) पश्चगामी।

समीकरण को सावर्ण्य, सारूप्य और अनुरूप भी कहा जाता है। हेम ने ८।२।६१, ८।२।६२, ८।२।७७, ८।२।७८, ८।२।७९—८१, ८।२।८९, ८।२।९८ एवं ८।२।९९ वें सूत्र में उक्त सिद्धान्त का स्फोटन किया है।

पुरोगामी (Progressive Assimilation)

जहाँ पहली ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित करती है, वहाँ पुरोगामी समीकरण होता है। यथा—

जन्म = जम्म
तिग्म = तिम्मं, तिग्गं
भुक्तम् = भुत्तं
खड्ग = खग्गो
मद्गुः = मग्गू
लग्नः = लग्गो
उल्का = उक्का
वल्कलम् = वक्कलं
शब्दः = सद्दो
अर्कः = अक्को
वर्गः = वग्गो
ध्वस्तः = धत्थो
चक्रम् = चक्कं
रात्रिः = रत्ती

उद्विग्नः = उव्विग्गो
सर्वम् = सव्वं
काव्यम् = कव्वं
माल्यम् = मल्लं
शुल्वम् = सुव्वं
रुद्रो = रुद्दो
भद्रं = भद्दं
समुद्रः = समुद्दो
धात्री = धत्ती
तीक्ष्णं = तीक्खं
कष्टं = कट्ठं
तीर्थं = तित्थं
कर्णिकाकारः = कण्णिआरो

पश्चगामी समीकरण

जब दूसरी ध्वनि पहली ध्वनि को प्रभावित करती है, तब पश्चगामी समीकरण कहलाता है। यथा—

कर्म = कम्मो
धर्मः = धम्मो
सर्पः = सप्पो
भक्तः = भत्तो

भुक्तः = भुत्तो
दुग्धः = दुद्धो
दुर्गा = दुग्गा
वर्गः = वग्गो

पारस्परिक व्यञ्जन समीकरण (Mutual Assimilation)

जब दो पार्श्ववर्ती व्यञ्जन एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और इस पारस्परिक प्रभाव के कारण दोनों ही परिवर्तित हो जाते हैं और एक तीसरा ही व्यञ्जन आ जाता है। इस प्रवृत्ति को पारस्परिक व्यञ्जन समीकरण कहते हैं। हैम व्याकरण में इस सिद्धान्त का निरूपण बहुत विस्तारपूर्वक हुआ है। यथा—

सत्यः = सच्चो
कृत्यः = किच्चो

कर्त्तरिका = कटारी
मन्मथः = वम्महो

विषमीकरण (Dissimilation)

समीकरण का उलटा विषमीकरण है। इसमें दो समान ध्वनियों में से एक के प्रभाव से या यों ही मुख-सुख के लिए एक ध्वनि अपना स्वरूप छोड़कर

दूसरी बन जाती है। इसके भी दो भेद हैं—पुरोगामी विषमीकरण और पश्च-गामी विषमीकरण।

पुरोगामी विषमीकरण (Progressive Dissimilation)

जब प्रथम व्यञ्जन ज्यों का त्यों रहता है और दूसरा परिवर्तित हो जाता है तो उसे पुरोगामी विषमीकरण कहते हैं। हेम ने ८।१।१७७, ८।१।२०७, ८।१।१८२ आदि सूत्रों में इस सिद्धान्त का विवेचन किया है। यथा—

मरकतं = मरगयं	आकारः = आगारो
मकरः = मगरो	अमुकः = अमुगो
काकः = कागो	असुकः = असुगो
श्रावकः = सावगो	तीर्थंकरः = तित्थगरो

पश्चगामी विषमीकरण (Regressive Dissimilation)

पश्चगामी विषमीकरण में प्रथम व्यञ्जन या स्वर में विकार होता है। हैम व्याकरण के ८।१।९६, ८।१।५७, ८।१।९७, ८।१।१०७, ८।१।१२३, ८।१।१२४ आदि सूत्रों में उक्त सिद्धान्त प्ररूपित है।

युधिष्ठिरः = जहुट्ठिलो, जहिट्ठिलो	नेदुरं = नेउरं
कन्दुकः = गेन्दुओ	मुकुलं = मुउलं
स्फटिकः = फलिहो	मुकुरः = मउरं
मन्मथः = वम्महो	मुकुटं = मउडं

सन्धि—

सन्धि का विवेचन हेम ने विस्तारपूर्वक संस्कृत और प्राकृत दोनों ही अनुशासनों में किया है। ये नियम स्वर और व्यञ्जन दोनों के सम्बन्ध में बने हैं। भाषा के स्वाभाविक विकास में सन्धियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राकृत में क ग च ज त द प य व आदि कुछ व्यञ्जन उच्चारण में स्वर के समीप होने के कारण स्वर में परिवर्तित हो जाते हैं और अपने से पहिले व्यञ्जन के रूप में मिल जाते हैं। सन्धि के कारण ध्वनियों में नाना प्रकार का परिवर्तन होता है।

अनुनासिकता (Nazalization)

ध्वनि परिवर्तन में अनुनासिकता का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुख सुविधा के लिए कुछ लोग निरनुनासिक ध्वनियों को सानुनासिक बना देते हैं। इस अनुनासिकता का कारण कुछ द्रविड भाषाओं का प्रभाव मानते हैं। पर हमारा खयाल है कि मुख-सुविधा के कारण ही भाषा में अनुनासिकता आ जाती

है। अपभ्रंश भाषा की विभक्तियाँ मुख सुविधा के कारण ही अनुनासिक हैं। इस भाषा में उकार बहुलता के कारण अनुनासिकता अत्यधिक है। ८।१।१७८ सूत्र में हेम ने यमुना, चामुण्डा, कामुक और अतिमुक्तक शब्दों में मकार का लोपकर अनुनासिकता का विधान किया है। यथा—

यमुना = जँउणा
कामुकः = काउँओ
चामुण्डा = चाउँण्डा
अतिमुक्तकं = अणिउँतयं

मात्रा भेद :—

मात्रा भेद भी ध्वनि परिवर्तन की एक प्रमुख दिशा है इसमें स्वर कभी ह्रस्व से दीर्घ और कभी दीर्घ से ह्रस्व हो जाते हैं। स्वराघात का इन पर कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। हेम ने 'दीर्घ-ह्रस्वौ-मिथो-वृत्तौ' ८।१।४ सूत्र द्वारा उक्त सिद्धान्त का सम्यक् विवेचन किया है। यथा—

अन्तर्वेदि = अन्तावेई
नदीस्रोतः = णईसोत्तं, णइसोत्तं
सप्तविंशतिः = सत्तावीसा
वधूमुखं = वहूमुहं, वहुमुहं
वारिमतिः = वारीमई, वारिमई
पीतापीतं = पीआ-पीअं, पीआ-पिअं
भुजयन्त्रम् = भुआ-यन्तं, भुअ-यन्तं
सरोरुहं = सरोरुहं, सररुहं
पतिगृहम् = पईहरं, पइ-हरं
ग्रामणीसुतः = ग्रामणीसुओ, गमणिसुओ

घोषीकरण (Vocalization)

ध्वनि परिवर्तन में घोषीकरण सिद्धान्त का भी महत्व है। इस सिद्धान्तानुसार अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं; क्योंकि ऐसा करने से उच्चारण में सुविधा होती है; हेम ने इस सिद्धान्त को ८।१।११७ में निर्दिष्ट किया है। यथा—

एकः = एग्गो
एकादश = इगारह
अमुकः = अमुगो
घूक = घुग्घू
असुकः = आसुगो
प्रकाश = परगास
आकारः = आगारो
मकरः = मगरो
आकर्षः = आगरिसो

अघोषीकरण (Devocalization)

ध्वनि परिवर्तन के सिद्धान्तों में अघोषीकरण का सिद्धान्त भी आता है। हेम ने इस सिद्धान्त पर विशेष विचार नहीं किया है; इसका प्रधान कारण यह है कि प्राकृत भाषा में उक्त प्रकार की ध्वनियों का प्रायः अभाव है।

महाप्राण (Aspiration)

उच्चारण प्रसंग में कभी-कभी अल्पप्राण ध्वनियाँ महाप्राण हो जाती हैं। हेम ने ८।१।२३२, ८।१।५३, ८।२।४६, ८।२।४७, ८।२।४, ८।२।५ तथा ८।२।१७४ सूत्र में उक्त सिद्धान्त का वर्णन किया है। यथा—

पुरुष: = फरुसो	स्पन्दनम् = फंदणं
परिघ: = फलिहो	प्रतिस्पर्धिन् = पाडिप्फद्धी
परिखा = फलिहा	हस्त: = हत्थी
पनस: = फणसो	स्तुति: = थुई
पारिभद्र: = फालिहद्दो	स्तोकं = थोअं
पुष्पम् = पुप्फं	स्तव: = थवो
शष्पम् = सप्फं	पुष्करं = पोक्खरं
निष्पेष: = निप्फेसो	पुष्करिणी = पोक्खरिणी
निष्पाव: = निप्फावो	स्कन्द: = खन्दो

अल्पप्राणीकरण (Despiration)

हेम ने इस सिद्धान्त का निरूपण ८।२।१० सूत्र में किया है। यथा—

स्थ: = त	भगिनी = बहिन

ऊष्मीकरण—

ऊष्मीकरण की चर्चा हेम ने ८।१।१८४, ८।१।१८६ और ८।१।१८७ में की है। ख घ थ ध और भ वर्णों का प्राय: ह हो जाता है। शीकर, निकष स्फटिक और चिकुर शब्दों में क के स्थान पर भी ह हो जाता है। यथा—

शीकर: = सीहरो	मेघ: = मेहो
निकष: = निहसो	नाथ: = नाहो
स्फटिक = फलिहो	आवसथ = आवसहो
चिकुर: = चिहुरो	मिथुनं = मिहुणं
मुखं = मुहं	साधु: = साहू
मेखला = मेहला	

इस प्रकार हेम ने ध्वनि परिवर्तन (Phonetic Changes) के सभी सिद्धान्तों को अपने प्राकृत शब्दानुशासन में स्थान दिया है। सम्प्रसारण, गुण, वृद्धि आदि सिद्धान्त तो संस्कृत शब्दानुशासन में बहुलता से आ गये हैं। स्वर परिवर्तन के दोनों प्रकारों गुणीय परिवर्तन (Qualitative Change) और परिमाणीय परिवर्तन (Quantitativa Change) पर प्रकाश डाला

है। प्रथम में स्वर पूर्णतः बदल कर दूसरा हो जाता है और दूसरे में ह्रस्व का दीर्घ या दीर्घ का ह्रस्व हो जाता है।

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि शब्दानुशासक की दृष्टि से हेम का महत्त्व पाणिनि और वररुचि की अपेक्षा अधिक है। इनके व्याकरण में प्राचीन और आधुनिक दोनों ही प्रकार की ध्वनियों की सम्यक् विवेचना की गयी है। अतः हेम का प्राकृत शब्दानुशासन व्याकरण होने के साथ-साथ भाषा विज्ञान भी है। इसकी महत्ता भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी उतनी ही है, जितनी व्याकरण की दृष्टि से।

परिशिष्ट १

संस्कृतसिद्धहेमशब्दानुशासनसूत्रपाठ

प्रथमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

अर्हं १।१।१
सिद्धिः स्याद्वादात् १।१।२
लोकात् १।१।३
औदन्ताः स्वराः १।१।४
एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुताः १।१।५
अनवर्णा नामी १।१।६
लृदन्ताः समानाः १।१।७
ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षरम् १।१।८
अं अः अनुस्वारविसर्गौ १।१।९
कादिर्व्यञ्जनम् १।१।१०
अपञ्चमान्तस्थो धुट् १।१।११
पञ्चको वर्गः १।१।१२
आद्य-द्वितीय-श ष सा अघोषाः १।१।१३
अन्यो घोषवान् १।१।१४
य र ल वा अन्तस्थाः १।१।१५
अं अः ≍क ≍प शषसाः शिट् १।१।१६
तुल्यस्थानास्यप्रयत्नः स्वः १।१।१७
स्यौजसमौशस्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसांङ्योस्सुपां त्रयी त्रयी प्रथमादिः १।१।१८
स्त्यादिर्विभक्तिः १।१।१९
तदन्तं पदम् १।१।२०
नाम सिदय्व्यञ्जने १।१।२१
नं क्ये १।१।२२
न स्तं मत्वर्थे १।१।२३
मनुर्नभोऽङ्गिरो वति १।१।२४
वृत्त्यन्तोऽसषे १।१।२५
सविशेषणमाख्यातं वाक्यम् १।१।२६
अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम १।१।२७
शिघुट् १।१।२८
पुंस्त्रियोः स्यमौजस् १।१।२९
स्वरादयोऽव्ययम् १।१।३०
चादयोऽसत्त्वे १।१।३१
अधणतस्याद्याशसः १।१।३२
विभक्तिथमन्ततसाद्याभाः १।१।३३
वत्तस्याम् १।१।३४
क्त्वातुमम् १।१।३५
गतिः १।१।३६
अप्रयोगीत् १।१।३७
अनन्तः पञ्चम्याः प्रत्ययः १।१।३८
डत्यतु संख्यावत् १।१।३९
बहुगणं भेदे १।१।४०
कसमासेऽध्यर्द्धः १।१।४१
अर्द्धं पूर्वपदः पूरणः १।१।४२

द्वितीयः पादः

समानानां तेन दीर्घः १।२।१
ऋलृति ह्रस्वो वा १।२।२
लृत ऌ ऋलृभ्यां वा १।२।३
ऋतो वा तौ च १।२।४
ऋस्तयोः १।२।५
अवर्णस्येवर्णादिनैदोदरल् १।२।६
ऋणे प्रदशार्णवसनकम्बलवत्सरवत्सतरस्यार् १।२।७

ऋते तृतीयासमासे १।२।८
ऋत्यारुपसर्गस्य १।२।९
नाम्नि वा १।२।१०
लृत्याल्वा १।२।११
ऐदौत्सन्ध्यक्षरैः १।२।१२
ऊटा १।२।१३
प्रस्यैषैष्योढोढ्यूहे स्वरेण १।२।१४
स्वैरस्वैर्यक्षौहिण्याम् १।२।१५
अनियोगे लुगेवे १।२।१६
वौष्ठौतौ समासे १।२।१७
ओमाङि १।२।१८
उपसर्गस्यानिणेधेदोति १।२।१९
वा नाम्नि १।२।२०
इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम् १।२।२१
ह्रस्वोऽपदे वा १।२।२२
एदैतोऽयाय् १।२।२३
ओदौतोऽवाव् १।२।२४
य्यक्ये १।२।२५
ऋतो रस्तद्धिते १।२।२६
एदोतः पदान्तेऽस्य १।२।२७
गोर्नाम्न्यवोऽक्षे १।२।२८
स्वरे वाऽनक्षे १।२।२९
इन्द्रे १।२।३०
वात्यऽसन्धिः १।२।३१
प्लुतोऽनितौ १।२।३२
इ३ वा १।२।३३
ई दू देद् द्विवचनम् १।२।३४
अदो मुमी १।२।३५
चादिः स्वरोऽनाङ् १।२।३६
ओदन्तः १।२।३७
सौ नवेतौ १।२।३८
ऊँ चोञ् १।२।३९
अञ्वर्गात् स्वरे वोऽसन् १।२।४०
अ इ उ वर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीनादादेः १।२।४१

तृतीयः पादः

तृतीयस्य पञ्चमे १।३।१
प्रत्यये च १।३।२
ततो हश्चतुर्थः १।३।३
प्रथमादधुटि शश्छः १।३।४
रः क ख प फ योः ≍क ≍पौ १।३।५
श ष से श ष सं वा १।३।६
चटते सद्वितीये १।३।७
नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्याधुट्परे १।३।८
पुमो ऽशिट्यघोषेऽख्यागि रः १।३।९
नृनः पेषु वा १।३।१०
द्विः कानः कानि सः १।३।११
स्सटि समः १।३।१२
लुक् १।३।१३
तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ १।३।१४
मनयवलपरे हे १।३।१५
सम्राट् १।३।१६
ङ्णोः कटावन्तौ शिटि नवा १।३।१७
ङ्नः सः त्सोऽश्चः १।३।१८
नः शि ञ्च् १।३।१९
अतोऽति रोरुः १।३।२०
घोषवति १।३।२१
अवर्णभोभगोऽघोर्लुगसन्धिः १।३।२२
व्योः १।३।२३
स्वरे वा १।३।२४
अस्पष्टावर्णात्त्वनुञि वा १।३।२५
रोर्यः १।३।२६
ह्रस्वान्ङणनो द्वे १।३।२७
अनाङ्माङो दीर्घाद्वा छः १।३।२८
प्लुताद्वा १।३।२९

स्वरेभ्यः १।३।३०
ह्रोदर्हस्वरस्यानु नवा १।३।३१
अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने १।३।३२
अत्वर्गस्यान्तस्थातः १।३।३३
ततोऽस्याः १।३।३४
शिटः प्रथमद्वितीयस्य १।३।३५
ततः शिटः १।३।३६
न रात्स्वरे १।३।३७
पुत्रस्यादिन् पुत्रादिन्याक्रोशे १।३।३८
म्नां धुड्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते १।३।३९
शिड्हेऽनुस्वारः १।३।४०
रो रे लुग्दीर्घश्चादिदुतः १।३।४१
ढस्तड्ढे १।३।४२
सहिवहेरोच्चाऽवर्णस्य १।३।४३
उदः स्थास्तम्भः सः १।३।४४
तदः सेः स्वरे पादार्था १।३।४५
एतदश्च व्यञ्जने ऽनग्नञ्समासे १।३।४६
व्यञ्जनात्पञ्चमान्तस्थायाः सरूपे वा १।३।४७
धुटो धुटि स्वे वा १।३।४८
तृतीयस्तृतीयचतुर्थे १।३।४९
अघोषे प्रथमोऽशिटः १।३।५०
विरामे वा १।३।५१
न सन्धिः १।३।५२
रः पदान्ते विसर्गस्तयोः १।३।५३
ख्यागि १।३।५४
शिट्यघोषात् १।३।५५
व्यत्यये लुग्वा १।३।५६
अरोः सुपि रः १।३।५७
वाह्पत्यादयः १।३।५८
शिट्याद्यस्य द्वितीयो वा १।३।५९
तवर्गस्य श्चवर्गष्टवर्गाभ्यां योगे चटवर्गौ १।३।६०
सस्य शषौ १।३।६१
न शात् १।३।६२
पदान्ताट्टवर्गादनाम्नगरीनवतेः १।३।६३
षि तवर्गस्य १।३।६४
लि लौ १।३।६५

चतुर्थः पादः

अत आः स्यादौ जस्भ्याम्ये १।४।१
भिस ऐस् १।४।२
इदमदसोऽक्येव १।४।३
एद्बहुस्भोसि १।४।४
टाङसोरिनस्यौ १।४।५
ङेङस्योर्यातौ १।४।६
सर्वादेः स्मैस्मातौ १।४।७
ङेः स्मिन् १।४।८
जस इः १।४।९
नेमार्धप्रथमचरमतयायाल्पकतिपयस्य वा १।४।१०
द्वन्द्वे वा १।४।११
न सर्वादिः १।४।१२
तृतीयान्तात्पूर्वावरं योगे १।४।१३
तीयं ङित्कार्ये वा १।४।१४
अवर्णस्यामः साम् १।४।१५
नवभ्यः पूर्वेभ्य इस्मात्स्मिन्वा १।४।१६
आपो ङितां यैयास्यास्याम् १।४।१७
सर्वादेर्डस्पूर्वाः १।४।१८
टौस्येत् १।४।१९
औता १।४।२०
इदुतोऽस्त्रेरीदूत् १।४।२१
जस्येदोत् १।४।२२
ङित्यदिति १।४।२३
टः पुंसि ना १।४।२४
ङिर्डौ १।४।२५
केवलसखिपतेरौ १।४।२६
न ना ङिदेत् १।४।२७

स्त्रियां ङितां वा दैदासदासदाम् १।४।२८
स्त्रीदूतः १।४।२९
वेयुवोऽस्त्रियाः १।४।३०
आमो नाम् वा १।४।३१
ह्रस्वापश्च १।४।३२
संख्यानां र्णाम् १।४।३३
त्रेस्त्रयः १।४।३४
एदोद्भ्यां ङसिङसो रः १।४।३५
खिति खीतीय उर् १।४।३६
ऋतो डुर् १।४।३७
तृस्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्त्रो
घुट्यार् १।४।३८
अर्डौ च १।४।३९
मातुर्मातः पुत्रेऽर्हे सिनाऽऽमन्त्र्ये १।४।४०
ह्रस्वस्य गुणः १।४।४१
एदापः १।४।४२
नित्यदिद्‌द्विस्वराम्बार्थस्य ह्रस्वः १।४।४३
अदेतः स्यमोर्लुक् १।४।४४
दीर्घङ्याब्व्यञ्जनात्सेः १।४।४५
समानादमोऽतः १।४।४६
दीर्घो नाम्यतिसृचतसृषः १।४।४७
नुर्वा १।४।४८
शसोऽता सश्च नः पुंसि १।४।४९
संख्यासायवेरह्नस्याहन् ङौ वा १।४।५०
निय आम् १।४।५१
वाष्टन आः स्यादौ १।४।५२
अष्ट औजस्शसोः १।४।५३
डतिष्णः संख्याया लुप् १।४।५४
नपुंसकस्य शिः १।४।५५
औरीः १।४।५६
अतः स्यमोऽम् १।४।५७
पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः १।४।५८
अनतो लुप् १।४।५९
जरसो वा १।४।६०
नामिनो लुग्वा १।४।६१
वान्यतः पुमांष्टादौ स्वरे १।४।६२
दध्यस्थिसक्थ्यक्ष्णोऽन्तस्यान् १।४।६३
अनामस्वरे नोऽन्तः १।४।६४
स्वराच्छौ १।४।६५
धुटां प्राक् १।४।६६
र्लो वा १।४।६७
घुटि १।४।६८
अचः १।४।६९
ऋदुदितः १।४।७०
युजोऽसमासे १।४।७१
अनडुहः सौ १।४।७२
पुंसोः पुमन्स् १।४।७३
ओत औः १।४।७४
आ अम्शसोऽता १।४।७५
पथिन्मथिन्नृभुक्षः सौ १।४।७६
एः १।४।७७
थो न्थ् १।४।७८
इन ङी स्वरे लुक् १।४।७९
वोशनसो नश्चामन्त्र्ये सौ १।४।८०
उतोऽनडुच्चतुरो वः १।४।८१
वाः शेषे १।४।८२
सख्युरितोऽशावैत् १।४।८३
ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसश्च सेर्डाः १।४।८४
नि दीर्घः १।४।८५
न्स्महतोः १।४।८६
इन् हन् पूषार्यम्णः शिस्योः १।४।८७
अपः १।४।८८
नि वा १।४।८९
अभ्वादेरत्वसः सौ १।४।९०
क्रुशस्तुनस्तृच् पुंसि १।४।९१
टादौ स्वरे वा १।४।९२
स्त्रियाम् १।४।९३

द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः

त्रिचतुरस्तिसृचतसृस्यादौ २।१।१
ऋतो रः स्वरेऽनि २।१।२
जराया जरस्वा २।१।३
अपोद्भे २।१।४
आ रायो व्यञ्जने २।१।५
युष्मदस्मदोः २।१।६
टाङ्योसि यः २।१।७
शेषे लुक् २।१।८
मोर्वा २।१।९
मन्तस्य युवावौ द्वयोः २।१।१०
त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन् २।१।११
त्वमहं सिना प्राक्चाकः २।१।१२
यूयं वयं जसा २।१।१३
तुभ्यं मह्यं ङया २।१।१४
तवमम ङसा २।१।१५
अमौ मः २।१।१६
शसो नः २।१।१७
अभ्यम् भ्यसः २।१।१८
ङसेश्चाद् २।१।१९
आम आकम् २।१।२०
पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये वस्नसौ बहुत्वे २।१।२१
द्वित्वे वाम्नौ २।१।२२
ङे ङसा तेमे २।१।२३
अमा त्वामा २।१।२४
असदिवामन्त्र्यं पूर्वम् २।१।२५
जस्विशेष्यं वामन्त्र्ये २।१।२६
नाऽन्यत् २।१।२७
पादाद्योः २।१।२८
चाहहवैवयोगे २।१।२९
दृश्यर्थैश्चिन्तायाम् २।१।३०
नित्यमन्वादेशे २।१।३१
सपूर्वात् प्रथमान्ताद्वा २।१।३२
त्यदामेनदेतदो द्वितीयाटौस्यवृत्यन्ते २।१।३३
इदमः २।१।३४
अद्व्यञ्जने २।१।३५
अनक् २।१।३६
टौस्यनः २।१।३७
अयमियम् पुंस्त्रियोः सौ २।१।३८
दोमः स्यादौ २।१।३९
किमः कस्तसादौ च २।१।४०
आ द्वेरः २।१।४१
तः सौ सः २।१।४२
अदसो दः सेस्तु डौ २।१।४३
असुको वाऽकि २।१।४४
मोऽवर्णस्य २।१।४५
वाद्रौ २।१।४६
मादुवर्णोऽनु २।१।४७
प्रागिनात् २।१।४८
बहुष्वेरीः २।१।४९
धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव् स्वरे प्रत्यये २।१।५०
इणः २।१।५१
संयोगात् २।१।५२
भ्रूश्नोः २।१।५३
स्त्रियाः २।१।५४
वाम्शसि २।१।५५
योऽनेकस्वरस्य २।१।५६
स्यादौ वः २।१।५७
क्विब्वृत्तेरसुधियस्तौ २।१।५८
दन्पुनर्वर्षाकारैर्भुवः २।१।५९
णषमसत्परे स्यादिविधौ च २।१।६०
क्तादेशोऽषि २।१।६१

ष ढोः कस्सि २।१।६२
भ्वादेर्नामिनो दीर्घो र्वोर्व्यञ्जने २।१।६३
पदान्ते २।१।६४
नयि तद्धिते २।१।६५
कुरुच्छुरः २।१।६६
मो नो म्वोश्च २।१।६७
स्रंसध्वंसक्वस्सनडुहो दः २।१।६८
ऋत्विज्दिश्दृश्स्पृश्स्रज्दधृषुष्णिहो गः २।१।६९
नशो वा २।१।७०
युजञ्चक्रुञ्चो नो ङः २।१।७१
सो रुः २।१।७२
सजुषः २।१।७३
अह्नः २।१।७४
रो लुप्यरि २।१।७५
धुटस्तृतीयः २।१।७६
गडदबादेश्चतुर्थान्तस्यैकस्वरस्यादेश्चतुर्थं स्ध्वोश्च प्रत्यये २।१।७७
धागस्तथोश्च २।१।७८
अधश्चतुर्थात्तथोर्धः २।१।७९
नाम्यन्तात्परोक्षाद्यतन्याशिषो धो ढः २।१।८०
हान्तस्थाञ्ञीड्भ्यां वा २।१।८१
हो धुट् पदान्ते २।१।८२
भ्वादेर्दादेर्घः २।१।८३
मुहद्रुहष्णुहष्णिहो वा २।१।८४
नहाहोर्धतौ २।१।८५
चजः कगम् २।१।८६
यजसृजमृजराजभ्राजभ्रस्जव्रश्चपरिव्राजः शः षः २।१।८७
संयोगस्यादौ स्कोर्लुक् २।१।८८
पदस्य २।१।८९
रात्सः २।१।९०
नाम्नो नोऽनह्नः २।१।९१
नामन्त्र्ये २।१।९२
क्लीबे वा २।१।९३
मावर्णान्तोपान्तापञ्चमवर्गान्मतोर्मो वः २।१।९४
नाम्नि २।१।९५
चर्मण्वत्यष्ठीवच्चक्रीवत्कक्षीवद्रुमण्वत् २।१।९६
उदन्वानब्धौ च २।१।९७
राजन्वान् सुराज्ञि २।१।९८
नोर्म्यादिभ्यः २।१।९९
मासनिशासनस्य शसादौ लुग्वा २।१।१००
दन्तपादनासिकाहृदयासृग्यूषोदकदोर्यकृच्छकृतो दत्पन्नस्हृदसन्यूषन्नुदन्दोषन्यकन्शकन् वा २।१।१०१
यस्वरे पादः पदणिक्यधुटि २।१।१०२
उदच उदीच् २।१।१०३
अच्च् प्राग् दीर्घश्च २।१।१०४
क्वसुष्मतौ च २।१।१०५
श्वन्युवन्मघोनो ङीस्याद्यघुट्स्वरे वः उः २।१।१०६
लुगातोऽनापः २।१।१०७
अनोऽस्य २।१।१०८
ईङौ वा २।१।१०९
पादिहन्धृतराज्ञोऽणि २।१।११०
न वमन्तसंयोगात् २।१।१११
हनो ह्रो घ्नः २।१।११२
लुगस्यादेत्यपदे २।१।११३
डित्यन्त्यस्वरादेः २।१।११४
अवर्णादश्नोऽन्तो वाऽतुरी ङ्योः २।१।११५
श्यशवः २।१।११६
दिव औः सौ २।१।११७
उः पदान्तेऽनूत् २।१।११८

द्वितीयः पादः

क्रियाहेतुः कारकम् २।२।१
स्वतन्त्रः कर्त्ता २।२।२
कर्त्तुर्व्याप्यं कर्म २।२।३
वाऽकर्मणामणिक्कर्त्ता णौ २।२।४
गतिबोधाहारार्थशब्दकर्मनित्याऽकर्मणा-
मनीखाद्यदिह्वाशब्दायक्रन्दाम्
२।२।५
भक्षेर्हिंसायाम् २।२।६
वहेः प्रवेयः २।२।७
ह्रक्रोर्न वा २।२।८
दृश्यभिवदोरात्मने २।२।९
नाथः २।२।१०
स्मृत्यर्थदयेशः २।२।११
कृगः प्रतियत्ने २।२।१२
रुजाऽर्थस्याऽज्वरिसन्तापेर्भावे कर्त्तरि
२।२।१३
जासनाटक्राथपिषो हिंसायाम् २।२।१४
निप्रेभ्यो घ्नः २।२।१५
विनिमेयद्यूतपणं पणिव्यवहोः २।२।१६
उपसर्गाद्दिवः २।२।१७
न २।२।१८
करणं च २।२।१९
अधेः शीङ्स्थास आधारः २।२।२०
उपान्वध्याङ्वसः २।२।२१
वाऽभिनिविशः २।२।२२
कालाध्वभावदेशं वाऽकर्म्म चाकर्म्मणाम्
२।२।२३
साधकतमं करणम् २।२।२४
कर्म्माभिप्रेयः संप्रदानम् २।२।२५
स्पृहेर्व्याप्यं वा २।२।२६
क्रुद्द्रुहेर्ष्यासूयार्थैर्यं प्रति कोपः २।२।२७
नोपसर्गात् क्रुद्द्रुहा २।२।२८
अपायेऽवधिरपादानम् २।२।२९
क्रियाश्रयस्याधारोऽधिकरणम् २।२।३०
नाम्नः प्रथमैकद्विबहौ २।२।३१
आमन्त्र्ये २।२।३२
गौणात्समयानिकषाहाधिगन्तरान्तरेणाति-
येनतेनैर्द्वितीया २।२।३३
द्वित्वेऽधोऽध्युपरिभिः २।२।३४
सर्वोभयाभिपरिणा तसा २।२।३५
लक्षणवीप्स्येत्थम्भूतेष्वभिना २।२।३६
भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः २।२।३७
हेतुसहार्थेऽनुना २।२।३८
उत्कृष्टेऽनूपेन २।२।३९
कर्म्मणि २।२।४०
क्रियाविशेषणात् २।२।४१
कालाध्वनोर्व्याप्तौ २।२।४२
सिद्धौ तृतीया २।२।४३
हेतुकर्तृकरणेत्थम्भूतलक्षणे २।२।४४
सहार्थे २।२।४५
यद्भेदैस्तद्वदाख्या २।२।४६
कृताद्यैः २।२।४७
काले भान्नवाधारे २।२।४८
प्रसितोत्सुकाऽवबद्धैः २।२।४९
व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सायाम् २।२।५०
समो ज्ञोऽस्मृतौ वा २।२।५१
दामः संप्रदानेऽधर्म्ये आत्मने च २।२।५२
चतुर्थी २।२।५३
तादर्थ्ये २।२।५४
रुचिक्लृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्तमर्णेषु
२।२।५५
प्रत्याङः श्रुवार्थिनि २।२।५६
प्रत्यनोर्गृणाख्यातरि २।२।५७
यद्वीक्ष्ये राधीक्षी २।२।५८
उत्पातेन ज्ञाप्ये २।२।५९

श्लाघह्नुस्थाशपा प्रयोज्ये २।२।६०
तुमोऽर्थे भाववचनात् २।२।६१
गम्यस्याप्ये २।२।६२
गतेर्न वाऽनाप्ते २।२।६३
मन्यस्यानावादिभ्योऽतिकुत्सने २।२।६४
हितसुखाभ्याम् २।२।६५
तद्भद्रायुष्यक्षेमार्थार्थेनाशिषि २।२।६६
परिक्रयणे २।२।६७
शक्तार्थवषड्नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाभिः २।२।६८
पंचम्यपादाने २।२।६९
आङावधौ २।२।७०
पर्यपाभ्यां वर्ज्ये २।२।७१
यतः प्रतिनिधिप्रतिदाने प्रतिना २।२।७२
आख्यातर्युपयोगे २।२।७३
गम्ययपः कर्माधारे २।२।७४
प्रभृत्यन्यार्थदिक्शब्दबहिरारादितरैः २।२।७५
ऋणाद्धेतोः २।२।७६
गुणादस्त्रियां न वा २।२।७७
आरादर्थैः २।२।७८
स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयादसत्त्वे करणे २।२।७९
अज्ञाने ज्ञः षष्ठी २।२।८०
शेषे २।२।८१
रिरिष्टात्स्तादस्तादसतसाता २।२।८२
कर्मणि कृतः २।२।८३
द्विषो वाऽतृशः २।२।८४
वैकत्र द्वयोः २।२।८५
कर्त्तरि २।२।८६
द्विहेतोरस्यणकस्य वा २।२।८७
कृत्यस्य वा २।२।८८
नोभयोर्हेतोः २।२।८९
तृन्नुदन्ताव्ययक्वस्वानातृशतृङ्णिकच्खलर्थस्य २।२।९०
क्तयोरसदाधारे २।२।९१
वा क्लीबे २।२।९२
अकमेरुकस्य २।२।९३
एष्यदृणेनः २।२।९४
सप्तम्यधिकरणे २।२।९५
न वा सुजर्थैः काले २।२।९६
कुशलायुक्तेनासेवायाम् २।२।९७
स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैः २।२।९८
व्याप्ये क्तेन २।२।९९
तद्युक्ते हेतौ २।२।१००
अप्रत्यादावसाधुना २।२।१०१
साधुना २।२।१०२
निपुणेन चार्चायाम् २।२।१०३
स्वेशेऽधिना २।२।१०४
उपेनाऽधिकिनि २।२।१०५
यद्भावो भावलक्षणम् २।२।१०६
गते गम्येऽध्वनोऽन्तेनैकार्थ्यं वा २।२।१०७
षष्ठी वाऽनादरे २।२।१०८
सप्तमी चाविभागे निर्द्धारणे २।२।१०९
क्रियामध्येऽध्वकाले पञ्चमी च २।२।११०
अधिकेन भूयसस्ते २।२।१११
तृतीयाल्पीयसः २।२।११२
पृथग्नाना पञ्चमी च २।२।११३
ऋते द्वितीया च २।२।११४
विना ते तृतीया च २।२।११५
तुल्यार्थैस्तृतीयाषष्ठ्यौ २।२।११६
द्वितीयाषष्ठ्यावेनेनानञ्चेः २।२।११७
हेत्वर्थैस्तृतीयाद्याः २।२।११८
सर्व्वादेः सर्व्वाः २।२।११९
असत्त्वारादर्थाट्टाङसिङ्यम् २।२।१२०

जात्याख्यायां नवैकोऽसंख्यो बहुवत् १।२।१२१
अविशेषणे द्वौ चास्मदः २।२।१२२
फल्गुनी प्रोष्ठपदस्य भे २।२।१२३
गुरावेकश्च २।२।१२४

तृतीयः पादः

नमस्पुरसो गतेः क ख प फि रः सः २।३।१
तिरसो वा २।३।२
पुंसः २।३।३
शिरोऽधसः पदे समासैक्ये २।३।४
अतः कृकमिकंसकुम्भकुशाकर्णीपात्रेऽनव्ययस्य २।३।५
प्रत्यये २।३।६
रोः काम्ये २।३।७
नामिनस्तयोः षः २।३।८
निर्दुर्बहिराविष्प्रादुश्चतुराम् २।३।९
सुचो वा २।३।१०
वेसुसोऽपेक्षायाम् २।३।११
नैकार्थेऽक्रिये २।३।१२
समासेऽसमस्तस्य २।३।१३
भ्रातुष्पुत्रकस्कादयः २।३।१४
नाम्यन्तस्थाकवर्गात् पदान्तः कृतस्य सः शिड्नान्तरेऽपि २।३।१५
समासेऽग्नेः स्तुतः २।३।१६
ज्योतिरायुर्भ्यां च स्तोमस्य २।३।१७
मातृपितुः स्वसुः २।३।१८
अलुपि वा २।३।१९
निनद्याः स्नातेः कौशले २।३।२०
प्रतेः स्नातस्य सूत्रे २।३।२१
स्नानस्य नाम्नि २।३।२२
वेः स्त्रः २।३।२३
अभिनिःष्टानः २।३।२४
गवियुधेः स्थिरस्य २।३।२५
एत्यकः २।३।२६
भादितो वा २।३।२७
विकुशमिपरेः स्थलस्य २।३।२८
कपेर्गोत्रे २।३।२९
गोऽम्बाऽऽम्बसव्यापद्वित्रिभूम्यग्निशेकुशङ्कुकङ्गुमञ्जिपुञ्जिबर्हिःपरमदिवेस्थस्य २।३।३०
निर्दुःसोः सेधसन्धिसाम्नाम् २।३।३१
प्रष्ठोऽग्रगे २।३।३२
भीरुष्ठानादयः २।३।३३
ह्रस्वान्नाम्नस्ति २।३।३४
निसस्तपेऽनासेवायाम् २।३।३५
घस्वसः २।३।३६
णिस्तोरेवाऽस्वदस्विदसहः षणि २।३।३७
सञ्जेर्वा २।३।३८
उपसर्गात् सुग्सुवसोस्तुस्तुभोऽट्यप्यद्वित्वे २।३।३९
स्थासेनिसेधसिचसञ्जां द्वित्वेऽपि २।३।४०
अङ्प्रतिस्तब्धनिस्तब्धे स्तम्भः २।३।४१
अवाच्चाश्रयोर्जाविदूरे २।३।४२
व्यवात् स्वनोऽशने २।३।४३
सदोऽप्रतेः परोक्षायां त्वादेः २।३।४४
स्वञ्जश्च २।३।४५
परिनिवेः सेवः २।३।४६
सयसितस्य २।३।४७
असोङसिवूसहस्सटाम् २।३।४८
स्तुस्वञ्जश्चाटि न वा २।३।४९
निरभ्यनोश्च स्यन्दस्याप्राणिनि २।३।५०
वेः स्कन्दोऽक्तयोः २।३।५१
परेः २।३।५२
निर्नेः स्फुरस्फुलोः २।३।५३
वेः २।३।५४
स्कभ्नः २।३।५५

निदुः सुवेः समसूतेः २।३।५६
अवः स्वपः २।३।५७
प्रादुरुपसर्गाद्यस्वरेऽस्तेः २।३।५८
न स्सः २।३।५९
सिचो यङि २।३।६०
गतौ सेधः २।३।६१
सुगः स्यसनि २।३।६२
रषृवर्णान्नो ण एकपदेऽनन्त्यस्याल चट-
तवर्गशसान्तरे २।३।६३
पूर्वपदस्थान्नाम्न्यगः २।३।६४
नसस्य २।३।६५
निष्प्राऽग्रेऽन्तःखदिरकार्श्याम्रशरेक्षुप्ल-
क्षपीयूक्षाभ्यो वनस्य २।३।६६
द्वित्रिस्वरौषधिवृक्षेभ्यो न वाऽनिरिकादि-
भ्यः २।३।६७
गिरिनद्यादीनाम् २।३।६८
पानस्य भावकरणे २।३।६९
देशे २।३।७०
ग्रामाग्रान्नियः २।३।७१
वाह्याद्वाहनस्य २।३।७२
अतोऽह्नस्य २।३।७३
चतुस्त्रेर्हायनस्य वयसि २।३।७४
वोत्तरपदान्तनस्यादेरयुवपक्वाह्नः २।३।७५
कवर्गैकस्वरवति २।३।७६
अदुरुपसर्गान्तरो णहिनुमीनानेः २।३।७७
नशः शः २।३।७८
नेर्मादापतपदनदगदवपीवहीशमूचि-
ञ्यातिवातिद्रातिप्सातिस्यतिहन्तिदेग्धौ
२।३।७९
अकखाद्यषान्ते पाठे वा २।३।८०
द्वित्वेऽप्यन्तेऽप्यनितेः परेस्तु वा २।३।८१
हनः २।३।८२
वमि वा २।३।८३
णिविनिर्क्षनिन्दः कृति वा २।३।८४
स्वरात् २।३।८५
नाम्यादेरेव ने २।३।८६
व्यञ्जनादेर्नाम्युपान्त्याद्वा २।३।८७
णेर्वा २।३।८८
निर्विण्णः २।३।८९
न ख्यापूग्भूभाकमगमप्यायवेपो णेश्च
२।३।९०
देशेऽन्तरोऽयनहनः २।३।९१
षात्पदे २।३।९२
पदेऽन्तरेऽनाङ्यतद्धिते २।३।९३
हनो घि २।३।९४
नृतेर्यङि २।३।९५
क्षुम्नादीनाम् २।३।९६
पाठे धात्वादेर्णो नः २।३।९७
षः सोऽष्ट्यैष्ठिवष्वष्कः २।३।९८
ऋर लृलं कृपोऽकृपीटादिषु २।३।९९
उपसर्गस्यायौ २।३।१००
ग्रो यङि २।३।१०१
न वा स्वरे २।३।१०२
परेर्घाऽङ्कयोगे २।३।१०३
ऋफिडादीनां डश्च लः २।३।१०४
जपादीनां पो वः २।३।१०५

चतुर्थः पादः

स्त्रियां नृतोऽस्वस्रादेर्ङीः २।४।१
अधातूदृदितः २।४।२
अञ्चः २।४।३
णस्वराऽघोषाद्वनो रश्च २।४।४
वा बहुव्रीहेः २।४।५
वा पादः २।४।६
ऊध्नः २।४।७
अशिशोः २।४।८
संख्यादे[illegible] २।४।९

दाम्नः २।४।१०
अनो वा २।४।११
नाम्नि २।४।१२
नोपान्त्यवतः २।४।१३
मनः २।४।१४
ताभ्यां वाप् डित् २।४।१५
अजादेः २।४।१६
ऋचि पादः पात्पदे २।४।१७
आत् २।४।१८
गौरादिभ्यो मुख्यान्ङीः २।४।१९
अणञेये कण्नञ्स्नञ्टिताम् २।४।२०
वयस्यनन्त्ये २।४।२१
द्विगोः समाहारात् २।४।२२
परिमाणात्तद्धितलुक्यबिस्ताचितकम्बल्यात्
२।४।२३
काण्डात् प्रमाणादक्षेत्रे २।४।२४
पुरुषाद्वा २।४।२५
रेवतरोहिणाद्भे २।४।२६
नीलात्प्राण्यौषध्योः २।४।२७
क्ताच्च नाम्नि वा २।४।२८
केवलमामकभागधेयपापापरसमानार्यकृत-
सुमङ्गलभेषजात् २।४।२९
भाजगोणनागस्थलकुण्डकालकुशकामुक-
कटकबरात् पक्वावपनस्थूलाऽकृत्रि-
मामत्रकृष्णायसीरिरंसुश्रोणिकेशपाशे
२।४।३०
न वा शोणादेः २।४।३१
इतोऽक्त्यर्थात् २।४।३२
पद्धतेः २।४।३३
शक्तेः शस्त्रे २।४।३४
स्वरादुतो गुणादखरोः २।४।३५
श्येतैतहरितभरितरोहिताद्वर्णात्तो नश्च
२।४।३६
क्नः पलितासितात् २।४।३७
असहनञ्विद्यमानपूर्वपदात् स्वाङ्गाद-
क्रोडादिभ्यः २।४।३८
नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाङ्गगात्र-
कण्ठात् २।४।३९
नखमुखादनाम्नि २।४।४०
पुच्छात् २।४।४१
कबरमणिविषशरादेः २।४।४२
पक्षाच्चोपमानादेः २।४।४३
क्रीतात् करणादेः २।४।४४
क्तादल्पे २।४।४५
स्वाङ्गादेरकृतमितजातप्रतिपन्नाद् बहुव्रीहेः
२।४।४६
अनाच्छादजात्यादेर्न वा २।४।४७
पत्युर्नः २।४।४८
सादेः २।४।४९
सपत्न्यादौ २।४।५०
ऊढायाम् २।४।५१
पाणिगृहीतीति २।४।५२
पतिवत्न्यन्तर्वत्न्यौ भार्यागर्भिण्योः २।४।५३
जातेरयान्तनित्यस्त्रीशूद्रात् २।४।५४
पाककर्णपर्णवालान्तात् २।४।५५
असत्काण्डप्रान्तशतैकाञ्चः पुष्पात् २।४।५६
असम्भस्त्राजिनैकशणपिण्डात्फलात् २।४।५७
अनञो मूलात् २।४।५८
धवाद्योगादपालकान्तात् २।४।५९
पूतक्रतुवृषाकप्यग्निकुसितकुसीदादै च
२।४।६०
मनोरौ च वा २।४।६१
वरुणेन्द्ररुद्रभवशर्वमृडादान् चान्तः
२।४।६२
मातुलाचार्योपाध्यायाद्वा २।४।६३
सूर्याद्देवतायां वा २।४।६४

यवयवनारण्यहिमाद्दोषलिप्युरुमहत्त्वे २।४।६५
अर्यक्षत्रियाद्वा २।४।६६
यञो डायन् च वा २।४।६७
लोहितादिशकलान्तात् २।४।६८
षावटाद्वा २।४।६९
कौरव्यमाण्डूकासुरेः २।४।७०
इञ इतः २।४।७१
नुर्जातेः २।४।७२
उतोऽप्राणिनश्चायुरज्ज्वादिभ्य ऊङ् २।४।७३
बाह्वन्तकद्रुकमण्डलोर्नाम्नि २।४।७४
उपमानसहितसंहितसहशफवामलक्ष्मणाद्यूरोः २।४।७५
नारीसखी पङ्गूश्वश्रू २।४।७६
यूनस्तिः २।४।७७
अनार्षे वृद्धेऽणिञोबहुस्वरगुरूपान्त्यस्यान्त्यस्य ष्यः २।४।७८
कुलाख्यानाम् २।४।७९
क्रौड्यादीनाम् २।४।८०
भोजसूतयोः क्षत्रियायुवत्योः २।४।८१
दैवयज्ञिशौचिवृक्षिसात्यमुग्रिकाण्ठेविद्धेर्वा २।४।८२
ष्या पुत्रपत्योः केवलयोरीच् तत्पुरुषे २।४।८३
बन्धौ बहुव्रीहौ २।४।८४
मातमातृमातृके वा २।४।८५
अस्य ङ्यां लुक् २।४।८६
मत्स्यस्य यः २।४।८७
व्यञ्जनात्तद्धितस्य २।४।८८
सूर्यागस्त्ययोरीये च २।४।८९
तिष्यपुष्ययोर्भाणि २।४।९०
आपत्यस्य क्यच्च्व्योः २।४।९१
तद्धितयस्वरेऽनाति २।४।९२
बिल्वकीयादेरीयस्य २।४।९३
न राजन्यमनुष्ययोरके २।४।९४
ङ्यादेर्गौणस्याक्विपस्तद्धितलुक्यगोणीसूच्योः २।४।९५
गोश्चान्ते ह्रस्वोऽनंशिसमासेयोबहुव्रीहौ २।४।९६
क्लीबे २।४।९७
वेदूतोऽनव्ययय्वृदीच्ङीयुवः पदे २।४।९८
ङ्यापो बहुलं नाम्नि २।४।९९
त्वे २।४।१००
भ्रुवोऽच्च कुंसकुट्योः २।४।१०१
मालेषीकेष्टकस्यान्तेऽपि भारितूलचिते २।४।१०२
गोण्या मेये २।४।१०३
ङ्यादीदूतः के २।४।१०४
न कचि २।४।१०५
न वाऽऽपः २।४।१०६
इच्चापुंसोऽनित्क्याप्परे २।४।१०७
स्वज्ञाऽजभस्त्राऽधातुत्ययकात् २।४।१०८
द्वयेषसूतपुत्रवृन्दारकस्य २।४।१०९
वौ वर्तिका २।४।११०
अस्यायत्तत्क्षिपकादीनाम् २।४।१११
नरिका मामिका २।४।११२
तारकावर्णकाऽष्टकाज्योतिस्तान्तवपितृदेवत्ये २।४।११३

तृतीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः

धातोः पूजार्थस्वतिगतार्थाधिपर्यतिक्रमार्थाऽतिवर्जः प्रादिरुपसर्गः प्राक् च ३।१।१
ऊर्याद्यनुकरणच्विडाचश्च गतिः ३।१।२
कारिका स्थित्यादौ ३।१।३
भूषादरक्षेपेऽलंसदसत् ३।१।४
अग्रहाऽनुपदेशेऽन्तरदः ३।१।५
कणेमनस्तृप्तौ ३।१।६
पुरोऽस्तमव्ययम् ३।१।७
गत्यर्थवदोऽच्छः ३।१।८
तिरोऽन्तर्द्धौ ३।१।९
कृगो न वा ३।१।१०
मध्येपदेनिवचनेमनस्युरस्यनत्याधाने ३।१।११
उपाजेऽन्वाजे ३।१।१२
स्वाम्येऽधिः ३।१।१३
साक्षादादिश्च्व्यर्थे ३।१।१४
नित्यं हस्तेपाणावुद्वाहे ३।१।१५
प्राध्वं बन्धे ३।१।१६
जीविकोपनिषदौपम्ये ३।१।१७
नामनाम्नैकार्थ्यसमासो बहुलम् ३।१।१८
सुज्वार्थे सङ्ख्या सङ्ख्येये सङ्ख्यया बहुव्रीहिः ३।१।१९
आसन्नादूराधिकाध्यर्द्धार्द्धादिपूरणं द्वितीयाद्यन्यार्थे ३।१।२०
अव्ययम् ३।१।२१
एकार्थं चानेकं च ३।१।२२
उष्ट्रमुखादयः ३।१।२३
सहस्तेन ३।१।२४
दिशो रूढ्याऽन्तराले ३।१।२५
तत्रादाय मिथस्तेन प्रहृत्येति सरूपेण युद्धेऽव्ययीभावः ३।१।२६
नदीभिर्नाम्नि ३।१।२७
सङ्ख्या समाहारे ३।१।२८
वंश्येन पूर्वार्थे ३।१।२९
पारेमध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा ३।१।३०
यावदियत्त्वे ३।१।३१
पर्यपाङ्बहिरच् पञ्चम्या ३।१।३२
लक्षणेनाभिप्रत्याभिमुख्ये ३।१।३३
दैर्घ्येऽनुः ३।१।३४
समीपे ३।१।३५
तिष्ठद्ग्वित्यादयः ३।१।३६
नित्यं प्रतिनाऽल्पे ३।१।३७
सङ्ख्याऽक्षशलाकं परिणा द्यूतेऽन्यथावृत्तौ ३।१।३८
विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययाऽसंप्रतिपश्चात्क्रमख्यातियुगपत्सदृक्सम्पत्साकल्यान्तेऽव्ययम् ३।१।३९
योग्यतावीप्सार्थानतिवृत्तिसादृश्ये ३।१।४०
यथाऽथा ३।१।४१
गतिक्वन्यस्तत्पुरुषः ३।१।४२
दुर्निन्दाकृच्छ्रे ३।१।४३
सुः पूजायाम् ३।१।४४
अतिरतिक्रमे च ३।१।४५
आङल्पे ३।१।४६
प्रात्यवपरिनिरादयो गतक्रान्तक्रुष्टग्लानक्रान्ताद्यर्थाः प्रथमाद्यन्तैः ३।१।४७
अव्ययं प्रवृद्धादिभिः ३।१।४८

इस्युक्तं कृता ३।१।४९
तृतीयोक्तं वा ३।१।५०
नञ् ३।१।५१
पूर्वापराधरोत्तरमभिन्नेनांशिना ३।१।५२
सायाह्नादयः ३।१।५३
समेंऽशेऽर्द्धं न वा ३।१।५४
जरत्यादिभिः ३।१।५५
द्वित्रिचतुष्पूरणाग्रादयः ३।१।५६
कालो द्विगौ च मेयैः ३।१।५७
स्वयंसामी क्तेन ३।१।५८
द्वितीया खट्वाक्षेपे ३।१।५९
कालः ३।१।६०
व्याप्तौ ३।१।६१
श्रितादिभिः ३।१।६२
प्राप्तापन्नौ तयाच्च ३।१।६३
ईषद्गुणवचनैः ३।१।६४
तृतीया तत्कृतैः ३।१।६५
न्यूनार्थपूर्वाद्यैः ३।१।६६
ऊनार्थपूर्वाद्यैः ३।१।६७
कारकं कृता ३।१।६८
न विंशत्यादिनैकोऽच्चान्तः ३।१।६९
चतुर्थी प्रकृत्या ३।१।७०
हितादिभिः ३।१।७१
तदर्थार्थेन ३।१।७२
पञ्चमी भयाद्यैः ३।१।७३
क्तेनासत्त्वे ३।१।७४
परः शतादिः ३।१।७५
षष्ठ्ययत्नाच्छेषे ३।१।७६
कृति ३।१।७७
याजकादिभिः ३।१।७८
पत्तिरथौ गणकेन ३।१।७९
सर्वपश्चादादयः ३।१।८०
अकेन क्रीडाजीवे ३।१।८१
न कर्त्तरि ३।१।८२
कर्मजा तृचा च ३।१।८३
तृतीयायाम् ३।१।८४
तृप्तार्थपूरणाव्ययातृशत्रानशा ३।१।८५
ज्ञानेच्छार्चार्थाधारक्तेन ३।१।८६
अस्वस्थगुणैः ३।१।८७
सप्तमी शौण्डाद्यैः ३।१।८८
सिंहाद्यैः पूजायाम् ३।१।८९
काकाद्यैः क्षेपे ३।१।९०
पात्रे समितेत्यादयः ३।१।९१
क्तेन ३।१।९२
तत्राहोरात्रांशम् ३।१।९३
नाम्नि ३।१।९४
कृद्येनावश्यके ३।१।९५
विशेषणं विशेष्येणैकार्थं कर्मधारयश्च ३।१।९६
पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलम् ३।१।९७
दिगधिकं संज्ञातद्धितोत्तरपदे ३।१।९८
संख्या समाहारे च द्विगुश्चानाम्न्ययम् ३।१।९९
निन्द्यं कुत्सनैरपापाद्यैः ३।१।१००
उपमानं सामान्यैः ३।१।१०१
उपमेयं व्याघ्राद्यैः साम्यानुक्तौ ३।१।१०२
पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यम-मध्यमवीरम् ३।१।१०३
श्रेण्यादि कृताद्यैश्च्व्यर्थे ३।१।१०४
क्तं नञादिभिन्नैः ३।१।१०५
सेट्नाऽनिटा ३।१।१०६
सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टं पूजायाम् ३।१।१०७
वृन्दारकनागकुञ्जरैः ३।१।१०८
कतरकतमौ जातिप्रश्ने ३।१।१०९

क्षि क्षेपे ३।१।११०
पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्बष्कयिणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्त्तैःप्रशंसारूढैर्जातिः ३।१।१११
चतुष्पाद्गर्भिण्या ३।१।११२
युवाखलतिपलितजरद्वलिनैः ३।१।११३
कृत्यतुल्याख्यमजात्या ३।१।११४
कुमारः श्रमणादिना ३।१।११५
मयूरव्यंसकेत्यादयः ३।१।११६
चार्थे द्वन्द्वः सहोक्तौ ३।१।११७
समानामर्थेनैकः शेषः ३।१।११८
स्यादावसंख्येयः ३।१।११९
त्यदादिः ३।१।१२०
भ्रातृपुत्राः स्वसृदुहितृभिः ३।१।१२१
पिता मात्रा वा ३।१।१२२
श्वशुरः श्वश्र्वा वा ३।१।१२३
वृद्धो यूना तन्मात्रभेदे ३।१।१२४
स्त्री पुंवच्च ३।१।१२५
पुरुषः स्त्रिया ३।१।१२६
ग्राम्याशिशुद्विशफसङ्घे स्त्री प्रायः ३।१।१२७
क्लीबमन्येनैकं च वा ३।१।१२८
पुष्यार्थाद्भे पुनर्वसुः ३।१।१२९
विरोधिनामद्रव्याणां न वा द्वन्द्वः स्वैः ३।१।१३०
अश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराः ३।१।१३१
पशुव्यञ्जनानाम् ३।१।१३२
तरुतृणधान्यमृगपक्षिणां बहुत्वे ३।१।१३३
सेनाङ्गक्षुद्रजन्तूनाम् ३।१।१३४
फलस्य जातौ ३।१।१३५
अप्राणिपश्वादेः ३।१।१३६
प्राणितूर्याङ्गाणाम् ३।१।१३७
चरणस्य स्थेणोऽद्यतन्यामनुवादे ३।१।१३८
अक्लीबेऽध्वर्युक्रतोः ३।१।१३९
निकटपाठस्य ३।१।१४०
नित्यवैरस्य ३।१।१४१
नदीदेशपुरां विलिङ्गानाम् ३।१।१४२
पाठ्यद्रव्यस्य ३।१।१४३
गवाश्वादिः ३।१।१४४
न दधिपयआदिः ३।१।१४५
संख्याने ३।१।१४६
वान्तिके ३।१।१४७
प्रथमोक्तं प्राक् ३।१।१४८
राजदन्तादिषु ३।१।१४९
विशेषणसर्व्वादिसंख्यं बहुव्रीहौ ३।१।१५०
क्ताः ३।१।१५१
जातिकालसुखादेर्न वा ३।१।१५२
आहिताग्न्यादिषु ३।१।१५३
प्रहरणात् ३।१।१५४
न सप्तमीन्द्वादिभ्यश्च ३।१।१५५
गड्वादिभ्यः ३।१।१५६
प्रियः ३।१।१५७
कडारादयः कर्म्मधारये ३।१।१५८
धर्मार्थादिषु द्वन्द्वे ३।१।१५९
लघ्वक्षरासखीदुत्स्वराद्यदल्पस्वरार्च्यमेकम् ३।१।१६०
मासवर्णभ्रात्रनुपूर्वम् ३।१।१६१
भर्तुस्तुल्यस्वरम् ३।१।१६२
संख्या समासे ३।१।१६३

द्वितीयः पादः

परस्पराऽन्योऽन्येतरेतरस्याम् स्यादेर्वा पुंसि ३।२।१
अमव्ययीभावस्यातोऽपञ्चम्याः ३।२।२
वा तृतीयायाः ३।२।३
सप्तम्या वा ३।२।४
ऋद्धनदीवंश्यस्य ३।२।५

अनतो लुप् ३।२।६
अव्ययस्य ३।२।७
ऐकार्थ्ये ३।२।८
न नाम्येकस्वरात् खित्युत्तरपदेऽमः ३।२।९
असत्त्वे ङसेः ३।२।१०
ब्राह्मणाच्छंसी ३।२।११
ओजोऽञ्जःसहोऽम्भस्तमस्तपसष्टः ३।२।१२
पुंजनुषोऽनुजान्धे ३।२।१३
आत्मनः पूरणे ३।२।१४
मनसश्चाज्ञायिनि ३।२।१५
नाम्नि ३।२।१६
परात्मभ्यां ङेः ३।२।१७
अद्व्यञ्जनात्सप्तम्या बहुलम् ३।२।१८
प्राक्कारस्य व्यञ्जने ३।२।१९
तत्पुरुषे कृति ३।२।२०
मध्यान्ताद् गुरौ ३।२।२१
अमूर्द्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे ३।२।२२
बन्धे घञि न वा ३।२।२३
कालात्तनतरतमकाले ३।२।२४
शयवासिवासेष्वकालात् ३।२।२५
वर्षक्षरवराप्सरःशरोरोमनसो जे ३।२।२६
द्युप्रावृट्वर्षाशरत्कालात् ३।२।२७
अपो ययोनिमतिचरे ३।२।२८
नेन्सिद्धस्थे ३।२।२९
षष्ठ्याः क्षेपे ३।२।३०
पुत्रे वा ३।२।३१
पश्यद्वाग्दिशो हरयुक्तिदण्डे ३।२।३२
अदसोऽकञायनणोः ३।२।३३
देवानांप्रियः ३।२।३४
शेपपुच्छलाङ्गूलेषु नाम्नि शुनः ३।२।३५
वाचस्पतिवास्तोष्पतिदिवस्पतिदिवोदासम् ३।२।३६
ऋतां विद्यायोनिसम्बन्धे ३।२।३७
स्वसृपत्योर्वा ३।२।३८
आ द्वन्द्वे ३।२।३९
पुत्रे ३।२।४०
वेदसहश्रुताऽवायुदेवतानाम् ३।२।४१
ईः षोमवरुणेऽग्नेः ३।२।४२
इद्वृद्धिमत्यविष्णौ ३।२।४३
दिवो द्यावा ३।२।४४
दिवसदिवः पृथिव्यां वा ३।२।४५
उषासोषसः ३।२।४६
मातरपितरं वा ३।२।४७
वर्चस्कादिष्ववस्करादयः ३।२।४८
परतः स्त्री पुम्वत् स्त्र्येकार्थेऽनूङ् ३।२।४९
क्यङ्मानिपित्तद्धिते ३।२।५०
जातिश्च णितद्धितयस्वरे ३।२।५१
एयेऽग्नायी ३।२।५२
नाप्प्रियादौ ३।२।५३
तद्धिताककोपान्त्यपूरण्याख्याः ३।२।५४
तद्धितः स्वरवृद्धिहेतुररक्तविकारे ३।२।५५
स्वाङ्गान्ङीर्जातिश्चाऽमानिनि ३।२।५६
पुम्वत्कर्मधारये ३।२।५७
रिति ३।२।५८
त्वते गुणः ३।२।५९
च्वौ क्वचित् ३।२।६०
सर्वादयोऽस्यादौ ३।२।६१
मृगक्षीरादिषु वा ३।२।६२
ऋदुदित्तरतमरूपकल्पब्रुवचेलड्गोत्रमत-
हते वा ह्रस्वश्च ३।२।६३
ङ्यः ३।२।६४
भोगवद्गौरिमतोर्नाम्नि ३।२।६५
न वैकस्वराणाम् ३।२।६६
ऊङः ३।२।६७
महतः करघासविशिष्टे डाः ३।२।६८
स्त्रियाम् ३।२।६९

जातीयैकार्थेऽच्वेः ३।२।७०
न पुम्वन्निषेधे ३।२।७१
इच्यस्वरे दीर्घ आच्च ३।२।७२
हविष्यष्टनः कपाले ३।२।७३
गवि युक्ते ३।२।७४
नाम्नि ३।२।७५
कोटरमिश्रकसिध्रकपुरगसारिकस्य वणे ३।२।७६
अञ्जनादीनां गिरौ ३।२।७७
अनजिरादिबहुस्वरशरादीनां मतौ ३।२।७८
ऋषौ विश्वस्य मित्रे ३।२।७९
नरे ३।२।८०
वसुराटो ३।२।८१
वलच्यपित्रादेः ३।२।८२
चितेः कचि ३।२।८३
स्वामिचिह्नस्याऽविष्टाऽष्टपञ्चभिन्नच्छिन्न-च्छिद्रश्रुवस्वस्तिकस्य कर्णे ३।२।८४
गतिकारकस्य नहिवृतिवृषिव्यधिरुचि-सहितनौ क्वौ ३।२।८५
घञ्युपसर्गस्य बहुलम् ३।२।८६
नामिनः काशे ३।२।८७
दस्ति ३।२।८८
अपील्वादेर्वहे ३।२।८९
शुनः ३।२।९०
एकादशषोडशषोडत्षोढाषड्ढा ३।२।९१
द्विन्यष्टानां द्वात्रयोऽष्टाः प्राक्शतादनशीतिं बहुव्रीहौ ३।२।९२
चत्वारिंशदादौ वा ३।२।९३
हृदयस्य हृल्लासलेखाण्ये ३।२।९४
पदः पादस्याज्यातिगोपहते ३।२।९५
हिमहतिकाषिये पद् ३।२।९६
ऋचः शसि ३।२।९७
शब्दनिष्कघोषमिश्रे वा ३।२।९८
नस् नासिकायास्तः क्षुद्रे ३।२।९९
येऽवर्णे ३।२।१००
शिरसः शीर्षन् ३।२।१०१
केशे वा ३।२।१०२
शीर्षः स्वरे तद्धिते ३।२।१०३
उदकस्योदः पेषंधिवासवाहने ३।२।१०४
वैकव्यञ्जने पूर्ये ३।२।१०५
मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहे वा ३।२।१०६
नाम्न्युत्तरपदस्य च ३।२।१०७
ते लुग्वा ३।२।१०८
द्व्यन्तरनवर्णोपसर्गादप ईप् ३।२।१०९
अनोर्देशे उप् ३।२।११०
खित्यनव्ययाऽरुषोर्मोऽन्तो ह्रस्वश्च ३।२।१११
सत्यागदास्तोः कारे ३।२।११२
लोकम्पृणमध्यन्दिनाऽनभ्याशमित्यम् ३।२।११३
भ्राष्ट्राग्नेरिन्धे ३।२।११४
अगिलाद्गिलगिलगिल्योः ३।२।११५
भद्रोष्णात्करणे ३।२।११६
न वा खित्कृदन्ते रात्रेः ३।२।११७
धेनोर्भव्यायाम् ३।२।११८
अषष्ठीतृतीयादन्याद्दोऽर्थे ३।२।११९
आशीराशास्थितास्थोत्सुकोतिरागे ३।२।१२०
ईय कारके ३।२।१२१
सर्वादिविष्वग्देवाड्ड्रिः क्व्यञ्चौ ३।२।१२२
सहसमः सध्रिसमि ३।२।१२३
तिरसस्तिर्यति ३।२।१२४
नञत् ३।२।१२५

स्यादौ क्षेपे ३।२।१२६
नगोऽप्राणिनि वा ३।२।१२७
नखादयः ३।२।१२८
अन् स्वरे ३।२।१२९
कोः कत्तत्पुरुषे ३।२।१३०
रथवदे ३।२।१३१
तृणे जातौ ३।२।१३२
कत्त्रि ३।२।१३३
काऽक्षपथोः ३।२।१३४
पुरुषे वा ३।२।१३५
अल्पे ३।२।१३६
काकवौ वोष्णे ३।२।१३७
कृत्येऽवश्यमो लुक् ३।२।१३८
समस्ततहिते वा ३।२।१३९
तुमश्च मनः कामे ३।२।१४०
मांसस्यानड्घञि पञ्चि न वा ३।२।१४१
दिक्शब्दात्तीरस्य तारः ३।२।१४२
सहस्य सोऽन्यार्थे ३।२।१४३
नाम्नि ३।२।१४४
अदृश्याधिके ३।२।१४५
अकालेऽव्ययीभावे ३।२।१४६
ग्रन्थाऽन्ते ३।२।१४७
नाशिष्यगोवत्सहले ३।२।१४८
समानस्य धर्मादिषु ३।२।१४९
सब्रह्मचारी ३।२।१५०
दृग्दृशदृक्षे ३।२।१५१
अन्यत्यदादेराः ३।२।१५२
इदङ्किमीत्की ३।२।१५३
अनञः क्त्वो यप् ३।२।१५४
पृषोदरादयः ३।२।१५५
वावाप्योस्तनिक्रीधाग्वह्योर्वपी ३।२।१५६

तृतीयः पादः

वृद्धिरारैदौत् ३।३।१
गुणोऽरेदोत् ३।३।२
क्रियार्थो धातुः ३।३।३
न प्रादिरप्रत्ययः ३।३।४
अवौ दाधौ दा ३।३।५
वर्तमाना तिव् तस् अन्ति, सिव् थस्, थ, मिव् वस् मस्; ते आते अन्ते, से आथे ध्वे, ए वहे महे ३।३।६
सप्तमी यात् याताम् युस्, यास् यातं यात, यां याव याम; ईत ईयाताम् ईरन्, ईथास् ईयाथां ईध्वं, ईय ईवहि ईमहि ३।३।७
पञ्चमी तुव् तां अन्तु, हि तं त, आनिव् आवव् आमव्; तां आतां अन्तां, स्व आथां ध्वं, ऐव् आवहैव् आमहैव् ३।३।८
ह्यस्तनी दिव् तां अन्, सिव् तं त, अमव् व म, त आतां अन्त, थास् आथां ध्वं, इ वहि महि ३।३।९
एताः शितः ३।३।१०
अद्यतनी दि तां अन् सि तं त, अम् व म; त आतां अन्त, थस् आथां ध्वं, इ वहि महि ३।३।११
परोक्षा णव् अतुस् उस्, थव् अथुस् अ, णव् व म; ए आते इरे, से आथे ध्वे, ए वहे महे ३।३।१२
आशीः क्यात् क्यास्तां क्यासुस्, क्यास् क्यास्तं क्यास्त, क्यासं क्यास्व क्यास्म; सीष्ट सीयास्तां सीरन्, सीष्ठास् सीयास्थां सीध्वं, सीय सीवहि सीमहि ३।३।१३
श्वस्तनी ता तारौ तारस् तासि तास्थस् तास्थ, तास्मि तास्वस् तास्मस्; ता तारौ तारस्, तासे तासाथे ताध्वे, ताहे तास्वहे तास्महे ३।३।१४

भविष्यन्ती स्यति स्यतस् स्यन्ति, स्यसि स्यथस् स्यथ, स्यामि स्यावस् स्यामस्; स्यते स्येते स्यन्ते, स्यसे स्येथे स्यध्वे, स्ये स्यावहे स्यामहे ३।३।१५

क्रियातिपत्तिः स्यत् स्यतां स्यन्, स्यस् स्यतं स्यत, स्यं स्याव स्याम; स्यत स्येतां स्यन्त, स्यथास् स्येथां स्यध्वं, स्ये स्यावहि स्यामहि ३।३।१६

त्रीणि त्रीण्यऽन्ययुष्मदस्मदि ३।३।१७

एकद्विबहुषु ३।३।१८

नवाद्यानि शतृक्वसू च परस्मैपदम् ३।३।१९

पराणि कानानशौ चात्मनेपदम् ३।३।२०

तत्साप्यानाप्यात्कर्मभावे कृत्यक्तखलर्थाश्च ३।३।२१

इङ्गितः कर्त्तरि ३।३।२२

क्रियाव्यतिहारेऽगतिहिंसाशब्दार्थहसो-ह्ववहश्चानन्योऽन्यार्थे ३।३।२३

निविशः ३।३।२४

उपसर्गादस्योहो वा ३।३।२५

उत्स्वराद्युजेरयज्ञतत्पात्रे ३।३।२६

परिव्यवात्क्रियः ३।३।२७

परावेर्जेः ३।३।२८

समः क्ष्णोः ३।३।२९

अपस्किरः ३।३।३०

उदश्चरः साप्यात् ३।३।३१

समस्तृतीयया ३।३।३२

क्रीडोऽकूजने ३।३।३३

अन्वाङ् परेः ३।३।३४

शप उपलम्भने ३।३।३५

आशिषि नाथः ३।३।३६

भुनजोऽत्राणे ३।३।३७

ह्रगोगतताच्छील्ये ३।३।३८

पूजाचार्यकभृत्युत्क्षेपज्ञानविगणनव्यये नियः ३।३।३९

कर्तृस्थामूर्त्ताप्यात् ३।३।४०

शदेः शिति ३।३।४१

म्रियतेरद्यतन्याशिषि च ३।३।४२

क्यङ्षो न वा ३।३।४३

द्युद्भ्योऽद्यतन्याम् ३।३।४४

वृद्भ्यः स्यसनोः ३।३।४५

कृपः श्वस्तन्याम् ३।३।४६

क्रमोऽनुपसर्गात् ३।३।४७

वृत्तिसर्गतायने ३।३।४८

परोपात् ३।३।४९

वेः स्वार्थे ३।३।५०

प्रोपादारम्भे ३।३।५१

आङो ज्योतिरुद्गमे ३।३।५२

दागोऽस्वास्यप्रसारविकाशे ३।३।५३

नुप्रच्छः ३।३।५४

गमेः क्षान्तौ ३।३।५५

ह्वः स्पर्द्धे ३।३।५६

सन्निवेः ३।३।५७

उपात् ३।३।५८

यमः स्वीकारे ३।३।५९

देवार्चामैत्रीसङ्गमपथिकर्तृमन्त्रकरणे स्थः ३।३।६०

वा लिप्सायाम् ३।३।६१

उदोऽनूर्ध्वे हे ३।३।६२

संविप्रावात् ३।३।६३

ज्ञीप्सास्थेये ३।३।६४

प्रतिज्ञायाम् ३।३।६५

समो गिरः ३।३।६६

अवात् ३।३।६७

निह्नवे ज्ञः ३।३।६८

संप्रतेरस्मृतौ ३।३।६९

अननोः सनः ३।३।७०

श्रुवोऽनाङ्प्रतेः ३।३।७१

स्मृदृशः ३।३।७२
शको जिज्ञासायाम् ३।३।७३
प्राग्वत् ३।३।७४
आमः कृगः ३।३।७५
गन्धनावक्षेपसेवासाहसप्रतियत्नप्रकथनो-
    पयोगे ३।३।७६
अधेः प्रसहने ३।३।७७
दीप्तिज्ञानयत्नविमत्युपसम्भाषोपमन्त्रणे
    वदः ३।३।७८
व्यक्तवाचां सहोक्तौ ३।३।७९
विवादे वा ३।३।८०
अनोः कर्मण्यसति ३।३।८१
ज्ञः ३।३।८२
उपात्स्थः ३।३।८३
समो गमृच्छिप्रच्छिश्रुवित्स्वरत्यर्त्तिदृशः
    ३।३।८४
वेः कृगः शब्दे चानाशे ३।३।८५
आङो यमहनः स्वेऽङ्गे च ३।३।८६
व्युदस्तप ३।३।८७
अणिकर्म णिकर्तृकाण्णिगोऽस्मृतौ ३।३।८८
प्रलम्भे गृधिवञ्चेः ३।३।८९
लीङ्लिनोऽर्चाभिभवे चाच्चाकर्त्तर्य्यपि
    ३।३।९०
स्मिङः प्रयोक्तुः स्वार्थे ३।३।९१
बिभेतेर्भीष् च ३।३।९२
मिथ्या कृगोऽभ्यासे ३।३।९३
परिमुहायमायसपाद्धेवदवसदमादरुच-
    नृतः फलवति ३।३।९४
ईगितः ३।३।९५
ज्ञोऽनुपसर्गात् ३।३।९६
वदोऽपात् ३।३।९७
समुदाङो यमेरग्रन्थे ३।३।९८
पदान्तरगम्ये वा ३।३।९९
शेषात्परस्मै ३।३।१००
परानोः कृगः ३।३।१०१
प्रत्यभ्यतेः क्षिपः ३।३।१०२
प्राद्वहः ३।३।१०३
परेर्मृषश्च ३।३।१०४
व्याङ्परे रमः ३।३।१०५
वोपात् ३।३।१०६
अणिगि प्राणिकर्तृकानाप्याण्णिगः ३।३।१०७
चाल्याहारार्थेङ्बुधयुधप्रद्रुस्रुनशजनः
    ३।३।१०८

चतुर्थः पादः

गुपौधूपविच्छिपणिपनेरायः ३।४।१
कमेर्णिङ् ३।४।२
ऋतेर्ङीयः ३।४।३
अशविते वा ३।४।४
गुप्तिजोगर्हाक्षान्तौ सन् ३।४।५
कितः संशयप्रतीकारे ३।४।६
शान्दान्मान्बधान्निशानार्जवविचारवैरूप्ये
    दीर्घश्चेतः ३।४।७
धातोः कण्ड्वादेर्यक् ३।४।८
व्यञ्जनादेरेकस्वराद् भृशाभीक्ष्ण्ये यङ् वा
    ३।४।९
अट्यर्त्तिसूत्रिमूत्रिसूच्यशूर्णोः ३।४।१०
गत्यर्थात्कुटिले ३।४।११
गृलुपसदचरजपजभदशदहो गर्ह्ये ३।४।१२
न गृणाशुभरुचः ३।४।१३
बहुलं लुप् ३।४।१४
अचि ३।४।१५
नोतः ३।४।१६
चुरादिभ्यो णिच् ३।४।१७
युजादेर्न वा ३।४।१८
भूङः प्राप्तौ णिङ् ३।४।१९
प्रयोक्तृव्यापारे णिग् ३।४।२०

तुमर्हादिच्छायां सन्नतत्सनः ३।४।२१
द्वितीयायाः काम्यः ३।४।२२
अमाव्ययात्क्यन् च ३।४।२३
आधाराच्चोपमानादाचारे ३।४।२४
कर्त्तुः क्विप् गल्भक्लीबहोडात्तु ङित् ३।४।२५
क्यङ् ३।४।२६
सो वा लुक्च ३।४।२७
ओजोऽप्सरसः ३।४।२८
च्व्यर्थे भृशादेः स्तोः ३।४।२९
डाच् लोहितादिभ्यः षित् ३।४।३०
कष्टकक्षकृच्छ्रसत्रगहनाय पापे क्रमणे ३।४।३१
रोमन्थाद्व्याप्यादुच्चर्वणे ३।४।३२
फेनोष्मबाष्पधूमादुद्वमने ३।४।३३
सुखादेरनुभवे ३।४।३४
शब्दादेः कृतौ वा ३।४।३५
तपसः क्यन् ३।४।३६
नमोवरिवश्चित्रङोऽर्चासेवाश्चर्ये ३।४।३७
अङ्गान्निरसने णिङ् ३।४।३८
पुच्छादुत्परिव्यसने ३।४।३९
भाण्डात्समाचितौ ३।४।४०
चीवरात्परिधानार्जने ३।४।४१
णिज्बहुलं नाम्नः कृगादिषु ३।४।४२
व्रताद् भुजितन्निवृत्त्योः ३।४।४३
सत्यार्थवेदस्याः ३।४।४४
श्वेताश्वाश्वतरगालोडिताह्वरकस्याश्वतरेतकलुक् ३।४।४५
धातोरनेकस्वरादाम्परोक्षायाः कृभ्वस्ति चानुतदन्तम् ३।४।४६
दयायास्कासः ३।४।४७
गुरुनाम्यादेरनृच्छूर्णोः ३।४।४८
जागुषसमिन्धेर्न वा ३।४।४९
भीह्रीभृहोस्तिव्वत् ३।४।५०
वेत्तेः कित् ३।४।५१
पञ्चम्याः कृग् ३।४।५२
सिजद्यतन्याम् ३।४।५३
स्पृशमृशकृषतृपदृपो वा ३।४।५४
हशिटोनाम्युपान्त्याददृशोऽनिटः सक् ३।४।५५
श्लिषः ३।४।५६
नासत्त्वाश्लेषे ३।४।५७
णिश्रिद्रुस्रुकमः कर्त्तरि ङः ३।४।५८
ट्वेश्वेर्वा ३।४।५९
शास्त्यसूवक्तिख्यातेरङ् ३।४।६०
सर्त्यर्त्तेर्वा ३।४।६१
ह्वालिप्सिचः ३।४।६२
वात्मने ३।४।६३
लृदिद्द्युतादिपुष्यादेः परस्मै ३।४।६४
ऋदिच्छ्विस्तम्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चूजो वा ३।४।६५
ञिच् ते पदस्तलुक्च ३।४।६६
दीपजनबुधिपूरितायिप्यायो वा ३।४।६७
भावकर्मणोः ३।४।६८
स्वरग्रहदृशहन्भ्यः स्यसिजाशीःश्वस्तन्यां ञिट् वा ३।४।६९
क्यः शिति ३।४।७०
कर्त्तर्यनद्भ्यः शव् ३।४।७१
दिवादेः श्यः ३।४।७२
भ्रासभ्लासभ्रमक्रमक्लमत्रसित्रुटिलषियसिसंयसेर्वा ३।४।७३
कुषिरञ्जेर्व्याप्ये वा परस्मै च ३।४।७४
स्वादेः श्नुः ३।४।७५
वाऽक्षः ३।४।७६
तक्षः स्वार्थे वा ३।४।७७
स्तम्भूस्तुम्भूस्कम्भूस्कुम्भूस्कोः श्ना च ३।४।७८

क्र्यादेः ३।४।७९
व्यञ्जनाच्छ्नाहेरानः ३।४।८०
तुदादेः शः ३।४।८१
रुधां स्वराच्छ्नो न लुक् च ३।४।८२
कृग्तनादेरुः ३।४।८३
सृजः श्राद्धे ञिक्यात्मने तथा ३।४।८४
तपेस्तपः कर्म्मकात् ३।४।८५
एकधातौ कर्मक्रिययैकाऽकर्मक्रिये ३।४।८६
पचिदुहेः ३।४।८७
न कर्मणा ञिच् ३।४।८८
रुधः ३।४।८९
स्वरदुहो वा ३।४।९०
तपः कर्त्रनुतापे च ३।४।९१
णिस्नुश्र्यात्मनेपदाकर्म्मकात् ३।४।९२
भूषार्थसन्किरादिभ्यश्च ञिक्यौ ३।४।९३
करणक्रियया क्वचित् ३।४।९४

चतुर्थोऽध्यायः

प्रथमः पादः

द्विर्धातुः परोक्षाङे प्राक्तुस्वरे स्वरविधेः ४।१।१
आद्योंऽश एकस्वरः ४।१।२
सन्यङश्च ४।१।३
स्वरादेर्द्वितीयः ४।१।४
न बदनं संयोगादिः ४।१।५
अयि रः ४।१।६
नाम्नो द्वितीयाद्यथेष्टम् ४।१।७
अन्यस्य ४।१।८
कण्ड्वादेस्तृतीयः ४।१।९
पुनरेकेषाम् ४।१।१०
यिः सन्वेर्ष्यः ४।१।११
ह्वः शिति ४।१।१२
चराचरचलाचलपतापतवदावदघनाघनपाटूपटं वा ४।१।१३
चिक्लिदचक्नसम् ४।१।१४
दाश्वत्साह्वन्मीढ्वत् ४।१।१५
शप्याप्यीप्सीर्त्सीर्चीप् न च द्विः सि सनि ४।१।१६
ऋध ईर्त् ४।१।१७
दम्भो धिप्धीप् ४।१।१८
अव्याप्यस्य मुचेर्मोग्वा ४।१।१९
मिमीमादामित्स्वरस्य ४।१।२०
रभलभशकपतपदामिः ४।१।२१
राधेर्वधे ४।१।२२
अवित्परोक्षासेट्थवोरेः ४।१।२३
अनादेशादेरेकव्यञ्जनमध्येऽतः ४।१।२४
तॄत्रपफलभजाम् ४।१।२५
जॄभ्रमवमत्रसफणस्यमस्वनराजभ्राजभ्रासभ्लासो वा ४।१।२६
वा श्रन्थग्रन्थोन्लुक् च ४।१।२७
दम्भः ४।१।२८
थे वा ४।१।२९
न शसददवादिगुणिनः ४।१।३०
ह्वो दः ४।१।३१
देर्दिगिः परोक्षायाम् ४।१।३२
ङे पिबः पीप्य् ४।१।३३
अङे हिहनो ह्रो घः पूर्वात् ४।१।३४
जेर्गिः सन्परोक्षयोः ४।१।३५
चेः किर्वा ४।१।३६
पूर्वस्यास्वे स्वरे य्वोरियुव् ४।१।३७
ऋतोऽत् ४।१।३८
ह्रस्वः ४।१।३९
गहोर्जः ४।१।४०
द्युतेरिः ४।१।४१
द्वितीयतुर्ययोः पूर्वौ ४।१।४२
तिर्वा ष्ठिवः ४।१।४३
व्यञ्जनस्यानादेर्लुक् ४।१।४४
अघोषे शिटः ४।१।४५
कङश्चञ् ४।१।४६
न कवतेर्यङः ४।१।४७
आगुणावन्यादेः ४।१।४८
न हाको लुपि ४।१।४९
वञ्चस्रंसध्वंसभ्रंसकसपतपदस्कन्दोऽन्तो नीः ४।१।५०
मुरतोऽनुनासिकस्य ४।१।५१
जपजभदहदशभञ्जपशः ४।१।५२
चरफलाम् ४।१।५३
ति चोपान्त्यातोऽनोदुः ४।१।५४
ऋमतां रीः ४।१।५५

रिरौ च लुपि ४।१।५६
निजां शित्येत् ४।१।५७
पृभृमाहाङामिः ४।१।५८
सन्यस्य ४।१।५९
ओर्जान्तस्थापवर्गेऽवर्णे ४।१।६०
श्रुस्रुद्रुप्रुप्लुच्योर्वा ४।१।६१
स्वपो णावुः ४।१।६२
असमानलोपे सन्वल्लघुनि ङे ४।१।६३
लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः ४।१।६४
स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तृस्पशेरः ४।१।६५
वा वेष्टचेष्टः ४।१।६६
ई च गणः ४।१।६७
अस्यादेराः परोक्षायाम् ४।१।६८
अनातो नश्चान्त ऋदाद्यशौ संयोगस्य ४।१।६९
भूस्वपोरदुतौ ४।१।७०
ज्याव्येव्यधिव्यचिव्यथेरिः ४।१।७१
यजादिवशवचः सस्वरान्तस्था य्वृत् ४।१।७२
न वयो य् ४।१।७३
वेरयः ४।१।७४
अविति वा ४।१।७५
श्वयश्च यपि ४।१।७६
ज्यः ४।१।७७
संपरेर्वा ४।१।७८
यजादिवचेः किति ४।१।७९
स्वपेर्यङ्ङे च ४।१।८०
ज्याव्यधः क्ङिति ४।१।८१
व्यचोऽनसि ४।१।८२
वशोरयङि ४।१।८३
ग्रहव्रश्चभ्रस्जप्रच्छः ४।१।८४
व्येस्यमोर्यङि ४।१।८५
चायः कीः ४।१।८६
द्वित्वे ह्वः ४।१।८७
णौ ङसनि ४।१।८८
श्वेर्वा ४।१।८९
वा परोक्षा यङि ४।१।९०
प्यायः पीः ४।१।९१
क्तयोरनुपसर्गस्य ४।१।९२
आङोऽन्धूधसोः ४।१।९३
स्फायः स्फी वा ४।१।९४
प्रसमः स्त्यः स्तीः ४।१।९५
प्रातश्च मो वा ४।१।९६
श्यः शीद्रवमूर्तिस्पर्शे नश्चास्पर्शे ४।१।९७
प्रतेः ४।१।९८
वाऽभ्यवाभ्याम् ४।१।९९
श्रः शृतं हविःक्षीरे ४।१।१००
श्रपेः प्रयोक्त्रैक्ये ४।१।१०१
व्युत्सकृत् ४।१।१०२
दीर्घमवोऽन्त्यम् ४।१।१०३
स्वर हन्गमोः सनि धुटि ४।१।१०४
तनो वा ४।१।१०५
क्रमः क्त्वि वा ४।१।१०६
अहन्पञ्चमस्य क्विक्ङिति ४।१।१०७
अनुनासिके च च्छवः शूट् ४।१।१०८
मव्यविश्रिविज्वरित्वरेरुपान्त्येन ४।१।१०९
राल्लुक् ४।१।११०
क्तेऽनिटश्चजोः कगौ घिति ४।१।१११
न्यङ्कुद्गमेघादयः ४।१।११२
न वञ्चेर्गतौ ४।१।११३
यजेर्यज्ञाङ्गे ४।१।११४
ण्यण्यावश्यके ४।१।११५
निप्राद्युजः शक्ये ४।१।११६
भुजो भक्ष्ये ४।१।११७
त्यज्यजप्रवचः ४।१।११८
वचोऽशब्दनाम्नि ४।१।११९

भुजन्युब्जं पाण्युपतापे ४।१।१२०
वीरुन्न्यग्रोधौ ४।१।१२१

द्वितीय पादः

आत्सन्ध्यक्षरस्य ४।२।१
न शिति ४।२।२
व्यस्थव्णवि ४।२।३
स्फुरस्फुलोर्घञि ४।२।४
वापगुरो णमि ४।२।५
दीङः सनि वा ४।२।६
यबक्ङिति ४।२।७
मिग्मीगोऽखलचलि ४।२।८
लीङ्लिनोर्वा ४।२।९
णौ क्रीजीङः ४।२।१०
सिध्यतेरज्ञाने ४।२।११
चिस्फुरोर्नं वा ४।२।१२
वियः प्रजने ४।२।१३
रुहः पः ३।२।१४
लियो नोऽन्तः स्नेहद्रवे ४।२।१५
लो लः ४।२।१६
पातेः ४।२।१७
धूग् प्रीगोर्नः ४।२।१८
वो विधूनने जः ४।२।१९
पाशाछासावेव्याह्वो यः ४।२।२०
अर्तिरीब्लीह्रीक्नूयिक्ष्माय्यातां पुः ४।२।२१
स्फायः स्फाव् ४।२।२२
शदिरगतौ शात् ४।२।२३
घटादेर्ह्रस्वो दीर्घस्तु वा ञिणम्परे ४।२।२४
कगेवनूजनैजृष्क्नसञ्जः ४।२।२५
अमोऽकम्यमिचमः ४।२।२६
पर्यपात् स्खदः ४।२।२७
शमोऽदर्शने ४।२।२८
यमोऽपरिवेषणे णिचि च ४।२।२९
मारणतोषणनिशाने ज्ञश्च ४।२।३०
चहणः शाठ्ये ४।२।३१
ज्वलह्वलह्मलग्लास्नावनूवमनमोऽनुपसर्गस्य वा ४।२।३२
छदेरिस्मन्त्रट्क्वौ ४।२।३३
एकोपसर्गस्य च घे ४।२।३४
उपान्त्यस्यासमानलोपिशास्वृदितो ङे ४।२।३५
भ्राजभासभाषदीपपीडजीवमीलकणरणवणभणश्रणह्वेठलुटलुपलपां न वा ४।२।३६
ऋद्वर्णस्य ४।२।३७
जिघ्रतेरिः ४।२।३८
तिष्ठतेः ४।२।३९
ऊद्दुषो णौ ४।२।४०
चित्ते वा ४।२।४१
गोहः स्वरे ४।२।४२
भुवो वः परोक्षाद्यतन्योः ४।२।४३
गमहनजनखनघसः स्वरेऽनङि क्ङिति लुक् ४।२।४४
नो व्यञ्जनस्यानुदितः ४।२।४५
अञ्चोऽनर्चायाम् ४।२।४६
लङि कम्प्योरुपतापाङ्गविकृत्योः ४।२।४७
भञ्जेर्ञौ वा ४।२।४८
दंशसञ्जः शवि ४।२।४९
अकट्घिनोश्च रञ्जेः ४।२।५०
णौ मृगरमणे ४।२।५१
घञि भावकरणे ४।२।५२
स्यदो जवे ४।२।५३
दशनाऽवोदैधोद्मप्रश्रथहिमश्रथम् ४।२।५४
यमिरमिनमिगमिहनिमनिवनतितनादेर्धुटि क्ङिति ४।२।५५
यपि ४।२।५६
वा मः ४।२।५७

गमां क्वौ ४।२।५८
न तिकि दीर्घश्च ४।२।५९
आः खनिसनिजनः ४।२।६०
सनि ४।२।६१
ये न वा ४।२।६२
तनः क्ये ४।२।६३
तौ सनस्तिकि ४।२।६४
वन्याङ् पञ्चमस्य ४।२।६५
अपाच्चायश्चिः क्तौ ४।२।६६
ह्लादो ह्रद् क्तयोश्च ४।२।६७
ऋल्वादेरेषां तो नोऽप्रः ४।२।६८
रदादऽमूर्च्छमदः क्तयोर्दस्य च ४।२।६९
सूयत्याद्योदितः ४।२।७०
व्यञ्जनान्तस्थातोऽख्याध्यः ४।२।७१
पूदिव्यञ्चेर्नाशाद्यूताऽनपादाने ४।२।७२
सेर्ग्रासि कर्मकर्त्तरि ४।२।७३
क्षेः क्षीचाऽध्यार्थे ४।२।७४
वाऽऽक्रोशदैन्ये ४।२।७५
ऋह्रीघ्राघ्रात्रोन्दनुदविन्तेर्वा ४।२।७६
दुगोरू च ४।२।७७
क्षैशुषिपचो मकवम् ४।२।७८
निर्वाणमवाते ४।२।७९
अनुपसर्गाः क्षीबोल्लाघकृशपरिकृशफुल्लो-
फुल्लसंफुल्लाः ४।२।८०
भित्तं शकलम् ४।२।८१
वित्तं धनप्रतीतम् ४।२।८२
हुधुटो हेर्धिः ४।२।८३
शासऽस्हनः शाध्येधिजहि ४।२।८४
अतः प्रत्ययाल्लुक् ४।२।८५
असंयोगादोः ४।२।८६
वम्यऽविति वा ४।२।८७
कृगो यि च ४।२।८८
अतः शित्युत् ४।२।८९
श्नास्त्योर्लुक् ४।२।९०
वा द्विषातोऽनः पुस् ४।२।९१
सिज्विदोऽभुवः ४।२।९२
द्व्युक्तजक्षपञ्चतः ४।२।९३
अन्तो नो लुक् ४।२।९४
शौ वा ४।२।९५
श्नश्चातः ४।२।९६
एषामीर्व्यञ्जनेऽदः ४।२।९७
इर्दरिद्रः ४।२।९८
भियो न वा ४।२।९९
हाकः ४।२।१००
आ च हौ ४।२।१०१
यि लुक् ४।२।१०२
ओतः श्ये ४।२।१०३
जा ज्ञाजनोऽत्यादौ ४।२।१०४
प्वादेर्ह्रस्वः ४।२।१०५
गमिषद्यमश्छः ४।२।१०६
वेगे सर्त्तेर्धाव् ४।२।१०७
श्रौतिकृवुधिवुपाघ्राध्मास्थाम्नादाम्दृश्य-
र्त्तिशदसदः शृकृधिपिबजिघ्रधमतिष्ठ-
मनयच्छपश्यर्च्छशीयसीदम्
४।२।१०८
क्रमो दीर्घः परस्मै ४।२।१०९
ष्ठिवुक्लम्याचमः ४।२।११०
शमसप्तकस्य श्ये ४।२।१११
ष्ठिवसिवोऽनटि वा ४।२।११२
मव्यस्याः ४।२।११३
अनतोऽन्तोऽदात्मने ४।२।११४
शीङो रत् ४।२।११५
वेत्तेर्न वा ४।२।११६
तिवां णवः परस्मै ४।२।११७
ब्रुवः पञ्चानां पञ्चाहश्च ४।२।११८
आशिषि तुह्योस्तातङ् ४।२।११९

आतो णव औः ४।२।१२०
आतामाते आथामाथे आदिः ४।२।१२१
यः सप्तम्याः ४।२।१२२
याम्युसोरियमियुसौ ४।२।१२३

तृतीयः पादः

नामिनो गुणोऽक्ङिति ४।३।१
उश्नोः ४।३।२
पुस्पौ ४।३।३
लघोरुपान्त्यस्य ४।३।४
मिदः श्ये ४।३।५
जागुः किति ४।३।६
ऋवर्णदृशोऽङि ४।३।७
स्कृच्छृतोऽकि परोक्षायाम् ४।३।८
संयोगादृदर्त्तेः ४।३।९
क्ययङाशीर्ये ४।३।१०
न वृद्धिश्चाविति क्ङिल्लोपे ४।३।११
भवतेः सिज्लुपि ४।३।१२
सूतेः पञ्चम्याम् ४।३।१३
द्व्युक्तोपान्त्यस्य शिति स्वरे ४।३।१४
ह्रिणोरप्विति व्यौ ४।३।१५
इको वा ४।३।१६
कुटादेर्ङिद्वदञ्णित् ४।३।१७
विजेरिट् ४।३।१८
वोर्णोः ४।३।१९
शिदऽवित् ४।३।२०
इन्ध्यसंयोगात्परोक्षा किद्वत् ४।३।२१
स्वञ्जेर्न वा ४।३।२२
जनशोन्युपान्त्ये तादिः क्त्वा ४।३।२३
ऋत्तृषमृषकृशवञ्चलुञ्चथफः सेट् ४।३।२४
वौ व्यञ्जनादेः सन्चाऽयः ४।३।२५
उतिशवर्हाद्भ्यः क्तौ भावारम्भे ४।३।२६
न डीङ्शीङ्पूङ्धृषिक्ष्विदिस्विदिमिदः
४।३।२७
मृषः क्षान्तौ ४।३।२८
क्तवा (क्त्वा) ४।३।२९
स्कन्दस्यन्दः ४।३।३०
क्षुधक्लिशकुषगुधमृडमृदवदवसः ४।३।३१
रुदविदमुषग्रहस्वपप्रच्छः सन् च ४।३।३२
नामिनोऽनिट् ४।३।३३
उपान्त्ये ४।३।३४
सिजाशिषावात्मने ४।३।३५
ऋवर्णात् ४।३।३६
गमो वा ४।३।३७
हनः सिच् ४।३।३८
यमः सूचने ४।३।३९
वा स्वीकृतौ ४।३।४०
इश्च स्थादः ४।३।४१
मृजोऽस्य वृद्धिः ४।३।४२
ऋतः स्वरे वा ४।३।४३
सिचि परस्मै समानस्याङिति ४।३।४४
व्यञ्जनानामनिटि ४।३।४५
वोर्णुगः सेटि ४।३।४६
व्यञ्जनादेर्वोपान्त्यस्यातः ४।३।४७
वदव्रजलः ४।३।४८
न श्विजागृशसक्षणह्म्येदितः ४।३।४९
ञ्णिति ४।३।५०
नामिनोऽकलिहलेः ४।३।५१
जागुर्ञिणवि ४।३।५२
आत ऐः कृञ्चौ ४।३।५३
न जनवधः ४।३।५४
मोऽकमियमिरमिनमिगमिवमाचमः
४।३।५५
विश्रमेर्वा ४।३।५६
उद्यमोपरमौ ४।३।५७
णिद्वाऽन्त्यो णव् ४।३।५८
उत और्विति व्यञ्जनेऽद्वेः ४।३।५९

वोर्णोः ४।३।६०
न दिस्योः ४।३।६१
तृहः श्नादीत् ४।३।६२
ऋतः पराद्विः ४।३।६३
सक् दुहस्तोर्बहुलम् ४।३।६४
सः सिजस्तेर्दिस्योः ४।३।६५
पिबैतिदाभूस्थः सिचो लुप् परस्मै न चेट् ४।३।६६
ट्धेशाच्छाशो वा ४।३।६७
तन्भ्यो वा तथासिन्णोश्च ४।३।६८
सनस्तत्रा वा ४।३।६९
धुट् ह्रस्वाल्लुगनिटस्तथोः ४।३।७०
इट ईति ४।३।७१
सो धि वा ४।३।७२
अस्तेः सिहस्त्वेति ४।३।७३
दुहदिहलिहगुहो दन्त्यात्मने वा सकः ४।३।७४
स्वरेऽतः ४।३।७५
दरिद्रोऽद्यतन्यां वा ४।३।७६
अशित्यस्सन्णकच्णकानटि ४।३।७७
व्यञ्जनाद् देः सश्च दः ४।३।७८
सेः सद्धाञ्च रुर्वा ४।३।७९
योऽशिति ४।३।८०
क्यो वा ४।३।८१
अतः ४।३।८२
णेरनिटि ४।३।८३
सेटक्तयोः ४।३।८४
आमन्ताल्वाय्येत्न्वावय् ४।३।८५
लघोर्यपि ४।३।८६
वाऽऽप्नोः ४।३।८७
मेडो वा मित् ४।३।८८
क्षेः क्षीः ४।३।८९
क्षय्यजय्यौ शक्तौ ४।३।९०
क्रय्यः क्रयार्थे ४।३।९१
सस्तः सि ४।३।९२
दीय् दीङः क्ङिति स्वरे ४।३।९३
इडेत्पुसि चातो लुक् ४।३।९४
संयोगादेर्वाशिष्येः ४।३।९५
गापास्थासादामाहाकः ४।३।९६
ईर्व्यञ्जनेऽयपि ४।३।९७
घ्राध्मोर्यङि ४।३।९८
हनो घ्नीर्वधे ४।३।९९
ञ्णिति घात् ४।३।१००
ञिणवि घन् ४।३।१०१
नशेर्नेशाऽङि ४।३।१०२
श्वयत्यसूवचपतःश्वास्थवोचपप्तम् ४।३।१०३
शीङ एः शिति ४।३।१०४
क्ङिति यि शय् ४।३।१०५
उपसर्गादूहो ह्रस्वः ४।३।१०६
आशिषीणः ४।३।१०७
दीर्घश्च्वियङ्यक्क्येषु च ४।३।१०८
ऋतो रीः ४।३।१०९
रिः शक्याशीर्ये ४।३।११०
ईश्च्वावर्णस्याऽनव्ययस्य ४।३।१११
क्यनि ४।३।११२
क्षुत्तृड्गर्द्धेऽशनायोदन्यधनायम् ४।३।११३
वृषाश्वान्मैथुने स्सोऽन्तः ४।३।११४
अश्च लौल्ये ४।३।११५

चतुर्थः पादः

अस्तिब्रुवोर्भूवचावशिति ४।४।१
अघञ्क्यबलच्यजेर्वी ४।४।२
त्रने वा ४।४।३
चक्षो वाचि क्शांग्ख्यांग् ४।४।४
न वा परोक्षायाम् ४।४।५

भृज्जो भर्ज् ४।४।६
प्राद्दागस्त आरम्भे क्ते ४।४।७
निविस्वन्ववात् ४।४।८
स्वरादुपसर्गाद्दस्तिकित्यधः ४।४।९
दत् ४।४।१०
दोसोमास्थ इः ४।४।११
छाशोर्वा ४।४।१२
शो व्रते ४।४।१३
हाको हिः क्त्वि ४।४।१४
धागः ४।४।१५
यपि चादो जग्ध् ४।४।१६
घस्लृसनद्यतनीघञचलि ४।४।१७
परोक्षायां न वा ४।४।१८
वेर्वय् ४।४।१९
ऋः शृदृप्रः ४।४।२०
हनो वध आशिष्यञौ ४।४।२१
अद्यतन्यां वा त्वात्मने ४।४।२२
इणिकोर्गाः ४।४।२३
णाववज्ञाने गमुः ४।४।२४
सनीङश्च ४।४।२५
गाः परोक्षायाम् ४।४।२६
णौ सनङे वा ४।४।२७
वाऽद्यतनीक्रियातिपत्त्योर्गीङ् ४।४।२८
अड्धातोरादिर्ह्यस्तन्यां चामाङा ४।४।२९
एत्यस्तेर्वृद्धिः ४।४।३०
स्वरादेस्तासु ४।४।३१
स्ताद्यशितोऽत्रोणादेरिट् ४।४।३२
तेर्ग्रहादिभ्यः ४।४।३३
ग्रहोऽपरोक्षायां दीर्घः ४।४।३४
वृतो न वाऽनाशीः सिच्परस्मै च ४।४।३५
इट्सिजाशिषोरात्मने ४।४।३६
संयोगादृतः ४।४।३७
धूगौदितः ४।४।३८
निष्कुषः ४।४।३९
क्तयोः ४।४।४०
जृव्रश्चः क्त्वः ४।४।४१
ऊदितो वा ४।४।४२
क्षुधवसस्तेषाम् ४।४।४३
लुभ्यञ्चेर्विमोहार्चे ४।४।४४
पूङ्क्लिशिभ्यो न वा ४।४।४५
सहलुभेच्छरुषरिषस्तादेः ४।४।४६
इवृधभ्रस्जदम्भश्रियूर्णुभरज्ञपिसनित-
निपतिदृदरिद्रः सनः ४।४।४७
ऋस्मिपूङञ्ज्वशौकृगृदृधृप्रच्छः ४।४।४८
हनृतः स्यस्य ४।४।४९
कृतचृतनृतच्छृदतृदोऽसिचः सादेर्वा
४।४।५०
गमोऽनात्मने ४।४।५१
स्नोः ४।४।५२
क्रमः ४।४।५३
तुः ४।४।५४
न वृद्भ्यः ४।४।५५
एकस्वरादनुस्वारेतः ४।४।५६
ऋवर्णश्र्यूर्णुगः कितः ४।४।५७
उवर्णात् ४।४।५८
ग्रहगुहश्च सनः ४।४।५९
स्वार्थे ४।४।६०
डीयश्व्यैदितः क्तयोः ४।४।६१
वेटोऽपतः ४।४।६२
सन्निवेरर्दः ४।४।६३
अविदूरेऽभेः ४।४।६४
वृत्तेर्वृत्तं ग्रन्थे ४।४।६५
धृषशसः प्रगल्भे ४।४।६६
कषः कृच्छ्रगहने ४।४।६७
घुषेरविशब्दे ४।४।६८
बलिस्थूले दृढः ४।४।६९

क्षुब्धविरिब्धस्वान्तध्वान्तलग्नम्लिष्टफाण्ट-बाढपरिवृढं मन्थस्वरमनस्तमःस-क्ताऽस्पष्टाऽनायासभृशप्रभौ ४।४।७०

आदितः ४।४।७१

न वा भावारम्भे ४।४।७२

शकः कर्मणि ४।४।७३

णौ दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्तम् ४।४।७४

श्वसजपवमरुषत्वरसंघुषास्वनामः ४।४।७५

हृषेः केशलोमविस्मयप्रतिघाते ४।४।७६

अपचितः ४।४।७७

सृजिदृशिस्कृस्वराऽत्वतस्तृनित्यानिटस्थवः ४।४।७८

ऋतः ४।४।७९

ऋवृव्येऽद इट् ४।४।८०

स्कृऽसृवृभृस्तुद्रुश्रुस्रोव्यंजनादेः परोक्षायाः ४।४।८१

घसेकस्वरातः क्वसोः ४।४।८२

गमहनविद्लृविशदृशो वा ४।४।८३

सिचोऽञ्जेः ४।४।८४

धूग्सुस्तोः परस्मै ४।४।८५

यमिरमिनम्यातः सोऽन्तश्च ४।४।८६

ईशीडः सेध्वेस्वध्वमोः ४।४।८७

कृत्पञ्चकाच्छिदयः ४।४।८८

दिस्योरीट् ४।४।८९

अदश्चाट् ४।४।९०

संपरेः कृगः स्सट् ४।४।९१

उपाद् भूषासमवायप्रतियत्नविकारवाक्याध्याहारे ४।४।९२

किरो लवने ४।४।९३

प्रतेश्च वधे ४।४।९४

अपाच्चतुष्पात्पक्षिशुनिहृष्टान्नाश्रयार्थे ४।४।९५

वौ विष्किरो वा ४।४।९६

प्रात्तुम्पतेर्गवि ४।४।९७

उदितः स्वरान्नोऽन्तः ४।४।९८

मुचादितृफदृफगुफशुभोऽभः शे ४।४।९९

जभः स्वरे ४।४।१००

रध इटि तु परोक्षामेव ४।४।१०१

रभोऽपरोक्षाशवि ४।४।१०२

लभः ४।४।१०३

आङो यि ४।४।१०४

उपात्स्तुतौ ४।४।१०५

ञिख्णमोर्वा ४।४।१०६

उपसर्गात् खल्घञोश्च ४।४।१०७

सुदुर्भ्यः ४।४।१०८

नशो धुटि ४।४।१०९

मस्जेः सः ४।४।११०

अः सृजिदृशोऽकिति ४।४।१११

स्पृशादिसृपो वा ४।४।११२

ह्रस्वस्य तः पित्कृति ४।४।११३

अतो म आने ४।४।११४

आसीनः ४।४।११५

ऋतां क्ङितीर् ४।४।११६

ओष्ठ्यादुर् ४।४।११७

इ सासः शासोऽङ्व्यञ्जने ४।४।११८

क्वौ ४।४।११९

आङः ४।४।१२०

य्वोः प्वय्व्यञ्जने लुक् ४।४।१२१

कृतः कीर्त्तिः ४।४।१२२

पञ्चमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

आतुमोऽत्यादिः कृत् ५।१।१
बहुलम् ५।१।२
कर्त्तरि ५।१।३
व्याप्ते ग्रकेलिमकृष्टपच्यम् ५।१।४
संगतेऽजर्यम् ५।१।५
कृत्याऽव्यथ्यवास्तव्यम् ५।१।६
भव्यगेयजन्यरम्यापात्याप्लाव्यं न वा ५।१।७
प्रवचनीयादयः ५।१।८
श्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजृभजेः क्तः ५।१।९
आरम्भे ५।१।१०
गत्यर्थाऽकर्मकपिबभुजेः ५।१।११
अद्यर्थाच्चाधारे ५।१।१२
क्त्वातुमम् भावे ५।१।१३
भीमादयोऽपादाने ५।१।१४
संप्रदानाच्चान्यत्रोणादयः ५।१।१५
असरूपोऽपवादे वोत्सर्गः प्राक् क्तेः ५।१।१६
ऋवर्णव्यञ्जनान्ताद् घ्यण् ५।१।१७
[illegible] स्नः ५।१।१८
उवर्णादावश्यके ५।१।१९
आसुयुवपिरपिलपित्रपिडिपिदभिचम्यानमः ५।१।२०
वाऽऽधारेऽमावास्या ५।१।२१
संचाय्यकुण्डपाय्यराजसूयं क्रतौ ५।१।२२
प्रणाय्यो निष्कामासंमते ५।१।२३
धाय्यापाय्यसान्नाय्यनिकाय्यमृडमान-हविर्निवासे ५।१।२४
परिचाय्योपचाय्यानाय्यसमूह्यचित्याग्नौ ५।१।२५
याज्या दानर्चि ५।१।२६
तव्यानीयौ ५।१।२७
य एचातः ५।१।२८
शकितकिचतियतिशसिसहियजिभजि-पवर्गात् ५।१।२९
यमिमदिगदोऽनुपसर्गात् ५।१।३०
चरेराङ्स्त्वगुरौ ५।१।३१
वर्योपसर्यावद्यपण्यमुपेयर्तुमती गर्ह्यविक्रेये ५।१।३२
स्वामिवैश्येऽर्यः ५।१।३३
वह्यं करणे ५।१।३४
नाम्नो वदः क्यप् च ५।१।३५
हत्याभूयं भावे ५।१।३६
अग्निचित्या ५।१।३७
खेयमृषोद्ये ५।१।३८
कुप्यभिद्योध्यसिध्यतिष्यपुष्ययुग्याज्यसूर्य-नाम्नि ५।१।३९
इवृग्स्तुजुषेतिशासः ५।१।४०
ऋदुपान्त्यादकृपिचृदृचः ५।१।४१
कृवृषिमृजिशंसिगुहिदुहिजपो वा ५।१।४२
जिविपून्यो हलिमुञ्जकल्के ५।१।४३
पदास्वैरिबाह्यापक्ष्ये ग्रहः ५।१।४४
भृगोऽसंज्ञायाम् ५।१।४५
समो वा ५।१।४६
ते कृत्याः ५।१।४७
णकतृचौ ५।१।४८
अच् ५।१।४९
लिहादिभ्यः ५।१।५०
ब्रुवः ५।१।५१
नन्द्यादिभ्योऽनः ५।१।५२

ग्रहादिभ्यो णिन् ५।१।५३
नाम्युपान्त्यप्रीकृगृज्ञः कः ५।१।५४
गेहे ग्रहः ५।१।५५
उपसर्गादातो डोऽश्यः ५।१।५६
व्याघ्राघ्रे प्राणिनसोः ५।१।५७
घ्राध्मापाट्धेदृशः शः ५।१।५८
साहिसातिवेद्युदेजिधारिपारिचेतेरनुपसर्गात् ५।१।५९
लिम्पविन्दः ५।१।६०
निगवादेर्नाम्नि ५।१।६१
वा ज्वलादि दुनीभूग्रहास्रोर्णः ५।१।६२
अवहृसासंस्रोः ५।१।६३
तन्व्यधीणश्वसातः ५।१।६४
नृत्खन्रञ्जः शिल्पिन्यऽकट् ५।१।६५
गस्थकः ५।१।६६
टनण् ५।१।६७
हः कालव्रीह्योः ५।१।६८
प्रुसृल्वोऽकः साधौ ५।१।६९
आशिष्यऽकन् ५।१।७०
तिक्कृतौ नाम्नि ५।१।७१
कर्मणोऽण् ५।१।७२
शीलिकामिभक्ष्याचरीक्षिक्षमो णः ५।१।७३
गायोऽनुपसर्गाट्टक् ५।१।७४
सुरासीध्वोः पिबः ५।१।७५
आतो डोऽह्वावामः ५।१।७६
समः ख्यः ५।१।७७
दश्चाङः ५।१।७८
प्राद् ज्ञश्च ५।१।७९
आशिषि हनः ५।१।८०
क्लेशादिभ्योऽपात् ५।१।८१
कुमारशीर्षाण्णिन् ५।१।८२
अचित्ते टक् ५।१।८३
जायापतेश्चिह्नवति ५।१।८४
ब्रह्मादिभ्यः ५।१।८५
हस्तिबाहुकपाटाच्छक्तौ ५।१।८६
नगरादगजे ५।१।८७
राजघः ५।१।८८
पाणिघताडघौ शिल्पिनि ५।१।८९
कुक्ष्यात्मोदरात् भृगः खिः ५।१।९०
अर्होऽच् ५।१।९१
धनुर्दण्डत्सरुलाङ्गलाङ्कुशर्ष्टियष्टिशक्तितोमरघटाद्ग्रहः ५।१।९२
सूत्राद्धारणे ५।१।९३
आयुधादिभ्यो धृगोऽदण्डादेः ५।१।९४
हृगो वयोऽनुद्यमे ५।१।९५
आङः शीले ५।१।९६
दृतिनाथात् पश्चाविः ५।१।९७
रजः फलेमलाद् ग्रहः ५।१।९८
देववातादापः ५।१।९९
शकृत्स्तम्बाद्वत्सव्रीहौ कृगः ५।१।१००
किं यत्तद्बहोरः ५।१।१०१
सङ्ख्याऽहर्दिवाविभानिशाप्रभाभाश्चित्रकर्त्राद्यन्तानन्तकारबाहरुर्धनुर्नान्दीलिपिलिविबलिभक्तिक्षेत्रजङ्घाक्षपाक्षणदारजनिदोषादिनदिवसाट्टः ५।१।१०२
हेतुतच्छीलानुकूलेऽशब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदात् ५।१।१०३
भृतौ कर्मणः ५।१।१०४
क्षेमप्रियमद्रभद्रात् खाऽण् ५।१।१०५
मेघर्तिभयाभयात्खः ५।१।१०६
प्रियवशाद्वदः ५।१।१०७
द्विषन्तपपरन्तपौ ५।१।१०८
परिमाणार्थमितनखात्पचः ५।१।१०९
कूलाभ्रकरीषात्कषः ५।१।११०
सर्वात्सहश्च ५।१।१११
भृवृजितृतपदमेश्च नाम्नि ५।१।११२

आरेर्वर्चे ५।१।११३
पुरन्दर भगन्धरौ ५।१।११४
वाचंयमो व्रते ५।१।११५
मन्याण्णिन् ५।१।११६
कर्तुः खश् ५।१।११७
एजेः ५।१।११८
शुनीस्तनमुञ्जकूलास्यपुष्पात् ट्धेः ५।१।११९
नाडीघटीखरीमुष्टिनासिकावाताद् ध्मश्च ५।१।१२०
पाणिकरात् ५।१।१२१
कूलादुद्रुजोद्वहः ५।१।१२२
वहाभ्राल्लिहः ५।१।१२३
बहुविध्वरुस्तिलात्तुदः ५।१।१२४
ललाटवातशर्धात्तपाऽजहाकः ५।१।१२५
असूर्योग्राद् दृशः ५।१।१२६
इरम्मदः ५।१।१२७
नग्नपलितप्रियान्धस्थूलसुभगाढ्यतदन्ताच्च्व्यर्थेऽच्वेर्भुवः खिष्णुखुकञौ ५।१।१२८
कृगः खनट् करणे ५।१।१२९
भावे चाशिताद् भुवः खः ५।१।१३०
नाम्नो गमः खड्डौ च विहायसस्तु विहः ५।१।१३१
सुगदुर्गमाधारे ५।१।१३२
निर्गो देशे ५।१।१३३
शमो नाम्न्यः ५।१।१३४
पार्श्वादिभ्यः शीङः ५।१।१३५
ऊर्ध्वादिभ्यः कर्तुः ५।१।१३६
आधारात् ५।१।१३७
चरेष्टः ५।१।१३८
भिक्षासेनादायात् ५।१।१३९
पुरोऽग्रतोऽग्रे सर्तेः ५।१।१४०
पूर्वात् कर्तुः ५।१।१४१
स्थापास्नात्रः कः ५।१।१४२
शोकापनुदतुन्दपरिमृजस्तम्बेरमकर्णेजपं प्रियालसहस्तिसूचके ५।१।१४३
मूलविभुजादयः ५।१।१४४
दुहेर्डुघः ५।१।१४५
भजो विण् ५।१।१४६
मन् वन् क्वनिप् विच् क्वचित् ५।१।१४७
क्विप् ५।१।१४८
स्पृशोऽनुदकात् ५।१।१४९
अदोऽनन्नात् ५।१।१५०
क्रव्यात्क्रव्यादावामपक्कादौ ५।१।१५१
त्यदाद्यन्यसमानादुपमानाद्व्याप्ये दृशष्टक्सकौ च ५।१।१५२
कर्तुर्णिन् ५।१।१५३
अजातेः शीले ५।१।१५४
साधौ ५।१।१५५
ब्रह्मणो वदः ५।१।१५६
व्रताभीक्ष्ण्ये ५।१।१५७
करणाद्यजो भूते ५।१।१५८
निन्द्ये व्याप्यादिन्विक्रियः ५।१।१५९
हनो णिन् ५।१।१६०
ब्रह्मभ्रूणवृत्रात् क्विप् ५।१।१६१
कृगः सुपुण्यपापकर्ममन्त्रपदात् ५।१।१६२
सोमात्सुगः ५।१।१६३
अग्नेश्चेः ५।१।१६४
कर्मण्यग्न्यर्थे ५।१।१६५
दृशः क्वनिप् ५।१।१६६
सहराजभ्यां कृग्युधेः ५।१।१६७
अनोर्जनेर्डः ५।१।१६८
सप्तम्याः ५।१।१६९
अजातेः पञ्चम्याः ५।१।१७०
क्वचित् ५।१।१७१
सुयजोर्ड्वनिप् ५।१।१७२
जृषोऽतृः ५।१।१७३
क्तक्तवतू ५।१।१७४

द्वितीयः पादः

अतद्यतन्यः परोक्षा वा ५।२।१
तत्र क्वसुकानौ तद्वत् ५।२।२
वेयिवदनाश्वदनूचानम् ५।२।३
अद्यतनी ५।२।४
विशेषाऽविवक्षाव्यामिश्रे ५।२।५
रात्रौ वसोऽन्त्ययामास्वप्तर्यद्य ५।२।६
अनद्यतने ह्यस्तनी ५।२।७
ख्याते दृश्ये ५।२।८
अयदि स्मृत्यर्थे भविष्यन्ती ५।२।९
वा काङ्क्षायाम् ५।२।१०
कृतास्मरणाऽतिनिह्नवे परोक्षा ५।२।११
परोक्षे ५।२।१२
हशश्वद्युगान्तः प्रच्छ्ये ह्यस्तनी च ५।२।१३
अविवक्षिते ५।२।१४
वाऽद्यतनी पुरादौ ५।२।१५
स्मे च वर्तमाना ५।२।१६
ननौ पृष्टोक्तौ सद्वत् ५।२।१७
नन्वोर्वा ५।२।१८
सति ५।२।१९
शत्रानशावेष्यति तु सस्यौ ५।२।२०
तौ माङ्याक्रोशेषु ५।२।२१
वा वेत्तेः क्वसुः ५।२।२२
पूङ्यजः शानः ५।२।२३
वयः शक्तिशीले ५।२।२४
धारीङोऽकृच्छ्रेऽतृश् ५।२।२५
सुगद्विषार्हः सत्रिशत्रुस्तुत्ये ५।२।२६
तृन्शीलधर्मसाधुषु ५।२।२७
भ्राज्यऽलङ्कृञ्निराकृञ्भूसहिरुचिवृति-
वृधिचरिप्रजनापत्रपइष्णुः ५।२।२८
उदः पचिपतिपदिमदेः ५।२।२९
भूजेः ष्णुक् ५।२।३०
स्थाग्लाम्लापचिपरिमृजिक्षेः स्नुः ५।२।३१
त्रसिगृधिधृषिक्षिपः क्नुः ५।२।३२
सन्भिक्षाशंसेरुः ५।२।३३
विन्द्विच्छू ५।२।३४
शृवन्देरारुः ५।२।३५
दाट्धेसिशदसदोरुः ५।२।३६
शीङ्श्रद्धानिद्रातन्द्रादयिपतिगृहिस्पृहे-
रालुः ५।२।३७
ङौ सासहिवावहिचाचलिपापतिः ५।२।३८
सस्रिचक्रिदधिजज्ञिनेमिः ५।२।३९
शॄकमगमहनवृषभूस्थ उकण् ५।२।४०
लषपतपदः ५।२।४१
भूषाक्रोधार्थजुसृगृधिज्वलशुचश्चानः
५।२।४२
चलशब्दार्थादकर्मकात् ५।२।४३
इङितो व्यञ्जनाद्यन्तात् ५।२।४४
न णिङ्यसूददीपदीक्षः ५।२।४५
द्रमक्रमो यङः ५।२।४६
यजिजपिदंशिवदादूकः ५।२।४७
जागुः ५।२।४८
शमष्टकात् घिनण् ५।२।४९
युजभुजभजत्यजरञ्जद्विषदुषद्रुहदुहाभ्या-
हनः ५।२।५०
आङः क्रीडमुषः ५।२।५१
प्राच्च यमयसः ५।२।५२
मथलपः ५।२।५३
वेश्च द्रोः ५।२।५४
विपरिप्रात्सर्तेः ५।२।५५
समः पृचैप्ज्वरेः ५।२।५६
संवेः सृजः ५।२।५७
संपरिव्यनुप्राद्वदः ५।२।५८
वेर्विचकत्थस्रम्भकषकसलसहनः ५।२।५९
व्यपाभेर्लषः ५।२।६०

सम्प्राद्दखात् ५।२।६१
समस्थयाभिव्यमेश्वरः ५।२।६२
समनुव्यवाद्धुवः ५।२।६३
वेदंहः ५।२।६४
परेर्देविमुहश्च ५।२।६५
क्षिपरटः ५।२।६६
वादेश्च णकः ५।२।६७
निन्दहिंसक्लिशखादविनाशिव्याभाषा-
सूयानेकस्वरात् ५।२।६८
उपसर्गाद्देवृदेविक्रुशः ५।२।६९
वृङ्भिक्षिलुण्टिजल्पिकुट्टाकः ५।२।७०
प्रात्सूजोरिन् ५।२।७१
जीणृदृक्षिविश्रिपरिभूवमाभ्यमाव्यथः
५।२।७२
सृघस्यदो मरक् ५।२।७३
भञ्जिभासिमिदो घुरः ५।२।७४
वेत्तिच्छिदभिदः कित् ५।२।७५
भियोरुरुकलुकम् ५।२।७६
सृजीण्नशष्ट्वरप् ५।२।७७
गत्वरः ५।२।७८
स्म्यजसहिंसदीपकम्पकमनमो रः ५।२।७९
तृषिधृषिस्वपो नजिङ् ५।२।८०
स्थेशभासपिसकसो वरः ५।२।८१
यायावरः ५।२।८२
दिद्युद्दद्जगज्जुहूवाक्प्राट्धीश्रीद्रूस्रूज्वा-
यतस्तूकटप्रूपरिव्राड्भ्राजादयः क्विप्
५।२।८३
शंसंस्वयंविप्राद्भुवो डुः ५।२।८४
पुव इत्रो दैवते ५।२।८५
ऋषिनाम्नोः करणे ५।२।८६
लूधूसूखनिचरसहार्तेः ५।२।८७
नीदाम्व्शसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतपा-
पानहस्त्रट् ५।२।८८
हलक्रोडास्ये पुवः ५।२।८९
दंशेस्त्रः ५।२।९०
धात्री ५।२।९१
ज्ञानेच्छार्चार्थजीच्छील्यादिभ्यः क्तः
५।२।९२
उणादयः ५।२।९३

तृतीयः पादः

वर्त्स्यति गम्यादिः ५।३।१
वा हेतुसिद्धौ क्तः ५।३।२
कषोऽनिटः ५।३।३
भविष्यन्ती ५।३।४
अनद्यतने श्वस्तनी ५।३।५
परिदेवने ५।३।६
पुरायावतोर्वर्त्तमाना ५।३।७
कदाकर्होर्न वा ५।३।८
किंवृत्ते लिप्सायाम् ५।३।९
लिप्स्यसिद्धौ ५।३।१०
पञ्चम्यर्थहेतौ ५।३।११
सप्तमी चोदूर्ध्वमौहूर्त्तिके ५।३।१२
क्रियायां क्रियार्थायां तुमूणक्भविष्यन्ती
५।३।१३
कर्मणोऽण् ५।३।१४
भाववचनाः ५।३।१५
पदरुजविशस्पृशो घञ् ५।३।१६
सर्तेः स्थिरव्याधिबलमत्स्ये ५।३।१७
भावाऽकर्त्रोः ५।३।१८
इङोऽपादाने तु टिद्वा ५।३।१९
श्रो वायुवर्णनिवृत्ते ५।३।२०
निरभेः पूल्वः ५।३।२१
रोरुपसर्गात् ५।३।२२
भूश्यदोऽल् ५।३।२३
न्यादो न वा ५।३।२४
संनिव्युपाद्यमः ५।३।२५

नेर्नदगदपठस्वनक्वणः ५।३।२६
वैणे क्वणः ५।३।२७
युवर्णवृदृवशरणगमृद्ग्रहः ५।३।२८
वर्षादयः क्लीबे ५।३।२९
समुदोऽजः पशौ ५।३।३०
सृग्लहः प्रजनाक्षे ५।३।३१
पणेर्माने ५।३।३२
संमदप्रमदौ हर्षे ५।३।३३
हनोऽन्तर्घनान्तर्घणौ देशे ५।३।३४
प्रघणप्रघाणौ गृहांशे ५।३।३५
निघोद्घसंघोद्घनाऽपघनोपघ्नं निमित-
प्रशस्तगणात्याधानाङ्गासन्नम् ५।३।३६
मूर्तिनिचिताऽभ्रे घनः ५।३।३७
व्ययोद्रोः करणे ५।३।३८
स्तम्बाद् घ्नश्च ५।३।३९
परेर्घः ५।३।४०
ह्वः समाह्वयाह्वयौ द्यूतनाम्नोः ५।३।४१
न्यभ्युपवेर्वाश्चोत् ५।३।४२
आङो युद्धे ५।३।४३
आहावो निपानम् ५।३।४४
भावेऽनुपसर्गात् ५।३।४५
हनो वा वध् च ५।३।४६
व्यधजपमद्भ्यः ५।३।४७
न वा क्वणयमहसस्वनः ५।३।४८
आङो रुप्लोः ५।३।४९
वर्षविघ्नेऽवाद् ग्रहः ५।३।५०
प्राद्रश्मितुलासूत्रे ५।३।५१
वृगो वस्त्रे ५।३।५२
उदः श्रेः ५।३।५३
युपुद्रोर्घञ् ५।३।५४
ग्रहः ५।३।५५
न्यवाच्छापे ५।३।५६
प्राल्लिप्सायाम् ५।३।५७
समो मुष्टौ ५।३।५८
युदुद्रोः ५।३।५९
नियश्चानुपसर्गाद्वा ५।३।६०
वोदः ५।३।६१
अवात् ५।३।६२
परेर्द्यूते ५।३।६३
भुवोऽवज्ञाने वा ५।३।६४
यज्ञे ग्रहः ५।३।६५
संस्तोः ५।३।६६
प्रात् स्नुद्रुस्तोः ५।३।६७
अयज्ञे स्त्रः ५।३।६८
वेरशब्दे प्रथने ५।३।६९
छन्दो नाम्नि ५।३।७०
क्षुश्रोः ५।३।७१
न्युदो ग्रः ५।३।७२
किरो धान्ये ५।३।७३
नेर्वुः ५।३।७४
इणोऽभ्रेषे ५।३।७५
परेः क्रमे ५।३।७६
व्युपाच्छीङः ५।३।७७
हस्तप्राप्ये चेरस्तेये ५।३।७८
चितिदेहावासोपसमाधाने कश्चादेः
५।३।७९
सङ्घेऽनूर्ध्वे ५।३।८०
माने ५।३।८१
स्थादिभ्यः कः ५।३।८२
ट्वितोऽथुः ५।३।८३
ड्वितस्त्रिमक्कृतम् ५।३।८४
यजिस्वपिरक्षियतिप्रच्छो नः ५।३।८५
विच्छो नङ् ५।३।८६
उपसर्गाद्दः किः ५।३।८७
व्याप्यादाधारे ५।३।८८
अन्तर्द्धिः ५।३।८९

अभिव्याप्तौ भावेऽनजिन् ५।३।९०
स्त्रियां क्तिः ५।३।९१
श्वादिभ्यः ५।३।९२
समिणासुगः ५।३।९३
सातिहेतियूतिजूतिज्ञप्तिकीर्त्तिः ५।३।९४
गापापचो भावे ५।३।९५
स्थो वा ५।३।९६
आस्यटिव्रजयजः क्यप् ५।३।९७
भृगो नाम्नि ५।३।९८
समजनिपनिषद्शीङ्सुग्विदिचरिमनीणः ५।३।९९
कृगः श च वा ५।३।१००
मृगयेच्छायाच्यातृष्णाकृपाभाश्रद्धाऽन्तर्द्धा ५।३।१०१
परेः सृचरेर्यः ५।३।१०२
वाऽटाट्यात् ५।३।१०३
जागुरश्च ५।३।१०४
शंसिप्रत्ययात् ५।३।१०५
क्टेटोगुरोर्व्यञ्जनात् ५।३।१०६
षितोऽङ् ५।३।१०७
भिदादयः ५।३।१०८
भीषिभूषिचिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चिस्पृहितोलिदोलिभ्यः ५।३।१०९
उपसर्गादातः ५।३।११०
णिवेत्त्यासश्रन्थघट्टवन्देरनः ५।३।१११
इषोऽनिच्छायाम् ५।३।११२
पर्येषेर्वा ५।३।११३
क्रुत्संपदादिभ्यः क्विप् ५।३।११४
भ्यादिभ्यो वा ५।३।११५
व्यतिहारेऽनीहादिभ्यो ञः ५।३।११६
नञोऽनिः शापे ५।३।११७
ग्लाहाज्यः ५।३।११८
प्रश्नाख्याने वेञ् ५।३।११९
पर्यायार्हर्णोत्पत्तौ च णकः ५।३।१२०
नाम्नि पुंसि च ५।३।१२१
भावे ५।३।१२२
क्लीबे क्तः ५।३।१२३
अनट् ५।३।१२४
यत्कर्मस्पर्शात्कर्त्रङ्गसुखं ततः ५।३।१२५
रम्यादिभ्यः कर्त्तरि ५।३।१२६
कारणम् ५।३।१२७
भुजिपत्यादिभ्यः कर्मापादाने ५।३।१२८
करणाधारे ५।३।१२९
पुन्नाम्नि घः ५।३।१३०
गोचरसंचरवहव्रजव्यजखलापणनिगमबकभगकषाकषनिकषम् ५।३।१३१
व्यञ्जनाद् घञ् ५।३।१३२
अवात्तृस्तृभ्याम् ५।३।१३३
न्यायावायाध्यायोद्यावसंहारावहाराधारदारजारम् ५।३।१३४
उदङ्कोऽतोये ५।३।१३५
आनायो जालम् ५।३।१३६
खनो डडरेकेकवकघञ्च ५।३।१३७
इकिश्तिव्स्वरूपार्थे ५।३।१३८
दुःस्वीषतः कृच्छ्राकृच्छ्रार्थात्खल् ५।३।१३९
च्व्यर्थे कर्त्राप्याद् भूकृगः ५।३।१४०
शासूयुधिदृशिधृषिमृषातोऽनः ५।३।१४१

चतुर्थः पादः

सत्सामीप्ये सद्वद्वा ५।४।१
भूतवच्चाशंस्ये वा ५।४।२
क्षिप्राशंसार्थयोर्भविष्यन्तीसप्तम्यौ ५।४।३
सम्भावने सिद्धवत् ५।४।४
नानद्यतनः प्रबन्धासत्त्योः ५।४।५
एष्यत्यवधौ देशस्यार्वाग्भागे ५।४।६
कालस्यानहोरात्राणाम् ५।४।७
परे वा ५।४।८

सप्तम्यर्थे क्रियातिपत्तौ क्रियातिपत्तिः ५।४।९
भूते ५।४।१०
वोताप्राक् ५।४।११
क्षेपेऽपि जात्वोर्वर्त्तमाना ५।४।१२
कथमि सप्तमी च वा ५।४।१३
किंवृत्ते सप्तमीभविष्यन्त्यौ ५।४।१४
अश्रद्धामर्षेऽन्यत्रापि ५।४।१५
किंकिलास्त्यर्थयोर्भविष्यन्ती ५।४।१६
जातुयद्यदायदौ सप्तमी ५।४।१७
क्षेपे च यच्चयत्रे ५।४।१८
चित्रे ५।४।१९
शेषे भविष्यन्त्ययदौ ५।४।२०
सप्तम्युताप्योर्बाढे ५।४।२१
सम्भावनेऽलमर्थे तदर्थानुक्तौ ५।४।२२
अयदि श्रद्धाधातौ न वा ५।४।२३
सतीच्छार्थात् ५।४।२४
वर्त्स्यति हेतुफले ५।४।२५
कामोक्तावकच्चिति ५।४।२६
इच्छार्थे सप्तमीपञ्चम्यौ ५।४।२७
विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाऽधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थने ५।४।२८
प्रैषाऽनुज्ञावसरे कृत्यपञ्चम्यौ ५।४।२९
सप्तमी चोर्ध्वमौहूर्त्तिके ५।४।३०
स्मे पञ्चमी ५।४।३१
अधीष्टौ ५।४।३२
कालवेलासमये तुम्वाऽवसरे ५।४।३३
सप्तमी यदि ५।४।३४
शक्तार्हे कृत्याश्च ५।४।३५
णिन्चाऽऽवश्यकाधमर्ण्ये ५।४।३६
अर्हे तृच् ५।४।३७
आशिष्याशीः पञ्चम्यौ ५।४।३८
माङ्यद्यतनी ५।४।३९
सस्मे ह्यस्तनी च ५।४।४०

धातोः सम्बन्धे प्रत्ययाः ५।४।४१
भृशाभीक्ष्ण्ये हिस्वौ यथाविधि तध्वमौ च तद्युष्मदि ५।४।४२
प्रचये न वा सामान्यार्थस्य ५।४।४३
निषेधेऽलंखल्वोः क्त्वा ५।४।४४
परावरे ५।४।४५
निमील्यादिमेङस्तुल्यकर्तृके ५।४।४६
प्राक्काले ५।४।४७
ख्णम् चाभीक्ष्ण्ये ५।४।४८
पूर्वाग्रे प्रथमे ५।४।४९
अन्यथैवंकथमित्थमः कृगोऽनर्थकात् ५।४।५०
यथातथादीर्ष्योत्तरे ५।४।५१
शापे व्याप्यात् ५।४।५२
स्वाद्वर्थाददीर्घात् ५।४।५३
विद्दृग्भ्यः कार्त्स्न्ये णम् ५।४।५४
यावतो विन्दजीवः ५।४।५५
चर्मोदरात्पूरेः ५।४।५६
वृष्टिमाने ऊलुक् चास्य वा ५।४।५७
चेलार्थात् क्नोपेः ५।४।५८
गात्रपुरुषात्स्नः ५।४।५९
शुष्कचूर्णरूक्षात्पिषस्तस्यैव ५।४।६०
कृग्ग्रहोऽकृतजीवात् ५।४।६१
निमूलात्कषः ५।४।६२
हनश्च समूलात् ५।४।६३
करणेभ्यः ५।४।६४
स्वस्नेहनार्थात्पुषपिषः ५।४।६५
हस्तार्थाद्ग्रहवर्तिवृतः ५।४।६६
बन्धेर्नाम्नि ५।४।६७
आधारात् ५।४।६८
कर्तुर्जीवपुरुषान्नशवहः ५।४।६९
ऊर्ध्वात्पूःशुषः ५।४।७०
व्याप्याच्चेवात् ५।४।७१

उपात्किरो लवने ५।४।७२
दंशेस्तृतीयया ५।४।७३
हिंसार्थादेकाप्यात् ५।४।७४
उपपीडरुधकर्षस्तत्सप्तम्या ५।४।७५
प्रमाणसमासत्त्योः ५।४।७६
पञ्चम्या त्वरायाम् ५।४।७७
द्वितीयया ५।४.७८
स्वाङ्गेनाऽध्रुवेण ५।४।७९
परिक्लेश्येन ५।४.८०
विशपतपदस्कन्दो वीप्साभीक्ष्ण्ये ५।४।८१
कालेन तृष्यस्यः क्रियान्तरे ५।४।८२
नाम्ना ग्रहादिशः ५।४।८३
कृगोऽव्ययेनाऽनिष्टोक्तौ क्त्वाणमौ ५।४।८४
तिर्यचाऽपवर्गे ५।४।८५
स्वाङ्गतश्च्व्यर्थे नानाविनाधार्थेन भुवश्च ५।४।८६
तूष्णीमा ५।४।८७
आनुलोम्येऽन्वचा ५।४.८८
इच्छार्थे कर्मणः सप्तमी ५।४।८९
शकधृषज्ञारभलभसहार्हग्लाघटास्त्यसमर्थार्थे च तुम् ५।४।९०

षष्ठोऽध्यायः

प्रथमः पादः

तद्धितोऽणादिः ६।१।१
पौत्रादि वृद्धम् ६।१।२
वंश्यज्यायोभ्रात्रोर्जीवति प्रपौत्राद्यस्त्री युवा ६।१।३
सपिण्डे वयःस्थानाधिके जीवद्वा ६।१।४
युववृद्धं कुत्सार्चे वा ६।१।५
संज्ञा दुर्वा ६।१।६
त्यदादिः ६।१।७
वृद्धिर्यस्य स्वरेष्वादिः ६।१।८
एदोद्देश एवेयादौ ६।१।९
प्राग्देशे ६।१।१०
वाऽऽद्यात् ६।१।११
गोत्रोत्तरपदाद्गोत्रादिवाऽजिह्वाकात्यहरितकात्यात् ६।१।१२
प्राग्जितादण् ६।१।१३
धनादेः पत्युः ६।१।१४
अनिदम्यणपवादे च दित्यदित्यादित्ययमपत्युत्तरपदाञ्ञ्यः ६।१।१५
बहिषष्टीकण्च ६।१।१६
कल्यग्नेरेयण् ६।१।१७
पृथिव्या ञाञ् ६।१।१८
उत्सादेरञ् ६।१।१९
बष्कयादसमासे ६।१।२०
देवाद्यञ् च ६।१।२१
अः स्थाम्नः ६।१।२२
लोम्नोऽपत्येषु ६।१।२३
द्विगोरनपत्ये यस्वरादेर्लुबद्विः ६।१।२४
प्राग्वतः स्त्रीपुंसान्नञ् स्नञ् ६।१।२५
त्वे वा ६।१।२६
गोः स्वरे यः ६।१।२७
ङसोऽपत्ये ६।१।२८
आद्यात् ६।१।२९
वृद्धाद्यूनि ६।१।३०
अत इञ् ६।१।३१
बाह्वादिभ्यो गोत्रे ६।१।३२
वर्मणोऽचक्रात् ६।१।३३
अजादिभ्यो धेनोः ६।१।३४
ब्राह्मणाद्वा ६।१।३५
भूयः सम्भूयोऽम्भोऽमितौजसः स्लुक्च ६।१।३६
शालङ्क्यौदिषाडिवाड्वलि ६।१।३७
व्यासवरुटसुधातृनिषादबिम्बचण्डालादन्तस्य चाक् ६।१।३८
पुनर्भूपुत्रदुहितृननान्दुरनन्तरेऽञ् ६।१।३९
परस्त्रियाः परशुश्चाऽसावर्ण्ये ६।१।४०
विदादेर्वृद्धे ६।१।४१
गर्गादेर्यञ् ६।१।४२
मधुबभ्रोर्ब्राह्मणकौशिके ६।१।४३
कपिबोधादाङ्गिरसे ६।१।४४
वतण्डात् ६।१।४५
स्त्रियां लुप् ६।१।४६
कुञ्जादेर्ञायन्यः ६।१।४७
स्त्रीबहुष्वायनञ् ६।१।४८
अश्वादेः ६।१।४९
शपभरद्वाजादात्रेये ६।१।५०
भर्गात्त्रैगर्ते ६।१।५१
आत्रेयाद्भारद्वाजे ६।१।५२
नडादिभ्य आयनण् ६।१।५३
यञिञः ६।१।५४

गान्धारिसाल्वेयाभ्याम् ६।१।११५
पुरुमगधकलिङ्गसूरमसद्विस्वरादण्
 ६।१।११६
साल्वांशप्रत्यग्रथकलकूटाश्मकादिञ्
 ६।१।११७
दुनादिकुर्वित्कोशलाजादाञ्ञ्यः
 ६।१।११८
पाण्डोर्ड्यण् ६।१।११९
शकादिभ्यो द्रेर्लुप् ६।१।१२०
कुन्त्यवन्तेः स्त्रियाम् ६।१।१२१
कुरोर्वा ६।१।१२२
द्रेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः ६।१।१२३
बहुष्वस्त्रियाम् ६।१।१२४
यस्कादेर्गोत्रे ६।१।१२५
यञञोऽश्यापर्णान्तगोपवनादेः ६।१।१२६
कौण्डिन्यागस्त्ययोः कुण्डिनागस्ती च
 ६।१।१२७
भृग्वङ्गिरस्कुत्सवसिष्ठगोतमात्रेः ६।१।१२८
प्राग्भरते बहुस्वरादिञः ६।१।१२९
वोपकादेः ६।१।१३०
तिककितवादौ द्वन्द्वे ६।१।१११
द्व्याद्यैस्तथा ६।१।१२२
वाऽन्येन ६।१।१३३
द्व्येकेषु षष्ठ्यास्तत्पुरुषे यञादेर्वा
 ६।१।१३४
न प्राग्जितीये स्वरे ६।१।१३५
गर्गभार्गविका ६।१।१३६
यूनि लुप् ६।१।१३७
वायनणायनिञोः ६।१।१३८
द्रीञो वा ६।१।१३९
[illegible] ६।१।१४०
अब्राह्मणात् ६।१।१४१
पैलादेः ६।१।१४२
प्राच्येऽञोऽतौल्वल्यादेः ६।१।१४३

द्वितीयः पादः

रागाट्टो रक्ते ६।२।१
लाक्षारोचनादिकण् ६।२।२
शकलकर्दमाद्वा ६।२।३
नीलपीतादकम् ६।२।४
उदितगुरोर्भाद्युक्तेऽब्दे ६।२।५
चन्द्रयुक्तात्काले लुप्त्वप्रयुक्ते ६।२।६
द्वन्द्वादीयः ६।२।७
श्रवणाश्वत्थान्नाम्न्यः ६।२।८
षष्ठ्याः समूहे ६।२।९
भिक्षादेः ६।२।१०
क्षुद्रकमालवात्सेनानाम्नि ६।२।११
गोत्रोक्षवत्सोष्ट्रवृद्धाजोरभ्रमनुष्यराज-
 राजन्यराजपुत्रादकञ् ६।२।१२
केदाराण्ण्यश्च ६।२।१३
कवचिहस्त्यचित्ताच्चेकण् ६।२।१४
धेनोरनञः ६।२।१५
ब्राह्मणमाणववाडवाद्यः ६।२।१६
गणिकाया ण्यः ६।२।१७
केशाद्वा ६।२।१८
वाऽश्वादीयः ६।२।१९
पर्श्वा ड्वण् ६।२।२०
ईनोऽह्नः क्रतौ ६।२।२१
पृष्ठाद्यः ६।२।२२
चरणाद्धर्मवत् ६।२।२३
गोरथवातात्त्रल्कट्यलूलम् ६।२।२४
पाशादेश्च ल्यः ६।२।२५
श्वादिभ्योऽञ् ६।२।२६
खलादिभ्यो लिन् ६।२।२७
ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल् ६।२।२८
पुरुषात्कृतहितवधविकारे चैयञ् ६।२।२९
विकारे ६।२।३०
प्राण्यौषधिवृक्षेभ्योऽवयवे च ६।२।३१

तालाद्धनुषि ६।२।३२
त्रपुजतोः षोन्तश्च ६।२।३३
शम्या लः ६।२।३४
पयोद्रोर्यः ६।२।३५
उष्ट्रादकञ् ६।२।३६
उमोर्णाद्वा ६।२।३७
एण्या एयञ् ६।२।३८
कौशेयम् ६।२।३९
परशव्याद्यलुक् च ६।२।४०
कंसीयाञ्ञ्यः ६।२।४१
हेमार्थान्माने ६।२।४२
द्रोर्वयः ६।२।४३
मानात्क्रीतवत् ६।२।४४
हेमादिभ्योऽञ् ६।२।४५
अभक्ष्याच्छादने वा मयट् ६।२।४६
शरदर्भकूदीतृणसोमवल्वजात् ६।२।४७
एकस्वरात् ६।२।४८
दोरप्राणिनः ६।२।४९
गोः पुरीषे ६।२।५०
व्रीहेः पुरोडाशे ६।२।५१
तिलयवादनाम्नि ६।२।५२
पिष्टात् ६।२।५३
नाम्नि कः ६।२।५४
ह्योगोदोहादीनञ् हियङ्गुश्चास्य ६।२।५५
अपो यञ्वा ६।२।५६
लुब्बहुलं पुष्पमूले ६।२।५७
फले ६।२।५८
प्लक्षादेरण् ६।२।५९
जम्ब्वा वा ६।२।६०
नद्विरद्रुत्यगोमयफलात् ६।२।६१
पितृमातुर्व्यड्डुलं भ्रातरि ६।२।६२
पित्रोर्डामहट् ६।२।६३
अवेर्दुग्धे सोढदूसमरीसम् ६।२।६४
राष्ट्रेऽनङ्गादिभ्यः ६।२।६५
राजन्यादिभ्योऽकञ् ६।२।६६
वसातेर्वा ६।२।६७
भौरिक्यैषु कार्यादेर्विधमक्तम् ६।२।६८
निवासाऽदूरभवे इति देशे नाम्नि ६।२।६९
तदत्राऽस्ति ६।२।७०
तेन निर्वृत्ते च ६।२।७१
नद्यां मतुः ६।२।७२
मध्वादेः ६।२।७३
नडकुमुदवेतसमहिषाड्डित् ६।२।७४
नडशादाद्वलः ६।२।७५
शिखायाः ६।२।७६
शिरीषादिककणौ ६।२।७७
शर्कराया इकणीयाऽण् च ६।२।७८
रोऽश्मादेः ६।२।७९
प्रेक्षादेरिन् ६।२।८०
तृणादेः सल् ६।२।८१
काशादेरिलः ६।२।८२
अरीहणादेरकण् ६।२।८३
सुपन्थ्यादेर्ञ्यः ६।२।८४
सुतङ्गमादेरिञ् ६।२।८५
बलादेर्यः ६।२।८६
अहरादिभ्योऽञ् ६।२।८७
सख्यादेरेयण् ६।२।८८
पन्थ्यादेरायनण् ६।२।८९
कर्णादेरायनिञ् ६।२।९०
उत्करादेरीयः ६।२।९१
नडादेः कीयः ६।२।९२
कृशाश्वादेरीयण् ६।२।९३
ऋश्यादेः कः ६।२।९४
वराहादेः कण् ६।२।९५
कुमुदादेरिकः ६।२।९६

अश्वत्थादेरिकण् ६।२।९७
सास्य पौर्णमासी ६।२।९८
आग्रहायण्यश्वत्थादिकण् ६।२।९९
चैत्रीकार्त्तिकीफाल्गुनीश्रवणाद्वा ६।२।१००
देवता ६।२।१०१
पैङ्गाक्षीपुत्रादेरीयः ६।२।१०२
शुक्रादियः ६।२।१०३
शतरुद्रात्तौ ६।२।१०४
अपोनपादपान्नपातस्तृचातः ६।२।१०५
महेन्द्राद्वा ६।२।१०६
कसोमाट्ट्यण् ६।२।१०७
द्यावापृथिवीशुनासीराऽग्नीषोममरुत्वद्वा-
स्तोष्पतिगृहमेधादीययौ ६।२।१०८
वाय्वृतुपित्रुषसो यः ६।२।१०९
महाराजप्रोष्ठपदादिकण् ६।२।११०
कालाद्भववत् ६।२।१११
आदेश्छन्दसः प्रगाथे ६।२।११२
योद्धृप्रयोजनाद्युद्धे ६।२।११३
भावघञोऽस्यां णः ६।२।११४
श्यैनम्पातातैलम्पाता ६।२।११५
प्रहरणात् क्रीडायां णः ६।२।११६
तद्वेत्त्यधीते ६।२।११७
न्यायादेरिकण् ६।२।११८
पदकल्पलक्षणान्तक्रत्वाख्यानाख्या-
यिकात् ६।२।११९
अकल्पात्सूत्रात् ६।२।१२०
अधर्मक्षत्रत्रिसंसर्गाङ्गाद्विद्यायाः ६।२।१२१
याज्ञिकौक्थिकलौकायतिकम् ६।२।१२२
अनुब्राह्मणादिन् ६।२।१२३
शतषष्टेः पथ इकट् ६।२।१२४
पदोत्तरपदेभ्य इकः ६।२।१२५
पदक्रमशिक्षामीमांसासाम्नोऽकः
६।२।१२६
ससर्वपूर्वाल्लुप् ६।२।१२७
सङ्ख्याकात्सूत्रे ६।२।१२८
प्रोक्तात् ६।२।१२९
वेदेन् ब्राह्मणमत्रैव ६।२।१३०
तेनच्छन्ने रथे ६।२।१३१
पाण्डुकम्बलादिन् ६।२।१३२
दृष्टे साम्नि नाम्नि ६।२।१३३
गोत्रादङ्कवत् ६।२।१३४
वामदेवाद्यः ६।२।१३५
डिद्वाऽण् ६।२।१३६
वा जाते द्विः ६।२।१३७
तत्रोद्धृते पात्रेभ्यः ६।२।१३८
स्थण्डिलाच्छेते व्रती ६।२।१३९
संस्कृते भक्ष्ये ६।२।१४०
शूलोखाद्यः ६।२।१४१
क्षीरादेयण् ६।२।१४२
दध्न इकण् ६।२।१४३
वोदश्वितः ६।२।१४४
क्वचित् ६।२।१४५

तृतीयः पादः

शेषे ६।३।१
नद्यादेरेयण् ६।३।२
राष्ट्रादियः ६।३।३
दूरादेत्यः ६।३।४
उत्तरादाहञ् ६।३।५
पारावारादीनः ६।३।६
व्यस्तव्यत्यस्तात् ६।३।७
द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यः ६।३।८
ग्रामादीनञ्च ६।३।९
कत्र्यादेश्चैयकञ् ६।३।१०
कुण्ड्यादिभ्यो यलुक्च ६।३।११
कुलकुक्षिग्रीवाच्छ्वाऽस्यलङ्कारे ६।३।१२
दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यण् ६।३।१३

वर्ण्युर्दिपर्दिकापिश्याष्टायनण् ६।३।१४
रंकोः प्राणिनि वा ६।३।१५
क्वेहामात्रतसस्त्यच् ६।३।१६
नेर्ध्रुवे ६।३।१७
निसो गते ६।३।१८
ऐषमोह्यःश्वसो वा ६।३।१९
कन्थाया इकण् ६।३।२०
वर्णावकञ् ६।३।२१
रूप्योत्तरपदारण्याण् णः ६।३।२२
दिक्पूर्वादनाम्नः ६।३।२३
मद्रादञ् ६।३।२४
उदग्ग्रामाद्यकृल्लोम्नः ६।३।२५
गोष्ठीतैकीनैकेतीगोमतीशूरसेनवाहीकरोमकपटच्चरात् ६।३।२६
शकलादेर्यञः ६।३।२७
वृद्धेऽञः ६।३।२८
न द्विस्वरात्प्राग् भरतात् ६।३।२९
भवतोरिकणीयसौ ६।३।३०
परजनराज्ञोऽकीयः ६।३।३१
दोरीयः ६।३।३२
उष्णादिभ्यः कालात् ६।३।३३
व्यादिभ्यो णिकेकणौ ६।३।३४
काश्यादेः ६।३।३५
वाहीकेषु ग्रामात् ६।३।३६
वोशीनरेषु ६।३।३७
वृजिमद्राद्देशात्कः ६।३।३८
उवर्णादिकण ६।३।३९
दोरेव प्राचः ६।३।४०
इतोऽकञ् ६।३।४१
रोपान्त्यात् ६।३।४२
प्रस्थपुरवहान्तयोपान्त्यधन्वार्थात् ६।३।४३
राष्ट्रेभ्यः ६।३।४४
बहुविषयेभ्यः ६।३।४५
धूमादेः ६।३।४६
सौवीरेषु कूलात् ६।३।४७
समुद्रान्नृनावोः ६।३।४८
नगरात्कुत्सादाक्ष्ये ६।३।४९
कच्छाग्निवक्रवर्त्तोत्तरपदात् ६।३।५०
अरण्यात्पथिन्यायाध्यायेभनरविहारे ६।३।५१
गोमये वा ६।३।५२
कुरुयुगन्धराद्वा ६।३।५३
साल्वाद्गोयवाग्वपत्तौ ६।३।५४
कच्छादेर्नृनृस्थे ६।३।५५
कोपान्त्याच्चाण् ६।३।५६
गर्त्तोत्तरपदादीयः ६।३।५७
कटपूर्वात्प्राचः ६।३।५८
कखोपान्त्यकन्थापलदनगरग्रामह्रदोत्तरपदाद्दोः ६।३।५९
पर्वतात् ६।३।६०
अनरे वा ६।३।६१
पर्णकृकणाद्भारद्वाजात् ६।३।६२
गहादिभ्यः ६।३।६३
पृथिवीमध्यान्मध्यमश्चास्य ६।३।६४
निवासाच्चरणेऽण् ६।३।६५
वेणुकादिभ्य ईयण् ६।३।६६
वा युष्मदस्मदोऽञीनञौ युष्माकास्माकं चास्यैकत्वे तु तवकममकम् ६।३।६७
द्वीपादनुसमुद्रं ण्यः ६।३।६८
अर्द्धाद्यः ६।३।६९
सपूर्वादिकण् ६।३।७०
दिक्पूर्वात्तौ ६।३।७१
ग्रामराष्ट्रांशादणिकणौ ६।३।७२
परावराधमोत्तमादेर्यः ६।३।७३
अमोऽन्तावोऽधसः ६।३।७४
पश्चादाद्यन्ताग्रादिमः ६।३।७५

मध्यान्मः ६।३।७६
मध्ये उत्कर्षापकर्षयोरः ६।३।७७
अध्यात्मादिभ्य इकण् ६।३।७८
समानपूर्वलोकोत्तरपदात् ६।३।७९
वर्षाकालेभ्यः ६।३।८०
शरदः श्राद्धे कर्मणि ६।३।८१
न वा रोगातपे ६।३।८२
निशाप्रदोषात् ६।३।८३
श्वस्तादिः ६।३।८४
चिरपरुत्परारेस्त्नः ६।३।८५
पुरो नः ६।३।८६
पूर्वाह्णात्तनट् ६।३।८७
सायञ्चिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययात् ६।३।८८
भर्तुसन्ध्यादेरण् ६।३।८९
संवत्सरात्फलपर्वणोः ६।३।९०
हेमन्ताद्वा तलुक् च ६।३।९१
प्रावृष एण्यः ६।३।९२
स्थामाजिनान्ताल्लुप् ६।३।९३
तत्र कृतलब्धक्रीतसम्भूते ६।३।९४
कुशले ६।३।९५
पथोऽकः ६।३।९६
कोऽश्मादेः ६।३।९७
जाते ६।३।९८
प्रावृष इकः ६।३।९९
नाम्नि शरदोऽकञ् ६।३।१००
सिन्ध्वपकरात्काणौ ६।३।१०१
पूर्वाह्णापराह्णार्द्रामूलप्रदोषावस्कराद्कः ६।३।१०२
पथः पन्थ च ६।३।१०३
अश्व वामावास्यायाः ६।३।१०४
श्रविष्ठाषाढादीयण् च ६।३।१०५
फल्गुन्याष्टः ६।३।१०६
बहुलाऽनुराधापुष्यार्थपुनर्वसुहस्तविशाखास्वातेर्लुप् ६।३।१०७
चित्रारेवतीरोहिण्याः स्त्रियाम् ६।३।१०८
बहुलमन्येभ्यः ६।३।१०९
स्थानान्तगोशालखरशालात् ६।३।११०
वत्सशालाद्वा ६।३।१११
सोदर्यसमानोदर्यौ ६।३।११२
कालाद्देये ऋणे ६।३।११३
कलाप्यश्वत्थयवबुसोमाव्यासैषमसोऽकः ६।३।११४
ग्रीष्मावरसमादकञ् ६।३।११५
संवत्सराग्रहायण्या इकण् च ६।३।११६
साधुपुष्प्यत्पच्यमाने ६।३।११७
उप्ते ६।३।११८
आश्वयुज्या अकञ् ६।३।११९
ग्रीष्मवसन्ताद्वा ६।३।१२०
व्याहरति मृगे ६।३।१२१
जयिनि च ६।३।१२२
भवे ६।३।१२३
दिगादिदेहांशाद्यः ६।३।१२४
नाम्न्युदकात् ६।३।१२५
मध्यादिनणेयामोऽन्तश्च ६।३।१२६
जिह्वामूलाङ्गुलेश्चेयः ६।३।१२७
वर्गान्तात् ६।३।१२८
ईनयौ चाऽशब्दे ६।३।१२९
दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यहेरेयण् ६।३।१३०
आस्तेयम् ६।३।१३१
ग्रीवातोऽण् च ६।३।१३२
चतुर्मासान्नाम्नि ६।३।१३३
यज्ञे ञ्यः ६।३।१३४
गम्भीरपञ्चजनबहिर्देवात् ६।३।१३५
परिमुखादेरव्ययीभावात् ६।३।१३६
अन्तःपूर्वादिकण् ६।३।१३७
पर्यनोर्ग्रामात् ६।३।१३८
उपाज्जानुनीविकर्णात्प्रायेण ६।३।१३९

हलावन्तःपुरादिकः ६।३।१४०
कर्णललाटात्कल् ६।३।१४१
तस्य व्याख्याने च ग्रन्थात् ६।३।१४२
प्रायोबहुस्वरादिकण् ६।३।१४३
ऋगृद्द्विस्वरयागेभ्यः ६।३।१४४
ऋषेरध्याये ६।३।१४५
पुरोडाशपौरोडाशादिकेकटौ ६।३।१४६
छन्दसो यः ६।३।१४७
शिक्षादेश्चाण् ६।३।१४८
तत आगते ६।३।१४९
विद्यायोनिसम्बन्धादकञ् ६।३ १५०
पितुर्यो वा ६।३।१५१
ऋत इकण् ६।३।१५२
आयस्थानात् ६।३।१५३
शुण्डिकादेरण् ६।३।१५४
गोत्रादङ्कवत् ६।३।१५५
नृहेतुभ्यो.रूप्यमयटौ वा ६।३।१५६
प्रभवति ६।३।१५७
वैडूर्यः ६।३।१५८
त्यदादेर्मयट् ६।३।१५९
तस्येदम् ६।३।१६०
हलसीरादिकण् ६।३।१६१
समिध आधाने टेन्यण् ६।३।१६२
विवाहे द्वन्द्वादकल् ६।३।१६३
अदेवासुरादिभ्यो वैरे ६।३।१६४
नटान्नृत्ते ञ्यः ६।३।१६५
छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचाच्च धर्मा-
म्नायसङ्घे ६।३।१६६
आथर्वणिकाद्वणिकलुक्च ६।३।१६७
चरणादकञ् ६।३।१६८
गोत्राददण्डमाणवशिष्ये ६।३।१६९
रैवतिकादेरीयः ६।३।१७०
कौपिञ्जलहास्तिपदादण् ६।३।१७१

सङ्घघोषाङ्कलक्षणेऽञ्यञिञः ६।३।१७२
शाकलादकञ्च ६ ३।१७३
गृहेऽग्नीधोरण् धश्च ६।३।१७४
रथात्सादेश्च वोढृऽङ्गे ६।३।१७५
यः ६।३।१७६
पत्रपूर्वादञ् ६।३।१७७
वाहनात् ६।३।१७८
वाह्यपथ्युपकरणे ६।३।१७९
वहेस्तुरिश्चादिः ६।३।१८०
तेन प्रोक्ते ६।३।१८१
मौदादिभ्यः ६।३।१८२
कठादिभ्यो वेदे लुप् ६।३।१८३
तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण् ६।३।१८४
छगलिनो ढिनुक् ६।३।१८५
शौनकादिभ्यो णिनि ६।३।१८६
पुराणे कल्पे ६।३।१८७
काश्यपकौशिकाद्वेदवच्च ६।३।१८८
शिलालिपाराशर्यात्नटभिक्षुसूत्रे ६।३।१८९
कृशाश्वकर्मन्दादिनि ६।३।१९०
उपज्ञाते ६।३।१९१
कृते ६।३।१९२
नाम्नि मक्षिकादिभ्य. ६।३।१९३
कुलालादेरकञ् ६।३।१९४
सर्वंचर्म्मण ईनेनञौ ६।३।१९५
उरसो याणो ६।३।१९६
छन्दस्य ६।३।१९७
अमोऽधिकृत्य ग्रन्थे ६ ३।१९८
ज्योतिषम् ६।३।१९९
शिशुक्रन्दादिभ्य ईयः ६।३।२००
द्वन्द्वात्प्रायः ६।३।२०१
अभिनिष्क्रामति द्वारे ६।३।२०२
गच्छति पथि दूते ६।३।२०३
भजति ६।३।२०४

महाराजादिकण् ६।३।२०५
अचित्ताददेशकालात् ६।३।२०६
वासुदेवार्जुनादकः ६।३।२०७
गोत्रक्षत्रियेभ्योऽकञ् प्रायः ६।३।२०८
सरूपाद् द्रेः सर्वं राष्ट्रवत् ६।३।२०९
टस्तुल्यदिशि ६।३।२१०
तसिः ६।३।२११
यश्चोरसः ६।३।२१२
सेर्निवासादस्य ६।३।२१३
अभिजनात् ६।३।२१४
शण्डिकादेर्ण्यः ६।३।२१५
सिन्ध्वादेरञ् ६।३।२१६
सलातुरादीयण् ६।३।२१७
तूदीवर्मत्या एयण् ६।३।२१८
गिरेरीयोऽस्त्राजीवे ६।३।२१९

चतुर्थः पादः

इकण् ६।४।१
तेन जितजयद्दीव्यत्खनत्सु ६।४।२
संस्कृते ६।४।३
कुलत्थकोपान्त्यादण् ६।४।४
संसृष्टे ६।४।५
लवणादः ६।४।६
चूर्णमुद्गाभ्यामिनणौ ६।४।७
व्यञ्जनेभ्य उपसिक्ते ६।४।८
तरति ६।४।९
नौद्विस्वरादिकः ६।४।१०
चरति ६।४।११
पर्पादेरिकट् ६।४।१२
पदिकः ६।४।१३
श्वगणाद्वा ६।४।१४
वेतनादेर्जीवति ६।४।१५
व्यस्ताच्च क्रयविक्रयादिकः ६।४।१६
वस्नात् ६।४।१७
आयुधादीयश्च ६।४।१८
व्रातादीनञ् ६।४।१९
निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादेः ६।४।२०
भावादिमः ६।४।२१
याचितापमित्यात्कण् ६।४।२२
हरत्युत्सङ्गादेः ६।४।२३
भस्त्रादेरिकट् ६।४।२४
विवधवीवधाद्वा ६।४।२५
कुटिलिकाया अण् ६।४।२६
ओजःसहोम्भसो वर्त्तते ६।४।२७
तं प्रत्यनोर्लोमेपकूलात् ६।४।२८
परेर्मुखपार्श्वात् ६।४।२९
रक्षदुञ्छतोः ६।४।३०
पक्षिमत्स्यमृगार्थाद् घ्नति ६।४।३१
परिपन्थात्तिष्ठति च ६।४।३२
परिपथात् ६।४।३३
अवृद्धेर्गृह्णति गर्ह्ये ६।४।३४
कुसीदादिकट् ६।४।३५
दशैकादशादिकश्च ६।४।३६
अर्थपदपदोत्तरललामप्रतिकण्ठात्
६।४।३७
परदारादिभ्यो गच्छति ६।४।३८
प्रतिपथादिकश्च ६।४।३९
माथोत्तरपदपदव्याक्रन्दाद्धावति ६।४।४०
पश्चात्यनुपदात् ६।४।४१
सुस्नातादिभ्यः पृच्छति ६।४।४२
प्रभूतादिभ्यो ब्रुवति ६।४।४३
माशब्द इत्यादिभ्यः ६।४।४४
शाब्दिकदार्दरिकलालाटिककौक्कुटिकम्
६।४।४५
समूहार्थात्समवेते ६।४।४६
पर्षदो ण्यः ६।४।४७
सेनाया वा ६।४।४८

धर्माधर्माच्चरति ६।४।४९
षष्ठ्या धर्म्ये ६।४।५०
अवक्रयादेरण् ६।४।५१
विभाजयितृविशसितुर्णीड्लुक् च ६।४।५२
अवक्रये ६।४।५३
तदस्य पण्यम् ६।४।५४
किशरादेरिकट् ६।४।५५
शलालुनो वा ६।४।५६
शिल्पम् ६।४।५७
मड्डुकझर्झराद्वाऽण् ६।४।५८
शीलम् ६।४।५९
अस्थाच्छत्रादेरञ् ६।४।६०
तूष्णीकः ६।४।६१
प्रहरणम् ६।४।६२
परश्वधाद्वाऽण् ६।४।६३
शक्तियष्टेष्टीकण् ६।४।६४
वेष्ट्यादिभ्यः ६।४।६५
नास्तिकास्तिकदैष्टिकम् ६।४।६६
वृत्तोऽपपाठोऽनुयोगे ६।४।६७
बहुस्वरपूर्वादिकः ६।४।६८
भक्ष्यं हितमस्मै ६।४।६९
नियुक्तं दीयते ६।४।७०
श्राणामांसौदनादिको वा ६।४।७१
भक्तौदनाद्वा णिकट् ६।४।७२
नवयज्ञादयोऽस्मिन् वर्त्तन्ते ६।४।७३
तत्र नियुक्ते ६।४।७४
अगारान्तादिकः ६।४।७५
अदेशकालादध्यायिनि ६।४।७६
निकटादिषु वसति ६।४।७७
सतीर्थ्यः ६।४।७८
प्रस्तारसंस्थानतदन्तकठिनान्तेभ्यो व्यवहरति ६।४।७९
सङ्ख्यादेश्चार्हदलुचः ६।४।८०
गोदानादीनां ब्रह्मचर्ये ६।४।८१
चन्द्रायणं च चरति ६।४।८२
देवव्रतादीन् डिन् ६।४।८३
डकश्चाष्टाचत्वारिंशतं वर्षाणाम् ६।४।८४
चातुर्मास्यन्तौ यलुक् च ६।४।८५
क्रोशयोजनपूर्वाच्छतायोजनाच्चाऽभिगमार्हे ६।४।८६
तद्यात्येभ्यः ६।४।८७
पथ इकट् ६।४।८८
नित्यं णः पन्थश्च ६।४।८९
शङ्कूत्तरकान्ताराजवारिस्थलजङ्गलादेस्तेनाहृते च ६।४।९०
स्थलादेर्मधुकमरिचेऽण् ६।४।९१
तुरायणपारायणं यजमानाऽधीयाने ६।४।९२
संशयं प्राप्ते ज्ञेये ६।४।९३
तस्मै योगादेः शक्ते ६।४।९४
योगकर्मभ्यां योकञौ ६।४।९५
यज्ञानां दक्षिणायाम् ६।४।९६
तेषु देये ६।४।९७
काले कार्ये च भववत् ६।४।९८
व्युष्टादिष्वण् ६।४।९९
यथाकथाचाण्णः ६।४।१००
तेन हस्ताद्यः ६।४।१०१
शोभमाने ६।४।१०२
कर्मवेषाद्यः ६।४।१०३
कालात्परिजय्यलभ्यकार्यसुकरे ६।४।१०४
निर्वृत्ते ६।४।१०५
तं भाविभूते ६।४।१०६
तस्मै भृताऽधीष्टे च ६।४।१०७
षण्मासादवयसिण्येकौ ६।४।१०८
समाया ईनः ६।४।१०९
रात्र्यहःसंवत्सराच्च द्विगोर्वा ६।४।११०

वर्षादश्च वा ६।४।१११
प्राणिनि भूते ६।४।११२
मासाद्वयसि यः ६।४।११३
ईनञ् च ६।४।११४
षण्मासादवयसि णिकण् ६।४।११५
सोऽस्य ब्रह्मचर्यतद्वतोः ६।४।११६
प्रयोजनम् ६।४।११७
एकागाराच्चौरे ६।४।११८
चूडादिभ्योऽण् ६।४।११९
विशाखाषाढान्मन्थदण्डे ६।४।१२०
उत्थापनादेरीयः ६।४।१२१
विशिरुहिपदिपूरिसमापेरनात्सपूर्वपदात्
६।४।१२२
स्वर्गस्वस्तिवाचनादिभ्यो यलुपौ ६।४।१२३
समयात्प्राप्तः ६।४।१२४
ऋत्वादिभ्योऽण् ६।४।१२५
कालाद्यः ६।४।१२६
दीर्घः ६।४।१२७
आकालिकमिकश्चाद्यन्ते ६।४।१२८
त्रिंशद्विंशतेर्डकोऽसंज्ञायामार्हदर्थे
६।४।१२९
संख्याडतेश्चाशत्तिष्टेः कः ६।४।१३०
शतात्केवलादतस्मिन्नियेकौ ६।४।१३१
वातोरिकः ६।४।१३२
कार्षापणादिकट् प्रतिश्चास्य वा ६।४।१३३
अर्धात्पलकंसकर्षात् ६।४।१३४
कंसार्धात् ६।४।१३५
सहस्रशतमानादण् ६।४।१३६
शूर्पाद्वाऽञ् ६।४।१३७
वसनात् ६।४।१३८
विंशतिकात् ६।४।१३९
द्विगोरीनः ६।४।१४०
अनाम्न्यद्विः प्लुप् ६।४।१४१

न वाणः ६।४।१४२
सुवर्णकार्षापणात् ६।४।१४३
द्वित्रिबहोर्निष्कविस्तात् ६।४।१४४
शताद्यः ६।४।१४५
शाणात् ६।४।१४६
द्व्यादेर्याऽण् वा ६।४।१४७
पणपादमाषाद्यः ६।४।१४८
खारीकाकणीभ्यः कच् ६।४।१४९
मूल्यैः क्रीते ६।४।१५०
तस्य वापे ६।४।१५१
वातपित्तश्लेष्मसन्निपाताच्छमनकोपने
६।४।१५२
हेतौ संयोगोत्पाते ६।४ १५३
पुत्राद्येयौ ६।४ १५४
द्विस्वरब्रह्मवर्चसाद्योऽसंख्यापरिमाणा-
श्वादेः ६।४।१५५
पृथिवीसर्वभूमेरीशज्ञातयोश्चाञ् ६।४।१५६
लोकसर्वलोकात् ज्ञाते ६।४।१५७
तदत्रास्मै वा वृद्ध्यायलाभोपदाशुल्कं
देयम् ६।४।१५८
पूरणार्धादिकः ६।४।१५९
भागाद्येकौ ६।४।१६०
तं पचति द्रोणाद्वाऽञ् ६।४।१६१
सम्भवदवहरतोश्च ६।४।१६२
पात्राचिताढकादीनो वा ६।४।१६३
द्विगोरीनेकटौ वा ६।४।१६४
कुलिजाद्वा लुप् च ६।४।१६५
वंशादेर्भाराद्धरद्वहदावहत्सु ६।४।१६६
द्रव्यवस्नात्केकम् ६।४।१६७
सोऽस्य भृतिवस्नांशम् ६।४।१६८
मानम् ६।४।१६९
जीवितस्य सन् ६।४।१७०
संख्यायाः संघसूत्रपाठे ६।४।१७१

नाम्नि ६।४।१७२
विंशत्यादय: ६।४।१७३
शैक्ष्याचार्यारिषम् ६।४।१७४
पञ्चदृषच्छ्रौ वा ६।४।१७५
स्तोमे डट् ६।४।१७६
तमर्हति ६।४।१७७
दण्डादेर्य: ६।४।१७८
यज्ञादिय: ६।४।१७९
पात्रात्तौ ६।४।१८०
दक्षिणाकडङ्करस्थालीबिलादीययौ ६।४।१८१
छेदादेर्नित्यम् ६।४।१८२
विरागाद्विरङ्गश्च ६।४।१८३
शीर्षच्छेदाद्यो वा ६।४।१८४
शालीनकौपीनार्त्विजीनम् ६।४।१८५

सप्तमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

यः ७।१।१
वहतिरथयुगप्रासङ्गात् ७।१।२
धुरो यैयण् ७।१।३
वामाद्यादेरीनः ७।१।४
अश्वैकादेः ७।१।५
हलसीरादिकण् ७।१।६
शकटादण् ७।१।७
विध्यत्यऽनन्येन ७।१।८
धनगणाल्लब्धरि ७।१।९
णोऽन्नात् ७।१।१०
हृद्यपद्यतुल्यमूल्यवश्यपथ्यवयस्यधेनुष्या-
गार्हपत्यजन्यधर्म्यम् ७।१।११
नौविषेण तार्यवध्ये ७।१।१२
न्यायार्थादनपेते ७।१।१३
मतमदस्य करणे ७।१।१४
तत्र साधौ ७।१।१५
पथ्यतिथिवसतिस्वपतेरेयण् ७।१।१६
भक्ताण्णः ७।१।१७
पर्षदो ण्यणौ ७।१।१८
सर्वजनाण्ण्येनञौ ७।१।१९
प्रतिजनादेरीनञ् ७।१।२०
कथादेरिकण् ७।१।२१
देवतान्तात्तदर्थे ७।१।२२
पाद्यार्घ्ये ७।१।२३
ण्योऽतिथेः ७।१।२४
सादेश्चातदः ७।१ २५
हलस्य कर्षे ७।१।२६
सीतया संगते ७।१।२७
ईयः ७।१।२८
हविरन्नभेदापूपादेर्यो वा ७।१।२९
उवर्णयुगादेर्यः ७।१।३०
नाभेर्नभ् चाऽदेहांशात् ७।१।३१
न्योधसः ७।१।३२
शुनो वश्चोदूत् ७।१।३३
कम्बलान्नाम्नि ७।१।३४
तस्मै हिते ७।१।३५
न राजाचार्यब्राह्मणवृष्णः ७।१।३६
प्राण्यङ्गरथखलतिलयववृषब्रह्ममाषाद्यः
७।१।३७
अव्यजात् थ्यप् ७।१।३८
चरकमाणवादीनञ् ७।१।३९
भोगोत्तरपदात्मभ्यामीनः ७।१।४०
पञ्चसर्वविश्वाज्जनात्कर्मधारये ७।१।४१
महत्सर्वादिकण् ७।१।४२
सर्वाण्णो वा ७।१।४३
परिणामिनि तदर्थे ७।१।४४
चर्मण्यञ् ७।१।४५
ऋषभोपानहाञ्ञ्यः ७।१।४६
छदिर्बलेरेयण् ७।१।४७
परिखाऽस्य स्यात् ७।१।४८
अत्र च ७।१।४९
तद् ७।१।५०
तस्यार्हे क्रियायां वत् ७।१।५१
स्यादेरिवे ७।१।५२
तत्र ७।१।५३
तस्य ७।१।५४
भावे त्वतल् ७।१।५५
प्राक्त्वादगडुलादेः ७।१।५६
नञ् तत्पुरुषादबुधादेः ७।१।५७

पृथ्वादेरिमन्वा ७।१।५८
वर्णदृढादिभ्यष्ट्यण् च वा ७।१।५९
पतिराजान्तगुणाङ्गराजादिभ्यः कर्मणि च ७।१।६०
अर्हतस्तो न्त् च ७।१।६१
सहायाद्वा ७।१।६२
सखिवणिग्दूताद्यः ७।१।६३
स्तेनान्नलुक्च ७।१।६४
कपिज्ञातेरेयण् ७।१।६५
प्राणिजातिवयोऽर्थादञ् ७।१।६६
युवादेरण् ७।१।६७
हायनान्तात् ७।१।६८
वृवर्णाल्लघ्वादेः ७।१।६९
पुरुषहृदयादसमासे ७।१।७०
श्रोत्रियाद्यलुक् च ७।१।७१
योपान्त्याद् गुरूपोत्तमादसुप्रख्यादकञ् ७।१।७२
चोरादेः ७।१।७३
द्वन्द्वाल्लित् ७।१।७४
गोत्रचरणात् श्लाघात्याकारप्राप्त्यवगमे ७।१।७५
होत्राभ्य ईयः ७।१।७६
ब्रह्मणस्त्वः ७।१।७७
शाकटशाकिनौ क्षेत्रे ७।१।७८
धान्येभ्य ईनञ् ७।१।७९
व्रीहिशालेरेयण् ७।१।८०
यवयवकषष्टिकाद्यः ७।१।८१
वाऽणुमाषात् ७।१।८२
वोमाभङ्गतिलात् ७।१।८३
अलाब्वाश्च कटोरजसि ७।१।८४
अह्ना गम्येऽश्वादीनञ् ७।१।८५
कुलाजल्पे ७।१।८६
पील्वादेः कुणः पाके ७।१।८७
कर्णादेर्मूले जाहः ७।१।८८
पक्षात्तिः ७।१।८९
हिमादेलुः सहे ७।१।९०
बलवातादूलः ७।१।९१
शीतोष्णतृषादालुरसहे ७।१।९२
यथामुखसंमुखादीनस्तद्दृश्यतेऽस्मिन् ७।१।९३
सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रशरावं व्याप्नोति ७।१।९४
आप्रपदम् ७।१।९५
अनुपदं बद्धा ७।१।९६
अयानयं नेयः ७।१।९७
सर्वान्नमत्ति ७।१।९८
परोवरीणपरंपरीणपुत्रपौत्रीणम् ७।१।९९
यथाकामानुकामात्यन्तं गामिनि ७।१।१००
पारावारं व्यस्तव्यत्यस्तं च ७।१।१०१
अनुग्वलम् ७।१।१०२
अध्वानं येनौ ७।१।१०३
अभ्यमित्रमीयश्च ७।१।१०४
समांसमीनाद्यश्वीनाद्यप्रातीनाऽऽगवीनसाप्तपदीनम् ७।१।१०५
अषडक्षाशितंग्वलङ्कर्मालंपुरुषादीनः ७।१।१०६
अदिक् स्त्रियां वाऽञ्चः ७।१।१०७
तस्य तुल्ये कः संज्ञाप्रतिकृत्योः ७।१।१०८
न नृपूजार्थध्वजचित्रे ७।१।१०९
अपण्ये जीवने ७।१।११०
देवपथादिभ्यः ७।१।१११
बस्तेरेयञ् ७।१।११२
शिलाया एयच्च ७।१।११३
शाखादेर्यः ७।१।११४
द्रोर्भव्ये ७।१।११५
कुशाग्रादीयः ७।१।११६

काकतालीयादयः ७।१।११७
शर्करादेरण् ७।१।११८
अः सपत्न्याः ७।१।११९
एकशालाया इकः ७।१।१२०
गोण्यादेश्चेकण् ७।१।१२१
कर्कलोहिताट्टीकण् च ७।१।१२२
वेर्विस्तृते शालशङ्कटौ ७।१।१२३
कटः ७।१।१२४
संप्रोन्नेः संकीर्णप्रकाशाधिकसमीपे ७।१।१२५
अवात्कुटारश्चावनते ७।१।१२६
नासानतितद्वतोष्टीटनाटभ्रटम् ७।१।१२७
नेरिनपिटकाश्चिकचिचिकश्चास्य ७।१।१२८
बिडबिरीसौ नीरन्ध्रे च ७।१।१२९
क्लिन्नाल्लश्चक्षुषि चिल् पिल् चुल् चास्य ७।१।१३०
उपत्यकाधित्यके ७।१।१३१
अवेस्संघातविस्तारे कटपटम् ७।१।१३२
पशुभ्यः स्थाने गोष्ठः ७।१।१३३
द्वित्वे गोयुगः ७।१।१३४
षट्त्वे षड्गवः ७।१।१३५
तिलादिभ्यः स्नेहे तैलः ७।१।१३६
तत्र घटते कर्मणष्ठः ७।१।१३७
तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतः ७।१।१३८
गर्भादप्राणिनि ७।१।१३९
प्रमाणान्मात्रट् ७।१।१४०
हस्तिपुरुषाद्वाण् ७।१।१४१
वोर्द्ध्वं दघ्नट्द्वयसट् ७।१।१४२
मानादसंशये लुप् ७।१।१४३
द्विगोः संशये च ७।१।१४४
मात्रट् ७।१।१४५
शन्शद्विंशतेः ७।१।१४६
डिन् ७।१।१४७
इदंकिमोऽतुरियकिय् चास्य ७।१।१४८
यत्तदेतदोडावादिः ७।१।१४९
यत्तत्किमः सङ्ख्याया डतिर्वा ७।१।१५०
अवयवात्तयट् ७।१।१५१
द्वित्रिभ्यामयट् वा ७।१।१५२
द्व्यादेर्गुणान्मूल्यक्रेये मयट् ७।१।१५३
अधिकं तत्सङ्ख्यमस्मिन् शतसहस्रे शतिशद्दशान्ताया डः ७।१।१५४
सङ्ख्यापूरणे डट् ७।१।१५५
विंशत्यादेर्वा तमट् ७।१।१५६
शतादिमासार्द्धमाससंवत्सरात् ७।१।१५७
षष्ट्यादेरसङ्ख्यादेः ७।१।१५८
नो मट् ७।१।१५९
पित्तिथट्बहुगणपूगसङ्घात् ७।१।१६०
अतोरिथट् ७।१।१६१
षट्कतिकतिपयात् थट् ७।१।१६२
चतुरः ७।१।१६३
येयौ च लुक् च ७।१।१६४
द्वेस्तीयः ७।१।१६५
त्रेस्तृ च ७।१।१६६
पूर्वमनेन सादेश्चेन् ७।१।१६७
इष्टादेः ७।१।१६८
श्राद्धमद्यभुक्तमिकेनौ ७।१।१६९
अनुपद्यन्वेष्टा ७।१।१७०
दाण्डाजिनिकायःशूलिकपार्श्वकम् ७।१।१७१
क्षेत्रेऽन्यस्मिन्नाश्ये इयः ७।१।१७२
छन्दोऽधीते श्रोत्रश्च वा ७।१।१७३
इन्द्रियम् ७।१।१७४
तेन वित्ते चुञ्चुचणौ ७।१।१७५
पूरणाद् ग्रन्थस्य ग्राहके को लुक् चास्य ७।१।१७६
ग्रहणाद्वा ७।१।१७७

सस्यात गुणात्परिजाते ७।१।१७८
धनहिरण्ये कामे ७।१।१७९
स्वाङ्गेषु सक्ते ७।१।१८०
उदरे त्वकणाद्यूने ७।१।१८१
अंशं हारिणि ७।१।१८२
तन्त्रादचिरोद्धृते ७।१।१८३
ब्राह्मणान्नाम्नि ७।१।१८४
उष्णात ७।१।१८५
शीताच्च कारिणि ७।१।१८६
अधेरारूढे ७।१।१८७
अनोः कमितरि ७।१।१८८
अभेरीश्च वा ७।१।१८९
सोऽस्य मुख्यः ७।१।१९०
शृङ्खलकः करभे ७।१।१९१
उदुत्सोरुन्मनसि ७।१।१९२
कालहेतुफलाद्रोगे ७।१।१९३
प्रायोऽन्नमस्मिन्नाम्नि ७।१।१९४
कुल्माषादण ७।१।१९५
वटकादिन् ७।१।१९६
साक्षाद् द्रष्टा ७।१।१९७

द्वितीयः पादः

तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुः ७।२।१
आयात् ७।२।२
नावादेरिकः ७।२।३
शिखादिभ्य इन् ७।२।४
व्रीह्यादिभ्यस्तौ ७।२।५
अतोऽनेक स्वरात ७।२।६
अशिरसोऽशीर्षश्च ७।२।७
अर्थार्थान्ताद्भावात् ७।२।८
व्रीह्यर्थतुन्दादेरिलश्च ७।२।९
स्वाङ्गाद्विवृद्धात्ते ७।२।१०
वृन्दादारकः ७।२।११
शृङ्गात् ७।२।१२
फलबर्हाच्चेनः ७।२।१३
मलादीमसश्च ७।२।१४
मरुत्पर्वणस्तः ७।२।१५
वलिवटितुण्डेर्भः ७।२।१६
ऊर्णाऽहंशुभमो युस् ७।२।१७
कंशंभ्यां युस्तियस्तुतवभम् ७।२।१८
बलवातदन्तललाटादूलः ७।२।१९
प्राण्यङ्गादातो लः ७।२।२०
सिध्मादिक्षुद्रजन्तुरुग्भ्यः ७।२।२१
प्रज्ञापर्णोदकफेनाल्लेलौ ७।२।२२
कालाजटाघाटात् क्षेपे ७।२।२३
वाच आलाटौ ७।२।२४
ग्मिन् ७।२।२५
मध्वादिभ्यो रः ७।२।२६
कृष्यादिभ्यो वलच् ७।२।२७
लोमपिच्छादेः शेलम् ७।२।२८
नोऽङ्गादेः ७।२।२९
शाकीपलालीदद्र्वा ह्रस्वश्च ७।२।३०
विष्वचो विषुश्च ७।२।३१
लक्ष्म्या अनः ७।२।३२
प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तेर्णः ७।२।३३
ज्योत्स्नादिभ्योऽण ७।२।३४
सिकताशर्करात् ७।२।३५
इलश्च देशे ७।२।३६
द्युद्रोर्मः ७।२।३७
काण्डाण्डभाण्डादीरः ७।२।३८
कच्छ्वा डुरः ७।२।३९
दन्तादुन्नतात् ७।२।४०
मेधारथान्नवेरः ७।२।४१
कृपाहृदयादालुः ७।२।४२
केशाद्वः ७।२।४३
मण्यादिभ्यः ७।२।४४

हीनात्स्वाङ्गाद: ७।२।४५
अभ्रादिभ्य: ७।२।४६
अस्तपोमायामेधास्रजो विन् ७।२।४७
आमयाद्दीर्घश्च ७।२।४८
स्वान्मिन्नीशे ७।२।४९
गो: ७।२।५०
ऊर्जो विन्वलावस्चान्त: ७।२।५१
तमिस्रार्णवज्योत्स्ना: ७।२।५२
गुणादिभ्यो य: ७।२।५३
रूपात्प्रशस्ताहतात् ७।२।५४
पूर्णमासोऽण् ७।२।५५
गोपूर्वादत इकण् ७।२।५६
निष्कादे: शतसहस्रात् ७।२।५७
एकादे: कर्मधारयात् ७।२।५८
सर्वादेरिन् ७।२।५९
प्राणिस्थादस्वाङ्गाद् द्वन्द्वरुग्निन्द्यात्
७।२।६०
वातातीसारपिशाचात्कश्चान्त: ७।२।६१
पूरणाद्वयसि ७।२।६२
सुखादे: ७।२।६३
मालाया: क्षेपे ७।२।६४
धर्मशीलवर्णान्तात् ७।२।६५
बाहूर्वादेर्बलात् ७।२।६६
मन्माब्जादेर्नाम्नि ७।२।६७
हस्तदन्तकराज्जातौ ७।२।६८
वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ७।२।६९
पुष्करादेर्देशे ७।२।७०
सूक्तसाम्नोरीय: ७।२।७१
लुब्वाऽध्यायानुवाके ७।२।७२
विमुक्तादेरण् ७।२।७३
घोषदादेरक: ७।२।७४
प्रकारे जातीयर् ७।२।७५
कोऽण्वादे: ७।२।७६
जीर्णगोमूत्रवदातसुरायवकृष्णाच्छाल्या-
च्छादनसुराहिव्रीहितिले ७।२।७७
भूतपूर्वे प्चरट् ७।२।७८
गोष्ठादीनञ् ७।२।७९
षष्ठ्या रूप्यप्चरट् ७।२।८०
व्याश्रये तसु: ७।२।८१
रोगात्प्रतीकारे ७।२।८२
पर्यभे: सर्वोभये ७।२।८३
आद्यादिभ्य: ७।२।८४
क्षेपातिग्रहाव्यथेष्वकर्त्तुस्तृतीयाया
७।२।८५
पापहीयमानेन ७।२।८६
प्रतिना पञ्चम्या: ७।२।८७
अहीयरुहोऽपादाने ७।२।८८
किमद्वयादिसर्वाद्यऽवैपुल्यबहो: पित् तस्
७।२।८९
इतोऽत: कुत: ७।२।९०
भवत्वायुष्मद्दीर्घायुर्देवानांप्रियैकार्थात्
७।२।९१
त्रप्‌च ७।२।९२
ककुत्रात्रेह ७।२।९३
सप्तम्या: ७।२।९४
किंयत्तत्सर्वैकान्यात्काले दा ७।२।९५
सदाऽधुनेदानींतदानीमेतर्हि ७।२।९६
सद्योऽद्यपरेद्यव्यह्नि ७।२।९७
पूर्वापराधरोत्तरान्यान्यतरेतरादेद्युस्
७।२।९८
उभयाद् द्युश्च ७।२।९९
ऐषम:परुत्परारि वर्षे ७।२।१००
अनद्यतने र्हि: ७।२।१०१
प्रकारे था ७।२।१०२
कथमित्थम् ७।२।१०३
सङ्ख्याया धा ७।२।१०४

विचाले च ७।२।१०५
वैकाद्ध्यमञ् ७।२।१०६
द्वित्रेर्द्धमञेधौ वा ७।२।१०७
तद्वति घण् ७।२।१०८
वारे कृत्वस् ७।२।१०९
द्वित्रिचतुरः सुच् ७।२।११०
एकात्सकृच्चास्य ७।२।१११
बहोर्धासन्ने ७।२।११२
दिक्शब्दाद्दिग्देशकालेषु प्रथमापञ्चमी सप्तम्याः ७।२।११३
ऊर्ध्वाद्रिरिष्टातावुपश्चास्य ७।२।११४
पूर्वावराधरेभ्योऽसऽस्तातौ पुरवधश्चैषाम् ७।२।११५
परावरात्स्तात् ७।२।११६
दक्षिणोत्तराच्चातस् ७।२।११७
अधरापराच्चात ७।२।११८
वा दक्षिणात् प्रथमा सप्तम्या आः ७।२।११९
आही दूरे ७।२।१२०
वोत्तरात् ७।२।१२१
अदूरे एनः ७।२।१२२
लुबञ्चेः ७।२।१२३
पश्चोऽपरस्य दिक्पूर्वस्य चाति ७।२।१२४
वोत्तरपदेऽर्द्धे ७।२।१२५
कृभ्वस्तिभ्यां कर्मकर्तृभ्यां प्रागतत्तत्त्वे च्विः ७।२।१२६
अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लुक् च्वौ ७।२।१२७
इसुसोर्बहुलम् ७।२।१२८
व्यञ्जनस्यान्त ईः ७।२।१२९
व्याप्तौ स्सात् ७।२।१३०
जातेः सम्पदा च ७।२।१३१
तत्राधीने ७।२।१३२
देये त्रा च ७।२।१३३
सप्तमीद्वितीयाद्देवादिभ्यः ७।२।१३४
तीयशम्बबीजात्कृगा कृषौ डाच् ७।२।१३५
सङ्ख्यादेर्गुणात् ७।२।१३६
समयाद्यापनायाम् ७।२।१३७
सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने ७।२।१३८
निष्कुलान्निष्कोषणे ७।२।१३९
प्रियसुखादानुकूल्ये ७।२।१४०
दुःखात्प्रातिकूल्ये ७।२।१४१
शूलात्पाके ७।२।१४२
सत्यादशपथे ७।२।१४३
मद्रभद्राद्वपने ७।२।१४४
अव्यक्तानुकरणादनेकस्वरात्कृभ्वस्तिनाऽनितौ द्विश्च ७।२।१४५
इतावतो लुक् ७।२।१४६
न द्वित्वे ७।२।१४७
तो वा ७।२।१४८
डाच्यादौ ७।२।१४९
बह्वल्पार्थात्कारकादिष्टानिष्टे प्शस् ७।२।१५०
संख्यैकार्थाद्वीप्सायां शस् ७।२।१५१
सङ्ख्यादेः पदादिभ्यो दानदण्डे चाकल्लुक् च ७।२।१५२
तीयाट्टीकण् न विद्या चेत् ७।२।१५३
निष्फले तिलात् पिञ्जपेजौ ७।२।१५४
प्रायोऽतोर्द्वयसट्मात्रट् ७।२।१५५
वर्णाव्ययात्स्वरूपे कारः ७।२।१५६
रादेफः ७।२।१५७
नामरूपभागाद्धेयः ७।२।१५८
मर्त्तादिभ्यो यः ७।२।१५९
नवादीनतनत्नं च नू चास्य ७।२।१६०
प्रात्पुराणे नश्च ७।२।१६१
देवात्तल् ७।२।१६२

होत्राया ईयः ७।२।१६३
भेषजादिभ्यष्ट्यण् ७।२।१६४
प्रज्ञादिभ्योऽण् ७।२।१६५
श्रोत्रौषधिकृष्णाच्छरीरभेषजमृगे ७।२।१६६
कर्म्मणः सन्दिष्टे ७।२।१६७
वाच इकण् ७।२।१६८
विनयादिभ्यः ७।२।१६९
उपायाद् ह्रस्वश्च ६।२।१७०
मृदस्तिकः ७।२।१७१
सस्नौ प्रशस्ते ७।२।१७२

तृतीयः पादः

प्रकृते मयट् ७।३।१
अस्मिन् ७।३।२
तयोः समूहवच्च बहुषु ७।३।३
निन्द्ये पाशप् ७।३।४
प्रकृष्टे तमप् ७।३।५
द्वयोर्विभज्ये च तरप् ७।३।६
क्वचित्स्वार्थे ७।३।७
किन्त्याद्येऽव्ययादसत्त्वेतयोरन्तस्याम्
७।३।८
गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसू ७।३।९
त्यादेश्च प्रशस्ते रूपप् ७।३।१०
अतमबादेरीषदसमाप्ते कल्पप्देश्यप्दे-
शीयर् ७।३।११
नाम्नः प्राग् बहुर्वा ७।३।१२
न तमबादिः कपोऽच्छिन्नादिभ्यः ७।३।१३
अनत्यन्ते ७।३।१४
यावादिभ्यः कः ७।३।१५
कुमारीक्रीडनेयसोः ७।३।१६
लोहितान्मणौ ७।३।१७
रक्तानित्यवर्णयोः ७।३।१८
कालात् ७।३।१९
शीतोष्णादृतौ ७।३।२०
लूनवियातात्पशौ ७।३।२१
स्नाताद्वेदसमाप्तौ ७।३।२२
तनुपुत्राणुबृहतीशून्यात्सूत्रकृत्रिमनिपुणा-
च्छादनरिक्ते ७।३।२३
भागेऽष्टमाञ्ञः ७।३।२४
षष्ठात् ७।३।२५
माने कश्च ७।३।२६
एकादाकिन् चा सहाये ७।३।२७
प्रागनित्यात्कप् ७।३।२८
त्यादिसर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात्पूर्वोऽक्
७।३।२९
युष्मदस्मदोऽसोभादिस्यादेः ७।३।३०
अव्ययस्य को द् च ७।३।३१
तूष्णीकाम् ७।३।३२
कुत्सिताल्पाज्ञाते ७।३।३३
अनुकम्पातद्युक्तनीत्योः ७।३।३४
अजातेर्नृनाम्नो बहुस्वरादियेकेलं वा
७।३।३५
वोपादेरडाकौ च ७।३।३६
ऋवर्णोवर्णात्स्वरादेरादेर्लुक् प्रकृत्या च
७।३।३७
लुक्युत्तरपदस्य कप्न ७।३।३८
लुक्याऽजिनान्तात् ७।३।३९
षड्वर्जैकस्वरपूर्वपदस्य स्वरे ७।३।४०
द्वितीयात्स्वरादूर्ध्वम् ७।३।४१
सन्ध्यक्षरात्तेन ७।३।४२
शेवलाद्यादेस्तृतीयात् ७।३।४३
क्वचित्तुर्यात् ७।३।४४
पूर्वपदस्य वा ७।३।४५
ह्रस्वे ७।३।४६
कुटीशुण्डाद्रः ७।३।४७
शम्यारौ ७।३।४८

कुत्वा डुपः ७।३।४९
कासूगोणीभ्यां तरट् ७।३।५०
वत्सोक्षाश्वर्षभाद् ह्रासे पित् ७।३।५१
वैकाद्‌द्वयोर्निर्द्धार्ये डतरः ७।३।५२
यत्तत्किमन्यात् ७।३।५३
बहूनां प्रश्ने डतमश्च वा ७।३।५४
वैकात् ७।३।५५
क्तात्तमबादेश्चानत्यन्ते ७।३।५६
न सामिवचने ७।३।५७
नित्यं ञिनोऽण् ७।३।५८
विसारिणो मत्स्ये ७।३।५९
पूगादमुख्यकाञ्ञ्यो द्रः ७।३।६०
व्रातादस्त्रियाम् ७।३।६१
शस्त्रजीविसंघाञ्ञ्यड् वा ७।३।६२
वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्येभ्यः ७।३।६३
वृकाट्टेण्यण् ७।३।६४
यौधेयादेरञ् ७।३।६५
पर्श्वादेरण् ७।३।६६
दामन्यादेरीयः ७।३।६७
श्रुमच्छमीवच्छिखावच्छालावदूर्णावद्विदभृ-
दभिजितो गोत्रेऽणो यञ् ७।३।६८
समासान्तः ७।३।६९
न किमः क्षेपे ७।३।७०
नञ् तत्पुरुषात् ७।३।७१
पूजास्वतेः प्राक्टात् ७।३।७२
बहोर्डे ७।३।७३
इच् युद्धे ७।३।७४
द्वि दण्ड्यादिः ७।३।७५
ऋक्पूःपथ्यपोऽत् ७।३।७६
धुरोऽनक्षस्य ७।३।७७
संख्यापाण्डूदक्कृष्णाद् भूमेः ७।३।७८
उपसर्गादध्वनः ७।३।७९
समवान्धात्तमसः ७।३।८०
तप्तान्ववाद्रहसः ७।३।८१
प्रत्यन्ववात्सामलोम्नः ७।३।८२
ब्रह्महस्तिराजपल्याद्वर्चसः ७।३।८३
प्रतेरुरसः सप्तम्याः ७।३।८४
अक्ष्णोऽप्राण्यङ्गे ७।३।८५
संकटाभ्याम् ७।३।८६
प्रतिपरोऽनोरव्ययीभावात् ७।३।८७
अनः ७।३।८८
नपुंसकाद्वा ७।३।८९
गिरिनदीपौर्णमास्याग्रहायण्यपञ्चमवर्ग्याद्वा
७।३।९०
संख्याया नदीगोदावरीभ्याम् ७।३।९१
शरदादेः ७।३।९२
जराया जरस् च ७।३।९३
सरजसोपशुनानुगवम् ७।३।९४
जातमहद्‌वृद्धादुक्ष्णः कर्मधारयात् ७।३।९५
स्त्रियाः पुंसो द्वन्द्वाच्च ७।३।९६
ऋक्सामर्ग्यजुषधेन्वनडुहवाङ्मनसाऽहो-
रात्ररात्रिंदिवनक्तंदिवाऽहर्दिवोर्वष्ठी-
वपदष्ठीवाक्षिभ्रुवदारगवम् ७।३।९७
चवर्गदषहः समाहारे ७।३।९८
द्विगोरन्नह्नोऽट् ७।३।९९
द्वित्रेरायुषः ७।३।१००
वाञ्जलेरलुकः ७।३।१०१
खार्या वा ७।३।१०२
वार्द्धाच्च ७।३।१०३
नावः ७।३।१०४
गोस्तत्पुरुषात् ७।३।१०५
राजन्सखेः ७।३।१०६
राष्ट्राख्याद् ब्रह्मणः ७।३।१०७
कुमहद्भ्यां वा ७।३।१०८
ग्रामकौटात्तक्ष्णः ७।३।१०९
गोष्ठातेः शुनः ७।३।११०

प्राणिन उपमानात् ७।३।१११
अप्राणिनि ७।३।११२
पूर्वोत्तरमृगाच्च सक्थ्नः ७।३।११३
उरसोऽग्रे ७।३।११४
सरोऽनोऽश्माऽयसो जातिनाम्नोः ७।३।११५
अह्नः ७।३।११६
सङ्ख्यातादह्नश्च वा ७।३।११७
सर्वांशसङ्ख्याऽव्ययात् ७।३।११८
सङ्ख्यातैकपुण्यवर्षादीर्घाच्च रात्रेरत् ७।३।११९
पुरुषायुषद्विस्तावत्रिस्तावम् ७।३।१२०
श्वसो वसीयसः ७।३।१२१
निसश्च श्रेयसः ७।३।१२२
नञव्ययात्सङ्ख्याया डः ७।३।१२३
सङ्ख्याऽव्ययादङ्गुलेः ७।३।१२४
बहुव्रीहेः काष्ठे टः ७।३।१२५
सक्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे ७।३।१२६
द्वित्रेर्मूर्ध्नो वा ७।३।१२७
प्रमाणीसङ्ख्याड्डः ७।३।१२८
सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपदप्रोष्ठपदभद्रपदम् ७।३।१२९
पूरणीभ्यस्तत्प्राधान्येऽप् ७।३।१३०
नञ्सुव्युपत्रेश्चतुरः ७।३।१३१
अन्तर्बहिर्भ्यां लोम्नः ७।३।१३२
भान्नेतुः ७।३।१३३
नाभेर्नाम्नि ७।३।१३४
नञ्बहोर्ऋचोमाणवचरणे ७।३।१३५
नञ्सुदुर्भ्यः सक्थिशक्तिहलेर्वा ७।३।१३६
प्रजाया अस् ७।३।१३७
मन्दाल्पाच्च मेधायाः ७।३।१३८
जातेरीयः सामान्यवती ७।३।१३९
भृतिप्रत्ययान्मासादिकः ७।३।१४०
द्विपदाद्धर्मादन् ७।३।१४१
सुहरिततृणसोमाज्जम्भात् ७।३।१४२
दक्षिणेर्मा व्याधयोगे ७।३।१४३
सुपूत्युत्सुरभेर्गन्धादिद्गुणे ७।३।१४४
वागन्तौ ७।३।१४५
वाल्पे ७।३।१४६
वोपमानात् ७।३।१४७
पात्पादस्याहस्त्यादेः ७।३।१४८
कुम्भपद्यादिः ७।३।१४९
सुसङ्ख्यात् ७।३।१५०
वयसि दन्तस्य दतृः ७।३।१५१
स्त्रियां नाम्नि ७।३।१५२
श्यावारोकाद्वा ७।३।१५३
वाग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहाहिमूषिकशिखरात् ७।३।१५४
संप्रजाज्जानोर्ज्ञुज्ञौ ७।३।१५५
वोर्ध्वात् ७।३।१५६
सुहृद्दुर्हृन्मित्रामित्रे ७।३।१५७
धनुषो धन्वन् ७।३।१५८
वा नाम्नि ७।३।१५९
खुरखराभासिकाया नस् ७।३।१६०
अस्थूलाच्च नसः ७।३।१६१
उपसर्गात् ७।३।१६२
वेः खुरग्रम् ७।३।१६३
जायाया जानिः ७।३।१६४
व्युदः काकुदस्य लुक् ७।३।१६५
पूर्णाद्वा ७।३।१६६
ककुदस्यावस्थायाम् ७।३।१६७
त्रिककुद् गिरौ ७।३।१६८
स्त्रियामूधसोन् ७।३।१६९
इनः कच् ७।३।१७०
ऋन्नित्यदितः ७।३।१७१
दध्युरःसर्पिर्मधूपानच्छालेः ७।३।१७२
पुमनडुन्नौपयोलक्ष्म्या एकत्वे ७।३।१७३

नञोऽर्थात् ७।३।१७४
शेषाद्वा ७।३।१७५
न नाम्नि ७।३।१७६
ईयसोः ७।३।१७७
सह्यात्तुल्ययोगे ७।३।१७८
भ्रातुः स्तुतौ ७।३।१७९
नाडीतन्त्रीभ्यां स्वाङ्गे ७।३।१८०
निष्प्रवाणिः ७।३।१८१
सुभ्र्वादिभ्यः ७।३।१८२

चतुर्थः पादः

वृद्धिः स्वरेष्वादेर्ञ्णिति तद्धिते ७।४।१
केकयमित्रयुप्रलयस्य यादेरिय् च ७।४।२
देविकाशिंशपादीर्घसत्रश्रेयसस्तत्प्राप्तावाः ७।४।३
वहीनरस्यैत् ७।४।४
य्वः पदान्तात्प्रागैदौत् ७।४।५
द्वारादेः ७।४।६
न्यग्रोधस्य केवलस्य ७।४।७
न्यङ्क्तोर्वा ७।४।८
न अस्वाङ्गादेः ७।४।९
श्वादेरिति ७।४।१०
इञः ७।४।११
पदस्यानिति वा ७।४।१२
प्रोष्ठभद्राज्जाते ७।४।१३
अंशादृतोः ७।४।१४
सुसर्वार्द्धाद्राष्ट्रस्य ७।४।१५
अमद्रस्य दिशः ७।४।१६
प्राग्ग्रामाणाम् ७।४।१७
सङ्ख्याधिकाभ्यां वर्षस्याभाविनि ७।४।१८
मानसंवत्सरस्याशाणकुलिजस्यानाम्नि ७।४।१९
अर्द्धात्परिमाणस्यानतो वास्त्वादेः ७।४।२०
प्राद्वाहणस्यैये ७।४।२१
एयस्य ७।४।२२
नञः क्षेत्रज्ञेश्वरकुशलचपलनिपुणशुचेः ७।४।२३
अङ्गलधेनुवलजस्योत्तरपदस्य तु वा ७।४।२४
हृद्भगसिन्धोः ७।४।२५
प्राचां नगरस्य ७।४।२६
अनुशतिकादीनाम् ७।४।२७
देवतानामात्वादौ ७।४।२८
आतो नेन्द्रवरुणस्य ७।४।२९
सारवैक्ष्वाकमैत्रेयभ्रौणहत्यधैवत्यहिरण्मयम् ७।४।३०
वान्तमान्तितमान्तितोऽन्तियान्तिषत् ७।४।३१
विमन्तोर्णीष्ठेयसौ लुप् ७।४।३२
अल्पयूनोः कन्वा ७।४।३३
प्रशस्यस्य श्रः ७।४।३४
वृद्धस्य च ज्यः ७।४।३५
ज्यायान् ७।४।३६
बाढान्तिकयोः साधनेदौ ७।४।३७
प्रियस्थिरस्फिरोरुगुरुबहुलतृप्रदीर्घवृद्ध-वृन्दारकस्येमनि च प्रास्थास्फावर-गरवंहत्रपद्राघवर्षवृन्दम् ७।४।३८
पृथुमृदुभृशकृशदृढपरिवृढस्य ऋतो रः ७।४।३९
बहोर्णीष्ठे भूय ७।४।४०
भूर्लुक्चेवर्णस्य ७।४।४१
स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्रस्यान्तस्थादेर्गुण-श्च नामिनः ७।४।४२
त्र्यन्तस्वरादेः ७।४।४३
नैकस्वरस्य ७।४।४४
दण्डिहस्तिनोरायने ७।४।४५
वाशिन आयनौ ७।४।४६
एये जिह्माशिनः ७।४।४७
ईनेऽध्वात्मनोः ७।४।४८

इकण्ययवर्णः ७।४।४९
यूनोऽके ७।४।५०
अनोऽस्ये ये ७।४।५१
अणि ७।४।५२
संयोगादिनः ७।४।५३
गाथिविदथिकेशिपणिगणिनः ७।४।५४
अनपत्ये ७।४।५५
उक्ष्णोर्लुक् ७।४।५६
ब्रह्मणः ७।४।५७
जातौ ७।४।५८
अचर्मणो मनोऽपत्ये ७।४।५९
हितनाम्नो वा ७।४।६०
नोऽपदस्य तद्धिते ७।४।६१
कलापिकुथुमितैतलिजाजलिलाङ्गलिशिखण्डिशिलालिसब्रह्मचारिपीठसर्पिसूकरसद्मसुपर्वणः ७।४।६२
वाश्मनो विकारे ७।४।६३
चर्मशुनः कोशसंकोचे ७।४।६४
प्रायोऽव्ययस्य ७।४।६५
अनीनादण्यह्नोऽतः ७।४।६६
विंशतेस्तेर्डिति ७।४।६७
अवर्णेवर्णस्य ७।४।६८
अकद्रूपाण्ड्वोरुवर्णस्यैये ७।४।६९
अस्वयम्भुवोऽव् ७।४।७०
ऋवर्णोवर्णदोसिसुसशश्वदकस्मात्तइकस्येतो लुक् ७।४।७१
असकृत्संभ्रमे ७।४।७२
भृशाभीक्ष्ण्याविच्छेदे द्विः प्राक्तमबादेः ७।४।७३
नानावधारणे ७।४।७४
आधिक्यानुपूर्व्ये ७।४।७५
डतरडतमौ समानां स्त्रीभावप्रश्ने ७।४।७६
पूर्वप्रथमावन्यतोऽतिशये ७।४।७७
प्रोपोत्सम्पादपूरणे ७।४।७८
सामीप्येऽधोऽध्युपरि ७।४।७९
वीप्सायाम् ७।४।८०
प्लुप्चादावेकस्य स्यादेः ७।४।८१
द्वन्द्वं वा ७।४।८२
रहस्यमर्यादोक्तिव्युत्क्रान्तियज्ञपात्रप्रयोगे ७।४।८३
लोकज्ञातेऽत्यन्तसाहचर्ये ७।४।८४
आबाधे ७।४।८५
न वा गुणः सदृशे रित् ७।४।८६
प्रियसुखं चाकृच्छ्रे ७।४।८७
वाक्यस्य परिवर्जने ७।४।८८
सम्मत्यसूयाकोपकुत्सनेष्वाद्यामन्त्र्यमादौ स्वरेष्वन्त्यश्च प्लुतः ७।४।८९
भर्त्सने पर्यायेण ७।४।९०
त्यादेः साकाङ्क्षस्याङ्गेन ७।४।९१
क्षियाशीः प्रेषे ७।४।९२
चितीवार्थे ७।४।९३
प्रतिश्रवणनिगृह्यानुयोगे ७।४।९४
विचारे पूर्वस्य ७।४।९५
ओमः प्रारम्भे ७।४।९६
हेः प्रश्नाख्याने ७।४।९७
प्रश्ने च प्रतिपदम् ७।४।९८
दूरादामन्त्र्यस्य गुरुर्वैकोऽनन्त्योऽपि लनृत् ७।४।९९
हेहैष्वेषामेव ७।४।१००
अस्त्रीशूद्रे प्रत्यभिवादे भोगोत्रनाम्नो वा ७।४।१०१
प्रश्नार्चाविचारे च सन्धेयसन्ध्यक्षरस्यादिदुत्परः ७।४।१०२
तयोर्य्वौ स्वरे संहितायाम् ७।४।१०३
पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य ७।४।१०४
सप्तम्या पूर्वस्य ७।४।१०५

षष्ठ्याऽन्त्यस्य ७।४।१०६
अनेकवर्णः सर्वस्य ७।४।१०७
प्रत्ययस्य ७।४।१०८
स्थानीवावर्णविधौ ७।४।१०९
स्वरस्य परे प्राग्विधौ ७।४।११०
न सन्धिङीयक्विद्विदीर्घासद्विधावस्क्लुकि ७।४।१११
लुप्यय्वृल्लेनत् ७।४।११२
विशेषणमन्तः ७।४।११३
सप्तम्या आदिः ७।४।११४
प्रत्ययः प्रकृत्यादेः ७।४।११५
गौणो ङ्यादिः ७।४।११६
कृत्सगतिकारकस्यापि ७।४।११७
परः ७।४।११८
स्पर्द्धे ७।४।११९
आसन्नः ७।४।१२०
सम्बन्धिनां सम्बन्धे ७।४।१२१
समर्थः पदविधिः ७।४।१२२

परिशिष्ट २

प्राकृत हेमशब्दानुशासन सूत्रपाठ

प्रथमः पादः

अथ प्राकृतम् ८।१।१
बहुलम् ८।१।२
आर्षम् ८।१।३
दीर्घ-ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ ८।१।४
पदयोः संधिर्वा ८।१।५
न युवर्णस्यास्वे ८।१।६
एदोतोः स्वरे ८।१।७
स्वरस्योद्वृत्ते ८।१।८
त्यादेः ८।१।९
लुक् ८।१।१०
अन्त्यव्यञ्जनस्य ८।१।११
न श्रदुदोः ८।१।१२
निर्दुरोर्वा ८।१।१३
स्वरेन्तरश्च ८।१।१४
स्त्रियामादविद्युतः ८।१।१५
रो रा ८।१।१६
क्षुधो हा ८।१।१७
शरदादेरत् ८।१।१८
दिक्-प्रावृषोः सः ८।१।१९
आयुरप्सरसोर्वा ८।१।२०
ककुभो हः ८।१।२१
धनुषो वा ८।१।२२
मोनुस्वारः ८।१।२३
वा स्वरे मश्च ८।१।२४
ङ-ञ-ण-नो व्यञ्जने ८।१।२५
वक्रादावन्तः ८।१।२६
क्त्वा-स्यादेर्ण-स्वोर्वा ८।१।२७
विंशत्यादेर्लुक् ८।१।२८
मांसादेर्वा ८।१।२९
वर्गेन्त्यो वा ८।१।३०
प्रावृट्-शरत्तरणयः पुंसि ८।१।३१
स्नमदाम-शिरो-नभः ८।१।३२
वाक्ष्यर्थ-वचनाद्याः ८।१।३३
गुणाद्याः क्लीबे वा ८।१।३४
वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम् ८।१।३५
बाहोरात् ८।१।३६
अतो डो विसर्गस्य ८।१।३७
निष्प्रती ओत्परी माल्य-स्थोर्वा ८।१।३८
आदेः ८।१।३९
त्यदाद्यव्ययात् तत्स्वरस्य लुक् ८।१।४०
पदादपेर्वा ८।१।४१
इतेः स्वरात् तश्च द्विः ८।१।४२
लुप्त-य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घः ८।१।४३
अतः समृद्ध्यादौ वा ८।१।४४
दक्षिणे हे ८।१।४५
इः स्वप्नादौ ८।१।४६
पक्वाङ्गार-ललाटे वा ८।१।४७
मध्यम-कतमे द्वितीयस्य ८।१।४८
सप्तपर्णे वा ८।१।४९
मयट्यइर्वा ८।१।५०
ईर्हरे वा ८।१।५१
ध्वनि-विष्वचोरुः ८।१।५२
वन्द्र-खण्डिते णा वा ८।१।५३
गवये वः ८।१।५४

प्रथमे प-थोर्वा ८।१।५५
ज्ञो णत्वेभिज्ञादौ ८।१।५६
एच्छय्यादौ ८।१।५७
वल्ल्युत्कर-पर्यन्ताश्चर्ये वा ८।१।५८
ब्रह्मचर्ये चः ८।१।५९
तोन्तरि ८।१।६०
ओत्पद्मे ८।१।६१
नमस्कारपरस्परे द्वितीयस्य ८।१।६२
वार्पौ ८।१।६३
स्वपावुच्च ८।१।६४
नात्पुनर्यादाई वा ८।१।६५
वालाब्वरण्ये लुक् ८।१।६६
वाव्ययोत्खातादावदातः ८।१।६७
घञ्वृद्धेर्वा ८।१।६८
महाराष्ट्रे ८।१।६९
मांसादिष्वनुस्वारे ८।१।७०
श्यामाके मः ८।१।७१
इः सदादौ वा ८।१।७२
आचार्ये चोच्च ८।१।७३
ईः स्त्यान-खल्वाटे ८।१।७४
उः सास्ना-स्तावके ८।१।७५
ऊद्वासारे ८।१।७६
आर्यायां र्यः श्वश्र्वाम् ८।१।७७
एद् ग्राह्ये ८।१।७८
द्वारे वा ८।१।७९
पारापते रो वा ८।१।८०
मात्रटि वा ८।१।८१
उदोद्वार्द्रे ८।१।८२
ओदाल्यां पङ्क्तौ ८।१।८३
ह्रस्वः संयोगे ८।१।८४
इत एद्वा ८।१।८५
किंशुके वा ८।१।८६
मिरायाम् ८।१।८७

पथि-पृथिवी-प्रतिश्रुन्मूषिक-हरिद्रा-
बिभीतकेष्वत् ८।१।८८
शिथिलेङ्गुदे वा ८।१।८९
तित्तिरौ रः ८।१।९०
इतौ तो वाक्यादौ ८।१।९१
ईर्जिह्वा सिंह-त्रिंशद्विंशतौ त्या ८।१।९२
र्लुकि निरः ८।१।९३
द्विन्योरुत् ८।१।९४
प्रवासीक्षौ ८।१।९५
युधिष्ठिरे वा ८।१।९६
ओच्च द्विधाकृगः ८।१।९७
वा निर्झरे ना ८।१।९८
हरीतक्यामीतोत् ८।१।९९
आत्कश्मीरे ८।१।१००
पानीयादिष्वत् ८।१।१०१
उज्जीर्णे ८।१।१०२
ऊर्हीन-विहीने वा ८।१।१०३
तीर्थे हे ८।१।१०४
एत्पीयूषापीड-बिभीतक-कीदृशेदृशे
८।१।१०५
नीड पीठे वा ८।१।१०६
उतो मुकुलादिष्वत् ८।१।१०७
वोपरौ ८।१।१०८
गुरौ के वा ८।१।१०९
इर्भ्रुकुटौ ८।१।११०
पुरुषे रोः ८।१।१११
ई. क्षुते ८।१।११२
ऊत्सुभग-मुसले वा ८।१।११३
अनुत्साहोत्सन्ने त्सच्छे ८।१।११४
र्लुकि दुरो वा ८।१।११५
ओत्संयोगे ८।१।११६
कुतूहले वा ह्रस्वश्च ८।१।११७
अदूतः सूक्ष्मे वा ८।१।११८

दुकूले वा लश्च द्विः ८।१।११९
ईर्वोद्व्यूढे ८।१।१२०
उर्भ्रू-हनूमत्कण्डूयवातूले ८।१।१२१
मधूके वा ८।१।१२२
इदेतौ नूपुरे वा ८।१।१२३
ओत्कूष्माण्डी-तूणीर-कूर्पर-स्थूल-ताम्बूल-
गुडूची-मूल्ये ८।१।१२४
स्थूणा-तूणे वा ८।१।१२५
ऋतोत् ८।१।१२६
आत्कृशा-मृदुक-मृदुत्वे वा ८।१।१२७
इत्कृपादौ ८।१।१२८
पृष्ठे वानुत्तरपदे ८।१।१२९
मसृण-मृगाङ्क-मृत्यु-शृङ्ग-धृष्टे वा
८।१।१३०
उदृत्वादौ ८।१।१३१
निवृत्त-वृन्दारके वा ८।१।१३२
वृषभे वा वा ८।१।१३३
गौणान्त्यस्य ८।१।१३४
मातुरिद्वा ८।१।१३५
उदूदोन्मृषि ८।१।१३६
इदुतौ वृष्ट-वृष्टि-पृथङ्-मृदङ्ग-नप्तृके
८।१।१३७
वा बृहस्पतौ ८।१।१३८
इदेदोद्वृन्ते ८।१।१३९
रिः केवलस्य ८।१।१४०
ऋणर्जृवृषभर्त्वृषौ वा ८।१।१४१
दृशः क्विप्-टक्सकः ८।१।१४२
आदृते ढिः ८।१।१४३
अरिर्दृप्ते ८।१।१४४
लृत इलि क्लृप्त-क्लृन्ने ८।१।१४५
एत इद्वा वेदना-चपेटा-देवर-केसरे
८।१।१४६
ऊः स्तेने वा ८।१।१४७
ऐत एत् ८।१।१४८
इत्सैन्धवशनैश्चरे ८।१।१४९
सैन्ये वा ८।१।१५०
अइर्दैत्यादौ च ८।१।१५१
वैरादौ वा ८।१।१५२
एच्च दैवे ८।१।१५३
उच्चैर्नीचैस्यअः ८।१।१५४
ईद्धैर्ये ८।१।१५५
ओतोद्वान्योन्य-प्रकोष्ठातोद्य-शिरोवेदना-
मनोहर-सरोरुहे क्तोश्च वः ८।१।१५६
ऊः सोच्छ्वासे ८।१।१५७
गव्यउ-आअः ८।१।१५८
औत ओत् ८।१।१५९
उत्सौन्दर्यादौ ८।१।१६०
कौक्षेयके वा ८।१।१६१
अउः पौरादौ च ८।१।१६२
आच्च गौरवे ८।१।१६३
नाव्यावः ८।१।१६४
एत्त्रयोदशादौ स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन
८।१।१६५
स्थविर-विचकिलायस्कारे ८।१।१६६
वा कदले ८।१।१६७
वेतः कर्णिकारे ८।१।१६८
अयौ वैत् ८।१।१६९
ओत्पूतर-बदर-नवमालिका-नवफलिका-
पूगफले ८।१।१७०
कुतूहलोदूखलोलूखले ८।१।१७१
आवापोते ८।१।१७२
उच्चोपे ८।१।१७३
उमो निषण्णे ८।१।१७४
प्रावरणे अङ्ग्वाऊ ८।१।१७५
स्वरादसंयुक्तस्यानादेः ८।१।१७६

क–ग–च–ज–त–द–प–य–वां प्रायो लुक् ८।१।१७७
यमुना–चामुण्डा–कामुकातिमुक्तके मोनुनासिकश्च ८।१।१७८
नावर्णात्पः ८।१।१७९
अवर्णो यश्रुतिः ८।१।१८०
कुब्ज-कर्पर-कीले कः खोपुष्पे ८।१।१८१
मरकत-मदकले गः कन्दुके त्वादेः ८।१।१८२
किराते चः ८।१।१८३
शीकरे भ हौ वा ८।१।१८४
चन्द्रिकायां मः ८।१।१८५
निकष-स्फटिक-चिकुरे हः ८।१।१८६
ख-घ-थ-ध-भाम् ८।१।१८७
पृथकि धो वा ८।१।१८८
शृङ्खले खः कः ८।१।१८९
पुन्नागभागिन्योर्गो मः ८।१।१९०
छागे लः ८।१।१९१
ऊत्वे दुर्भग सुभगे वः ८।१।१९२
खचित-पिशाचयोश्चः सल्लौ वा ८।१।१९३
जटिले जो झो वा ८।१।१९४
टो डः ८।१।१९५
सटा शकट-कैटभे ढः ८।१।१९६
स्फटिके लः ८।१।१९७
चपेटा-पाटौ वा ८।१।१९८
ठो ढः ८।१।१९९
अङ्कोठे ल्लः ८।१।२००
पिठरे हो वा रश्च डः ८।१।२०१
डो लः ८।१।२०२
वेणौ णो वा ८।१।२०३
तुच्छे तश्च-छौ वा ८।१।२०४
तगर-त्रसर-तूवरे टः ८।१।२०५
प्रत्यादौ डः ८।१।२०६
इत्वे वेतसे ८।१।२०७
गर्भितातिमुक्तके णः ८।१।२०८
रुदिते दिना ण्णः ८।१।२०९
सप्ततौ रः ८।१।२१०
अतसी-सातवाहने लः ८।१।२११
पलिते वा ८।१।२१२
पीते वो ले वा ८।१।२१३
वितस्ति वसति-भरत-कातर-मातुलिङ्गे हः ८।१।२१४
मेथि-शिथिर-शिथिल-प्रथमे थस्य ढः ८।१।२१५
निशीथ पृथिव्योर्वा ८।१।२१६
दशन दष्ट-दग्ध-दोला-दण्ड-दर-दाह-दम्भ-दर्भ कदन-दोहदे दो वा डः ८।१।२१७
दंश-दहोः ८।१।२१८
संख्या गद्गदे रः ८।१।२१९
कदल्यामद्रुमे ८।१।२२०
प्रदीपि दोहदे लः ८।१।२२१
कदम्बे वा ८।१।२२२
दीपौ धो वा ८।१।२२३
कदर्थिते वः ८।१।२२४
ककुदे हः ८।१।२२५
निषधे धो ढः ८।१।२२६
वौषधे ८।१।२२७
नो णः ८।१।२२८
वादौ ८।१।२२९
निम्ब-नापिते ल-ण्हं वा ८।१।२३०
पो वः ८।१।२३१
पाटि-परुष-परिघ-परिखा-पनस-पारिभद्रे फः ८।१।२३२
प्रभूते वः ८।१।२३३
नीपापीडे मो वा ८।१।२३४
पापर्द्धौ रः ८।१।२३५

फो भ-हौ ८।१।२३६
बो वः ८।१।२३७
बिसिन्यां भः ८।१।२३८
कबन्धे म-यौ ८।१।२३९
कैटभे भो वः ८।१।२४०
विषमे मो ढो वा ८।१।२४१
मन्मथे वः ८।१।२४२
वाभिमन्यौ ८।१।२४३
भ्रमरे सो वा ८।१।२४४
आदेर्यो जः ८।१।२४५
युष्मदर्थपरे तः ८।१।२४६
यष्ट्यां लः ८।१।२४७
वोत्तरीयानीय-तीय-कृद्ये ज्जः ८।१।२४८
छायायां होकान्तौ वा ८।१।२४९
डाह-वौ कतिपये ८।१।२५०
किरि-भेरे रो डः ८।१।२५१
पर्याणे डा वा ८।१।२५२
करवीरे णः ८।१।२५३
हरिद्रादौ लः ८।१।२५४
स्थूले लो रः ८।१।२५५
लाहल-लाङ्गल-लाङ्गूले वादेर्णः ८।१।२५६
ललाटे च ८।१।२५७
शबरे बो मः ८।१।२५८
स्वप्न-नीव्योर्वा ८।१।२५९
श-षोः सः ८।१।२६०
स्नुषायां ण्हो न वा ८।१।२६१
दश-पाषाणे हः ८।१।२६२
दिवसे सः ८।१।२६३
हो घोनुस्वारात् ८।१।२६४
षट्-शमी-शाव-सुधा-सप्तपर्णेष्वादेश्छः ८।१।२६५
शिरायां वा ८।१।२६६
लुग् भाजन-दनुज-राजकुले जः सस्वरस्य न वा ८।१।२६७
व्याकरण-प्राकारागते कगोः ८।१।२६८
किसलय-कालायस-हृदये यः ८।१।२६९
दुर्गादेव्युदुम्बर-पादपतन-पादपीठेन्तर्दः ८।१।२७०
यावत्तावज्जीवितावर्तमानावट-प्रावारक-देवकुलैवमेवे वः ८।१।२७१

द्वितीयः पादः

संयुक्तस्य ८।२।१
शक्त-मुक्त-दष्ट-रुग्ण-मृदुत्वे को वा ८।२।२
क्षः खः क्वचित्तु छ-झौ ८।२।३
ष्क-स्कयोर्नाम्नि ८।२।४
शुष्क-स्कन्दे वा ८।२।५
क्ष्वेटकादौ ८।२।६
स्थाणावहरे ८।२।७
स्तम्भे स्तो वा ८।२।८
थ-ठावस्पन्दे ८।२।९
रक्ते गो वा ८।२।१०
शुल्के ङ्गो वा ८।२।११
कृत्ति-चत्वरे चः ८।२।१२
त्यो चैत्ये ८।२।१३
प्रत्यूषे षश्च हो वा ८।२।१४
त्व-थ्व-द्व-ध्वां च-छ-ज-झाः क्वचित् ८।२।१५
वृश्चिके श्चेञ्चुर्वा ८।२।१६
छोक्ष्यादौ ८।२।१७
क्षमायां कौ ८।२।१८
ऋक्षे वा ८।२।१९
क्षण उत्सवे ८।२।२०
ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले ८।२।२१
सामर्थ्योत्सुकोत्सवे वा ८।२।२२
स्पृहायाम् ८।२।२३
द्य-य्य-र्यां जः ८।२।२४

अभिमन्यौ ज-ञ्जौ वा ८।२।२५
साध्वस-ध्य-ह्यां झः ८।२।२६
ध्वजे वा ८।२।२७
इन्धौ झा ८।२।२८
वृत्त-प्रवृत्त-मृत्तिका-पत्तन-कदर्थिते टः ८।२।२९
र्तस्याधूर्तादौ ८।२।३०
वृन्ते ण्टः ८।२।३१
ठोस्थि-विसंस्थुले ८।२।३२
स्त्यान-चतुर्थार्थे वा ८।२।३३
ष्टस्यानुष्ट्रेष्टासंदष्टे ८।२।३४
गर्ते डः ८।२।३५
संमर्द-वितर्दि-विच्छर्द-च्छर्दि-कपर्द-मर्दिते र्दस्य ८।२।३६
गर्दभे वा ८।२।३७
कन्दरिका-भिन्दिपाले ण्डः ८।२।३८
स्तब्धे ठ-ढौ ८।२।३९
दग्ध-विदग्ध-वृद्धि-वृद्धे ढः ८।२।४०
श्रद्धर्द्धि-मूर्धार्धेन्ते वा ८।२।४१
म्नज्ञोर्णः ८।२।४२
पञ्चाशत्पञ्चदश-दत्ते ८।२।४३
मन्यौ न्तो वा ८।२।४४
स्तस्य थोसमस्त-स्तम्बे ८।२।४५
स्तवे वा ८।२।४६
पर्यस्ते थ-टौ ८।२।४७
वोत्साहे थो हश्च रः ८।२।४८
आश्लिष्टे ल-धौ ८।२।४९
चिह्ने न्धो वा ८।२।५०
भस्मात्मनोः पो वा ८।२।५१
ड्मक्मोः ८।२।५२
ष्प-स्पयोः फः ८।२।५३
भीष्मे ष्मः ८।२।५४
श्लेष्मणि वा ८।२।५५
ताम्राम्रे म्बः ८।२।५६
ह्वो भो वा ८।२।५७
वा विह्वले वौ वश्च ८।२।५८
वोर्ध्वे ८।२।५९
कश्मीरे म्भो वा ८।२।६०
न्मो मः ८।२।६१
ग्मो वा ८।२।६२
ब्रह्मचर्य-तूर्य-सौन्दर्य-शौण्डीर्ये र्यो रः ८।२।६३
धैर्ये वा ८।२।६४
एतः पर्यन्ते ८।२।६५
आश्चर्ये ८।२।६६
अतो रिआर-रिज्ज-रीअं ८।२।६७
पर्यस्त-पर्याण-सौकुमार्ये ल्लः ८।२।६८
बृहस्पति-वनस्पत्योः सो वा ८।२।६९
बाष्पे होश्रुणि ८।२।७०
कार्षापणे ८।२।७१
दुःख-दक्षिण-तीर्थे वा ८।२।७२
कूष्माण्ड्यां ष्मो लस्तु ण्डो वा ८।२।७३
पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः ८।२।७४
सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः ८।२।७५
ह्लो ल्हः ८।२।७६
क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स-ᳵ-फ-ᳶपामूर्ध्वं लुक् ८।२।७७
अधो म-न-याम् ८।२।७८
सर्वत्र-ल-व-रामचन्द्रे ८।२।७९
द्रे रो न वा ८।२।८०
धात्र्याम् ८।२।८१
तीक्ष्णे णः ८।२।८२
ज्ञो ञः ८।२।८३
मध्याह्ने हः ८।२।८४
दशार्हे ८।२।८५
आदेः श्मश्रु-श्मशाने ८।२।८६

श्चो हरिश्चन्द्रे ८।२।८७
रात्रौ वा ८।२।८८
अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम् ८।२।८९
द्वितीय-तुर्ययोरुपरि पूर्वः ८।२।९०
दीर्घे वा ८।२।९१
न दीर्घानुस्वारात् ८ २।९२
र-होः ८ २।९३
धृष्टद्युम्ने णः ८।२।९४
कर्णिकारे वा ८।२।९५
दृप्ते ८।२।९६
समासे वा ८।२।९७
तैलादौ ८।२।९८
सेवादौ वा ८।२।९९
शार्ङ्गे ङात्पूर्वोत् ८।२।१००
क्ष्मा-श्लाघारत्नेन्त्यव्यञ्जनात् ८।२।१०१
स्नेहाग्नयोर्वा ८।२।१०२
प्लक्षे लात् ८।२।१०३
र्ह-श्री-ह्री-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्यास्वित् ८।२।१०४
र्श-र्ष-तप्त-वज्रे वा ८।२।१०५
लात् ८।२।१०६
स्याद्-भव्य-चैत्य-चौर्यसमेषु यात् ८।२।१०७
स्वप्ने नात् ८।२।१०८
स्निग्धे वादितौ ८।२।१०९
कृष्णे वर्णे वा ८।२।११०
उच्चार्हति ८।२।१११
पद्म-छद्म-मूर्ख-द्वारे वा ८।२।११२
तन्वीतुल्येषु ८।२।११३
एकस्वरे श्वः-स्वे ८।२।११४
ज्यायामीत् ८।२।११५
करेणू-वाराणस्यो र-णोर्व्यत्ययः ८।२।११६
आलाने लनोः ८।२।११७
अचलपुरे च-लोः ८।२।११८
महाराष्ट्रे ह-रोः ८।२।११९
ह्रदे ह-दोः ८।२।१२०
हरिताले र-लोर्न वा ८।२।१२१
लघुके ल-होः ८।२।१२२
ललाटे ल-डोः ८।२।१२३
ह्ये ह्योः ८।२।१२४
स्तोकस्य थोक्क-थोव-थेवाः ८।२।१२५
दुहितृ-भगिन्योर्धूआ-बहिण्यौ ८।२।१२६
वृक्ष-क्षिप्तयो रुक्ख-छूढौ ८।२।१२७
वनिताया विलया ८।२।१२८
गौणस्येषत कूरः ८।२।१२९
स्त्रिया इत्थी ८।२।१३०
धृतेर्दिहिः ८।२।१३१
मार्जारस्य मञ्जर-वञ्जरौ ८।२।१३२
वैडूर्यस्य वेरुलिअं ८।२।१३३
एण्हि एत्ताहे इदानीमः ८।२।१३४
पूर्वस्य पुरिमः ८।२।१३५
त्रस्तस्य हित्थ तट्ठौ ८।२।१३६
बृहस्पतौ बहो भयः ८।२।१३७
मलिनोभय-शुक्ति-छुप्तारब्ध-पदातेर्मइल-अवह-सिप्पि-छिक्का-ढत्त-पाइक्कं ८।२।१३८
दंष्ट्राया दाढा ८।२।१३९
बहिसो बाहिं-बाहिरौ ८।२।१४०
अधसो हेट्ठं ८।२।१४१
मातृ-पितुः स्वसुः सिआ-छौ ८।२।१४२
तिर्यचस्तिरिच्छिः ८।२।१४३
गृहस्य घरोपतौ ८।२।१४४
शीलाद्यर्थस्येरः ८।२।१४५
क्त्वस्तुमत्तूण-तुआणाः ८ २।१४६
इदमर्थस्य केरः ८।२।१४७
पर-राजभ्यां क्क-डिक्कौ च ८।२।१४८

युष्मदस्मदोञ एच्चयः ८।२।१४९
वतेर्व्वः ८।२।१५०
सर्वाङ्गादीनस्येकः ८।२।१५१
पथो णस्येकट् ८।२।१५२
ईयस्यात्मनो णयः ८।२।१५३
त्वस्य डिमा-तणौ वा ८।२।१५४
अनङ्कोठात्तैलस्य डेल्लः ८।२।१५५
यत्तदेतदोतोरित्तिअ एतल्लुक् च ८।२।१५६
इदंकिमश्च डेत्तिअ-डेत्तिल डेद्दहाः ८।२।१५७
कृत्वसो हुत्तं ८।२।१५८
आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्तेत्तेर मणा मतोः ८।२।१५९
त्तो दो तसो वा ८।२।१६०
त्रपो हि-ह-त्थाः ८।२।१६१
वैकाद्‌: सि सिअं इआ ८।२।१६२
डिल्ल-डुल्लौ भवे ८।२।१६३
स्वार्थे कश्च वा ८।२।१६४
ल्लो नवैकाद्वा ८।२।१६५
उपरेः संव्याने ८।२।१६६
भ्रुवो मया डमया ८।२।१६७
शनैसो डिअम् ८।२।१६८
मनाको न वा डयं च ८।२।१६९
मिश्राड्डालिअः ८।२।१७०
रो दीर्घात् ८।२।१७१
त्वादेः सः ८।२।१७२
विद्युत्पत्र-पीतान्धाल्लः ८।२।१७३
गोणादयः ८।२।१७४
अव्ययम् ८।२।१७५
तं वाक्योपन्यासे ८।२।१७६
आम अभ्युपगमे ८।२।१७७
णवि वैपरीत्ये ८।२।१७८
पुणरुत्तं कृतकरणे ८।२।१७९
हन्दि विषाद-विकल्प-पश्चात्ताप-निश्चय-सत्ये ८।२।१८०
हन्द च गृहाणार्थे ८।२।१८१
मिव पिव विव व्व व विअ इवार्थे वा ८।२।१८२
जेण तेण लक्षणे ८।२।१८३
णइ चेअ चिअ च्च अवधारणे ८।२।१८४
बले निर्धारण निश्चययोः ८।२।१८५
किरेर हिर किलार्थे वा ८।२।१८६
णवर केवले ८।२।१८७
आनन्तर्ये णवरि ८।२।१८८
अलाहि निवारणे ८।२।१८९
अण णाइं नञर्थे ८।२।१९०
माइं मार्थे ८।२।१९१
हद्धी निर्वेदे ८।२।१९२
वेव्वे भय वारण-विषादे ८।२।१९३
वेव्व च आमन्त्रणे ८।२।१९४
मामि हला हले सख्या वा ८।२।१९५
दे संमुखीकरणे च ८।२।१९६
हुं दान-पृच्छा-निवारणे ८।२।१९७
हु खु निश्चय-वितर्क-संभावन-विस्मये ८।२।१९८
ऊ गर्हाक्षेप-विस्मय-सूचने ८।२।१९९
थू कुत्सायाम् ८।२।२००
रे अरे संभाषण-रतिकलहे ८।२।२०१
हरे क्षेपे च ८।२।२०२
ओ सूचना-पश्चात्तापे ८।२।२०३
अव्वो सूचना-दुःख-संभाषणापराध-विस्मयानन्दादर-भय-खेद-विषाद-पश्चात्तापे ८।२।२०४
अइ संभावने ८।२।२०५

वणे निश्चय-विकल्पानुकम्प्ये च ८।२।२०६
मणे विमर्शे ८।२।२०७
अम्मो आश्चर्ये ८।२।२०८
स्वयमोर्थे अप्पणो न वा ८।२।२०९
प्रत्येकमः पाडिक्कं पाडिएक्कं ८।२।२१०
उअ पश्य ८।२।२११
इहरा इतरथा ८।२।२१२
एक्कसरिअं झगिति संप्रति ८।२।२१३
मोरउल्ला मुधा ८।२।२१४
दरार्धाल्पे ८।२।२१५
किणो प्रश्ने ८।२।२१६
इ-जे-राः पादपूरणे ८।२।२१७
प्यादयः ८।२।२१८

तृतीयः पादः

वीप्स्यात्स्यादेर्वीप्स्ये स्वरे मो वा ८।३।१
अतः सेर्डोः ८।३।२
वैतत्तदः ८।३।३
जस्-शसोर्लुक् ८।३।४
अमोस्य ८।३।५
टा-आमोर्णः ८।३।६
भिसो हि हिँ हिं ८।३।७
ङसेस् त्तो-दो-दु-हि-हिन्तो-लुकः ८।३।८
भ्यसस् त्तो दो दु हि हिन्तो सुन्तो ८।३।९
ङसः स्सः ८।३।१०
डे म्मि ङेः ८।३।११
जस्-शस्-ङसि-त्तो-दो-द्वामि दीर्घः ८।३।१२
भ्यसि वा ८।३।१३
टाण-शस्येत् ८।३।१४
भिस्भ्यस्सुपि ८।३।१५
इदुतो दीर्घः ८।३।१६
चतुरो वा ८।३।१७
लुप्ते शसि ८।३।१८
अक्लीबे सौ ८।३।१९
पुंसि जसो डउ डओ वा ८।३।२०
वोतो डवो ८।३।२१
जस्-शसोर्णो वा ८।३।२२
ङसि-ङसोः पुं-क्लीबे वा ८।३।२३
टो णा ८।३।२४
क्लीबे स्वरान्म् सेः ८।३।२५
जस्-शस् इँ-इं-णयः सप्राग्दीर्घाः ८।३।२६
स्त्रियामुदोतौ वा ८।३।२७
ईतः सेश्चा वा ८।३।२८
टा-ङस्-ङेरदादिदेद्वा तु ङसेः ८।३।२९
नात आत् ८।३।३०
प्रत्यये ङीर्न वा ८।३।३१
अजातेः पुंसः ८।३।३२
किं-यत्तदोस्यमामि ८।३।३३
छाया-हरिद्रयोः ८।३।३४
स्वस्रादेर्डा ८।३।३५
ह्रस्वोमि ८।३।३६
नामन्त्र्यात्सौ मः ८।३।३७
डो दीर्घो वा ८।३।३८
ऋतोद्वा ८।३।३९
नाम्न्यरं वा ८।३।४०
वाप ए ८।३।४१
ईदूतोर्ह्रस्वः ८।३।४२
क्विपः ८।३।४३
ऋतामुदस्यमौसु वा ८।३।४४
आरः स्यादौ ८।३।४५
आ अरा मातुः ८।३।४६
नाम्न्यरः ८।३।४७
आ सौ न वा ८।३।४८
राज्ञः ८।३।४९

जस्‌–शस्‌–ङसि–ङसां णो ८।३।५०
टो णा ८।३।५१
इर्जस्य णो–णो–ङौ ८।३।५२
इणममामा ८।३।५३
ईद्भिस्भ्यसाम्सुपि ८।३।५४
आजस्य टा–ङसि–ङस्सु सणाणोष्वण्‌ ८।३।५५
पुंस्यन आणो राजवच्च ८।३।५६
आत्मनष्टो णिआ णइआ ८।३।५७
अतः सर्वादेर्डेर्जसः ८।३।५८
ङेः स्सिं–म्मि–त्थाः ८।३।५९
न वानिदमेतदो हिं ८।३।६०
आमो डेसिं ८।३।६१
किंतद्भ्यां डासः ८।३।६२
किंयत्तद्भ्यो ङसः ८।३।६३
ईद्भ्यः स्सा से ८।३।६४
ङेर्डाहे डाला इआ काले ८।३।६५
ङसेर्म्हा ८।३।६६
तदो डोः ८।३।६७
किमो डिणो–डीसौ ८।३।६८
इदमेतत्कि–यत्तद्भ्यष्टो ८।३।६९
तदो णः स्यादौ क्वचित्‌ ८।३।७०
किमः कस्त्र–तसोश्च ८।३।७१
इदम इमः ८।३।७२
पुं–स्त्रियोर्न वायमिमिआ सौ ८।३।७३
स्सिं–स्सयोरत्‌ ८।३।७४
ङेर्मेन हः ८।३।७५
न त्थः ८।३।७६
णोम्‌–शस्टा–भिसि ८।३।७७
अमेणम्‌ ८।३।७८
क्लीबे स्यमेदमिणमो च ८।३।७९
किमः किं ८।३।८०
वेदं–तदेतदो ङसाम्भ्यां से–सिमौ ८।३।८१
वैतदो ङसेस्तो त्ताहे ८।३।८२
त्थे च तस्य लुक् ८।३।८३
एरदीतौ म्मौ वा ८।३।८४
वैसेणमिणमो सिना ८।३।८५
तदश्च तः सोऽक्लीबे ८।३।८६
वादसो दस्य होनोदाम्‌ ८।३।८७
मुः स्यादौ ८।३।८८
म्मावयेऔ वा ८।३।८९
युष्मदस्तं तुं तुवं तुह तुमं सिना ८।३।९०
भे तुब्भे तुज्झ तुम्ह तुम्हे उय्हे जसा ८।३।९१
तं तुं तुमं तुवं तुह तुमे तुए अमा ८।३।९२
वो तुज्झ तुब्भे तुय्हे उय्हे भे शसा ८।३।९३
भे दि दे ते तइ तए तुमं तुमइ तुमए तुमे तुमाइ टा ८।३।९४
भे तुब्भेहिं उज्भेहिं उम्हेहिं तुय्हेहिं उय्हेहिं भिसा ८।३।९५
तइ–तुव–तुम–तुह–तुब्भा ङसौ ८।३।९६
तुय्ह तुब्भ तहिन्तो ङसिना ८।३।९७
तुब्भ–तुय्होय्होम्हा भ्यसि ८।३।९८
तइ-तु-ते-तुम्हं-तुह-तुहं-तुव-तुम-तुमे-तुमो तुमाइ-दि-दे-इ-ए-तुब्भोब्भोय्हा ङसा ८।३।९९
तु वो भे तुब्भ तुब्भं तुब्भाण तुवाण तुमाण-तुहाण उम्हाण आमा ८।३।१००
तुमे तुमए तुमाइ तइ तए ङिना ८।३।१०१
तु-तुव-तुम-तुह-तुब्भा ङौ ८।३।१०२
सुपि ८।३।१०३
ब्भो म्ह-ज्झौ वा ८।३।१०४

अस्मदो म्मि अम्मि अम्हि हं अहं अहयं सिना ८।३।१०५
अम्ह अम्हे अम्हो मो वयं भे जसा ८।३।१०६
णे णं मि अम्मि अम्ह मम्ह मं ममं मिमं अहं अमा ८।३।१०७
अम्हे अम्हो अम्ह णे शसा ८।३।१०८
मि मे ममं ममए ममाइ मइ मए मयाइ णे टा ८।३।१०९
अम्हेहि अम्हाहि अम्ह अम्हे णे भिसा ८।३।११०
मइ-मम-मह-मज्झा ङसौ ८।३।१११
ममाम्हौ भ्यसि ८।३।११२
मे मइ मम मह महं मज्झ मज्झं अम्ह अम्हं ङसा ८।३।११३
णे णो मज्झ अम्ह अम्हं अम्हे अम्हो अम्हाण ममाण महाण मज्झाण आमा ८।३।११४
मि मइ ममाइ मए मे ङिना ८।३।११५
अम्ह-मम मह-मज्झा ङौ ८।३।११६
सुपि ८।३।११७
त्रेस्ती तृतीयादौ ८।३।११८
द्वेर्दो वे ८।३।११९
दुवे दोण्णि वेण्णि च जस् शसा ८।३।१२०
त्रेस्तिण्णि: ८।३।१२१
चतुरश्चत्तारो चउरो चत्तारि ८।३।१२२
संख्याया आमो ण्ह ण्हं ८।३।१२३
शेषेदन्तवत् ८।३।१२४
न दीर्घो णो ८।३।१२५
ङसेर्लुक् ८।३।१२६
भ्यसश्च हिः ८।३।१२७
ङेर्डे: ८।३।१२८
एत् ८।३।१२९
द्विवचनस्य बहुवचनम् ८।३।१३०
चतुर्थ्याः षष्ठी ८।३।१३१
तादर्थ्यङेर्वा ८।३।१३२
वधाड्डाइश्च वा ८।३।१३३
क्वचिद् द्वितीयादेः ८।३।१३४
द्वितीया-तृतीययोः सप्तमी ८।३।१३५
पञ्चम्यास्तृतीया च ८।३।१३६
सप्तम्या द्वितीया ८।३।१३७
क्यङोर्यलुक् ८।३।१३८
त्यादीनामाद्यत्रयस्याद्यस्येचेचौ ८।३।१३९
द्वितीयस्य सि से ८।३।१४०
तृतीयस्य मिः ८।३।१४१
बहुष्वाद्यस्य न्ति न्ते इरे ८।३।१४२
मध्यमस्येत्था-हचौ ८।३।१४३
तृतीयस्य मो-मु-माः ८।३।१४४
अत एवैच् से ८।३।१४५
सिनास्तेः सिः ८।३।१४६
मि-मो-मैर्म्हि-म्हो-म्हा वा ८।३।१४७
अत्थिस्त्यादिना ८।३।१४८
णेरदेदावावे ८।३।१४९
गुर्वादेरविर्वा ८।३।१५०
भ्रमेराडो वा ८।३।१५१
लुगावी क्त-भाव-कर्मसु ८।३।१५२
अदेल्लुक्यादेरत आः ८।३।१५३
मौ वा ८।३।१५४
इच्च मो-मु-मे वा ८।३।१५५
क्ते ८।३।१५६
एच्च क्त्वा-तुम्-तव्य-भविष्यत्सु ८।३।१५७
वर्तमाना-पञ्चमी-शतृषु वा ८।३।१५८
ज्जा-ज्जे ८।३।१५९
ईअ-इज्जौ क्यस्य ८।३।१६०
दृशि-वचेर्डीस-डुच्चं ८।३।१६१
सी ही हीअ भूतार्थस्य ८।३।१६२

व्यञ्जनादीअः ८।३।१६३
तेनास्तेरास्यहेसी ८।३।१६४
ज्जात्सप्तम्या इर्वा ८।३।१६५
भविष्यति हिरादिः ८।३।१६६
मि-मो-मु-मे स्सा हा न वा ८।३।१६७
मो-मु-मानां हिस्सा हित्था ८।३।१६८
मेः स्सं ८।३।१६९
कृ-दो हं ८।३।१७०
श्रु-गमि-रुदि-विदि-दृशि-मुचि-वचि-छिदि-भिदि-भुजां सोच्छं गच्छं रोच्छं वेच्छं दच्छं मोच्छं वोच्छं छेच्छं भेच्छं भोच्छं ८।३।१७१
सोच्छादय इजादिषु हिलुक् च वा ८।३।१७२
दु सु मु विध्यादिष्वेकस्मिंस्त्रयाणाम् ८।३।१७३
सोर्हिर्वा ८।३।१७४
अत इज्जस्विज्जहीज्जे-लुको वा ८।३।१७५
बहुषु न्तु ह मो ८।३।१७६
वर्तमाना-भविष्यन्त्योश्च ज्ज ज्जा वा ८।३।१७७
मध्ये च स्वरान्ताद्वा ८।३।१७८
क्रियातिपत्तेः ८।३।१७९
न्त-माणौ ८।३।१८०
शत्रानशः ८।३।१८१
ई च स्त्रियाम् ८।३।१८२

चतुर्थः पादः

इदितो वा ८।४।१
कथेर्वज्जर-पज्जरोप्पाल-पिसुण-संघ-बोल्ल-चव-जम्प-सीस-साहाः ८।४।२
दुःखे णिव्वरः ८।४।३
जुगुप्सेर्झुण-दुगुच्छ-दुगुञ्छाः ८।४।४
बुभुक्षि-वीज्योर्णीरव-वोज्जौ ८।४।५
ध्या-गोर्झा-गौ ८।४।६
ज्ञो जाण-मुणौ ८।४।७
उदो ध्मो धुमा ८।४।८
श्रदो धो दहः ८।४।९
पिबेः पिज्ज-डल्ल-पट्ट-घोट्टाः ८।४।१०
उद्वातेरोरुम्मा वसुआ ८।४।११
निद्रातेरोहीरोङ्घौ ८।४।१२
आघ्रेराइग्घः ८।४।१३
स्नातेरब्भुत्तः ८।४।१४
समः स्त्यः खाः ८।४।१५
स्थष्ठा-थक्क-चिट्ठ-निरप्पाः ८।४।१६
उदष्ठ-कुक्कुरौ ८।४।१७
म्लेर्वा-पव्वायौ ८।४।१८
निर्मो निम्माण-निम्मवौ ८।४।१९
क्षेर्णिज्झरो वा ८।४।२०
छदेर्णेणुम-नूम-सन्नुम-ढक्कौम्वाल-पव्वालाः ८।४।२१
निविपत्योर्णिहोडः ८।४।२२
दूङो दूमः ८।४।२३
धवलेर्दुमः ८।४।२४
तुलेरोहामः ८।४।२५
विरिचेरोलुण्डोल्लुण्ड-पल्हत्थाः ८।४।२६
तडेराहोड-विहोडौ ८।४।२७
मिश्रेर्वीसाल-मेलवौ ८।४।२८
उद्धूलेर्गुण्ठः ८।४।२९
भ्रमेस्तालिअण्ट-तमाडौ ८।४।३०
नशेर्विउड-नासव-हारव-विप्पगाल-पलावाः ८।४।३१
दृशेर्दाव-दंस-दक्खवाः ८।४।३२
उद्घटेरुग्गः ८।४।३३
स्पृहः सिहः ८।४।३४

संभावेरासंघ ८।४।३५
उन्नमेरुत्थंघोल्लाल-गुलुगुञ्छोप्पेलाः ८।४।३६
प्रस्थापेः पट्ठव पेण्डवौ ८।४।३७
विज्ञपेर्वोक्काबुक्कौ ८।४।३८
अर्पेरल्लिव चच्चुप्प-पणामाः ८।४।३९
यापेर्जवः ८।४।४०
प्लावेरोम्वाल पव्वालौ ८।४।४१
विकोशेः पक्खोडः ८।४।४२
रोमन्थेरोग्गाल-वग्गोलौ ८।४।४३
कमेर्णिहुवः ८।४।४४
प्रकाशेर्णुव्वः ८।४।४५
कम्पेर्विच्छोलः ८।४।४६
आरोपेर्वलः ८।४।४७
दोले रङ्खोलः ८।४।४८
रञ्जे रावः ८।४।४९
घटेः परिवाडः ८।४।५०
वेष्टेः परिआलः ८।४।५१
क्रियः किणो वेस्तु क्के च ८।४।५२
भियो भा-बीहौ ८।४।५३
आलीङोल्ली ८।४।५४
निलीङोर्णिलीअ-णिलुक्क-णिरिग्घ लुक्क लिक्क-ल्हिक्काः ८।४।५५
विलीङेर्विरा ८।४।५६
रुते रुञ्ज-रुण्टौ ८।४।५७
श्रुटेर्हणः ८।४।५८
धूगेर्धुवः ८।४।५९
भुवेर्हो-हुव-हवाः ८।४।६०
अविति हुः ८।४।६१
पृथक्-स्पष्टे णिव्वडः ८।४।६२
प्रभौ हुप्पो वा ८।४।६३
क्ते हूः ८।४।६४
कृगेः कुणः ८।४।६५
काणेक्षिते णिआरः ८।४।६६
निष्टम्भावष्टम्भे णिट्ठुह-संदाणं ८।४।६७
श्रमे वावम्फः ८।४।६८
मन्युनौष्ठमालिन्ये णिव्वोलः ८।४।६९
शैथिल्य लम्बने पयल्लः ८।४।७०
निष्पाताच्छोटे णीलुञ्छः ८।४।७१
क्षुरे कम्मः ८।४।७२
चाटौ गुललः ८।४।७३
स्मरेर्झर झूर-भर-भल लढ-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहाः ८।४।७४
विस्मुः पम्हुस-विम्हर-वीसराः ८।४।७५
व्याहृगेः कोक्क-पोक्कौ ८।४।७६
प्रसरेः पयल्लोवेल्लौ ८।४।७७
महमहो गन्धे ८।४।७८
निस्सरेर्णीहर-नील धाड-वरहाडाः ८।४।७९
जाग्रेर्जग्गः ८।४।८०
व्याप्रेराअड्डः ८।४।८१
संवृगेः साहर-साहट्टौ ८।४।८२
आहङेः सन्नामः ८।४।८३
प्रहृगेः सारः ८।४।८४
अवतरेरोह-ओरसौ ८।४।८५
शकेश्चय-तर-तीर-पाराः ८।४।८६
फक्कस्थक्कः ८।४।८७
श्लाघः सलहः ८।४।८८
खचेर्वेअडः ८।४।८९
पचेः सोल्ल पउलौ ८।४।९०
मुचेश्छड्डावहेड-मेल्लोस्सिक्क-रेअव-णिल्लुञ्छ-धंसाडाः ८।४।९१
दुःखे णिव्वलः ८।४।९२
वञ्चेर्वेहव-वेलव-जूरवोमच्छाः ८।४।९३
रचेरुग्गहावह-विडविड्डाः ८।४।९४
समारचेरुवहत्थ-सारव-समार-केलायाः ८।४।९५

सिचेः सिञ्च-सिम्पौ ८।४।९६
प्रच्छः पुच्छः ८।४।९७
गर्जेर्बुक्कः ८।४।९८
वृषे ढिक्कः ८।४।९९
राजेरग्घ-छज्ज-सह-रीर-रेहाः ८।४।१००
मस्जेराउड्ड-णिउड्ड-बुड्ड-खुप्पाः ८।४।१०१
पुञ्जेरारोल-वमालौ ८।४।१०२
लस्जेर्जीहः ८।४।१०३
तिजेरोसुक्कः ८।४।१०४
मृजेरुग्घुस-लुञ्छ-पुञ्छ-पुंस-फुस-पुस-लुह-हुल-रोसाणाः ८।४।१०५
भञ्जेर्वेमय-मुसुमूर-मूर-सूर-सूड-विर-पविरञ्ज-करञ्ज-नीरञ्जाः ८।४।१०६
अनुव्रजेः पडिअग्गः ८।४।१०७
अर्जे विढवः ८।४।१०८
युजो जुञ्ज-जुज्ज-जुप्पाः ८।४।१०९
भुजो भुञ्ज-जिम-जेम-कम्माण्ह-चमढ-समाण-चड्डाः ८।४।११०
वोपेन कम्मवः ८।४।१११
घटेर्गढः ८।४।११२
समो गलः ८।४।११३
हासेन स्फुटेर्मुरः ८।४।११४
मण्डेश्चिञ्च-चिञ्चअ-चिञ्चिल्ल-रीड-टिविडिक्काः ८।४।११५
तुडेस्तोड-तुट्ट-खुट्ट-खुडोक्खुडोल्लुक्क-णिलुक्क-लुक्कोल्लूराः ८।४।११६
घूर्णो घुल-घोल-घुम्म-पहल्लाः ८।४।११७
विवृतेर्ढंसः ८।४।११८
क्वथेरट्टः ८।४।११९
ग्रन्थो गण्ठः ८।४।१२०
मन्थेर्घुसल-विरोलौ ८।४।१२१
ह्लादेरवअच्छः ८।४।१२२
नेः सदो मज्जः ८।४।१२३
छिदेर्दुहाव-णिच्छल्ल-णिज्झोड-णिव्वर-णिल्लूर-लूराः ८।४।१२४
आङा ओअन्दोद्दालौ ८।४।१२५
मृदो मल-मढ-परिहट्ट-खड्ड-चड्ड-मड्ड-पन्नाडाः ८।४।१२६
स्पन्देश्चुलुचुलः ८।४।१२७
निरः पदेर्वलः ८।४।१२८
विसंवदेर्विअट्ट-विलोट्ट-फंसाः ८।४।१२९
शदो झड-पक्खोडौ ८।४।१३०
आक्रन्देर्णीहरः ८।४।१३१
खिदेर्जूर-विसूरौ ८।४।१३२
रुधेरुत्थङ्घः ८।४।१३३
निषेधेर्हक्कः ८।४।१३४
क्रुधेर्जूरः ८।४।१३५
जनो जा-जम्मौ ८।४।१३६
तनेस्तड-तड्ड-तड्डव-विरल्लाः ८।४।१३७
तृपस्थिप्पः ८।४।१३८
उपसर्पेरल्लिअः ८।४।१३९
संतपेर्झङ्खः ८।४।१४०
व्यापेरोअग्गः ८।४।१४१
समापेः समाणः ८।४।१४२
क्षिपेर्गलत्थाड्डक्ख-सोल्ल-पेल्ल-णोल्ल-छुह-हुल-परी-घत्ताः ८।४।१४३
उत्क्षिपेर्गुलगुञ्छोत्थंघाल्लत्थोब्भुत्तोस्सिक्क-हक्खुवाः ८।४।१४४
आक्षिपेर्णीरवः ८।४।१४५
स्वपेः कमवस-लिस-लोट्टाः ८।४।१४६
वेपेरायम्बायज्झौ ८।४।१४७
विलपेर्झङ्ख-वडवडौ ८।४।१४८
लिपो लिम्पः ८।४।१४९
गुप्येर्विर-णडौ ८।४।१५०
क्रपोवहो णिः ८।४।१५१

प्रदीपेस्तेअव-संदुम-संधुक्काब्भुत्ताः ८।४।१५२
लुभेः संभावः ८।४।१५३
क्षुभेः खउर-पड्डुहौ ८।४।१५४
आङो रभे रम्भ-ढवौ ८।४।१५५
उपालम्भेर्झङ्ख-पच्चार-वेलवाः ८।४।१५६
अवेर्जृम्भो जम्भा ८।४।१५७
भाराक्रान्ते नमेर्णिसुढः ८।४।१५८
विश्रमेर्णिव्वा ८।४।१५९
आक्रमेरोहावोत्थारच्छुन्दाः ८।४।१६०
भ्रमेष्टिरिटिल्ल-ढुण्ढुल्ल-ढण्ढल्ल-चक्कम्म-भम्मड-भमड भमाड-तल-अण्ट-झण्ट-झम्प-भुम-गुम-फुम-फुस-ढुम-ढुस-परी-पराः ८।४।१६१
गमेरई-अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कु-सावक्कुस-पच्चड्ड-पच्छन्द-णिम्मह-णी-णीण-णीलुक्क-पदअ-रम्भ-परिअल्ल-वोल-परिअलणिरिणास-णिवहावसेहावहराः ८।४।१६२
आङा अहिपच्चुअः ८।४।१६३
समा अब्भिडः ८।४।१६४
अभ्याङोम्मत्थः ८।४।१६५
प्रत्याङा पलोट्टः ८।४।१६६
शमेः पडिसा-परिसामौ ८।४।१६७
रमेः संखुड्ड-खेड्डोब्भाव-किलिकिञ्च-कोट्टुम-मोट्टाय-णीसर-वेल्लाः ८।४।१६८
पूरेरग्घाडाग्घवोद्धुमाङ्गुमाहिरेमाः ८।४।१६९
त्वरस्तुवर-जअडौ ८।४।१७०
त्यादिशत्रोस्तूरः ८।४।१७१
तुरोऽत्यादौ ८।४।१७२
क्षरः खिर-झर-पज्झर-पच्चड-णिच्चल-णिट्टुआः ८।४।१७३
उच्छल उत्थल्लः ८।४।१७४
विगलेस्थिप्प-णिट्टुहा ८।४।१७५
दलि-वल्योर्विसट्ट-वम्फौ ८।४।१७६
भ्रंशेः फिड-फिट्ट-फुड-फुट्ट-चुक्क-भुल्लाः ८।४।१७७
नशेर्णिरणास-णिवहावसेह-पडिसा-सेहावहराः ८।४।१७८
अवात्काशो वासः ८।४।१७९
संदिशेरप्पाहः ८।४।१८०
दृशो निअच्छपेच्छावयच्छावयज्झ-वज्ज-सव्वव-देक्खौ-अक्खावक्खा-वअक्ख-पुलोअ-पुलअ-निआव-आस-पासाः ८।४।१८१
स्पृशः फास-फंस-फरिस-छिव-छिहालुङ्खालिहाः ८।४।१८२
प्रविशे रिअः ८।४।१८३
प्रान्मृश-मुषोर्म्हुसः ८।४।१८४
पिषेर्णिवह-णिरिणास-णिरिणज्ज-रोञ्च-चड्डाः ८।४।१८५
भषेर्भुक्कः ८।४।१८६
कृषेः कड्ढ-साअड्ढाञ्चाणच्छायञ्छाइञ्छाः ८।४।१८७
असावक्खोडः ८।४।१८८
गवेषेर्ढुण्ढुल्ल-ढण्ढोल-गमेस-घत्ताः ८।४।१८९
श्लिषेः सामग्गावयास-परिअन्ताः ८।४।१९०
म्रक्षेश्चोप्पडः ८।४।१९१
काङ्क्षेराहाहिलङ्घाहिलङ्ख-वच्च-वम्फ-मह-सिह-विलुम्पाः ८।४।१९२

प्रतीक्षेः सामय-विहीर-विरमालाः ८।४।१९३
तक्षेस्तच्छ-चच्छ-रम्प-रम्फाः ८।४।१९४
विकसेः कोआस-वोसट्टौ ८।४।१९५
हसेर्गुञ्जः ८।४।१९६
स्रंसेर्ल्हस-डिम्भौ ८।४।१९७
त्रसेर्डर-बोज्ज-वज्जाः ८।४।१९८
न्यसो णिम-णुमौ ८।४।१९९
पर्यसः पलोट्ट-पल्लट्ट-पल्हत्थाः ८।४।२००
निःश्वसेर्झङ्खः ८।४।२०१
उल्लसेरूसलोसुम्भ-णिल्लस-पुलआअ-गुञ्जोल्लारोआः ८।४।२०२
भासेर्भिसः ८।४।२०३
ग्रसेर्घिसः ८।४।२०४
अवाद्गाहेर्वाहः ८।४।२०५
आरुहेश्चड-वलग्गौ ८।४।२०६
मुहेर्गुम्म-गुम्मडौ ८।४।२०७
दहेरहिऊलालुङ्खौ ८।४।२०८
ग्रहो वल-गेण्ह-हर-पङ्ग-निरुवाराहिपच्चुआ ८।४।२०९
क्त्वा-तुम्-तव्येषु घेत् ८।४।२१०
वचो वोत् ८।४।२११
रुद-भुज-मुचां तोन्त्यस्य ८।४।२१२
दृशस्तेन ट्ठः ८।४।२१३
आ कृगो भूत-भविष्यतोश्च ८।४।२१४
गमिष्यमासां छः ८।४।२१५
छिदि-भिदो न्दः ८।४।२१६
युध-बुध-गृध-क्रुध-सिध-मुहां ज्झः ८।४।२१७
रुधो न्ध-म्भौ च ८।४।२१८
सद-पतोर्डः ८।४।२१९
क्वथ-वर्धां ढः ८।४।२२०
वेष्टः ८।४।२२१
समो ल्लः ८।४।२२२
वोदः ८।४।२२३
स्विदां ज्जः ८।४।२२४
व्रज-नृत-मदां च्चः ८।४।२२५
रुद नमोर्वः ८।४।२२६
उद्विजः ८।४।२२७
खाद-धावोर्लुक् ८।४।२२८
सृजो रः ८।४।२२९
शकादीनां द्वित्वम् ८।४।२३०
स्फुटि-चलेः ८।४।२३१
प्रादेर्मीलेः ८।४।२३२
उवर्णस्यावः ८।४।२३३
ऋवर्णस्यारः ८।४।२३४
वृषादीनामरिः ८।४।२३५
रुषादीनां दीर्घः ८।४।२३६
युवर्णस्य गुणः ८।४।२३७
स्वराणां स्वराः ८।४।२३८
व्यञ्जनाददन्ते ८।४।२३९
स्वरादनतो वा ८।४।२४०
चि जि-श्रु हु-स्तु लू-पू-धूगां णो ह्रस्वश्च ८।४।२४१
न वा कर्म भावे व्वः क्यस्य च लुक् ८।४।२४२
म्मश्चेः ८।४।२४३
हन्खनोन्त्यस्य ८।४।२४४
ब्भो दुह-लिह-वह-रुधामुच्चातः ८।४।२४५
दहो ज्झः ८।४।२४६
बन्धो न्धः ८।४।२४७
समनूपाद्रुधेः ८।४।२४८
गमादीनां द्वित्वम् ८।४।२४९
ह्र-कृ-तॄ ज्रामीरः ८।४।२५०
अर्जेर्विढप्पः ८।४।२५१
ज्ञो णव्व-णज्जौ ८।४।२५२
व्याहृगेर्वाहिप्पः ८।४।२५३
आरभेराढप्पः ८।४।२५४
स्निह-सिचोः सिप्पः ८।४।२५५
ग्रहेर्घेप्पः ८।४।२५६
स्पृशेश्छिप्पः ८।४।२५७
क्तेनाप्फुण्णादयः ८।४।२५८

धातवोऽर्थान्तरेपि ८।४।२५९
तो दोनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य ८।४।२६०
अधः क्वचित् ८।४।२६१
वादेस्तावति ८।४।२६२
आ आमन्त्र्ये सौ वेनो नः ८।४।२६३
मो वा ८।४।२६४
भवद्भगवतो ८।४।२६५
न वा र्यो य्यः ८।४।२६६
थो धः ८।४।२६७
इह-हचोर्हस्य ८।४।२६८
भुवो भः ८।४।२६९
पूर्वस्य पुरवः ८।४।२७०
क्त्व इय-दूणौ ८।४।२७१
कृ-गमो डडुअः ८।४।२७२
दिरिचेचोः ८।४।२७३
अतो देश्च ८।४।२७४
भविष्यति स्सिः ८।४।२७५
अतो ङसेर्डादो-डादू ८।४।२७६
इदानीमो दाणिं ८।४।२७७
तस्मात्ताः ८।४।२७८
मोन्त्याण्णो वेदेतोः ८।४।२७९
एवार्थे य्येव ८।४।२८०
हञ्जे चेट्याह्वाने ८।४।२८१
हीमाणहे विस्मय-निर्वेदे ८।४।२८२
णं नन्वर्थे ८।४।२८३
अम्महे हर्षे ८।४।२८४
हीही विदूषकस्य ८।४।२८५
शेषं प्राकृतवत् ८।४।२८६
अत एत्सौ पुंसि मागध्याम् ८।४।२८७
र-सोर्ल-शौ ८।४।२८८
स-षोः संयोगे सोऽग्रीष्मे ८।४।२८९
ट्ट-ष्ठयोस्टः ८।४।२९०
स्थ-र्थयोस्तः ८।४।२९१
ज-द्य-यां यः ८।४।२९२
न्य-ण्य-ज्ञ-ञ्जां ञ्ञः ८।४।२९३
व्रजो जः ८।४।२९४
छस्य श्चो नादौ ८।४।२९५
क्षस्य ऌकः ८।४।२९६
स्कः प्रेक्षाचक्षोः ८।४।२९७
तिष्ठश्चिष्ठः ८।४।२९८
अवर्णाद्वा ङसो डाहः ८।४।२९९
आमो डाहँ वा ८।४।३००
अहं-वयमोर्हगे ८।४।३०१
शेषं शौरसेनीवत् ८।४।३०२
ज्ञो ञ्ञः पैशाच्याम् ८।४।३०३
राज्ञो वा चिञ् ८।४।३०४
न्य-ण्योर्ञ्ञः ८।४।३०५
णो नः ८।४।३०६
तदोस्तः ८।४।३०७
लो ळः ८।४।३०८
श-षोः सः ८।४।३०९
हृदये यस्य पः ८।४।३१०
टोस्तुर्वा ८।४।३११
क्त्वस्तूनः ८।४।३१२
द्धून-त्थूनौ ष्ट्वः ८।४।३१३
र्य-स्न-ष्टां रिय-सिन-सटाः क्वचित् ८।४।३१४
क्यस्येय्यः ८।४।३१५
कृगो डीरः ८।४।३१६
यादृशादेर्दुस्तिः ८।४।३१७
इचेचः ८।४।३१८
आत्तेश्च ८।४।३१९
भविष्यत्येय्य एव ८।४।३२०
अतो ङसेर्डातो-डातू ८।४।३२१
तदिदमोष्टा नेन स्त्रियां तु नाए ८।४।३२२
शेषं शौरसेनीवत् ८।४।३२३
न क-ग-च-जादि-षट्-शम्यन्त सूत्रोक्तम् ८।४।३२४
चूलिका-पैशाचिके तृतीय-तुर्ययोराद्य-द्वितीयौ ८।४।३२५

रस्य लो वा ८।४।३२६
नादि-युज्योरन्येषाम् ८।४।३२७
शेषं प्राग्वत् ८।४।३२८
स्वराणां स्वराः प्रायोपभ्रंशे ८।४।३२९
स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ ८।४।३३०
स्यमोरस्योत् ८।४।३३१
सौ पुंस्योद्वा ८।४।३३२
एट्टि ८।४।३३३
ङिनेच्च ८।४।३३४
भिस्येद्वा ८।४।३३५
ङसेर्हे-हू ८।४।३३६
भ्यसो हुं ८।४।३३७
ङसः सु-हो-स्सवः ८।४।३३८
आमो हं ८।४।३३९
हुं चेदुद्भ्याम् ८।४।३४०
ङसि-भ्यस्-ङीनां हे-हुं-हयः ८।४।३४१
आट्टो णानुस्वारौ ८।४।३४२
एं चेदुतः ८।४।३४३
स्यम्-जस्-शसां लुक् ८।४।३४४
षष्ठ्याः ८।४।३४५
आमन्त्र्ये जसो होः ८।४।३४६
भिस्सुपोर्हिं ८।४।३४७
स्त्रियां जस् शसोरुदोत् ८।४।३४८
ट ए ८।४।३४९
ङस्-ङस्योर्हे ८।४।३५०
भ्यसामोर्हुः ८।४।३५१
ङेर्हि ८।४।३५२
क्लीबे जस्-शसोरिं ८।४।३५३
कान्तस्यात उं स्यमोः ८।४।३५४
सर्वादेर्ङसेर्हां ८।४।३५५
किमो डिहे वा ८।४।३५६
ङेर्हिं ८।४।३५७
यत्तत्किंभ्यो ङसो डासुर्न वा ८।४।३५८
स्त्रियां डहे ८।४।३५९
यत्तदः स्यमोर्ध्रुं त्रं ८।४।३६०
इदम इमुः क्लीबे ८।४।३६१
एतदः स्त्री-पुं क्लीबे एह एहो एहु ८।४।३६२
एइर्जस्-शसोः ८।४।३६३
अदस ओइ ८।४।३६४
इदम आयः ८।४।३६५
सर्वस्य साहो वा ८।४।३६६
किमः काइं-कवणौ वा ८।४।३६७
युष्मदः सौ तुहुं ८।४।३६८
जस्-शसोस्तुम्हे तुम्हइं ८।४।३६९
टा-ङ्यमा पइं तइं ८।४।३७०
भिसा तुम्हेहिं ८।४।३७१
ङसि-ङस्भ्यां तउ तुज्झ तुध्र ८।४।३७२
भ्यसाम्भ्यां तुम्हहं ८।४।३७३
तुम्हासु सुपा ८।४।३७४
सावस्मदो हउं ८।४।३७५
जस्-शसोरम्हे अम्हइं ८।४।३७६
टा-ङ्यमा मइं ८।४।३७७
अम्हेहिं भिसा ८।४।३७८
महु मज्झु ङसि-ङस्भ्याम ८।४।३७९
अम्हहं भ्यसाम्भ्याम् ८।४।३८०
सुपा अम्हासु ८।४।३८१
त्यादेराद्य-त्रयस्य संबन्धिनो हिं न वा ८।४।३८२
मध्य-त्रयस्याद्यस्य हिः ८।४।३८३
बहुत्वे हुः ८।४।३८४
अन्त्य-त्रयस्याद्यस्य उं ८।४।३८५
बहुत्वे हुं ८।४।३८६
हि-स्वयोरिदुदेत् ८।४।३८७
वर्त्स्यति-स्यस्य सः ८।४।३८८
क्रियेः कीसु ८।४।३८९
भुवः पर्याप्तौ हुच्चः ८।४।३९०
ब्रूगो ब्रुपो वा ८।४।३९१

व्रजेर्वुञः ८।४।३९२
दृशेः प्रस्सः ८।४।३९३
ग्रहेर्गृण्हः ८।४।३९४
तक्ष्यादीनां छोल्लादयः ८।४।३९५
अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ख-त-थ-प-फां-ग-घ-द-ध-ब-भाः ८।४।३९६
मोऽनुनासिको वो वा ८।४।३९७
वाधो रो लुक् ८।४।३९८
अभूतोपि क्वचित् ८।४।३९९
आपद्विपत्संपदां द इः ८।४।४००
कथं-यथा-तथां थादेरेमेमेहेधा डितः ८।४।४०१
याद्दक्ताद्दक्कीद्दगीद्दशां दादेर्डेहः ८।४।४०२
अतां डइसः ८।४।४०३
यत्र-तत्रयोस्त्रस्य डिदेत्थ्वत्तु ८।४।४०४
एत्थु कुत्रत्रि ८।४।४०५
यावत्तावतोर्वादेर्म उं महिं ८।४।४०६
वा यत्तदोतोर्डेत्तडः ८।४।४०७
वेदं-किमोर्यादेः ८।४।४०८
परस्परस्यादिरः ८।४।४०९
कादि-स्थैदोतोरुच्चार-लाघवम् ८।४।४१०
पदान्ते उं-हुं-हिं-हंकाराणाम् ८।४।४११
म्हो म्भो वा ८।४।४१२
अन्यादृशोन्नाइसावराइसौ ८।४।४१३
प्रायसः पाउ-प्राइव-प्राइम्व-पग्गिम्वाः ८।४।४१४
वान्यथोनुः ८।४।४१५
कुतसः कउ कहन्तिहु ८।४।४१६
ततस्तदोस्तोः ८।४।४१७
मणाउं ८।४।४१८
किलाथवा-दिवा-सह-नहेः किराहवइ दिवे सहुं नाहिं ८।४।४१९
पश्चादेवमेवैवेदानीं-प्रत्युतेतसः पच्छइ एम्वइ जि एम्वहिं पच्चलिउ एत्तहे ८।४।४२०
विषण्णोक्त-वर्त्मनो वुन्न-वुत्त-विच्चं ८।४।४२१
शीघ्रादीनां वहिल्लादयः ८।४।४२२
हुहुरु-घुग्घादयः शब्द-चेष्टानुकरणयोः ८।४।४२३
घइमादयोनर्थकाः ८।४।४२४
तादर्थ्ये केहिं-तेहिं-रेसि-रेसिं-तणेणाः ८।४।४२५
पुनर्विनः स्वार्थे डुः ८।४।४२६
अवश्यमो डें-डौ ८।४।४२७
एकशसो डिः ८।४।४२८
अ-डड-डुल्लाः स्वार्थिक-क-लुक् च ८।४।४२९
योगजाश्चैषाम् ८।४।४३०
स्त्रियां तदन्ताड्डीः ८।४।४३१
आन्तान्ताड्डाः ८।४।४३२
अस्येदे ८।४।४३३
युष्मदादेरीयस्य डारः ८।४।४३४
अतोर्डेत्तुलः ८।४।४३५
त्रस्य डेत्तहे ८।४।४३६
त्व-तलोः प्पणः ८।४।४३७
तव्यस्य इएव्वउं एव्वउं एवा ८।४।४३८
क्त्व इ-इउ-इवि-अवयः ८।४।४३९
एप्प्येप्पिण्वेव्येविणवः ८।४।४४०
तुम एवमणाणहमणहिं च ८।४।४४१
गमेरेप्पिण्वेप्प्योरेर्लुग् वा ८।४।४४२
तृनोणअः ८।४।४४३
इवार्थे नं-नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणवः ८।४।४४४
लिङ्गमतन्त्रम् ८।४।४४५
शौरसेनीवत् ८।४।४४६
व्यत्ययश्च ८।४।४४७
शेषं संस्कृतवत्सिद्धम् ८।४।४४८